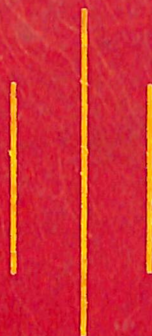
"कविराज राजशेखर तथा आचार्य क्षेमेन्द्र के काव्य-सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन"



लेखक :

डा० विष्णुदत्त शर्मा शास्त्री

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

एन० ए० एस० कालिज, मेरठ

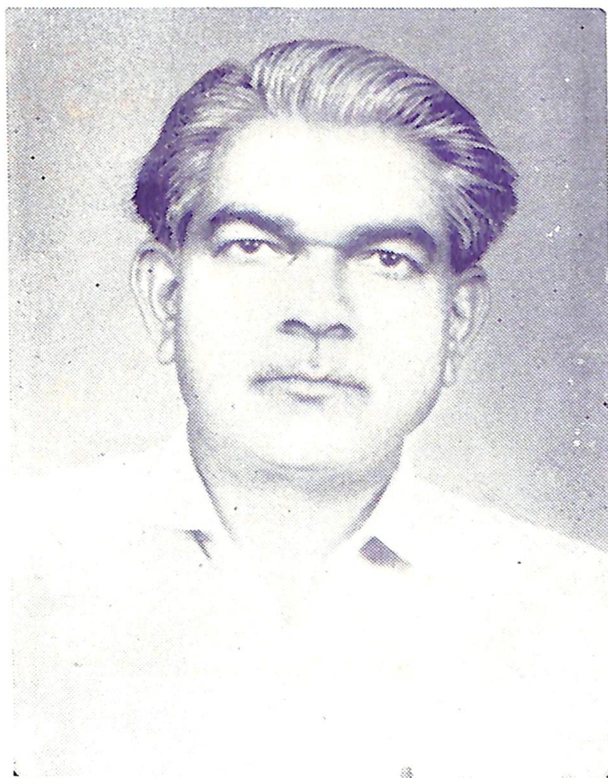


प्रकाशक :

विश्वनाथ प्रकाशन

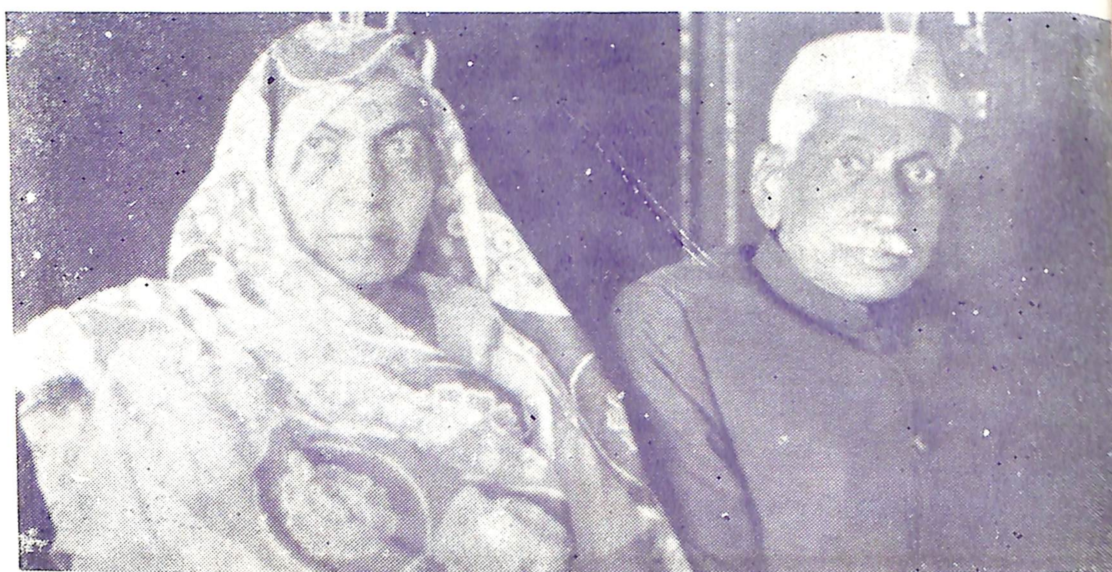
११०, निकट थाना, धर्मपुरी,

सदर, मेरठ-२५० ००१



डॉ० विष्णु दत्त शर्मा शास्त्री
(लेखक)

लेखक के पूज्य माता-पिता



समर्पणम्–

स्वर्गे स्थिताभ्यामपि हृद्गताभ्यां,
मातापितृभ्यां सुतवत्सलाभ्याम् ।
रामस्वरूपाय च सोमवत्यै,
समर्प्यते शोधनिबन्ध एषः ॥

१४-१-१९९४ ई०

समर्पकस्तदात्मजः
विष्णुदत्तशर्मा

प्रस्तावना

श्रीराजशेखर और श्रीक्षेमेन्द्र, संस्कृत-साहित्य के ऐसे चिर परिचित दो नाम हैं, जिनके बिना संस्कृत-साहित्य की चर्चा अधूरी ही नहीं, श्रीहीन भी रह जाती है। कविराज आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने उदार कवित्व से संस्कृत साहित्य को जितना समृद्ध बनाया है, उससे अधिक उसकी चिरसंचित सम्पत्ति की रक्षा एवं साज सज्जा के निमित्त ऐसे ठोस उपाय भी खोजे हैं, जो न केवल संस्कृत की, अपितु उसके परिवार की विपुल सम्पदा के प्रबल प्रहरी होने के साथ-साथ उसके शरीर और आत्मा की चमक और चेतना को सुरक्षित रखते आ रहे हैं।

यायावर राजशेखर और व्यासदास क्षेमेन्द्र का कवित्व भी महान् है और आचार्यत्व भी। राजशेखर के नाटक, महानाटक सोर सट्टकों के साथ उनकी काव्य-मीमांसा तथा क्षेमेन्द्र के छः छः सात सात हजार श्लोक संख्या वाले महाप्रबन्धों के साथ उनकी "औचित्य-विचार-चर्चा" संस्कृत साहित्य की ऐसी उज्ज्वल मणियाँ हैं, जिनकी कभी न क्षीण होने वाली चमक से संस्कृत का समस्त समीक्षा-क्षेत्र सदा चमत्कृत रहा है। दोनों आचार्यों ने साहित्य-शास्त्र के महत्वपूर्ण अन्तर बाह्य अङ्गों पर अपने अत्यन्त मूल्यवान् विचार प्रकाशित किये हैं।

दोनों आचार्यों के काव्यशास्त्रीय-सिद्धान्तों का अपना-अपना स्वतन्त्र महत्व है, अपना-अपना मौलिक अवदान है, तथापि उनमें एक ऐसा उदार साम्य है जो अतिशय संश्लिष्ट होता हुआ भी बिना सूक्ष्म विश्लेषण के समझा जाना सुकर नहीं है। उनमें अनेक स्थलों पर तो समानता इतनी स्थूल हो गई है कि दोनों के विचार में विस्तार और संक्षेप के सिवा कोई अन्तर नहीं दिखाई देता है। दोनों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन दोनों में परभावी ने पूर्वभावी विचारक के गहन वाग्विषय को सरल एवं संक्षिप्त रूप देने का उपयोगी प्रयास किया है। क्षेमेन्द्र वस्तुतः राजशेखर के पर्याप्त ऋणी हैं।

मेरे दिग्दर्शक डॉ० केशवराम पाल, एम० ए०, पी० एच० डी०, डी० लिट्, अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, लाला लाजपतराय पोस्ट-ग्रेजुएट कालेज, साहिबाबाद (गाजियाबाद) ने दोनों आचार्यों के काव्य-सिद्धान्तों की तुलना का गुरुतर कार्य पी०-एच० डी० उपाधि के लिये मुझे सौंपा। डा० सहाब के बहुमूल्य पथ-प्रदर्शन के सहारे दोनों आचार्यों के इन काव्य-सिद्धान्तों को चौदह अध्यायों में विभक्त कर जो यह शोध-प्रबन्ध मैंने प्रस्तुत किया है, उसकी सफलता का श्रेय मैं अपने पथ-प्रदर्शक डा० केशवराम पाल जी को ही देना चाहूँगा, जिन्होंने अपने अमूल्य निर्देशन द्वारा मेरा मार्ग प्रशस्त किया है।

साथ ही मैं अपने विद्यागुरु, साहित्याचार्य, कविरत्न, श्री पं० प्रभुदत्त जी स्वामी के चरणों में श्रद्धा से नतमस्तक हूँ, जिनके शुभाशीर्वाद से मैं इस दुस्तर शास्त्रीय-सरिता को पार करने की शक्ति प्राप्त कर सका हूँ। साथ ही मैं अपने अन्य सभी पूज्य गुरु-जनों के प्रति भी सादर नमन करना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ, जिनके चरण स्पर्श से मुझे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ज्ञानालोक मिला है। अन्त में, मैं परमादरणीय पूज्य स्वर्गीय माताजी एवं पिताजी के चरण कमलों में श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक यह "ग्रन्थ-सुमन" सादर समर्पित करता हूँ। जिनके वात्सल्य-स्नेह, ज्ञानामृत एवं सदुपदेश की अजस्र निर्मल धारा से सिंचित यह कलेवर-तरु अंकुरित, पल्लवित एवं सफल हुआ है। उनके लिये आभार प्रकट करने वाले शब्द मेरे पास नहीं हैं। मैं उनका चिर ऋणी हूँ। जिन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों से सहायता ली गई है। उनके लिये भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

—विष्णुदत्त शर्मा

14 जनवरी 1994

विषयानुक्रमणिका

सत्यानुभूतिः

भारतीय साहित्यशास्त्र वस्तुतः वैदुष्य की कसौटी है। जितना सूक्ष्म या सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन भारतीय आचार्यों ने प्रस्तुत किया है, उतना विश्व के किसी भी साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। कवि ने तो ब्रह्मा की स्थूल दृश्यमान सृष्टि के समान एक स्वतन्त्र सृष्टि की कल्पना कर डाली है—कवि को वे अधिकार प्राप्त हैं, जो विश्वकर्ता ब्रह्मा को भी प्राप्त नहीं है। इसीलिए तो आचार्य सम्राट् मम्मट ने,

'नियतिकृत नियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥'

के द्वारा एक असाधारण कवि की भारती का जय जय कार किया है।

भारतीय साहित्यशास्त्र एक समुद्र है, एक रत्नाकर है, जिससे अनेक रत्न प्रकट हो चुके हैं। उनकी प्रतिभा, आचार्यत्व शक्ति, सिद्धान्त-विवेचन-सामर्थ्य तथा अनुभूतियां निरन्तर अध्ययन से ही समझी जा सकती हैं। वस्तुतः उनका जाज्वल्यमान रूप समीक्षक रूपी शाण पर चढ़ने पर ही प्रकट होता है। यायावर राजशेखर एवं व्यासदास क्षेमेन्द्र, जिनमें आचार्यत्व तथा कवित्व का अद्भुत साम्य विद्यमान हैं, सूक्ष्म अध्ययन का विषय है। इनके रचनात्मक कार्य की विशालता एवं विविधता को देखकर तो लगता है कि यह कविप्रतिभा एक जन्म के संचित पुण्यों का परिणाम नहीं हो सकती, यह ज्ञानराशि अनेक जन्मों की संचित पुण्यराशि है।

'शोध' क्या है? सत्य का अन्वेषण ही शोध है। 'तथ्य' उस अन्वेषण के साधन हैं। इस प्रकार तथ्यों के द्वारा उपस्थापित सत्य का अन्वेषण शोध कहलाता है। डा० विष्णुदत्त शर्मा ने 'कविराज राजशेखर तथा आचार्य क्षेमेन्द्र के काव्य सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन' शीर्षक शोध-प्रबन्ध उपस्थित कर समीक्षाजगत् का महान् उपकार किया है। यह शोधकार्य उनके वैदुष्य, सूक्ष्म समीक्षण शक्ति तथा अनवरत चिन्तन का ही महनीय परिणाम है। यह शोधप्रबन्ध वस्तुतः शोध सिद्धान्त—'नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते' के अनुरूप प्रस्तुत हुआ है। शोधप्रविधि के अनुरूप विषयगत रूपरेखा को विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से चौदह अध्यायों में विभक्त कर श्री शर्मा जी ने सब कुछ हस्तामलकवद् कर दिया है। मैंने इस शोधप्रबन्ध को मनोयोग से पढ़ा है। इस प्रवर्तमान दशक में या दशकों में गम्भीर चिन्तन से परिपूर्ण कृतियां यदाकदा ही दृष्टिपथ में आती हैं।

आज तो शोध प्रबन्ध मात्र छलावा है, वह तो 'भानुमती का पिटारा' मात्र रह गया है। मैं इस सूक्ष्म चिन्तन प्रधान नीरक्षीरविवेकी एवं शोधसिद्धान्तों से सर्वथा अनुप्राणित इस महनीय ग्रन्थ लेखन के लिए पं० (डॉ०) विष्णुदत्त शर्मा जी को साधुवाद देता हूँ। उनकी इस सारस्वत-साधना के लिए प्रगतिपथ पर निरन्तर बढ़ते रहने की मंगलकामना करता हूँ, वे शतायु हों—यह शुभकामना भी इसमें अन्तर्हित है।

शोधकर्ता श्री शर्मा जी ने इस शोधप्रबन्ध रूप 'गागर में सागर भरने' का कार्य किया है। प्रथम अध्याय को दो भागों में विभक्त कर काल क्रमानुसार कविराज श्री राजशेखर को प्रथम स्थान देकर उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का परिचय प्रस्तुत किया है। जिसमें उनका समय-निर्धारण व वंश-परिचय भी सम्मिलित है। औचित्य विचारचर्चा के मूल प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र के व्यक्तित्व चित्रण में जिस औचित्य की परिपालना हुई है, वह सत्य है। क्षेमेन्द्र जैसा व्यक्तित्व आज अन्वेषण करने पर भी नहीं मिलेगा, जिसके नाम से 32 से लेकर 40 तक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इस महत्वपूर्ण इतिहास तत्व प्रधान बिन्दु पर शोधकर्ता श्री शर्मा जी ने समग्र विषय को अत्यन्त व्यवस्थित रूप में उपस्थित किया है। इनके ग्रन्थों को उपलब्ध-प्रकाशित, उपलब्ध-अप्रकाशित तथा अनुपलब्ध, परन्तु नामतः संकेतित रचनाओं का वर्गीकरण (पृ० 63)। प्रस्तुत कर महनीय कार्य किया है। यह उनके सामग्री-संकलन बिन्दु के वैशिष्ट्य को प्रमाणित करता है। मेरे विचार से श्री शर्मा जी ने ऐसा कोई सन्दर्भ नहीं छोड़ा है, जो भारतीय या पाश्चात्य लेखकों का रहा है तथा कहीं उपलब्ध है। यहां तक कि उन्होंने डॉ० पी० वी० काणे के संस्कृत काव्य-शास्त्र में उल्लिखित डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री के 'कविकर्णिका' पर प्रस्तुत अनुवाद के प्रथम संस्करण 1966 से पृष्ठ 330वीं तृतीय पंक्ति के अन्त में दिये गए सन्दर्भ को बड़ी कुशलता से ज्ञापित किया है।

दो महाकवियों एवं आचार्यत्व संवलित महनीय व्यक्तियों के काव्यशास्त्र सम्बन्धी विचारों के तुलनात्मक अध्ययन हेतु अनेक अध्याय बनाने पड़े हैं। एक अध्याय में एक विषय का प्रतिपादन है तथा दोनों के तत्सम्बन्धी विचारों की प्रस्तुति के उपरान्त उनका तुलनात्मक समीक्षण किया गया है। विवेच्य प्रमुख बिन्दुओं में—काव्य के प्रयोजन व हेतु, काव्यस्वरूप व भेद चर्चा, काव्य में चमत्कारातिशय, औचित्य-विचार, रस एवं अलंकार सृष्टि, काव्यगत गुण एवं दोष-विवेचन, रीति एवं वृत्ति-चित्रण, पद, वाक्य, शब्द एवं अर्थ विश्लेषण, कविसमय तथा देश, काल विभाग का समीक्षण, कवियों, आलोचकों एवं शिष्यों का भेद उल्लेखनीय हैं। आदान-प्रदान के अन्तर्गत पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रभाव का श्री राजशेखर व क्षेमेन्द्र पर प्रभाव का उल्लेख, इसी प्रकार इन दोनों के परवर्ती आचार्यों पर हुए प्रभाव

का भी तर्क संगत विवेचन उपलब्ध है। अन्तिम अध्याय विद्वान् शोधकर्ता की सूक्ष्मेक्षिका का सुखद परिणाम है, जिसमें उसने काव्यशास्त्र-परम्परा में आचार्य राजशेखर एवं क्षेमेन्द्र का स्थान निर्धारित किया है। पूर्ण विवरण के साथ सहायक ग्रन्थ सूची भी शोधप्रविधि के अनुरूप प्रस्तुत हुई है।

ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ का अब प्रकाशन हो रहा है, यह विशेष प्रसन्नता का विषय है। मैं विश्वनाथ प्रकाशन को विशेष रूप से धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने शुद्ध एवं सर्वथा परिष्कृत रूप में शोधग्रन्थ को प्रकाशित कर साहित्य जगत् का महान् उपकार किया है।

विवेचन, विश्लेषण, समीक्षण ऐसे शब्द हैं, जिनका कोई अन्त नहीं है, इनकी अनन्तता ही ब्रह्म रूप है। यह शोधकार्य भी शब्द ब्रह्म रूप है, सत्य का अन्वेषण होने से सत्य रूप है, ज्ञान रूप है—इसलिए यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यह कार्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' के समान ब्रह्म रूप है। इसके अध्ययन से 'अहं ब्रह्मास्मि' की सत्यानुभूति होती है। प्रत्येक पाठक 'जीवन्मुक्ति प्राप्त करने में सफल होगा, वस्तुतः यही ज्ञान की परिणति है, उसका स्वरूप है, उसका फल है।

रामनवमी सं० 2051 वि०।

डॉ० प्रभाकर शास्त्री
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०
साहित्य-धर्मशास्त्राचार्य
वरिष्ठ प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय
एवं
निदेशक, राजस्थान संस्कृत अकादमी,
जयपुर।

पुस्तक-समीक्षा

डॉ० विष्णुदत्त शर्मा द्वारा विरचित "कविराज राजशेखर तथा आचार्य क्षेमेन्द्र के काव्य सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन" शीर्षक ग्रन्थ को मैंने ध्यानपूर्वक पढ़ा है। ग्रन्थ बड़े परिश्रम से लिखा गया है। ग्रन्थकार का काव्यशास्त्रीय ज्ञान प्रौढ़ है तथा अध्ययन भी व्यापक है। ग्रन्थ में काव्यशास्त्र के सभी प्रमुख विषयों को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखकर उनके विकासक्रम को निर्देशित करने का सफल प्रयास किया गया है। लेखक में निष्कर्ष तक पहुँचने की त्वरा नहीं है। वह विषय-वस्तु का ऊहापोहपूर्वक व्यापक परिवेश में प्रतिपादन करता है तथा तर्कपुष्ट अभिमत प्रस्तुत करता है। उसमें समस्या को बचाकर आगे बढ़ जाने की प्रवृत्ति नहीं है। काव्यमीमांसा की शैली की कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा वात्स्यायन के कामसूत्र की शैली से तुलना कर ग्रन्थकार ने निष्कर्ष निकाला है कि राजशेखर ने शैली का ग्रहण कौटिल्य के अर्थशास्त्र से किया है। यह निष्कर्ष तर्कपुष्ट है, अतएव ग्राह्य है। लेखक ने प्रसंगानुसार पाश्चात्य तथा आधुनिक हिन्दी के विद्वानों के मतों की यथोचित समीक्षा कर वस्तुतत्व के निर्णय तक पहुँचने का समीचीन प्रयत्न किया है। शास्त्रीय विषय को समझने में लेखक की प्रतिभा सतत जागरूक है। प्रतिपादन शैली प्रसन्न है और भाषा भी विषयानुकूल है।

मुझे विश्वास है कि काव्यशास्त्र के अध्ययन में रुचि लेने वाले सहृदयजन इस ग्रन्थ की उपादेयता के कारण इसका आदर करेंगे, जिससे लेखक का श्रम आनन्द बन जायेगा।

दिनांक 10–4–94 ई०।

डॉ० सुरेशचन्द्र पाण्डेय
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

उपक्रम

डॉ० विष्णुदत्तशर्मा शास्त्री के शोध प्रबन्ध 'कविराज राजशेखर तथा आचार्य क्षेमेन्द्र के काव्य सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन' के सद्य: प्रकाशित संस्करण का मैंने अवलोकन किया। "काव्यशास्त्र" भारतीय मनीषा का प्राणभूत अनुशासन है। इसके बीज ब्रह्मनि:श्वसित वेदों में अलङ्कारादि के रूप में विद्यमान हैं, पर उसका एक क्रमबद्ध इतिहास आचार्य भरत से 18वीं शताब्दी तक ही प्राप्त होता है, जिसमें काव्यशास्त्रीय मौलिक उद्भावनायें प्रस्फुटित हुई और मानदण्ड निर्धारित हुए। इस प्रकार काव्य समीक्षा का एक भव्य प्रासाद निर्मित हुआ। जिसमें कविकर्म को सम्यक् प्रतिष्ठित किया गया। वस्तुत: काव्य रसास्वाद तो पण्डित को ही प्राप्त होता है—

"कवि : करोति काव्यानि रसं जानन्ति पण्डिता:।" और कविकर्म का प्रथन भी काव्यशास्त्री ही करता है। तभी तो मङ्खक ने लिखा है—

विना न साहित्यविदा परत्र गुण: कथञ्चित् प्रथते कवीनाम्।
आलम्बते तत्क्षणमम्भसीव विस्तारमन्यत्र न तैलबिन्दु:॥

लक्ष्य और लक्षण ग्रन्थों का पृथक् मार्ग होते हुए भी दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इसीलिए आगे चलकर कवि और आचार्य युगपदेव बनने की परम्परा चल पड़ी, जो हिन्दी साहित्य में खुलकर सामने आई। यद्यपि काव्यशास्त्रीय समीक्षा एक पृथग् विधा के रूप में सतत प्रवाहित है, तथापि पण्डितराज जगन्नाथ के बाद पूर्व ज्ञान का पुनर्नवीकरण अथवा पिष्टपेषणात्मक विवेचन ही प्राचुर्येण दृष्टिगत होता है।

साहित्य-शास्त्रियों ने तत्तत्सिद्धान्तों का प्रतिपादन अपनी-अपनी शैली में किया है। अनेकत्र यह विवेचन तुलनात्मक दृष्टि से आश्चर्यकारी भी है। ऐसे बिन्दुओं का प्रकाशन निष्पक्ष अनुसन्धाता ही कर सकता है। डॉ० विष्णुदत्त शर्मा ने अपने गुरुवर्य डॉ० केशवराम पाल, जो विख्यात भाषावैज्ञानिक हैं, की प्रेरणा से साहित्य शास्त्र महोदधि में से दो रत्नों को चुना है—राजशेखर और क्षेमेन्द्र—कवि और आचार्य, क्रान्तस्रष्टा और क्रान्तद्रष्टा, सर्जक और विश्लेषक, विपुल काव्य राशि के प्रणेता तथा 'काव्यमीमांसा' एवं 'औचित्य विचार चर्चा'—'कवि-कण्ठा भरण' जैसी विशेष कृतियों से अलङ्कार शास्त्र को महनीय अवदान देने वाले दोनों ही प्रणम्य है, अध्येतव्य हैं, विवेचनीय हैं, समीक्षणीय हैं। यह कार्य डॉ० शर्मा

ने बड़े परिश्रम से, काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों से सामग्री सङ्कलन करके सम्पन्न किया है और उसे सर्वजन संवेद्य बना दिया है। अतः वे साधुवाद के पात्र हैं।

अद्यावधि प्रकाशित काव्यशास्त्रीय रचनाओं में इन रससिद्ध आचार्यों के विषय में प्रकीर्णतः सामग्री प्राप्त होती है, पर सम्बद्ध बिन्दुओं का सुसंगठित और सम्यक् विवेचन एकत्र इसी पुस्तक में हो पाया है। लेखक की अनुसन्धित्सा समीक्षा आचार्यों के व्यक्तित्व-कृतित्व-चित्रण तथा तुलनात्मक समीक्षण में सम्यक् प्रस्फुटित हुई है। काव्य-प्रयोजन, हेतु, स्वरूप, काव्य-चमत्कार, औचित्य-विचार, रस-अलङ्कार, गुण-दोष, रीति-वृत्ति, पद, वाक्य, शब्दार्थ, कवि समय आदि समस्त काव्य तत्त्वों पर पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का यथातथ्य उपस्थापन करके विवेच्य आचार्यों के वैशिष्टय को प्रतिपादन किया गया है। साथ ही द्वादश और त्रयोदश अध्यायों में इनकी प्रभाव-परिधि का विवेचन ग्रन्थ की गुणवत्ता को प्रकट करता है। अधिक अच्छा होता कि इस परिधि में आधुनिक काव्यशास्त्रियों को भी ग्रहण किया गया होता। क्योंकि पुरातन का मान तो बहुत हो चुका है। शोध प्रविधि का अवलम्बन, सरल प्राञ्जल भाषा तथा 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्' के अनुसार प्रमाणपुष्ट सामग्री का बहुजनहिताय प्रस्तुतीकरण आदि ग्रन्थ की अन्य विशेषताएँ हैं। प्रयास स्तुत्य है।

हार्दिक वर्धापना के साथ मैं इस ग्रन्थ के व्यापक प्रचार प्रसार की कामना करता हूँ। निश्चय ही इस ग्रन्थ से संस्कृत और हिन्दी दोनों की श्रीवृद्धि हुई है।

10–2–94 ई०।

डॉ० शिवसागर त्रिपाठी
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर–302004
(राजस्थान)

समीक्षा

डॉ० विष्णुदत्त शर्मा शास्त्री, अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, एन० ए० एस० कॉलेज, मेरठ, संस्कृत के उच्च कोटि के विद्वान् हैं। संस्कृत में लिखित उनके कतिपय ग्रन्थों का अवलोकन करने का मुझे सुअवसर मिला हैं। अब मेरठ विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत उनका शोध-प्रबन्ध 'कविराज राजशेखर तथा आचार्य क्षेमेन्द्र के काव्य-सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन' प्रकाशित होकर विद्वत्समाज के सम्मुख आ रहा है—यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है। प्रस्तुत ग्रन्थ के चतुर्दश अध्यायों में—इन विषयों का विवेचन हुआ है—कविराज राजशेखर तथा आचार्य क्षेमेन्द्र का जीवन-परिचय, काव्य के प्रयोजन एवं हेतु, काव्य का स्वरूप, काव्य-प्रकार एवं कवित्व प्राप्ति, काव्य में चमत्कार, औचित्य-विचार, काव्य में रस तथा अलंकार, काव्यगत गुण एवं दोष, रीति एवं वृत्ति, पद, वाक्य, शब्द तथा अर्थ-विचार, कवि-समय तथा देश-काल-विभाग, कवियों, आलोचकों एवं शिष्यों का भेद, पूर्ववर्ती आचार्यों का राजशेखर और क्षेमेन्द्र पर प्रभाव, परवर्ती आचार्यों पर राजशेखर एवं क्षेमेन्द्र का प्रभाव, काव्यशास्त्र-परम्परा में राजशेखर और क्षेमेन्द्र का स्थान।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कविराज राजशेखर तथा आचार्य क्षेमेन्द्र के काव्य-सिद्धान्तों का तुलनात्मक दृष्टि से सर्वाङ्गीण विवेचन हुआ है। विद्वान् लेखक की आलोचनात्मक परीक्षण-शक्ति एवं सही निर्णय लेने की प्रतिभा के सर्वत्र दर्शन होते हैं। लेखक ने राजशेखर तथा क्षेमेन्द्र दोनों के ग्रन्थों का गहन अध्ययन करके यह ग्रन्थ लिखा है। उनके दीर्घकालीन अध्ययन के कारण ग्रन्थ में प्रौढ़ता आई है। ग्रन्थ की भाषा एवं शैली विषय के अनुरूप है। प्रस्तुत ग्रन्थ अध्यापकों एवं छात्रों के लिए नितान्त उपयोगी सिद्ध होगा। इस उपयोगी ग्रन्थ के लेखन के लिए विद्वान् लेखक हार्दिक बधाई के पात्र हैं।

दिनांक 10–4–94 ई०।

डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा
प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

शुभा सम्मतिः

डॉ० विष्णुदत्त शर्मा शास्त्री का "कविराज राजशेखर तथा आचार्य क्षेमेन्द्र के काव्य सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन" विषयक ग्रन्थ मैंने बड़ी अभिरुचि से पढ़ा। राजशेखर तथा क्षेमेन्द्र पर जितने भी महत्वपूर्ण चिन्तन हैं, उनमें से अधिकांश को डॉ० शास्त्री ने उद्धृत किया है और उसकी समालोचना कर उन पर यथासम्भव अपना अभिमत भी व्यक्त किया है। दोनों कृतिकारों की समस्त रचनाओं पर तुलनात्मक दृष्टि से उन्होंने तलस्पर्शी विचार प्रस्तुत किये हैं। जिन दो आचार्यों पर प्रस्तुत ग्रन्थ सम्पन्न हुआ है, उनकी अनेक रचनाएँ हैं। उनके समस्त साहित्य के अध्ययन के लिए अधिक समय तथा परिनिष्ठित व्युत्पत्ति की अपेक्षा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इन दोनों कठिनाइयों को दूर कर दिया गया है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से राजशेखर तथा क्षेमेन्द्र के साहित्य का सौरभ सहृदयों को सुगमता से सुलभ हो जाता है और स्थान-स्थान पर दी गई टिप्पणियों से कुछ नई दृष्टि भी उन्मीलित हो जाती है। प्रस्तुत रचना से संस्कृत के समीक्षा-साहित्य की अभिवृद्धि हुई है। डॉ० शास्त्री इस उत्तम रचना के लिए सहृदय सुधीजनों के साधुवाद के पात्र हैं। मुझे विश्वास है कि इस ग्रन्थ का विद्वानों के बीच समुचित समादर होगा।

दिनांक 5–7–94 ई०।

डॉ० कैलासपति त्रिपाठी
साहित्य-व्याकरण-वेदान्ताचार्य
एम० ए०, पी-एच० डी०
आचार्य एवं अध्यक्ष, साहित्य-विभाग,
सङ्कायाध्यक्ष, साहित्य एवं संस्कृति सङ्काय,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय,
वाराणसी–221002।

स्वस्तिवाक्

डॉ० विष्णुदत्त शर्मा शास्त्री की शोधकृति 'कविराज राजशेखर तथा आचार्य क्षेमेन्द्र के काव्यसिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन' को सम्प्रति स्वतन्त्र ग्रन्थाकार देखकर तथा मनोयोगपूर्वक उसका अत्यन्त परिशीलन कर, सचमुच मैंने जीवन के कुछ क्षण सार्थक किये हैं। असंस्तवनीय की स्तुति मुझसे होती नहीं और संस्तवनीय-सन्दर्भों में कार्पण्य प्रदर्शन भी नहीं हो पाता। इस प्रतिज्ञा-वाक्य के आलोक में ही मैं विद्वान् लेखक के इस महार्घ सारस्वत-श्रम का भूरिशः अभिनन्दन करता हूँ।

इतिहास के विषय में सामान्य सोच यही है कि वह विविध राजवंशों के उत्थान-पतन का अथवा निर्माणात्मक-ध्वंसात्मक घटनाचक्रों का लेखा-जोखा मात्र है। परन्तु इतिहास को 'एतावन्मात्र' मान लेना उसकी मूल अवधारणा तथा उसके बोध एवं दर्शन को झुठलाना होगा। वस्तुतः इतिहास के निर्माण में राजनयिक घटनाओं से भी अधिक योग होता है तत्कालीन साहित्य एवं साहित्यकार का। स्वयम्भू कवि, साहित्य के साथ ही साथ युगीन इतिहास की भी सृष्टि करता चलता है। कालिदास, दण्डी, बाणभट्ट एवं श्रीहर्ष—सबके युगों का सांकेतिक इतिहास उनकी कृतियों में ही अनुस्यूत है। विद्वान् साहित्य-स्रष्टा ही निर्माण करता है इतिहास एवं इतिहास-पुरुष, दोनों का ! महामति कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त को सिरजा तो हरिषेण ने समुद्रगुप्त को ! आचार्य हेमचन्द्र ने कुमारपाल का निर्माण किया तो समर्थ गुरु रामदास एवं गागाभट्ट ने छत्रपति शिववीर का !

कविराज राजशेखर तथा आचार्य क्षेमेन्द्र—दोनों ही इतिहास-निर्माता सारस्वत-साधक हैं। दोनों ही सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, निर्बन्ध, निरवग्रह, मुखस्फुट (मुँहफट) तथा आमूलचूड जनवादी कवि हैं। दोनों यायावर-प्रकृति के हैं। राजशेखर तन से तो क्षेमेन्द्र मन से ! राजशेखर अपने कर्णाट, केरल, गुर्जर, महाराष्ट्र, आन्ध्र तथा मलय अनुभवों को निर्विशङ्क भाव से कह डालते हैं तो क्षेमेन्द्र भी देश परिचय के सन्दर्भ में केरली बालाओं के 'सीत्कार' तक को अपनी कविता में रूपायित कर देते हैं—बस कश्मीर में ही बैठे-बैठे ! दोनों ही आचार्य कवियों की कृतियों में समूचा राष्ट्र प्रतिबिम्बित हो उठा है।

दोनों आचार्यों का अवतरण एक ऐसे कालखण्ड में हुआ था, जब अभागा राष्ट्र भीतरी राजसत्तात्मक कलहों तथा बाह्य विधर्मी आक्रामक शक्तियों से आक्रान्त था। राजशेखर के जीवनकाल में कन्नौज (महोदयपुर) के गुर्जरप्रतीहार, मान्यखेट के राष्ट्रकूट एवं बंगाल के पाल सत्तासंघर्ष में बुरी तरह उलझे थे और सीमान्त-प्रदेश का शाहीवंशीय नरेश राज्यपाल अकेला ही जूझ रहा था, महमूद गजनवी के आक्रमणों से ! आचार्य राजशेखर, उस युग के सर्वाधिक प्रतापी एवं शक्तिशाली राजसत्ता के आराध्य थे—

'शिष्यो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः ख्यातो रघुग्रामणीः।'

वह चाहते तो अपने महामहिमशाली व्यक्तित्व की गरिमा का उपयोग कर इन तीनों दुर्मद राजसत्ताओं को एकसूत्रता में बाँध देते और तब यह अभागा राष्ट्र निश्चय ही तुर्कों की दासता से बच गया होता। परन्तु राजशेखर अनवरत शृङ्गार एवं विलास का पल्लवन करते रहे तथा 'शकारिविक्रम' जैसा जुझारू नायक नहीं गढ़ सके। मेरी दृष्टि में वह कालजयी, इतिहास-निर्माता वाणीपुत्र की सही भूमिका निभा पाने में असमर्थ रहे। यह तथ्य मैंने 21 मार्च, 1994 को रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (म० प्र०) में आयोजित राजशेखर-संगोष्ठी के अपने सारस्वत-अतिथीय वक्तव्य में भी रेखांकित किया।

परन्तु कलाविलास जैसे अधिक्षेपात्मक काव्य के स्रष्टा क्षेमेन्द्र ने अपना दायित्व भरपूर निवाहा। उन्होंने युग की दुष्प्रवृत्तियों को, झूठे कुलाभिमान को, वेश्याओं तथा कायस्थों के निर्मर्याद आचरणों को जिस साहस, अधिकार और मर्मन्तुद प्रहार के साथ जनता के समक्ष खोलकर रख दिया—वास्तविकता जानने के लिये, वह सार्वभौम नरेश के भी वश का नहीं था। क्षेमेन्द्र अपने युग के सच्चे उपकारक, नियामक तथा समालोचक थे। मेरे लिये यह गौरव का विषय रहा है कि आचार्य क्षेमेन्द्र की तीनों कालजयी कृतियों—रामायणमञ्जरी, भारतमञ्जरी (इलाहाबाद वि० वि०) तथा बृहत्कथामञ्जरी (शिमला वि० वि०) पर मेरे निर्देशन में सुयोग्य छात्रों द्वारा उत्कृष्ट शोधकार्य सम्पन्न किये गये।

बहरहाल, आचार्य राजशेखर एवं क्षेमेन्द्र के विषय में मेरे ये विचार वैयक्तिक मात्र हैं। परन्तु जहाँ तक कवित्व-प्रतिभा, विविधशास्त्रज्ञता, लोककलाद्यवेक्षण, सूक्ष्म सौन्दर्यचेतना, विविधहृदयज्ञता, साहित्यमर्मज्ञता, गवेषणात्मक प्रतिभा, अकुण्ठ सर्जनात्मकशक्ति एवं नेतृत्वक्षमता का प्रश्न है—राजशेखर तथा क्षेमेन्द्र, दोनों ही इनमें निष्णात हैं। समूचे संस्कृत-वाङ्मय में आचार्य राजशेखर ही वह प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने कवि को 'राजलालाटिक' होने के कलंक से मुक्त किया तथा उसके सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र सार्वभौम परिवेश को प्रतिष्ठापित किया। काव्यमीमांसा में उन्होंने 'कविचर्या' का जैसा मानार्ह चित्रण किया है, उससे सारस्वती-सृष्टि का निर्माता कवि, किसी भी दिग्विजयी सम्राट् से कम प्रभविष्णु नहीं प्रतीत होता है।

डॉ० विष्णुदत्त शर्मा शास्त्री ने पूर्ण निष्ठा एवं तन्मयता के साथ, इन दो युगजीवी आचार्यों के काव्यसिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन अपने बृहत्कलेवर ग्रंथ में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः राजशेखर की तुलना क्षेमेन्द्र के अतिरिक्त और किसी आचार्य से हो ही नहीं सकती। क्योंकि अन्यान्य आचार्य या तो पूर्व-प्रस्थान के प्रति प्रतिबद्ध एवं गतानुगतिक हैं (जैसे—मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि) या फिर पूर्वाग्रह-ग्रस्त हैं (जैसे—कुन्तक, महिमभट्ट, धनञ्जय आदि) सर्वथा उन्मुक्त भाव से काव्यशास्त्रीय चिन्तन तो बस आचार्य राजशेखर एवं क्षेमेन्द्र ने ही किया है। वस्तुतः इन दोनों आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय-चिन्तन को आचार्यों के 'समुद्रगृह' से बाहर निकाल कर जनता के बीच प्रतिष्ठित कर दिया। राजशेखर द्वारा वर्णित विविध काव्यपाक तथा काव्याहरण के सन्दर्भ अथवा क्षेमेन्द्र वर्णित देशपरिचय, पशु-परिचय, सत्ताईस प्रकार के औचित्य आदि सन्दर्भ इसके प्रमाण हैं।

डॉ० शास्त्री ने 14 अध्यायों में आचार्य-द्वय के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की विस्तृत सोदाहरण समीक्षा की है। काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यस्वरूप, चमत्कार, औचित्य, रसालंकार, गुणदोष, रीतिवृत्ति, कविसमय, देशकाल-विभाग एवं पद-पदार्थ के सन्दर्भ में प्रवर्तित, आचार्यों के मन्तव्यों की गहन समीक्षा करने के साथ ही साथ, विद्वान् अध्येता ने आचार्य-द्वय पर पूर्ववर्ती आचार्यों के, साथ ही साथ परवर्ती आचार्यों पर आचार्य राजशेखर एवं क्षेमेन्द्र के प्रभाव की भी सारग्राही समीक्षा की है। लांगिनस, होरेस, पोप तथा अरस्तू की औचित्य-सम्बन्धी अवधारणाओं की व्याख्या तथा क्षेमेन्द्र के औचित्य-सिद्धान्त के साथ उनकी तौलनिक समीक्षा से ग्रंथकार के गहन अध्यवसाय का प्रमाण मिलता है।

यद्यपि राजशेखर एवं क्षेमेन्द्र के व्यक्तित्व-कर्तृत्व पर आधारित पृथक् शोधकार्य पहले भी हुए हैं। परन्तु दोनों आचार्यों की शास्त्रीय प्रतिभा का समवेत मूल्याङ्कन सम्भवतः प्रथम बार हो रहा है। निश्चय ही इस अभिनव उपक्रम के लिये डॉ० विष्णुदत्त शर्मा अभिनन्दन के पात्र हैं। ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता है—समवेत विवेचन (Collective assessment) राजशेखर एवं क्षेमेन्द्र की काव्य-शास्त्रीय मान्यताओं की समीक्षा करते हुए ग्रंथकार, उस तत्त्वविशेष का प्राक्-पश्चात् ऐतिह्य भी प्रस्तुत कर देता है। इस पद्धति को अपनाने के ही कारण प्रस्तुत कृति शोधार्थियों के लिये एक 'सन्दर्भ-ग्रंथ' बन गई है।

डॉ० शास्त्री की व्याख्या शैली अपनी सरलता एवं प्राञ्जलता के कारण, महाभाष्य से प्रभावित दीखती है, जिसका प्रमाण है आचार्यों के विचार-बिन्दुओं को संख्याक्रम से उपन्यस्त करना अथवा प्रश्नोत्तर-पद्धति में कहना! यह शैली होती तो है सुकुमार-मति छात्राओं के लिये, परन्तु निशितमति विद्वान् भी ग्रंथ का मर्म समझने के लिये, इसी शैली को पसन्द करता है।

मैं इस विद्वत्तापूर्ण प्रौढ़ कृति एवं इसके यशस्वी लेखक का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ तथा डॉ० शास्त्री के, निरन्तर काव्यशास्त्र-विनोद में सम्पृक्त रहने की, मंगलमय आशा करता हूँ। निश्चय ही इस सारगर्भित कृति से सुधी संस्कृतज्ञ-समाज उपकृत होगा।

शिमला 27–4–94

अभिराज राजेन्द्र मिश्र
आचार्य एवं अध्यक्ष,
संस्कृत एवं भोटभाषा-विभाग,
हिमाचल प्रदेश वि० वि० शिमला–5

सम्मतिः

डॉ० विष्णुदत्त शर्मा रचित 'कविराज राजशेखर तथा आचार्य क्षेमेन्द्र के काव्यसिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन' नामक शोधपरक ग्रन्थ पढ़कर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। विद्वान् लेखक ने अत्यन्त परिश्रम एवं निष्ठा से गहन अध्ययन करके इसका लेखन किया है। आधुनिक शोध की सभी प्रविधियों का उपभोग एवं प्रयोग किया गया है तथा प्राच्य एवं प्रतीच्य विद्वानों के मतों की समीक्षा की गयी है। सभी निर्णय तर्कसंगत एवं प्रमाणपुष्ट हैं।

राजशेखर एवं क्षेमेन्द्र संस्कृत-जगत् की दोनों ही ऐसी महान् विभूतियाँ हैं, जो महाकवि एवं काव्यशास्त्र के आचार्य के रूप में सुप्रतिष्ठित एवं बहुचर्चित हुए हैं। ऐसी मान्यता नहीं है कि रससिद्ध कवीश्वर-अच्छे समीक्षक नहीं हो सकते और उसी प्रकार प्रौढ़ समीक्षक या आचार्य प्रथम श्रेणी के काव्यकार नहीं हो सकते हैं। इन दोनों ही विभूतियों ने काव्यकार के रूप में तो महनीय ख्याति अर्जित की है तथा साथ ही साथ आचार्यों की परम्परा में भी अपना उच्च स्थान बनाया। डॉ० शर्मा ने इन दोनों आचार्यों तथा काव्यकारों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है—यह कार्य अत्यन्त ही कठिन, श्रमसाध्य तथा वैदुष्य प्रधान था—जिसको विद्वान् लेखक ने बड़ी ही सफलता से पूर्ण किया है। इसके लिये वे साधुवाद के तथा प्रशंसा के पात्र हैं।

इस ग्रन्थ के परिणयन से कई लाभ हुए हैं। प्रथमतः दो मध्यकालीन समादृत आचार्यों का तुलनात्मक विवेचन हुआ है। उनकी काव्यकृतियों के सम्बन्ध में भी बहुमूल्य चर्चा की गयी है। दूसरे दो महाकवियों के काव्यसिद्धान्तों पर विचार जानने की सुविधा हुई। श्री राजशेखर की काव्यकृतियाँ अनेक हैं, जिस पर डॉ० शास्त्री ने अपनी लेखिनी उठायी है तथा विचारविमर्श के उपरान्त अपने निर्णय दिये हैं। उसी प्रकार आचार्य क्षेमेन्द्र की काव्यकृतियाँ भी अनेक हैं—प्रकाशित एवं अप्रकाशित। इन सभी का समीचीन विश्लेषण इस ग्रन्थ में हुआ है। आश्चर्य की बात है कि जिन आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में इतना बहुमूल्य योगदान दिया तथा अपनी सृजनात्मक प्रतिभा द्वारा अनेकों काव्यकृतियों से संस्कृत साहित्य की अभिवृद्धि की—उनके सम्बन्ध में अभी तक तुलनात्मक परिशीलन क्यों नहीं हुआ? उनके योगदान का मूल्यांकन बड़े ही सुचारु रूप से डॉ० विष्णुदत्त शर्मा ने किया है। ग्रन्थ लेखन के लिये मैं डॉ० शर्मा को हार्दिक रूप से बधाई देता हूँ

तथा मुझे पूरा विश्वास है कि यह ग्रन्थ भारतीय विद्या के मनीषियों, साहित्यशास्त्र के विचारकों एवं शोधछात्रों में अत्यन्त ही लोकप्रिय होगा। आशा करता हूँ कि डॉ० शर्मा की लेखिनी से अन्य इसी प्रकार के ग्रन्थ संस्कृत समाज को प्राप्त होते रहेंगे। मैं परमपिता परमेश्वर से डॉ० शर्मा के दीर्घायु होने की कामना करता हूँ।

30–9–94।

डॉ० पुष्पेन्द्र कुमार
प्रोफेसर इन्चार्ज,
संस्कृत-विभाग,
साउथ कैम्पस, नई दिल्ली।

प्ररोचना

संस्कृत-काव्यशास्त्र का लेखबद्ध इतिहास ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी में भरत मुनि से प्रारम्भ होता है, जबकि महान् शास्त्रकार भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र की रचना करके काव्य-समालोचना के लिए एक यथार्थ सरणि का निर्देश किया था। उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रकारों और कवियों ने भरत मुनि को महान् आदर प्रदान करते हुए उनके मार्ग का अनुसरण किया। इन काव्यशास्त्रकारों में राजशेखर और क्षेमेन्द्र आचार्य भी हुए, जिनके काव्य-समालोचना सम्बन्धी सिद्धान्तों को उत्तरवर्ती लेखकों ने बहुत अधिक आदर दिया। हमारे आदरणीय डॉ० विष्णुदत्त शर्मा ने इन दोनों महान् आचार्यों के काव्यशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन करके समालोचना जगत् की महती आवश्यकता को पूरा किया है। ग्रन्थ को देखकर मन में स्वतः ही इसकी प्रशंसा करने तथा इस विषय पर कुछ लिखने की इच्छा जागृत हो जाती है।

भरत मुनि के पश्चात् अनेक मनीषी विद्वानों ने काव्यशास्त्र विषय पर ग्रन्थों की रचना की। इनमें भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, रुद्रभट, आनन्दवर्धन, राजशेखर, अभिनवगुप्त, कुन्तक, महिमभट्ट, भोज, क्षेमेन्द्र, मम्मट, रुय्यक, सागरनन्दी, वाग्भट प्रथम और द्वितीय, धनञ्जय, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, कविराज विश्वनाथ, रूप गोस्वामी, अप्पय दीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ आदि के नाम बहुत अधिक आदर के साथ लिये जाते हैं। इनके अतिरिक्त भी अनेक ज्ञात एवं अज्ञात नाम वाले मनीषी विद्वानों ने काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ लिखकर अपने सिद्धान्तों का प्रणयन किया था।

काव्यशास्त्रप्रणेताओं की इस सारणी में राजशेखर और क्षेमेन्द्र का नाम निश्चय ही महत्वपूर्ण और वन्दनीय है। 9वीं-10वीं शताब्दी ई० के मध्य अपनी कृतियों से विद्वत् समाज को चमत्कृत करने वाले राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' नामक महान् ग्रन्थ की रचना करके काव्यरचना और काव्य-समालोचना के मार्ग को एक नई दिशा प्रदान की थी। राजशेखर के ही अनुसार 'काव्यमीमांसा' में 18 अधिकरण थे। परन्तु वर्तमान समय में केवल एक ही अधिकरण प्राप्त है। इसमें 18 अध्याय हैं। यह एक ही अधिकरण बहुविध जानकारी देने वाला महान् कोष है। सम्पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध होता तो निश्चय ही राजशेखर को सर्वश्रेष्ठ काव्यशास्त्रकार होने का गौरव प्राप्त होता।

राजशेखर केवल काव्यशास्त्रकार ही नहीं थे, परन्तु कवि भी थे। वे नाटककार थे। उनकी चार नाट्य कृतियों को प्राप्त किया गया है–'कर्पूरमञ्जरी', 'विद्धशालभञ्जिका', 'बालरामायण' और 'बालभारत'। इनमें भी 'बालभारत' के केवल दो अंक प्राप्त हुये हैं। इन नाट्य-कृतियों के अवलोकन से राजशेखर की काव्य-रचना सम्बन्धी प्रतिभा का उज्ज्वल बोध होता है।

राजशेखर के कुछ ही समय बाद क्षेमेन्द्र का आविर्भाव हुआ था। इनका समय 11वीं शताब्दी ई० का रहा था। क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्त के शिष्य थे। राजशेखर के समान ही वे काव्यशास्त्रकार भी थे और कवि भी। क्षेमेन्द्र की 40 ग्रन्थों की रचना की सूचना मिलती है, परन्तु वर्तमान समय में 32 ग्रन्थ उपलब्ध हुये हैं। इनमें काव्यशास्त्र सम्बन्धी महत्वपूर्ण ग्रन्थ दो हैं–'औचित्यविचारचर्चा' और 'कविकण्ठाभरण'। 'सुवृत्ततिलक' और 'कविकर्णिका' को भी काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ कहा जा सकता है। इनके महत्वपूर्ण काव्य हैं–'दशावतारचरित', 'बौद्धावदानकल्पलतिका', 'शशिवंश-काव्य' और 'अमृततरंग'। इनके अतिरिक्त 'पद्यकादम्बरी', 'बृहत्कथामंजरी', 'भारतमंजरी', 'रामायणमंजरी', 'वेतालपंचविंशति', और वात्सायन सूत्रधार' भी उनकी रूपान्तरित काव्य कृतियाँ हैं। क्षेमेन्द्र की सभी रचनाओं के नाम लिखना तथा उनका परिचय देने का यहाँ स्थान नहीं हैं। डॉ० विष्णु दत्त शर्मा ने अपनी इस प्रकाशित महान् कृति में क्षेमेन्द्र की सभी प्रकाशित और अप्रकाशित रचनाओं की विधाओं का वर्गीकरण करके उनका संक्षिप्त परिचय पृ० 63 से 83 तक दिया है।

संस्कृत समालोचना जगत् में विभिन्न भागों या सम्प्रदायों का–रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य और ध्वनि का कथन किया जाता है। क्षेमेन्द्र इनमें औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। यद्यपि औचित्य सम्प्रदाय को समालोचना साहित्य में उतनी अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हुई, तथापि अन्य ध्वनि आदि सम्प्रदायों के आचार्यों ने काव्य में औचित्य की महत्ता को निश्चय रूप से स्वीकार किया था। आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' की 3·14 कारिका की वृत्ति में अनौचित्य को रसभङ्ग का सबसे बड़ा कारण कहा और औचित्य को रस का प्रतिष्ठापक बताया (अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्। प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥)। क्षेमेन्द्रने इसी औचित्य को काव्य का प्राणभूत तत्व मानकर अपने औचित्य के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की थी।

डॉ० विष्णुदत्त शर्मा ने अपनी इस महनीय कृति में संस्कृत काव्यशास्त्र जगत् के इन महनीय आचार्यों के काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। 14 अध्यायों में परिसीमित इस ग्रन्थ में काव्यशास्त्र सम्बन्धी विविध विषयों का उल्लेख कर अन्य आचार्यों के मतों को भी उद्धृत कर दोनों

आचार्यों के मत प्रस्तुत किये हैं। इनको संक्षिप्त रूप से यहाँ प्रदर्शित करना उपयुक्त होगा।

प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रथम अध्याय भूमिका के रूप में है। इसमें लेखक ने कविराज राजशेखर और आचार्य क्षेमेन्द्र के समय, जीवनवृत्त व्यक्तित्व और रचनाओं का विस्तृत परिचय दिया है। लेखक ने अपने सभी कथनों को सप्रमाण प्रस्तुत किया है। राजशेखर के काल निर्णय के सम्बन्ध में विविध मतों का विस्तृत निर्देश करके लेखक ने निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि राजशेखर का समय 874–970 ई० रहा होगा। मूल स्थान महाराष्ट्र होने पर भी यायावर होने से उन्होंने विभिन्न देशों का भ्रमण किया। कुन्तल, विदर्भ, लाट और चेदी से उनका भावनात्मक सम्बन्ध रहा। उनकी पत्नी अवन्ती की थी, ब्राह्मण होने पर भी उन्होंने चौहानवंशी क्षत्रिय कुमारी से विवाह किया था। वह विदुषी थी तथा उसके काव्य शास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों का राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में उल्लेख किया है।

राजशेखर विविध विषयों के विद्वान् थे। उनके ग्रन्थों से उनके वेद-वेदांगों, व्याकरण शास्त्र, रामायण-महाभारत तथा अन्य काव्यों, उपनिषद्-पुराण-काव्यशास्त्र और भूगोल तथा विविध भाषाओं के ज्ञान का परिचय मिलता है।

राजशेखर की छः कृतियों का उल्लेख मिलता है। इनमें पाँच उपलब्ध हैं तथा प्रकाशित हैं—काव्यमीमांसा, बालरामायण, बालभारत, कर्पूरमंजरी और विद्धशालभंजिका। छठी रचना के सम्बन्ध में कुछ विद्वान् 'हरविलास' काव्य को और कुछ 'भुवनकोष' को मानते हैं। डा० विष्णुदत्त शर्मा ने राजशेखर की उपलब्ध रचनाओं की संक्षिप्त समीक्षा भी की है।

औचित्य-सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में काश्मीरी विद्वान् क्षेमेन्द्र का नाम समालोचना साहित्य में प्रसिद्ध है। क्षेमेन्द्र ने अपनी कुछ रचनाओं में लिखा है कि उन्होंने राजा अनन्त के समय में ग्रन्थ की रचना की। अनन्त का शासन 1028–1063 ई० रहा। उसके पुत्र कलश ने 1063–1089 तक राज्य किया। अन्य सब उद्धरणों में क्षेमेन्द्र का समय 990–1066 ई० प्रतिपादित होता है।

सरस्वती के वरद पुत्र क्षेमेन्द्र काश्मीरी थे, परन्तु इनके जन्म स्थान का नाम विदित नहीं है। इनकी पारिवारिक वंश परम्परा छः पीढ़ियों की विदित होती है जिसका उल्लेख लेखक ने अपने ग्रन्थ के पृ० 60 पर किया है। विविध विषयों के विद्वान् क्षेमेन्द्र ने विविध विषयों पर अनेक विधाओं में ग्रन्थों की रचना की। लेखक का यह कथन सत्य है कि क्षेमेन्द्र एक सफल नाटककार, यथार्थ इतिहासवेत्ता, ईमानदार समालोचक, विद्वान् कोशकार, मौलिक-साहित्य-विमर्शक, समाजसुधारक, धार्मिक, सहिष्णु, नीतिज्ञ, महाकवि और सुयोग्य लब्धप्रतिष्ठ आचार्य के रूप में विश्रुत हैं। इनके ग्रन्थों को सात विधाओं में विभक्त किया जा सकता है—शास्त्रीय ग्रन्थ, काव्य,

उपदेशात्मक काव्य, हास्य आख्यान, नाटक, सारांश रूपान्तर और कोष। डॉ० शर्मा ने अपने ग्रन्थों में उपलब्ध ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय भी दिया है।

काव्य के प्रयोजन का निर्देशन करना काव्यशास्त्र का एक प्रमुख विषय है। विभिन्न समालोचकों ने काव्य के प्रयोजनों का निर्देश किया है। राजशेखर ने काव्य के प्रयोजनों को दो भागों में विभक्त किया—कविनिष्ठ और पाठकनिष्ठ। कवि-निष्ठ प्रयोजन हैं—(1) आनन्द (2) कीर्ति और (3) धन की प्राप्ति। पाठकनिष्ठ प्रयोजन हैं—(1) शिष्यहित, (2) हितोपदेश, (3) राजोपकार और (4) लोकरुचि। परन्तु क्षेमेन्द्र ने अक्षय कीर्ति को ही काव्य का प्रयोजन माना है।

काव्य के हेतुओं के सम्बन्ध में भी आचार्यों ने विशद विवेचन किया था। राजशेखर ने काव्य के तीन हेतु कहे-बुद्धिमत्ता, अभ्यास और कवियों का उपनिषत्। यही प्रतिभा है और यह दो प्रकार की है--कारयित्री और भावयित्री। कारयित्री पुन: तीन प्रकार की है—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। राजशेखर का कथन है कि प्रतिभा के आधार पर ही विभिन्न प्रकार की प्रतिष्ठा होती है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य के हेतु के रूप में कवित्व शक्ति की कल्पना की है। यह प्रयत्न दो प्रकार का है—दिव्य और पौरुष। डॉ० शर्मा का कथन है कि राजशेखर की शक्ति और क्षेमेन्द्र की शक्ति में साम्य है। राजशेखर की शक्ति को समाधि और अभ्यास उद्‌भासित करते हैं, जबकि क्षेमेन्द्र की शक्ति उपासना और अभ्यासगम्या है। राजशेखर और क्षेमेन्द्र द्वारा प्रस्तुत ये हेतु मम्मट के कथन से मेल खाते हैं, जबकि वे काव्य के तीन हेतु—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास कहते हैं।

काव्य का लक्षण राजशेखर ने किया है—"गुणवदलङ्कृतञ्च वाक्यमेव काव्यम्"। यह लक्षण प्राचीन आचार्यों के सन्दर्भ में है। काव्यपाक के सम्बन्ध में वे अपनी पत्नी के मत को प्रस्तुत करते हैं, रस के लिये उचित शब्दार्थ सूक्तियों का निबन्धन पाक है। इस प्रकार राजशेखर काव्य में रस गुण और अलङ्कार तीनों को अनिवार्य तत्व मानते हैं। परन्तु क्षेमेन्द्र ने गुण और अलङ्कार को काव्य का बाह्य तत्व ही माना। उनके अनुसार शब्दार्थ काव्य के शरीर हैं और रस उसकी आत्मा है। परन्तु यह रस भी औचित्य के अभाव में निस्सार है। अत: काव्य की आत्मा औचित्य है। औचित्य ही काव्य का काव्यत्व है।

इस प्रकार राजशेखर और क्षेमेन्द्र दोनों ने शब्दार्थ को काव्य का शरीर माना तथा रस को आत्मा। गुण और अलंकार सौन्दर्य के आधायक हैं। परन्तु क्षेमेन्द्र ने रस के औचित्य का प्रतिपादन कर औचित्य को रस सिद्ध काव्य का जीवन माना।

काव्य समालोचना में चमत्कार पद का बहुधा प्रयोग हुआ है। चमत्कार का अभिप्राय काव्यरसास्वादन है। पण्डित विश्वेश्वर ने चमत्कार की परिभाषा की है—चमत्कारस्तु विदुषामानन्द-परिवाहकृत्। विद्वानों में आनन्द को प्रवाहित करने वाला तत्व चमत्कार है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने चमत्कार पद पर विशेष विचार किया था। यह काव्य का उपादेय तत्व है। चमत्कार के निर्माण में अक्षम कवि में कवित्व का अभाव है। चमत्कार के अभाव में काव्य ऐसा ही है, जैसा कि अङ्गनाओं में लावण्य से रहित यौवन।

डॉ० शर्मा ने अपने प्रबन्ध में क्षेमेन्द्र के औचित्य-सिद्धान्त पर विशेष रूप से विचार किया है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का स्थिर जीवित माना है। वे कहते हैं—

अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः स्वयम्।
औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥

औचित्य की परिभाषा उन्होंने की है—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥

क्षेमेन्द्र ने पद-वाक्य आदि के भेद से औचित्य के 27 भेद कहे हैं। इन्हीं के अन्तर्गत उन्होंने काव्य एवं काव्यशास्त्र के सभी तत्वों को अन्तर्निविष्ट कर लिया। यद्यपि अन्य आचार्यों ने औचित्य को काव्य की आत्मा तो स्वीकार नहीं किया, तथापि समालोचना में इसको अत्यधिक महत्व दिया, क्योंकि औचित्य के अभाव में काव्य का सारा सौन्दर्य और चमत्कार तिरोहित हो जाता है। प्रस्तुत प्रबन्ध में क्षेमेन्द्र के इस औचित्य सिद्धान्त और भेद-प्रभेदों का विवेचन किया गया है।

काव्य का आस्वादन और सौन्दर्य बिना रसों और अलङ्कारों के सम्भव नहीं। रस को परमात्मरूप (रसो वै सः) कहकर ऋषियों ने रसास्वाद को ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा। प्रस्तुत प्रबन्ध में इसकी विस्तृत विवेचना कर लेखक ने राजशेखर का मत उद्धृत किया कि रस काव्य की आत्मा है (काव्यमीमांसा अ० 3 पृ० 16) क्षेमेन्द्र के अनुसार काव्य का रससिद्ध होना अनिवार्य है तथा काव्य में रसौचित्य निश्चय रूप से होना चाहिये।

काव्यगत अलङ्कार दो प्रकार के हैं—शब्दगत और अर्थगत। सभी आचार्यों ने अलङ्कार को काव्य का अनिवार्य तत्व स्वीकार किया। परन्तु ध्वनिवादी आचार्यों ने उत्तम काव्य में ध्वनि को काव्य की आत्मा कहकर रस को अलङ्कार्य माना। उन्होंने अलङ्कार को गौणतत्व तथा रस को मुख्य तत्व प्रतिपादित किया। राजशेखर ने अलङ्कारों की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में अनेक प्राचीन आचार्यों के नामों का उल्लेख किया है, परन्तु इन आचार्यों तथा उनके ग्रन्थों का अन्यत्र विवरण नहीं मिलता। क्षेमेन्द्र ने अलङ्कारों का निवेश भी औचित्य के

अन्तर्गत कर लिया है और अलङ्कारौचित्य का निरूपण किया है। उन्होंने अलङ्कार के सम्बन्ध में कोई मौलिक विचार नहीं दिये।

डा० विष्णुदत्त शर्मा ने अपने इस प्रबन्ध के सप्तम अध्याय में काव्यगत गुणों और दोषों पर विस्तृत प्रकाश डाला है तथा प्राचीन काव्यशास्त्रियों के मतों की विस्तार से व्याख्या की है। परन्तु राजशेखर एवं क्षेमेन्द्र द्वारा प्रस्तावित दोष-गुण विवेचना को प्रस्तुत नहीं किया। इस सम्बन्ध में लेखक का कथन है कि यद्यपि दोनों आचार्य काव्य सम्बन्धी गुणों और दोषों से भलीभांति परिचित थे, तथापि दोनों में से किसी ने भी गुण-दोषों के सम्बन्ध में कोई पृथक् उद्भावना नहीं की। तथापि इनकी रचनाओं में इन तत्वों के विवेचन के बीज निहित हैं। राजशेखर ने काव्य को गुणवत् कहकर (गुणवदलङ्कृतञ्च वाक्यं काव्यम्) काव्य में गुण को अनिवार्य तत्व माना है। सम्भवत: गुणों के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती आचार्यों के ही मत को स्वीकार कर लियाहोगा, अथवा 'काव्यमीमांसा' के अनुपलब्ध अधिकरणों में कहीं इस तत्व का विवेचन होगा। दोषों के सम्बन्ध में भी राजशेखर ने विशेष विवेचन नहीं किया। 'काव्यमीमांसा के 18वें अध्याय में यह कहकर की हमारे बताये मार्ग का अनुसंधान न करने वाले कवि के अन्य सब गुण भी दोष हैं और उसका अनुसंधान करने वाले कवि के दोष भी गुण है।

क्षेमेन्द्र ने भी गुणों ओर दोषों की पृथक् विवेचना नहीं की है। "औचित्य विचारचर्चा" में उन्होंने चतुर्थ औचित्य को गुणौचित्य कहा है। इससे सिद्ध है कि वे गुणों को काव्य में बहुत महत्व देते थे। 'कविकण्ठाभरण' में क्षेमेन्द्र ने तीन प्रकार के गुण और तीन प्रकार के दोष कहे हैं।

गुण—शब्दवैमल्य, अर्थवैमल्य और रसवैमल्य।

दोष—शब्दकालुष्य, अर्थकालुष्य और रसकालुष्य।

इस आधार पर क्षेमेन्द्र ने काव्य को पांच भेदों में विभक्त किया था—

(1) सगुण, (2) निर्गुण, (3) सदोष (4) निर्दोष और (5) सगुणदोष।

क्षेमेन्द्र ने अपने इन कथनों को उदाहरणों से सम्पुष्ट किया है।

काव्य-समालोचना में रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति नामक तत्वों का बहुत महत्व रहा है। यद्यपि भरत ने इनका संकेत अवश्य किया है, तथापि उसकी आलोचना का मुख्य आधार रूपक रचनायें ही रही थीं। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में विभिन्न शैलियों को प्रवृत्ति कहकर चार नाम दिये—

आवन्ती, दाक्षिणात्या, ओड्रमागधी और पाञ्चाली।

यह विभाजन स्पष्ट रूप से देशगत आधार पर रहा था। उत्तरवर्ती काल में इन्हीं को आचार्यों ने रीति नाम दिया। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा (रीतिरात्मा काव्यस्य) कहकर इनके महत्व को प्रतिष्ठापित किया था। उसने तीन रीति कहीं—वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली।

राजशेखर ने रीतियों के सम्बन्ध में विस्तृत उपयोगी विचार प्रस्तुत किये। उसने मागधी और मैथिली रीतियों के नाम का उल्लेख करके भी वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली को स्वीकृति प्रदान की। उन्होंने काव्य को सजीव पुरुष तथा साहित्य विद्या को सजीव स्त्री के रूप में चित्रित कर उनको देश के चारों भागों में घुमाया। विभिन्न देशों में उनका वेश-धारण विभिन्न था। वहां उन्होंने चार प्रकार की प्रवृत्ति और वृत्ति प्रदर्शित की परन्तु रीति तीन ही थीं। पूर्व में औड्रमागधी प्रवृत्ति तथा भारती वृत्ति थी। यहां की रीति गौड़ी थी। पाञ्चाल देशों में पाञ्चाल-मध्यमा प्रवृत्ति तथा सात्वती या आरभटी वृत्ति थी। यहां पाञ्चाली रीति प्रचलित हुई। मालवदेश में आवन्ती प्रवृत्ति तथा सात्वती और कैशिकी वृत्ति थी। यहां की रीति भी पाञ्चाली रही होगी। दक्षिण दिशा में दाक्षिणात्या प्रवृत्ति और कैशिकी वृत्ति प्रचलित थी। यहाँ की रीति वैदर्भी कहलाई।

क्षेमेन्द्र ने अपने किसी भी ग्रन्थ में रीतियों के विषय में कोई दिशा निर्देश नहीं किया। वे सम्भवत: रीति को काव्य मार्ग कहते हैं। उनका कथन है कि अन्य काव्य-अङ्गों के विषय में स्वयं ही औचित्य का निर्वाह करलेना चाहिये।

काव्य की समालोचना में पद, वाक्य, शब्द और अर्थ पर निश्चित रूप से विचार किया जाता है। राजशेखर और क्षेमेन्द्र का तुलनात्मक अध्ययन करते हुये लेखक ने इन तत्वों पर भी विचार प्रस्तुत किया है। वर्णों का समूह पद और शब्द हैं। यह सुबन्त और तिङन्त होता है। व्याकरण को शब्दशास्त्र और मीमांसा को वाक्य शास्त्र कहते हैं। सार्थक पदों का समूह वाक्य है और यह वाक्य ही काव्य रूप में परिणत होता है। सभी काव्यशास्त्रियों ने इस विषय पर विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की है।

राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' के छठे अध्याय में शब्द और उसके अर्थ का परिचय कराया है। उनके अनुसार अर्थवान् शब्द ही पद है। पद द्वारा वस्तु के असाधारण धर्म का कथन होता है। यह अर्थ अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव तीनों से रहित होना चाहिये। राजशेखर का कथन है कि अभीप्सित अर्थ को प्रकट करने वाला पदसमूह वाक्य है। पदानां सन्दर्भो वाक्यम्।

क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचारचर्चा' में पदौचित्य और वाक्यौचित्य की चर्चा की है। अपने तीनों काव्य शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में इसके अतिरिक्त अन्य कोई विचार उन्होंने प्रस्तुत नहीं किया।

अर्थ को प्रस्तुत करने वाले शब्द और वाक्य ही काव्य के शरीर की रचना करते हैं। सामान्यत: काव्यशास्त्रियों ने तीन प्रकार के अर्थ कहे हैं—वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य। ये तीन शब्द शक्तियों अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना द्वारा प्रकट किये जाते हैं। इनका विस्तृत विवेचन मम्मट के 'काव्यप्रकाश' और विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' में है।

राजशेखर ने 'काव्यानुशासन' नामक नवम अध्याय में तीन प्रकार के अर्थ कहे हैं—दिव्य, दिव्य मानुष और मानुष्य। इनमें अभीष्ट पातालीय, मर्त्यपातालीय, दिव्यपातालीय और दिव्यमर्त्यपातालीय—इन चार भेदों को जोड़कर अर्थों की संख्या सात तक पहुंचा दी है। ये अर्थ वस्तुत: वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य ही हैं।

क्षेमेन्द्र ने अर्थ को प्रबन्ध के साथ जोड़कर प्रबन्धार्थ का औचित्य प्रदर्शित किया है 'औचित्य विचार चर्चा' की 13वीं कारिका में उन्होंने जिस अर्थविशेष की चर्चा की है, वह अर्थ वाच्यादिस्वरूप है। अर्थात् वह तीन प्रकार का है—वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य।

कवियों के आचार, मान्यतायें, सिद्धान्त आदि तत्वों को कवि-समय कहा गया है। यद्यपि ये तत्व सभी कवियों के काव्यों में विद्यमान हैं तथापि सर्वप्रथम राजशेखर ने ही इस तत्व का विवेचन 'काव्यमीमांसा' में किया। इसके बाद विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' के सातवें परिच्छेद में कविसमयों का परिगणन किया था।

'काव्यमीमांसा' के 14, 15 और 16 अध्यायों में कविसमयों का विस्तृत उल्लेख है। कविसमय तीन प्रकार का है—भौम, स्वर्ग्य और पातालीय। इनमें भौम प्रधान है।

भौम कविसमय के चार भेद हैं—जातिरूप, द्रव्य रूप, गुणरूप और क्रियारूप। पुन: इन चारों के तीन-तीन भेद हैं—असत् का उल्लेख, सत् का अनुल्लेख और नियम।

कुछ वस्तुओं के रक्त, श्वेत आदि गुण कविसमय में निर्धारित किये गये हैं। यथा माणिक्य का रक्तवर्ण, पुष्पों का श्वेतवर्ण और मेघों का कृष्णवर्ण। कुछ वर्णों में भेद होते हुये भी अभेद माना जाता है। यथा, काला-नीला, काला-हरा, काला-श्यामल, पीला-लाल, गौर-श्वेत आदि। कुछ गुणों में भी वर्ण की कल्पना की गई है। यथा यश और पुण्य का वर्ण श्वेत है तथा अपयश और पाप का वर्ण कृष्ण है।

पृथ्वी से ऊपर अन्तरिक्ष और देवलोक आदि के सम्बन्ध में कवियों की विविध मान्यतायें हैं। चन्द्रमा, सूर्य, तारे, कामदेव आदि के सम्बन्ध में विविध मान्यतायें कवियों में प्रचलित हैं।

राजशेखर ने कुछ पातालीय कविसमयों की भी गणना की है। नाग, सर्प, दैत्य, दानव, असुर आदि के सम्बन्ध में अनेक कविसमय राजशेखर ने परिगणित किये हैं।

यह द्रष्टव्य है कि राजशेखर द्वारा निर्दिष्ट ये कविसमय न तो प्रसिद्ध हैं और नाहीं लोकसिद्ध। ये तो कवियों की कल्पना के कारण कवियों में ही प्रसिद्ध हैं तथा काव्यों में ही देखे जाते हैं।

क्षेमेन्द्र ने कवि-समयों पर विचार नहीं किया। न तो 'औचित्य-विचारचर्चा' में ओर नाहीं 'कविकण्ठाभरण' में क्षेमेन्द्र ने इस विषय पर चर्चा की है। सर्वप्रथम राजशेखर ने इस विषय को प्रस्तुत किया था। तदनन्तर कविराज विश्वनाथ के अतिरिक्त अन्य काव्यशास्त्रियों ने इस विषय पर अपना मौन ही रखा। परन्तु क्षेमेन्द्र इन कवि-समयों से परिचित न हों, ऐसा नहीं लगता। उन्होंने अपने उदाहरणों में इनका निर्वाह किया है।

कवि के लिये देश और काल का यथावत् ज्ञान होना अनिवार्य है। अन्यथा वह देशविरुद्ध और कालविरुद्ध वर्णन करके उपहास का पात्र हो सकता है। इस विषय का सर्वप्रथम विस्तृत विवेचन राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा के 17वें और 18वें अध्यायों में किया है।

राजशेखर की कल्पना का सारांश निम्न है—

लोक—(1) भूलोक (पृथिवी), (2) भुवः लोक (अन्तरिक्ष) और (3) स्वः लोक (स्वर्ग)

द्वीप—पृथिवी पर सातद्वीप हैं—जम्बू, शाल्मली, क्रौञ्च, पुष्कर, प्लक्ष, कुश और शाक।

समुद्र—पृथिवी पर सात समुद्र हैं—लवण, रस, सुरा, घृत, दधि, क्षीर और सलिल।

वर्ष—सुमेरु प्रथम वर्ष पर्वत है। इसके चारों ओर इलावृत वर्ष है। इसके उत्तर में तीन वर्ष पर्वत हैं— नील, श्वेत और शृङ्गवान्। इनके तीन वर्ष हैं— रम्यक, हिरण्मय और उत्तरकुरु। दक्षिण में तीन पर्वत है—निषध, हेमकूट और हिमवान्। इनके भी तीन वर्ष हैं—हरिवर्ष, किंपुरुषवर्ष और भारतवर्ष।

भारतवर्ष—इसके नौ खण्ड हैं—इन्द्रद्वीप, ताम्रपर्ण, कसेरुमान्, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वरुण और कुमारीद्वीप।

कुलपर्वत—कुमारीद्वीप में सात कुलपर्वत हैं—विन्ध्य, पारियात्र, शुक्तिमान्, ऋक्ष, महेन्द्र, सह्य और मलय।

पूर्वदेश—बङ्ग, कलिङ्ग, तोषल, कोसल, उत्कल, मुद्गर, विदेह, नेपाल, पुण्ड्र, प्राग्ज्योतिषपुर, ताम्रलिप्तक, मलद, मल्लवर्तक, सुह्म, ब्रह्मोत्तर आदि।

दक्षिणदेश—महाराष्ट्र महिषक, अश्मक, विदर्भ, कुन्तल, क्रथकैशिक, सूपरिक, काञ्ची, केरल, कावेर, मुरल, वासक, सिंहल, चोल, दण्डक, पाण्ड्य, पह्लव, गाङ्ग, नासिक्य, कोंकड़, कोलगिरि, वल्लर आदि।

पश्चिमदेश—देवसम, सुराष्ट्र, दशेरक, त्रणण, भृगुकच्छ, कच्छ, आनर्त, अर्बुद, ब्राह्मणवाह, यवन आदि।

उत्तरापथ—शक, केकय, कोक्काण, हूण, वाणायुज, काम्बोज, बाह्लीक, बह्लव, लिम्पाक, कुलूत, कीर, तङ्गण, तुषार, तुरुष्क, बर्बर, हरहूरब, हहुक, सहुड़, हंसमार्ग, रमठ, करकण्ठ आदि ।

मध्यदेश—हिमालय और विन्ध्याचल का मध्य भाग मध्य देश है । यह विनशन से पूर्व और प्रयाग से पश्चिम में है । इसको अन्तर्वेदी भी कहा गया है ।

दिशायें—प्राची, उदीची, प्रतीची और उपाची । दिशायें आठ भी कही गई हैं—ऐन्द्री, आग्नेयी, याम्या नैर्ऋती, वारुणी, वायव्या, कौबेरी, ईशानी ।

विदिशा—आग्नेयी (पूर्व-दक्षिण के मध्य), नैर्ऋती (दक्षिण-पश्चिम के मध्य), वायव्या (पश्चिम-उत्तर के मध्य,) ऐशानी (उत्तर पूर्व के मध्य) ।

संवत्सर—चान्द्रवर्ष और सौरवर्ष ।

मास—चैत्र, बैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ और फाल्गुन ।

पक्ष—शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष ।

ऋतु—बसन्त, फाल्गुन + चैत), ग्रीष्म (बैशाख + ज्येष्ठ), वर्षा (आषाढ + श्रावण), शरद् (भाद्रपद + आश्विन), हेमन्त (कार्तिक + मार्गशीर्ष), शिशिर (पौष + माघ) ।

अयन—दक्षिणायन (वर्ष, शरद्, हेमन्त),
उत्तरायण (शिशिर, बसन्त, ग्रीष्म) ।

राजशेखर ने देश-काल विभाग का जो चित्र प्रस्तुत किया है, इतना विस्तार अन्य किसी आचार्य ने नहीं किया । क्षेमेन्द्र ने इस विषय पर विस्तार से कुछ नहीं कहा । परन्तु उन्होंने काव्य-समालोचना में देश और काल पर विचार अवश्य किया । औचित्य के 27 भेदों में देशौचित्य और कालौचित्य की गणना करके उन्होंने इस विषय को महत्व प्रदान किया है ।

काव्य-रचना करने वाले कवियों, काव्यज्ञों के शिष्यों एवं काव्य-समालोचकों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । राजशेखर एवं क्षेमेन्द्र ने इन विषयों पर भी विचार प्रस्तुत किये हैं । इनसे पूर्व किसी आचार्य ने इस विषय पर स्वतन्त्र रूप से चिन्तन नहीं किया था ।

राजशेखर के अनुसार कवि दो प्रकार के होते हैं—(1) शिष्य कवि और (2) कवि । शिष्य कवि तीन प्रकार के हैं—बुद्धिमान्, आहार्य बुद्धि और दुर्बुद्धि । बुद्धि तीन प्रकार की होती है—स्मृति, मति और प्रज्ञा । सद्गुरू की उपासना सभी शिष्यों का प्रकृष्ट गुण है ।

राजशेखर ने प्रतिभा को दो प्रकार का कहा है—कारयित्री और भावयित्री । कारयित्री प्रतिभा तीन प्रकार की है—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी । इसके अनुसार

कवि तीन प्रकार के हुये—सारस्वत कवि, आभ्यासिक कवि और औपदेशिक कवि। उनके अनुसार प्रतिभा और व्युत्पत्ति से सम्पन्न कवि ही वास्तविक कवि होता है। वह तीन प्रकार का हो सकता है—शास्त्रकवि, काव्यकवि और उभय कवि। भावयित्री प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति भावक अर्थात् काव्य का मूल्यांकन करने वाला है। वह काव्य का समालोचक है। ये आलोचक चार प्रकार के हैं—अरोचकी, सतृणाभ्यवहारी, मत्सरी और तत्वाभिनेवेशी।

क्षेमेन्द्र ने 'कविकण्ठाभरण' ग्रन्थ में कवि, शिष्य और समालोचक विषय पर विचार किया है। क्षेमेन्द्र ने शिष्यों के तीन भेद किये हैं—अल्पप्रयत्न साध्य, कृच्छ्रसाध्य और असाध्य ये भेद राजशेखर के भेदों के ही समान हैं। क्षेमेन्द्र कवियों के दो भेद करते हैं— उपजीवी और उपजीव्य। इनमें उपजीवी के चार भेद हैं—छायोपजीवी, पदकोपजीवी, पादोपजीवी और सकलोपजीवी, उपजीव्य के दो भेद किये जा सकते हैं—भुवनोपजीव्य और सर्वोपजीव्य क्षेमेन्द्र ने आलोचक के विषय में कुछ नहीं कहा है।

डॉ॰ विष्णुदत्त शर्मा ने इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध के 11 अध्यायों में राजशेखर और क्षेमेन्द्र के काव्यशास्त्र सम्बन्धी सभी सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन अन्य काव्यशास्त्रियों को साथ लेते हुये किया है। अध्यायों में वे इन दोनों आचार्यों पर प्राचीन काव्यशास्त्रों के प्रभाव तथा इनके पश्चाद्वर्ती काव्यशास्त्रियों पर प्रभाव के विषय पर अपने मन्तव्य को प्रस्तुत करते हैं।

राजशेखर से पूर्व काव्यशास्त्र के अनेक प्रसिद्ध आचार्य हो चुके थे और अनेक आचार्यों का उल्लेख 'काव्यमीमांसा' में हुआ है। उनमें से अनेक आचार्यों के अस्तित्व का प्रमाण उपलब्ध नहीं है। तथापि भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, वामन और आनन्द (आनन्दवर्धन) आदि प्रमुख आचार्यों के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। राजशेखर के समय तक काव्यशास्त्र के क्षेत्र में रस, अलङ्कार, रीति और ध्वनि सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हो चुके थे। इन सब सिद्धान्तों का राजशेखर ने अध्ययन किया था और उनका प्रयोग काव्य-समालोचना के सिद्धान्तों की रचना के लिये किया था। इसके साथ ही प्रत्येक क्षेत्र में अपनी नई उद्भावनाओं को भी स्थापित किया था। उन्होंने इनमें सामंजस्य स्थापित करने का भी प्रयास किया था। एक ओर जहां उन्होंने काव्य को गुण और अलङ्कार से युक्त लक्षित करके अलङ्कार सम्प्रदाय को पुष्ट किया, वहीं दूसरी ओर रस को काव्य की आत्मा कहा। राजशेखर ने काव्य में रीति को भी बहुत महत्व दिया तथा वृत्ति और प्रवृत्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया।

राजशेखर ने काव्यपुरुष की कल्पना कर उसकी सहचरी साहित्यविद्यावधू की कल्पना की। भारतवर्ष की विविध काव्यशैलियों का परिचय देने के लिये

उसने इनको पूरे भारत में भ्रमण कराया। रीति के स्वरूप के लिये वामन के मत का विशिष्ट पदरचनारीतिः) अनुसरण करते हुये लक्षण किया—"वचन-विन्यासक्रमः रीतिः।" वामन के अनुसार रीतियाँ भी तीन मानीं—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली। परन्तु उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा नहीं माना।

'काव्यमीमांसा' ग्रन्थ की लेखन पद्धति पर कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का बहुत अधिक प्रभाव है। न केवल पद्धति ही अपनाई गई है, अनेक विषयों का ग्रहण भी किया गया है। वात्सायन के 'कामसूत्र' से भी कुछ अंश प्रभावित हैं। डॉ० शर्मा ने इन प्रभावों को अनेक उद्धरण देकर सम्पुष्ट किया है।

काव्यशास्त्रीय समीक्षा में देश और काल का विभाजन कवि, कविशिष्य, आलोचक, कविसमय आदि विषयों को ग्रहण करना राजशेखर का नया प्रयास ही है। तथापि उस पर अनेक प्राचीन आचार्यों-चाणक्य आदि का निश्चित प्रभाव है। देशकाल-विभाग पर 'वायुपुराण' का भी निश्चित प्रभाव है। काव्यपुरुष सारस्वत की कल्पना में महाभारत वायुपुराण और बाण के प्रभाव का निदर्शन इस प्रबन्ध के लेखक ने प्रदर्शित किया है।

क्षेमेन्द्र का समय राजशेखर के बाद का है तथा इस मध्य अभिनवगुप्त, कुन्तक, महिम भट्ट, भोज आदि आचार्य हो चुके थे। क्षेमेन्द्र की काव्यशास्त्र-विषयक दो रचनाओं—'औचित्य-विचारचर्चा' और 'कविकण्ठाभरण' पर इन प्राचीन आचार्यों का निश्चित प्रभाव है। तथापि उन पर सर्वाधिक प्रभाव भरत, आनन्द-वर्धन और राजशेखर का रहा था।

क्षेमेन्द्र की काव्यशास्त्र को सबसे बड़ी देन औचित्य को प्रतिष्ठा देने की है, जिसको कि उन्होंने काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया। परन्तु इस औचित्य की अनिवार्यता अनेक पूर्ववर्ती आचार्य प्रतिष्ठित कर चुके थे। भरत ने नाट्य में वय, वेष, गति, पाठ्य और अभिनय की अनुरूपता को प्रतिपादित कर औचित्य की प्रतिष्ठा की। आनन्दवर्धन के कथन "औचित्योपनिबन्धस्तु ररस्योपनिषत्परा" तथा क्षेमेन्द्र के कथन "औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्" में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। यह अवश्य है कि क्षेमेन्द्र ने आनन्दवर्धन से और भी आगे बढ़कर अन्य सभी तत्त्वों की अपेक्षा औचित्य को अधिक महत्व दिया। उन्होंने काव्य के सभी तत्त्वों—पद, वाक्य, गुण, रीति, अलङ्कार, प्रबन्ध, रस आदि 27 तत्त्वों को औचित्य में ही सन्निहित कर औचित्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की।

क्षेमेन्द्र का यह विशेष गुण था कि वे किसी भी प्राचीन ग्रन्थ की समस्त वस्तु को संक्षेप से प्रस्तुत कर दें। 'रामायण', 'महाभारत', 'बृहत्कथा', 'कादम्बरी'

आदि को संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करना उनकी महान् योग्यता है। क्षेमेन्द्र के 'कविकण्ठाभरण' पर राजशेखर की 'काव्यामीमांसा' का निश्चित प्रभाव है। डॉ० शर्मा का यह कथन समुचित है कि 'कविकण्ठाभरण' भी 'काव्यमीमांसा' का सार-संक्षेप ही प्रतीत होता है (पृ० 405)। राजशेखर द्वारा प्रस्तुत अनेक विषयों का क्षेमेन्द्र ने संक्षेप से कथन कर दिया है।

पूर्ववर्ती आचार्यों के मन्तव्यों का उत्तरवर्ती आचार्यों के मन्तव्यों पर निश्चित रूप से प्रभाव होता है। राजशेखर के काव्यशास्त्रीय विचारों से भी उत्तरवर्ती आचार्य प्रभावित हुये। अपने इस प्रस्तुत प्रबन्ध में डॉ० विष्णुदत्त शर्मा ने भोज, हेमचन्द्र, क्षेमेन्द्र, मम्मट, विश्वनाथ आदि पर राजशेखर के प्रभाव का निर्देश किया है। इसके साथ ही मम्मट, वाग्भट प्रथम, जयदेव, हेमचन्द्र, कविराज विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ पर क्षेमेन्द्र के प्रभाव का निर्देश किया है।

डॉ० शर्मा ने क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त के सन्दर्भ में पाश्चात्य काव्य-शास्त्रियों के विचारों पर भी तुलनात्मक दृष्टि डाली है। इस सम्बन्ध में अरस्तू, लांगिनस, होरेस, पोप आदि के नाम विशेष रूप से उल्लिखित किये गये हैं, हिन्दी काव्य एवं काव्यशास्त्र में औचित्य की स्थिति की विद्वान् लेखक ने समीक्षा की है।

ग्रन्थ का उपसंहार करते हुये डॉ० शर्मा ने काव्यशास्त्र की परम्परा में राजशेखर और क्षेमेन्द्र के स्थान का निर्देश करके इन आचार्यों के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। राजशेखर की जितनी भी कृतियाँ हैं। वे सभी अपूर्व, मौलिक एवं सर्वातिशायिनी हैं। प्रत्येक दशा में वे नवीन एवं अद्भुत हैं। राजशेखर जैसे मौलिक नाटककार हैं, वैसे ही कवि भी हैं। जैसे वे कवि हैं, वैसे ही आचार्य हैं। उनका कवित्व और आचार्यत्व दोनों अपूर्व हैं। वे कारयित्री और भावयित्री उभयविध प्रतिभा के स्वामी हैं। यह कथन भी सत्य है कि यदि 'काव्यमीमांसा' के अनुपलब्ध सत्रह अधिकरण एवं 'भुवनकोश' आदि ग्रन्थ उपलब्ध होते तो उनको काव्यशास्त्रियों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त होता।

आचार्य क्षेमेन्द्र की साहित्य सम्पदा विपुल है। उनके नाम से 40 ग्रन्थों के कृतित्व का बोध होता है। उनमें से 6 को छोड़कर सभी उपलब्ध हैं तथा अधिकांश प्रकाशित हो चुके हैं। विविध विधाओं पर क्षेमेन्द्र का पूर्ण अधिकार है। क्षेमेन्द्र द्वारा प्रतिपादित औचित्य का सिद्धान्त वर्तमान समय में भी अपना पृथक् अस्तित्व बनाये हुये हैं तथा इसके आधार पर, संस्कृत में ही नहीं, हिन्दी में भी अनेक शोध प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं। 'कविकण्ठाभरण' में क्षेमेन्द्र ने कविशिक्षा को और सुवृत्ततिलक में वृत्तसम्बन्धी औचित्य को विशिष्ट दिशा प्रदान की है। काव्य-शास्त्रियों में क्षेमेन्द्र का स्थान निःसन्देह अति प्रतिष्ठित है।

ऊपर लिखी गई सम्पूर्ण प्रस्तावना से यह स्पष्ट है कि डॉ० विष्णुदत्त शर्मा ने सम्पूर्ण काव्यशास्त्र का सम्यक् रूप से आलोडन कर यायावर राजशेखर और आचार्य क्षेमेन्द्र का विशेष अध्ययन किया। उन्होंने इस समुद्र से उज्ज्वल मोतियों को निकाल कर प्रस्तुत प्रबन्ध की माला को प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ एक सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में उपयोगी है। इसके लिये डॉ० शर्मा निश्चित रूप से बधाई के पात्र हैं। हमें आशा है कि यह ग्रन्थ भावप्रवण सहृदयजनों के हृदयों में स्थान प्राप्त करेगा और वे इसकी प्रशंसा करने में उत्साहित होंगे। वासन्तिक पुष्पों के समान यह कृति अपनी सुरभि से सबको आप्यायित करने में समर्थ है।

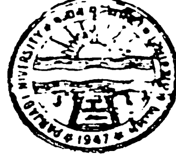
मिश्रा गार्डन,
कनखल, हरिद्वार।
बसन्त पञ्चमी,
15 फरवरी 1994 ई०।

विदुषां वशंवदः
डॉ० कृष्ण कुमार
भू० पू० प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
संस्कृत-विभाग,
गढ़वाल विश्वविद्यालय,
श्रीनगर।

☎ Off. 541441 Ext. 1383

SANSKRIT DEPARTMENT

PANJAB UNIVERSITY, CHANDIGARH-14



Dr. DHAN RAJ SHARMA
Chairman/Head

Ref. No. ____________

Date ____________

सम्मति

अनेक ग्रन्थों एवं काव्य महाकाव्यों के लेखक डा० विष्णु दत्त शर्मा शास्त्री द्वारा लिखित "कविराज राजशेखर तथा आचार्य क्षेमेन्द्र के काव्य सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन" नामक ग्रन्थ मैंने आद्योपान्त पढ़ा। १४ अध्यायों में विभक्त यह ग्रन्थ जिस विषय सामग्री को प्रस्तुत करता है, वह बहुत ही उपयोगी है। १०७ पृष्ठों की से राजशेखर के जीवन के समस्त पहलुओं का ज्ञान बड़ी सरलता से इस ग्रन्थ को पढ़ने से होता हैं। काव्य हेतु काव्य की परिभाषा तथा सौन्दर्यशास्त्र के आधारभूत रस इत्यादि जैसे विषयों पर लेखक ने बड़ी गम्भीरता से विचार किया है। काव्य के स्वरूप को प्रतिपादन करते हुए लेखक ने अनपेक्षित इधर-उधर की बातें कहीं नहीं की, अपितु संक्षेप में ही यत्र-तत्र पूर्व पक्ष उठाकर राजशेखर तथा क्षेमेन्द्र द्वारा उनका निराकरण किस प्रकार किया गया है उसको की संक्षेप से निरुपित किया गया है। दे०पृ० १११ (काव्य पर लगे कुछ आरोप)। इसी प्रकार स्थान-स्थान पर प्रथम आचार्य क्षेमेन्द्र तथा राजशेखर का साम्य संक्षेप से दिखाया गया। अन्त में वैषम्य (दे०पृ० १३७) पांचवे अध्याय में–औचित्यविचार विषय में लेखक ने बड़ी सूक्ष्मदृष्टि एवं पाण्डित्य से काम लिया है। क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ का नाम "औचित्य विचार चर्चा" क्यों रखा इस विषय में लेखक लिखते हैं—

> "औचित्य का काव्यात्मत्व भी वस्तुतः विचारमात्र ही है,
> सिद्धान्ततः नहीं। अर्थात्–क्षेमेन्द्र ने औचित्य का विचार ही
> प्रस्तुत किया है सिद्धान्त नहीं। यही कारण है कि उन्होंने
> अपने एतद्विषयक ग्रन्थ का नाम औचित्यविचारचर्चा रखा है।"

मुझे यह लिखते हुए परम हर्ष हो रहा है कि डा० विष्णु दत्त शर्मा शास्त्री द्वारा लिखित यह ग्रन्थ केवल छात्रों एवं शोध छात्रों के लिए ही मार्गदर्शक नहीं, अपितु साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वानों के लिए भी परमोपयोगी है। अतः यह ग्रन्थ देश के महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों एवं विशिष्ट शोध संस्थानों के लिए भी उपादेय हैं। डा० शर्मा ने जिस परिश्रम एवं अनुसंधान से इस ग्रन्थ को लिखा है वह अपने में एक विशेषता लिए हुए है। यद्यपि अन्य विद्वानों ने भी आचार्य क्षेमेन्द्र

तथा राजशेखर को लेकर बहुत कुछ लिखा पर ऊहापोहात्मिका तुलनात्मक दृष्टि से इस प्रकार का ग्रन्थ पहली बार प्रकाश में आया है। अतः लेखक बधाई के पात्र हैं। मैं आशा करता हूं कि डा० शर्मा भविष्य में भी इसी प्रकार सारस्वत-साधना में सतत समर्पित होंगे।

दिनांक १५.१.१९९५

(धनराज शर्मा)
एम. ए. (संस्कृत एवं दर्शन) पी. एच. डी.
व्याकरण-साहित्य-दर्शनाचार्य
डिप. योग-एजुकेशन
विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़-१६००१४

1

भूमिका

कविराज श्रीराजशेखर

परिचय—कविराज राजशेखर अपने समय के महनीय नाटककार, मौलिक गवेषक, भूगोल के प्रकाण्ड पण्डित बहुज्ञ आलंकारिक, गम्भीर-मीमांसक, तत्कालीन संस्कृति के सफल व्याख्याता एवं बहुमुखी प्रतिभा के महान् कवि तथा समृद्ध आचार्य थे। संस्कृत-साहित्य के इतिहास में उनका स्थान निर्माता कलाकारों की परम्परा में मूर्धन्य रहेगा। उनमें महाकवि कालिदास, माघ एवं भवभूति आदि के समान सर्जनात्मक शक्ति, जिस प्रकार अतिशय रूप में पायी जाती है, उसी प्रकार आचार्य भामह, वामन, रुद्रट एवं आनन्दवर्धनाचार्य आदि के समान शास्त्रोपयोगी प्रतिभा की चमत्कृति पायी जाती है। इसके अतिरिक्त राजशेखर अनेक भाषाओं के विद्वान् थे, जिनका उन्हें गर्व था और यत्र-तत्र उन्होंने इस विषय का बार-बार उल्लेख भी किया है।[1]

वस्तुतः उनमें उत्कृष्ट काव्यत्व, सिद्ध आचार्यत्व, प्रखर भूगोलज्ञता, सफल संस्कृति-व्याख्याकारिता, सर्व-भाषा-चातुर्य, विविध-शास्त्रज्ञता, विश्रुत-नाट्यकला-कृतित्व, ऐतिहासिक गवेषणात्मकता, लौकिकज्ञाननिपुणता, सर्जनात्मक शक्तित्व,

---

1. "यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषा-निषण्णः"

—काव्यमीमांसा, अध्याय 10

बालकविः कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः।
इत्यस्य परम्परया आत्मा माहात्म्यमारूढः॥

—कर्पूरमञ्जरी

गिरः श्रव्या दिव्याः प्रकृतिमधुराः प्राकृतधुराः।
सुभव्योऽपभ्रंशः सरसवचनं भूतवचनम्॥
विभिन्नाः पन्थानः किमतिकथनीयाश्च त इमे।
निबद्धा यस्तेषां स इह कविराजो विजयते॥

– बालरामायण 10

एवं शास्त्रोपयोगी प्रतिभा की अलौकिक ज्योतिः के दर्शन होते हैं। संस्कृत-साहित्य के इतिहास में इस प्रकार के बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य केवल तीन उल्लेखनीय हैं—आचार्य दण्डी, कविराज राजशेखर एवं पण्डितराज जगन्नाथ।

राजशेखर ने अपने साहित्यिक जीवन का श्रीगणेश बाल-नाटकों की रचना से किया और शनैः शनैः वे कवित्व, आचार्यत्व एवं सर्वभाषा-चतुर के मूर्धन्य स्थान पर आसीन हो गये।

नाट्यकला की दृष्टि से उनके नाटक जितने महत्वपूर्ण हैं, उससे अधिक श्लाघनीय हैं। इनमें तत्कालीन ऐतिहासिक, भौगोलिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक अवस्था का चित्रण है। **राजशेखर की "काव्य-मीमांसा" अनेक विषयों की आकर तथा सहस्त्र-वर्षों की शास्त्र-परम्परा का सुन्दर संकलन** है। प्रस्तुत ग्रन्थ निःसन्देह राजशेखर की अन्तिम तथा काव्यशास्त्र-सम्बन्धी प्रौढ़ रचना है, जिसमें उन्होंने अपने नाटकों के उद्धरण दिये हैं। इसी ग्रन्थ के अध्ययन से राजशेखर के विभिन्न शास्त्रों के वैदुष्य का परिचय मिल जाता है।

समय—प्रायः संस्कृत के विद्वानों की परम्परा रही है कि उन्होंने अपने विषय में कुछ नहीं लिखा है। सरस्वती के इन अनन्य उपासकों के हृदय में ख्याति के प्रति विराग की भावना के मूल में दार्शनिक पृष्ठभूमि ही रही होगी। पुनरपि राजशेखर का समय निर्णय करना अन्याय संस्कृत विद्वानों के समान दुरूह नहीं है, तथापि कविराज राजशेखर द्वारा अपनी निश्चित तिथि के उल्लेख के अभाव में कवि के रचनाकाल को लेकर कुछ कठिनाइयाँ अवश्य सामने उपस्थित होती हैं।

अन्तःसाक्ष्य-बहिः साक्ष्य—जहाँ कवियों तथा आचार्यों द्वारा अपने सम्बन्ध में निश्चित तिथि का उल्लेख नहीं मिलता है, वहाँ काल सम्बन्धी समस्या का हल अन्तः साक्ष्यों और बाह्य साक्ष्यों की सामग्री द्वारा खोजा जाता है। राजशेखर ने अपनी रचनाओं में गौरव के साथ अपने को कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल का गुरु बताया है।[1] और अन्तिम नाटक "बाल-भारत" में महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल को अपना संरक्षक लिखा है। महेन्द्रपाल को निर्भयराज भी कहा जाता है।[2] इससे सिद्ध होता है कि राजशेखर कन्नौज के अधिपति महेन्द्रपाल के उपाध्याय (गुरु) थे

---

1. "किमपरमपरैः परोपकार-व्यसननिधेर्गणितैर्गुणैरमुष्य।
रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः सकलकला–निलयः स यस्य शिष्यः॥"
—विद्धशाल-भञ्जिका, अंक–1

2. बालकविः कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः।
इत्यस्य परम्परया आत्मा माहात्म्यमारूढः॥
—कर्पूरमञ्जरी, 1–9

और उनके दिवंगत होने पर उनके पुत्र महीपाल द्वारा समादृत राजकवि पद पर आसीन रहे थे।

यह जानकारी अन्तः साक्ष्य का आधार है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में कश्मीर के उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन, वाक्यपतिराजदेव एवं भवभूति के नाम उद्धृत किये हैं। उनके काल से लेकर राजशेखर के पश्चात् जिन परवर्ती पण्डित-राज जगन्नाथ तक के) आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में राजशेखर के विचार या उनकी सूक्तियाँ उद्धृत की हैं—उनके काल निर्णय के विषय में बहिः-साक्ष्य का प्रामाणिक आधार माना जा सकता है। काल-निर्णय के लिये हमें इन्हीं आधारों का आश्रय लेना होगा।

काल-निर्णय सम्बन्धी विभिन्न विचार—राजशेखर के विषय में उपलब्धअन्तः साक्ष्य और बहिः साक्ष्य प्रमाणों के आधार पर अनेक विद्वानों ने विभिन्न तर्क प्रस्तुत करते हुए कविराज के काल-निर्णय का यत्न किया है। सभी मतों का सार यह निकलता है कि ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के मध्य ही कविराज का आविर्भाव हुआ होगा। इन सात सौ वर्षों के मध्य राजशेखर के आविर्भाव को सिद्ध करने वाले विद्वानों के मत इस प्रकार है—

1. श्री ए० बरो महोदय	—ईसा की सातवीं शताब्दी
2. श्री पीटर्सन, पं० दुर्गाप्रसाद श्री आर० डी० बनर्जी, श्री वी० एस० आप्टे	—ईसा की आठवी शताब्दी
3. डॉ० स्टेनकोनो, प्रो० लैनमैन, श्री सी० डी० दलाल, पं० आर० ए० शास्त्री, श्री नारायण राम आचार्य, श्री एन० जी० सुरू डॉ० पी० वी० काणे, डॉ० मिराशी	—ईसा की नवीं शताब्दी
4. श्री विल्सन	—ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध
5. डॉ० मैक्सूमलर	—ईसा की चौदहवीं शताब्दी

श्री ए० बरो—राजशेखर का रचनाकाल सातवीं शताब्दी स्वीकार करते हैं। अपने मत के समर्थन में वे राजशेखर के नाटक "बाल-रामायण" एवं "बाल-भारत" के निम्न श्लोक को उदधृत करते हैं—

"बभूव वल्मीकभवः कवि पुरा,
ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम् ।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया,
स वर्त्तते सम्प्रति राजशेखरः ।।"

—बाल रामायण 1–16, तथा बाल भारत 1–12

अर्थात् पूर्वजन्म में वह बाल्मीकि नामक महाकवि हुए फिर वे भर्तृमेण्ठ के नाम से भूमि पर उत्पन्न हुए। तदनन्तर उन्होंने ही भवभूति के नाम से भू-मण्डल पर अवतार लिया और अब वे ही राजशेखर के रूप में विद्यमान हैं।

"श्री बरो महोदय महाकवि भवभूति का स्थितिकाल सातवीं शताब्दी का प्रारम्भ मानते है। उपरिलिखित श्लोक को आधार मानकर उनकी धारणा है कि भवभूति ही मृत्यु के अनन्तर राजशेखर के रूप में नवीन जन्म लेकर कुछ समय पश्चात् अर्थात् सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही अवतरित हुए होंगे।"[1]

निराकरण—श्री ए० बरो की गणना के अनुसार यदि राजशेखर से 100 वर्ष पूर्व के लगभग भवभूति का और भवभूति से 100 वर्ष के पूर्व भर्तृमेण्ठ का स्थितिकाल मान लिया जाये तो भर्तृमेण्ठ से 100 वर्ष पूर्व बाल्मीकि का काल मानना होगा, जो समीचीन नहीं है। यह काल गणना का क्रम इतिहास विरुद्ध ही नहीं अपितु हास्यास्पद भी है।

श्री वी० एस० आप्टे भी श्री बरो महोदय के विचार से सहमत नहीं हैं। आप्टे का कहना है कि भवभूति को अपने जीवनकाल में प्रतिष्ठा उपलब्ध नहीं हुई, इसके लिये उनके हृदय में वेदना बनी रही। इसके लिये स्वयं भवभूति के निम्न उद्गार हैं—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यते च मम कोऽपि समानधर्मा,
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ।।

—मालती माधव 1–44

अर्थात् जो कोई इस भू-मण्डल पर हमारी अवज्ञा कर रहे हैं, वे कुछ भी नहीं जानते हैं, उनके प्रति यह प्रयत्न नहीं हैं। कभी न कभी, कहीं तो मेरे ग्रन्थों का सहृदय आलोचक पैदा होगा क्योंकि काल अनन्त है और पृथ्वी विशाल है।

स्पष्ट है कि भवभूति को अपने जीवनकाल में प्रतिष्ठा नहीं मिल सकी तभी तो कवि का यह करुण क्रन्दन रहा। भवभूति का यश फैलने में

1. Bhavbhuti aud his place in Sanskrit Literature.
(Page 17)

लगभग एक शताब्दी का काल लगा होगा। राजशेखर ने भवभूति को अपना आदर्श स्वीकार किया है। अतः भवभूति को आदर्श मानने वाले राजशेखर में भवभूति की मृत्यु के बाद राजशेखर के काल में एक शताब्दी का अन्तर रहा होगा। अतः स्पष्ट है कि भवभूति के दिवंगत होने के तुरन्त पश्चात् राजशेखर का काल मानना असंगत है। श्री वी० एस० आप्टे राजशेखर का काल ईसा का आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध मानते हैं। यथा—

Bhavabhuti was not appreciated in his own days. He had to rest with well ground faith on boundless time and extensive time and extensive earth for the appreciation of his works and it is, I think, quite reasonable to suppose that a period of atleast 1 00 years must have elapsed before the verdict of posterity was unmistakeably pronounced in his favour. At such a distance can alone Rajshekhara be reasonably supposed to mention Bhavabhuti in the manner above referred to. From this I conclude that our poet must have not flourished till at least one hundred years after Bhavbhuti. In other words he could not have lived earlier than the end of the 8th century A.D.[1]

आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध को राजशेखर का समय मानने वाले आप्टे महोदय का भवभूति की प्रतिष्ठा सम्बन्धी कामना-विषयक श्लोक किसी अंश में सत्य माना जा सकता है किन्तु राजशेखर के काल-निर्धारण के सम्बन्ध में इस आधार को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है। अतः अधोलिखित "आप्टे महोदय" का कथन राजशेखर के काल निर्धारण में संगत नहीं ठहरता है। इसके अतिरिक्त राजशेखर ने अपने आश्रयदाता राजा महेन्द्रपाल का उल्लेख किया है। महेन्द्रपाल का राज्य काल 890 ई० से 908 ई० माना जाता है। **अशनी** (राय बरेली) तथा **शिडनी** में प्राप्त शिला-लेखों में राजा महेन्द्रपाल की चर्चा है जो सन् 917–18 ई० के हैं। इन अभिलेखों में महेन्द्रपाल का राज्यकाल 903–907 ई० अंकित है।[2] अतः आप्टे महोदय का मत तर्क सम्मत नहीं है।

राजशेखर ने रुद्रट के काव्यालंकार (काव्यमीमाँसा पृष्ठ 31) आनन्दवर्धन की वृत्ति (पृष्ठ 16) उद्भट के सम्प्रदाय (पृष्ठ 22, 44) और वामन के सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। अतः राजशेखर का समय निश्चय ही सन् 875 ई० सन् के बाद का है। इसलिये श्री आप्टे का मत अप्रामाणिक ठहरता है।

---

1. Rajshekhara his life and writings, p. 14.

2. काव्य-मीमांसा-भूमिका पृष्ठ 3, अनुवादक पं० केदारनाथ सारस्वत।

श्री पीटर्सन एवं श्री पं० दुर्गाप्रसाद जी—इन दोनों विद्वानों ने राजशेखर का काल आठवीं शताब्दी माना है। अपने मत की पुष्टि में इन्होंने "क्षीर-स्वामी" द्वारा विरचित "अमर-कोष" की टीका को प्रमाण माना है। इन दोनों विद्वानों का कथन हैं कि "क्षीर-स्वामी" राजशेखर के समकालीन थे। क्षीर-स्वामी काश्मीर-नरेश जयापीड के गुरु थे। जयापीड का समय 750 ई० है। अत: इन विद्वानों ने "क्षीर-स्वामी" का काल आठवीं शताब्दी माना है और राशेखर को ये दोनों विद्वान् क्षीर-स्वामी का समकालीन मानते हैं। प्रमाणस्वरूप इन दोनों ने "विद्ध-शालभिंजका के चार श्लोक उद्धृत किये हैं। ये चारों श्लोक अमर-कोष की क्षीर-स्वामी कृत टीका में प्रसंगत: लिखे मिलते हैं।[1] वे श्लोक निम्न हैं—

1. "दर-दलित हरिद्रापिञ्जराण्यङ्गकानि"[2]
2. "द्विभैर्व्योम्नि पुराण-मौक्तिककणै:"[3]
3. "गोनासाविनियोजितायतजरत्"[4]
4. "झटिति कुचतटादौ नमोमनमथाय"[5]

निराकरण—"अमरकोष" की टीका लिखने वाले का नाम "क्षीर-स्वामी" अवश्य है, वह राजा जयापीड के गुरु भी थे, यह कथन तो सत्य है किन्तु जिस "क्षीर-स्वामी" ने अमरकोष की टीका लिखी है वे जयापीड के गुरु नहीं थे। उनका स्थितिकाल ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। अत: जहाँ आधार ही गलत हो, वह कथन कैसे सत्य हो सकता है? क्षीर-स्वामी के नाम की भ्रान्ति ही इस भूल का कारण मानी जा सकती है।

श्री आर० डी० बनर्जी ने भी लिखा है कि आर्य क्षेमीश्वर राजा महीपाल देव की सभा में एक प्रसिद्ध कवि थे जिन्होंने 'चण्डकौशिक' नामक नाटक की रचना की है। इसका हिन्दी अनुवाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सत्य-हरिश्चन्द्र नाम से किया है। ये राजशेखर के समय या उनके कुछ काल बाद महीपाल के सभा कवि रहे होंगे। आर्य क्षेमीश्वर के संरक्षक महीपाल बंगाल के पालवंश के राजा थे और "चण्ड-कौशिक" की रचना बंगाल में हुई थी।[6] इस विषय में आर० डी० बनर्जी ने अधोलिखित श्लोक को प्रमाणार्थ प्रस्तुत किया है।

य: संश्रित्य प्रकृतिगहनामार्यचाणक्यनीतिं
जित्वा नन्दान् कुसुमनगरं चन्द्रगुप्तो जिगाय।

---

1. Introduction to Vallabha Deva's Subhashitavali. P. 101.
2. अमरकोष पृ० 18 विद्धशालभञ्जिका 3–17
3. अमरकोष पृ० 22 वि० भ० 1–11
4. अमरकोष पृ० 38 वि० भ० I–3
5. अमरकोष पृ० 187 वि० भ० 1–17
6. आर० डी० बनर्जी : पाल्स ऑफ बंगाल पृ० 73

कर्णाढत्वं ध्रुवमुपगतानद्य तानेव हन्तुं
दोर्दर्पाढय: स पुनरभवच्छ्रीमहीपालदेव: ।।[1]

आचार्य क्षेमीश्वर ने अपने चण्डकौशिक-नाटक की प्रस्तावना में महीपालदेव के सम्बन्ध में लिखा है कि महीपाल ने कर्णाटकों को हराया था। ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा सिद्ध है कि राष्ट्रकूट वंश के राजा तृतीय इन्द्र ने कन्नौज के महीपाल को पराजित किया था। महीपाल ने चन्देले हर्षदेव की सहायता से पुन: राज्य प्राप्त किया। यह घटना सन् 915–917 ई० की है। अत: क्षेमीश्वर को बंगाल के पाल-वंशीय राजा महीपाल का सभा पण्डित मानना कथमपि युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि इस पालवंश के किसी भी राजा ने कर्णाटक की लड़ाई नहीं लड़ी थी और न आर्य चाणक्य की नीति का अनुसरण ही किया था। अत: "आर० डी० बनर्जी" का यह मत भ्रान्ति पर ही आधारित है।[2] इस प्रकार श्री आर० डी० बनर्जी, श्री पीटर्सन, तथा पं० दुर्गाप्रसाद जी के मत अप्रामाणिक सिद्ध होते हैं।

श्री विल्सन महोदय राजशेखर का स्थिति-काल ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध एवं बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानते हैं। विल्सन महोदय अपने मत की पुष्टि में कर्पूर-मञ्जरी (सट्टक) की निम्न प्रस्तावना उदधृत करते हैं—

चाहु आणकुल मौलिमालिआ राअसेहर क ईंद गेहिणी।
भत्तुणो कि इ भवन्ति सुन्दरी सा पउंज इउ मे अभिच्छइ ।।

कविराज श्रीराजशेखर की पत्नी (गृहिणी) अवन्ति सुन्दरी चौहान कुल के मौलिमाला (शिरोभूषण) वंश में उत्पन्न है।

चौहान कुल क्षत्रियों का है। अत: विल्सन महोदय का कथन है कि राज-शेखर किसी क्षत्रिय राजा (जो कि भारत के केन्द्रीय राज्य का प्रशासक था) के मन्त्री थे। अत: उनका स्थितिकाल ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अथवा बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध रहा होगा।

,'In a verse cited from another work by the writer the (Karpuramanajari) his wife is styled as the chaplet of the crest of the Chauhan Race from which it follows that he belonged to that tribe. We can only conclude therefore, that Rajshekhara was the minister of some Rajpur prinee, who flourished in the Central India, at the end of the eleventh or the beginning of the twelveth century."

कर्पूरमञ्जरी पर आधारित विल्सन महोदय का यह अनुमान युक्ति संगत

1. चण्ड कौशिक, (एक)
2. काव्य-मीमांसा, अनु० केदारनाथ सारस्वत, भूमिका पृष्ठ 2

प्रतीत नहीं होता है। यद्यपि राजशेखर की पत्नी क्षत्रिया थी किन्तु राजशेखर स्वयं ब्राह्मण थे। पत्नी के आधार पर पति की जाति का निश्चय करना समीचीन नहीं। दूसरे वे महामन्त्री के पुत्र थे। यह चर्चा उन्होंने कई जगह की है—

"सूक्तमिदं तेनैव हि महामन्त्रिपुत्रेण"[1]

"उक्तं हि तेनैव महासुमन्त्रिपुत्रेण"[2]

किन्तु उन्होंने स्वयं को मन्त्री कहीं नहीं लिखा है। इसके अतिरिक्त उन्होंने गर्व के साथ अपने ग्रन्थों में स्वयं को राजा महेन्द्रपाल का गुरु एवं महेन्द्रपाल को अपना शिष्य कहा है। यथा—

"रघुकुलतिलको महेन्द्रपाल: सकलकलानिलय: स यस्य शिष्य:"[3]

"देवो यस्य महेन्द्रपाल नृपति: शिष्यो रघुग्रामणी: "[4]

"बालकई क इ राओ णिब्भर राजस्स तह उवज्झाओ"[5]

प्रतापी राजा महेन्द्रपाल को अपना शिष्य बतलाने वाला कवि अन्य राजा का मन्त्रित्व कैसे ग्रहण कर सकता है ? दूसरे 959–60 ई० सन् में रचित यशस्तिलका के चतुर्थ आश्वासन [6] में अनेक कवियों का उल्लेख है, उनमें राजशेखर का भी नाम है। लगभग 1000 ई० सन् में रचित धनपाल की तिलक-मंजरी में यायावर के पद्यांशों की प्रशंसा मिलती है—

समाधि-गुणशालिन्य: प्रसन्नपरिपक्त्रिमा: ।
यायावर कवेर्वाचोमुनीनामिव वृत्तय: ।।[7]

तथा उदय-सुन्दरी के लेखक शोड्ढल ने राजशेखर की प्रशंसा की है।

"यायावर: प्राज्ञवरो गणज्ञैराशंसित: सूरिसमाजवर्यै:"[8]

शोड्ढल की रचना का समय ई० सन् 1026–50 के मध्य का है। अत: राजशेखर 950 ई० सन् से पहले हुए थे। फिर विल्सन महोदय का दुर्बल प्रमाणों पर आधारित "11वीं शताब्दी का अन्त अथवा 12वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध" का मत निराधार तथा अनुपयुक्त है।

डॉ० मैक्समूलर राजशेखर का रचना काल ईसा की चौदहवीं शताब्दी मानते हैं। अपने मत की पुष्टि में लिखते हैं—

---

1. बाल रामायण, 1–8
2. बाल भारत, 1–9
3. विद्ध-शाल भंजिका, अंक एक
4. बाल रामायण 1–18, बाल भारत 1–11
5. कर्पूरमञ्जरी, 1–9
6. का० मी० संस्करण भाग 2 पृष्ठ 113
7. पद्य 33 तिलकमंजरी
8. उदय सुन्दरी कथा 8वां उछ्वास पृष्ठ 558

"Rajshekhara lived in the fourteenth century.
He wrote the Prabandhkosh in about 1347 A.D."[1]

उन्होंने राजशेखर को "प्रबन्ध कोष" ग्रन्थ का रचयिता माना है और प्रबन्ध-कोषकार का काल 1347 ए० डी० माना है। प्रबन्ध-कोशकार राजशेखर का काल तो सही है। किन्तु काव्य-मीमांसाकार राजशेखर ने प्रबन्ध-कोष की रचना नहीं की है और न इस रचना का उन्होंने कहीं उल्लेख ही किया है।

"प्रबन्धकोष" का रचयिता राजशेखर नहीं है, अपितु राजशेखर सूरी नामक जैन साहित्यकार है, जिसका स्थिति काल चौदहवीं शताब्दी ही है। अतः मैक्समूलर को नाम में भ्रान्ति हुई है, जिसके कारण उन्होंने काव्य-मीमांसाकार को "प्रबन्ध कोषकार" मानकर उनका स्थिति काल 14वीं शताब्दी माना है। यदि मैक्समूलर के मतानुसार राजशेखर को "प्रबन्ध-कोषकार" का रचयिता भी मान लें, तब भी काव्यमीमांसाकार राजशेखर को जैन नहीं माना जा सकता क्योंकि वे वैष्णव थे।

उदाहरणार्थ—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म श्रुतीनां मुखमक्षरम्।
प्रसीदतु सतां स्वान्तेष्वेकं त्रिपुरुषीमयम्॥[2]

अतः राजशेखर को चौदहवीं शताब्दी का मानना संगत नहीं है। राजा महेन्द्रपाल को कविराज राजशेखर ने अपना शिष्य लिखा है—

"देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः"[3]

तथा महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल (उपनाम निर्भयराज) को अपना संरक्षक कहा है—

बालकविः कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः।
इत्यस्य परम्परया आत्मा माहात्म्यमारुढः॥[4]

प्रायः विद्वान् इन दोनों अन्तः साक्ष्यों का आधार मानकर थोड़े बहुत अन्तर से नवीं शताब्दी के आस-पास राजशेखर का समय निर्धारित करते हैं। राजशेखर के स्थिति काल के सम्बन्ध में विभिन्न मत इस प्रकार है—

क्रम संख्या	राजशेखर का स्थिति काल	विद्वानों के नाम	आधार
1.	900 ई०	डॉ० स्टेनकोनो एवं प्रो० लोनमैन	कर्पूरमंजरी-हारवर्ड ओरियन्टल सीरिज, पृ० 179

1. इण्डिया व्हाट केन इट टीच अस ? मैक्समूलर पृष्ठ 328
2. हर-विलासे
3. विद्धशाल-भञ्जिका, अंक–1
4. कर्पूर-मञ्जरी, 1–9

2.	880 ई० से 920 ई० तक	श्री सी० डी० दलाल, पं० आर० ए० शास्त्री	काव्य-मीमांसा (प्रस्तावना) गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, पृ० 31
3.	884 ई० से 959 ई० तक	श्री नारायण राम आचार्य	कर्पूरी-मंजरी-निर्णयसागर प्रेस, पृ० 05
4.	755 ई० से 930 ई० तक	श्री एन० जी० सुरु	कर्पूर-मंजरी (प्रस्तावना) श्री एन० बी० सुरू पृ० 102
5.	875 ई० से 950 ई० तक	डॉ० पी० वी० काने	इन्ट्रोडक्शन टू साहित्य दर्पण डॉ० पी० बी० काणे पृ० 207
6.	885 ई० से 975 ई० तक	डॉ० वी० वी० मिराशी	पाठक कमेमोरेशन वॉल्यूम डॉ० वी० वी० मिराशी, पृ० 365–366

उपरलिखित तिथियों के अवलोकन से यह सिद्ध हो ही जाता है कि 855 ई० से 975 ई० तक का अन्तराल राजशेखर का स्थिति-काल रहा होगा। उचित काल निर्धारण से पूर्व साहित्यिक तथा ऐतिहासिक साक्ष्यों पर भी दृष्टिपात कर लेना उपयुक्त होगा।

साहित्यिक साक्ष्य

राजशेखर ने "काव्य मीमांसा" में इन ग्रन्थों से उद्धरण लिये हैं—रामायण, महाभारत, गीता, रघुवंश, कुमारसम्भव, विक्रमोर्वशीय, अभिज्ञान-शाकुन्तलम्, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, जानकी-हरण, हयग्रीववध, मालती-माधव, कादम्बरी, वेणीसंहार, शिवमहिम्नस्तोत्र आदि ग्रन्थों से सुन्दरतम श्लोकों को उदाहरणार्थ ग्रहण किया है। इनके अतिरिक्त अन्य उद्धरणों के ग्रन्थ अज्ञात हैं।

काव्य मीमांसा में उल्लिखित आचार्य—राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा में सुरानन्द, श्यामदेव, वामन, उद्भट, आनन्दवर्धन, आपराजिति, द्रोहिणी, रुद्रट, वाक्पतिराजदेव, अवन्ति सुन्दरी तथा आनन्द। इन उल्लेखों से तत्कालीन मतों के प्रसार का बोध होता है।

काव्य-मीमांसा में उल्लिखित प्रसिद्ध कवि—बाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भारवि, माघ, कुमारदास, बाण, भर्तृमेण्ठ, भट्ट नारायण, भवभूति, भीमट, श्री पुष्पदन्त आदि कवियों की रचनाओं के उद्धरण काव्य-मीमांसा में मिलते हैं।

राजशेखर ने "काव्य-मीमांसा" में जो काश्मीर के उद्भट, वामन आनन्दवर्धन तथा कन्नौज के वाक्पतिराजदेव, एवं भवभूति के नाम उद्धृत किये हैं।[1] इनमें

---

1. कविर्वाक्पतिराज श्रीभवभूत्यादिसेवित: ।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुण-स्तुति वन्दिताम् ॥
—राजतरंगिणी, तरंग 4–140 श्लोक

आचार्य उद्भट काश्मीर नरेश जयापीड की विद्वत सभा को मण्डित करते थे।[1] राजा जयापीड का राज्यकाल 779 से 813 ई० सन् तक (विक्रमाब्द 836 से 870 तक)। यही आचार्य वामन का स्थितिकाल है।[2] श्रीआनन्दवर्धनाचार्य काश्मीर के राजा अवन्ति वर्मा की राज सभा को अलंकृत करते थे।[3] जिनका शासन-काल 857 से 884 ई० सन् तक (914 से 941 विक्रमी सम्वत् तक) था। अतः इन विद्वानों के बाद ही राजशेखर का अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है।

राजशेखर के परवर्ती प्रसिद्ध साहित्यकार ये हैं, जिन्होंने अपने ग्रन्थों में राजशेखर के सिद्धान्तों, भावों एवं शब्दों को ग्रहण किया है—आचार्य धनञ्जय, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, सोमदेव, सोड्ढल, कुन्तक, मम्मट, वाग्भट, हेमचन्द्र, अरिसिंह, अमरचन्द्र, देवेश्वर, केशवमित्र एवं आचार्य श्री विश्वनाथ आदि। परवर्ती साहित्य-कारों में धनञ्जय तथा क्षेमेन्द्र कालक्रम की दृष्टि से अति निकट हैं, जिन्होंने राजशेखर के समय के कुछ काल बाद ही उन्हें अपनी रचनाओं में उद्धृत किया है। दशरूपककार धनञ्जय ने आयोग की "आनन्द" नामक अवस्था का उदाहरण (विद्धशाल-भंजिका) के निम्न श्लोक को दिया है—

आनन्दो यथा विद्धशालभञ्जिकायाम्—

सुधाबद्ध–ग्रासैरुपवन–चकोरैरनुसृताम्।
किरञ्ज्योत्स्नामच्छां नवलवलिपाक-प्रणयिनीम्॥[4] इत्यादि

धनञ्जय का समय 974 ई० से 994 ई० के मध्य का है। तथा आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी राजशेखर के अनेक श्लोकों को अपनी कृति "सुवृत्ततिलकं तथा" "औचित्य विचारचर्चा" में उद्धृत किया है। यथा वा राजशेखरस्य—

चिताचक्रं चन्द्रः कुसुमधनुषो दग्धवपुषः,
कलंकस्तत्रत्यः स्पृशति मलिनाङ्गार-कलनाम्।

---

1. विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्यभूमिभर्तुः सभापतिः॥
—राजतरंगिणी तरंग, 4–495 श्लोक

2. मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥
—राजतरंगिणी तरंग–5 श्लोक 496

3. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथांरत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥
—राजतरंगिणी 5–तरंग 149 श्लोक

4. दशरूपक चतुर्थः प्रकाशः॥ 306॥ श्लोक

यदेतत्स ज्योतिर्दरदलित कर्पूर धवलं,
मरुद्भिर्भस्मैतत्–प्रसरति विकीर्णं दिशि दिशि ।।[1] आदि

आचार्य क्षेमेन्द्र का स्थिति काल 990 से 1066 के लगभग तक माना जाता है।

इसी प्रकार सोमदेव ने "यशस्तिलकचम्पू" में अपने से पूर्ववर्ती साहित्यकारों का उल्लेख किया है। जिनमें राजशेखर का नाम अन्त में लिखा मिलता है।

"यथा-उर्व-भारवि-भवभूति-भर्तृहरि-भर्तृमेण्ठ-कण्ठ-गुणाढ्द्य-व्यास-भास-बाण-कालिदास-मयूर-नारायण-कुमार-माघ-राजशेखरादि महाकवि-काव्येषु।[2]

यशस्तिलकचम्पू की रचना 959 ई० में हुई थी। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी "भरत" नाट्य-शास्त्र की टीका में राजशेखर के नाटकों के पद्यों को उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त का काल दशम शताब्दी का अन्तिम भाग तथा ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है।

मम्मट ने "काव्य-प्रकाश" में राजशेखर के नाटकों के श्लोक उदाहरण रूप में ग्रहण किये हैं। "काव्य-मीमांसा" का रचना काल 'पी० वी० काणे' 1050 और 1100 के मध्य मानते हैं।

'श्रीकण्ठ-चरित-महाकाव्य' के रचयिता महाकवि मङ्ख ने भी राजशेखर का उल्लेख किया है। इनका स्थितिकाल 11वीं शताब्दी है।

अतः साहित्यिक साक्ष्य के आधार पर राजशेखर का काल ईसवीं सन् 884 से 959 ई० के मध्य का ज्ञात होता है।

ऐतिहासिक साक्ष्य—"कर्पूर-मञ्जरी" की प्रस्तावना में राजशेखर ने स्वयं को राजा महेन्द्रपाल का गुरु लिखा है। महेन्द्रपाल मिहिर भोज का पुत्र था। पंजाब को छोड़कर सम्पूर्ण आर्यवर्त्त पर इसका शासन था। यथा "बालकई कइराओ णिब्भरराअस्स तह उवज्झाओ।"[3] बाल भारत में भी यही बात लिखी मिलती है—

बालकवि कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः तथा विद्धशालभञ्जिका" (1·6) में भी लिखा है—"रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः सकलकलानिलयः स यस्य शिष्यः।"[4] इसके अतिरिक्त 'बाल-रामायण' के प्रथम वाक्य तथा बाल भारत (1·6) की एक पंक्ति यह सिद्ध करती है कि पूर्वोक्त नाटक राजा महेन्द्रपाल के 'महोदय' स्थित राज-दरबार में विद्वत्-मण्डली के सम्मुख अभिनीत हुए थे।

"महोदय स्थान को सामान्यतः कान्य-कुब्ज अथवा कन्नौज समझा जाता

1. औचित्याविचारचर्चा (चौखम्बा) 19 पृष्ठ 42 सं० 1964
2. यशस्तिलक चम्पू चतुर्थ उच्छ्वास/2/113
3. कर्पूर-मंजरी 1·9
4. विद्धशाल भंजिका 1·6

है।"[1] "बाल-भारत" 1·11 में महेन्द्रपाल को राजशेखर ने अपना शिष्य लिखा है। महेन्द्रपाल की राजधानी कान्यकुब्ज थी। काठियावाड़ में स्थित ऊना के अभिलेख[2] में राजा महेन्द्रपाल की प्रशस्ति मिलती है। यह प्रशस्ति 893 ई० की है। इस राजा का अन्तिम प्रशस्ति अभिलेख[3] झांसी जिले के सियदोनी ग्राम में है। जिस पर 903–907 ई० अंकित है। इसके अतिरिक्त रायबरेली जिले के अथनी ग्राम में तथा शिडनी में प्राप्त शिलालेखों में महेन्द्रपाल उल्लेख मिलता है। यह अभिलेख सन् 1917–18 ई० का है। महेन्द्रपाल के पिता श्रीमिहिर भोज ने 840 ई० से 890 ई० तक शासन किया था। महेन्द्रपाल ने 18 वर्ष तक राज्य किया था। अर्थात् 890 ई० से 908 ई० तक महेन्द्र ने शासन किया। महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल देव का शासनकाल 910 ई० से 940 ई० तक है।"[4]

"बालभारत" नाटक में महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल को अपना संरक्षक लिखा है—

नमितमुरलमौलि: पाकलो मेकलानां
रणित कलितकलिंग: केलितट केरलेन्दो: ।
अजनि जितकुलूत: कुन्तलानां कुठारो
हठहृतरमठ श्री: श्रीमहीपालदेव: ॥[5]

राजा महीपाल के शासन काल की प्रशस्ति में दो अभिलेख और उपलब्ध हैं। एक "हड़ल" ग्राम में उपलब्ध है, जिस पर महीपाल की तिथि 914 अंकित है।[6] दूसरा एवं अन्तिम अभिलेख "प्रतापगढ़" में मिलता है। जिस पर 948 ई० उत्कीर्ण है।[7] इस प्रकार इन दोनों अभिलेखों के आधार पर महीपाल का समय 910 ई० से 948 ई० सिद्ध हो जाता है। यही राजा राजशेखर का आश्रयदाता था।

राजशेखर ने "विद्धशालभंजिका" की रचना त्रिपुरी के राजा युवराजदेव की प्रसन्नता के लिए की थी। त्रिपुरी-नरेश युवराजदेव से सम्बन्धित शिलालेख

---

1. पी० वी० काणे—काव्यशास्त्र का इतिहास, अनु० इन्द्रचन्द्र शास्त्री संस्करण प्रथम 1966 पृष्ठ 266।
2. एपिग्रापिका इण्डिका जिल्द 9, पृष्ठ 6 पाद टिप्पणी।
3. एपिग्रापिका इण्डिका जिल्द—एक, पृष्ठ 173।
4. काव्यमीमांसा, अनु० केदारनाथ शर्मा सारस्वत 1965 ई० द्वि० सं० भूमिका पृष्ठ 31.
5. बाल भारत 1/7
6. इण्डियन एण्टोक्वेरी जिल्द 12 पृ० 193 पाद टिप्पणी
7. इण्डियन एण्टोक्वेरी जिल्द 14 पृ० 122 पाद टिप्पणी

बिलहरी ग्राम में उपलब्ध है। जिससे इनका शासनकाल 910 से 948 ई० विदित होता है। इस प्रकार तीनों शिलालेखों के आधार से राजशेखर के तीनों आश्रय-दाताओं का शासनकाल 890 ई० से 948 ई० तक सिद्ध हो जाता है। राजशेखर क्योंकि महीपाल के पिता महेन्द्रपाल के भी गुरु रहे हैं। अतः 890 ई० से 10 वर्ष पूर्व से लेकर 950 ई० तक लगभग रचना करते रहे होंगे।

निष्कर्ष—विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने विचारों एवं अनुमानों के आधार पर कविराज राजशेखर का काल पृथक्-पृथक् निश्चित करने का प्रयास किया है। इस प्रकार ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर 14वीं शताब्दी तक राजशेखर का काल निर्धारित किया है। किन्तु अनेक विद्वानों द्वारा निर्धारित तिथि राजा महेन्द्रपाल, राजा महीपाल तथा राजशेखर की तिथियों से साम्य नहीं रखती हैं। अतः उन तिथियों को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है। कुछ तिथियाँ राजशेखर की कृतियों की तिथियों से मेल नहीं रखती, अतः अनुपयुक्त हैं। इस विषय में साहित्यिक और ऐतिहासिक साक्ष्य ही अधिक तर्क संगत प्रतीत होते हैं। और वे परस्पर साम्य भी रखते हैं। इसलिये साहित्यिक साक्ष्य उन्हें 884 ई० से 959 ई० के मध्य सिद्ध करता है और ऐतिहासिक साक्ष्य उनका काल 890 ई० से 950 ई० तक के लगभग निर्धारित करता है।

राजा महेन्द्रपाल के राजशेखर उपाध्याय थे और महेन्द्रपाल (890 ई० से 910 ई० तक) का पुत्र महीपाल (910 ई० से 948 ई० तक) राजशेखर का आश्रयदाता था। राजशेखर ने युवराजदेव (910 ई० से 948 ई० तक) की प्रसन्नता के लिये "विद्धशालभंजिका" काव्य की रचना की थी। कविराज की अन्तिम एवं प्रौढ़ रचना "काव्यमीमांसा" है। सम्भवतः जिसकी रचना करने के बाद कविराज दिवंगत होगये होंगे।

पूर्व उपरिलिखित विवेचना से स्पष्ट है कि राजशेखर का काव्य-सृजन-काल 884 ई० से लगभग 10 वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो गया होगा और 950 ई० के लगभग 20 वर्ष बाद तक रहा होगा। अर्थात् **कविराज राजशेखर 874 ई० से 970 ई० तक लगभग साहित्य संसार को मण्डित करते रहे होंगे।**

जन्मस्थान—यायावर वंश में उत्पन्न कविराज राजशेखर गुर्जर प्रतिहार वंशीय राजा महेन्द्रपाल और उसके पुत्र राजा महीपाल के शासनकाल में महोदय-कान्यकुब्ज (कन्नौज) में रहते थे और इन दोनों की राज्य-सभा के मूर्धन्य विद्वद-लंकार थे। लिखा भी है—

किमपरपरैः परोपकारव्यसननिधेर्गणितैर्गुणैरमुष्य।
रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः सकलकलानिलयः स यस्य शिष्यः ॥[1]

---

1. विद्धशालभंजिका, अङ्क एक

बालकवि: कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्याय: ।
इत्यस्य परम्परया आत्मा माहात्म्यमारूढ़: ।।[1]
आपन्नार्तिहर: पराक्रमधन: सौजन्यवारांनिधि-
स्त्यागी सत्यसुधाप्रवाह् शशभृत्कान्त: कवीनां गुरु:
वर्ण्यं वा गुणरत्नरोहणगिरे: किं तस्य साक्षादसौ,
देवो यस्य महेन्द्रपालनृपति: शिष्यो रघुग्रामणी: ।।[2]

उपरिलिखित श्लोक सिद्ध करते हैं कि राजशेखर का अधिक समय कान्य-कुब्ज में ही व्यतीत हुआ । राजशेखर ने कान्यकुब्ज (महोदय) की प्रशंसा इन शब्दों में की है—

इदं पुनस्ततोऽपि मन्दाकिनी परिक्षिप्तं महोदयं (कान्यकुब्जं)
नाम नगरं दृश्यते ।

इदं द्वयं सर्वमहापवित्रं परस्परालङ्करणैक-हेतु: ।
पुरंचहे जानकि कान्यकुब्जं सरिच्च गौरीपतिमौलिमाला ।।

और भी—

यो मार्ग-परिधान-कर्मणि गिरां या सूक्ति मुद्रा-क्रमे
भङ्गी या कबरी-चयेषु रचनं यद्भूषणालीषु च ।
दृष्टं सुन्दरि कान्यकुब्जललनालोकैरिहान्यच्च य-
च्छिक्षन्ते सकलासु दिक्षु तरसा तत्कौतुकिन्य: स्त्रिय: ।।[3]

कविराज राजशेखर के पूर्वज महाराष्ट्र देशवासी थे । "बालरामायण" नाटक की प्रस्तावना में उन्होंने अपने को महाराष्ट्र चूड़ामणि अकालजलद का प्रपौत्र (चतुर्थ:) लिखा है ।

"तदामुष्यायणस्य महाराष्ट्रचूड़ामणेरकालजलदस्य चतुर्थो
(प्रपौत्र:) दौर्दुकि: ।[4]

यद्यपि राजशेखर के पूर्वज महाराष्ट्र निवासी थे किन्तु राजशेखर का जन्म किस प्रदेश के किस स्थान पर हुआ यह विषय आज तक विचारणीय है, क्योंकि इस सम्बन्ध में राजशेखर ने कहीं भी कुछ भी स्पष्ट नहीं लिखा है । कुन्तल, विदर्भ, लाट, और चेदी नाम, चार स्थान उस काल में महाराष्ट्र के नाम से अभिहित थे । यद्यपि उस काल में महाराष्ट्र की सीमा युद्धों के कारण परिवर्तित होती रही है । किन्तु इन चारों देशों से राजशेखर का सुन्दर सम्बन्ध रहा है । इस विषय में राज-शेखर के ग्रन्थ ही साक्ष्य हैं ।

---

1. कर्पूरमञ्जरी 1·9
2. बालरामायण 1/18
3. बाल रामायण 10–89–90
4. बालरामायण 1/13/14

1. चेदी नरेश रणविग्रह के यहाँ राजशेखर के एक पूर्वज सुरानन्द रहते थे। लिखा भी है—

नदीनामेकल सुतानृपाणां रणविग्रहः। कवीनां च सुरानन्दश्चेदि-मण्डलमण्डनम्।
यायावरकुलश्रेणेर्मुक्ता यष्टेश्चमण्डनम्।
सुवर्णबन्धकचिरस्तरणस्तरलो यथा ॥[1]

2. कर्पूरमंजरी सट्टक और विद्धशालभंजिका की नायिकायें लाट देश की राजकुमारियाँ हैं।
3. हैहयवंशीय कलचरी-नरेश "विद्धशालभंजिका" के नायक हैं। इन कलचुरियों का चेदी पर भी कुछ समय शासन रहा है।
4. "महाराष्ट्र" लाटदेश का ही एक भाग रहा है। लाट देशवासी प्राकृत भाषा के उच्चारण में विशेष प्रवीण होते थे। राजशेखर ने स्वयं लाट देशवासियों की प्राकृत की प्रशंसा की है। यथा—

पठन्ति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विपः।
जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया ॥[2]

तथा लंका से लौटते हुए राम ने बालरामायण नाटक में लाटदेश की प्राकृत भाषा के सौन्दर्य का वर्णन किया है।

यद्योनिः किल संस्कृतस्य सुदृशां जिह्वासु यन्मोदते
यत्रश्रोत्रपथावतारिणि कटुर्भाषाक्षराणां रसः।
गद्यं चूर्णपदं पदं रतिपतेस्तत्प्राकृतं यद्वचः
तांल्लाटांल्ललिताङ्गि पश्यनुदती दृष्टेर्निमेषव्रतम् ॥
लक्ष्यीकर्तुं प्रवृत्तोऽपि लाटोलउहवीक्षितैः।
लक्ष्यी भवति कन्दर्पः स्वेषामेवात्रपत्रिणाम् ॥[3]

इसके अतिरिक्त लाट देश की ललना प्रभुदेवी के प्रति राजशेखर अपनी अनुरक्ति भी प्रदर्शित करते हैं--

सूक्तीनां स्मरकेलीनां कलानां च विलासभूः।
प्रभुदेवी कविर्लाटी गताऽपि हृदि तिष्ठति ॥[4]
राजशेखर लाट देश को पृथ्वी का ललाट मानते हैं—
अयमसावितो विश्वम्भराशिरः शेखर इव लाटदेशः।[5]

---

1. काव्यमीमांसा पृ० 75 तथा सूक्तिमुक्तावली पृ० 47 पद्य 88–89
2. काव्यमीमांसा, अ० 7
3. बालरामायण अंक 10 48–49
4. सूक्ति मुक्तावली
5. बालरामायण अंक 10

डॉ० भट्टाचार्य का अनुमान है कि लाट देश से कवि की घनिष्ठता लाट देश के संरक्षक राजाओं के कारण बड़ी होगी। इस प्रकार राजशेखर का लाट देश के प्रति प्रेम सुतरां स्पष्ट हैं किन्तु वे आगे चलकर बालरामायण नाटक के तृतीय अंक में रावण (पात्रद्वारा) लाटराज को मायावी, तथा शृंगार-लम्पट कहलाते हैं। यथा—
"रावणः-सत्यम् शृंगार लम्पट एवायं लाटराजः, किमत्र वीर व्यपदेशेन ?"[1]

इससे सिद्ध होता है कि राजशेखर लाटदेश में रहे थे और वहाँ की जनता में उन्हें पर्याप्त सम्मान मिला था किन्तु लाट नरेश से किसी बात पर क्षुब्ध होकर, उन्हें लाट देश छोड़कर राजा महीपाल के यहाँ कान्यकुब्ज आना पड़ा। राजशेखर ने विदर्भ देश को सरस्वती का जन्मस्थान और वाङ्-मय की विश्रमभूमि कहा है।

यत् क्षेमं त्रिदिवाय वर्त्म निगमस्याङ्गं च यत् सप्तमम्
स्वादिष्ठं च यदैक्षवादपि रसाच्चक्षुश्च यद् वाङ्मयम्।
तद्यस्मिन् मधुरं प्रसादि रसवत् कान्तञ्च काव्यामृतम्
सोऽयं सुभ्रु पुरो विदर्भ-विषयः सारस्वती जन्मभूः ॥[2]

विदर्भ का दूसरा नाम राजशेखर ने कुन्तल भी लिखा है, कुन्तल की प्रशंसा में वे लिखते हैं—

रति-विद्या-विदग्धानां विभ्रमोल्लेख-लम्पटः।
नित्यं कुन्तलकान्तानां किङ्करो मकरध्वजः ॥[3]

राजशेखर ने सरस्वती पुत्र काव्यपुरुष और साहित्य विद्यावधू का गान्धर्व विवाह भी विदर्भ के "वत्सगुल्म" नामक नगर में कराया है। ये उद्गार राजशेखर के विदर्भ देश के विषय में घनिष्ठ सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने "औचित्यविचारचर्चा" में देश सम्बन्धी अनौचित्य के उदाहरण में राजशेखर का अनेक देशों से सम्बन्ध बतलाते हुए लिखा है—

कार्णाटीदशनाङ्कितः शितमहाराष्ट्रीकटाक्षक्षतः,
प्रौढान्ध्रीस्तनपीड़ितः प्रणयिनीभ्रूभङ्गवित्रासितः।
लाटीबाहुविवेष्टितश्च मलयस्त्रीतर्जनीतर्जितः,
सोऽयं सम्प्रति राजशेखर कविर्वाराणसीं वाञ्छति ॥[4]

कर्णाट, महाराष्ट्र, आन्ध्र, लाट तथा मलय देश से राजशेखर के सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है।

राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी सम्भवतः अवन्तिदेश की थी। अवन्ति की प्रशंसा में वे लिखते हैं—

---

1. बाल रामायण अंक 3
2. बाल रामायण 10/74
3. बाल रामायण 10/75
4. "औचित्यविचारचर्चा"—आचार्य क्षेमेन्द्र

"विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रतिकर्मणि" ।[1]

राजशेखर का पंजाब से भी सम्बन्ध रहा था तभी तो वे पांचालों को अन्तर्वेदी का भूषण कहते हैं । यथा—

इमे अन्तर्वेदि भूषणं पांचालाः ।
यत्रार्ये । न तथानुरज्यति कविर्ग्रामणीगीर्गुम्फने ।
शास्त्रीयासु च लौकिकेषु च यथा भव्यासु नव्योक्तिषु ।
पांचालास्तव पश्चिमेन त इमे वामा गिरां भाजनाः ।
त्वद् दृष्टेरतिथी भवन्तु यमुनां त्रिस्स्रोतसं चान्तरा ।।[2]

पांचालों के काव्य पाठ की प्रशंसा में वे लिखते हैं--

मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां सम्पूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्तः ।
पांचालमण्डल-भुवां सुभगः कवीनां श्रोत्रे मधु क्षरति किंचन काव्यपाठः ।।[3]

सम्भवतः राजशेखर का कुछ काल पंजाब में भी व्यतीत हुआ होगा । उस समय मध्य प्रदेश अधिक आचारवान् और सभ्य था । मनु ने मध्य प्रदेश की सीमा के सम्बन्ध में लिखा है कि "दक्षिण में विन्ध्य, उत्तर में हिमालय, पश्चिम में विनशन और पूर्व में प्रयाग मध्यदेश है । यथा—

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत् प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ।।[4]

वात्स्यायन ने कामसूत्र में मध्यदेश की प्रशंसा इस प्रकार की है—

"मध्यदेश्या आर्यप्रायाः शुच्युपचाराः"[5]

राजशेखर ने गंगा और यमुना के मध्यभाग को अन्तर्वेदी और पांचाल दोनों नाम से उद्घृत किया है । यथा—"इमे अन्तर्वेदिभूषणम् पांचालाः"

उस समय पांचाल का प्रधान नगर कान्यकुब्ज ही था । राजशेखर ने मध्यदेशीय कवि को सर्वभाषाविशेषज्ञ कहा है । यथा—

गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः ।
सापभ्रंश-प्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च ।।
आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते ।
यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः ।।[6]

---

1. बालरामायण, 10
2. बालरामायण, 10–86
3. काव्यमीमांसा, अध्याय 7
4. मनुस्मृति, अध्याय 2 श्लोक 21
5. वात्स्यायनकामसूत्र 2-5-21
1. काव्य-मीमांसा, अध्याय 10

उपरिलिखित चर्चा से स्पष्ट है कि कवि का यद्यपि अनेक देशों से सम्बन्ध था किन्तु उन्होंने **मध्यदेश** और **महाराष्ट्र** का ही अधिक स्थलों पर प्रशंसापरक श्लोकों में वर्णन किया है ।

डॉ० घोष राजशेखर का जन्म-स्थान मध्यदेश मानते हैं । वे इसकी पुष्टि में लिखते हैं कि राजशेखर ने सम्पूर्ण देश के जनपदों के वर्णन करने में कन्नौज को तथा पंजाब को अपेक्षाकृत अधिक गौरव प्रदान किया है ।

कान्यकुब्ज तथा पांचाल देश की सुन्दरियों की वेषभूषा, वार्तालाप की उत्कट शैली, सुन्दर केश-परिधान, अलंकार-प्रियता इतनी सुन्दर थी कि अन्य देश की सभ्य स्त्रियों में उनसे विलास-विभ्रम सीखने की इच्छा बनी रहती थी ।

यथा—

यो मार्गः परिधानकर्मणि गिरां या सूक्तिमुद्राक्रमे ।
भङ्गीर्या कबरीचयेषु रचनं यद् भूषणालीषु च ।।
दृष्टं सुन्दरि कान्यकुब्जललनालोकैरिहान्यच्च यत् ।
शिक्षन्ते सकलासु दिक्षु तरसा तत् कौतुकिन्यः स्त्रियः ।।[1]

कवि का मुग्ध-हृदय उन सुन्दरियों को प्रणाम करता है—लिखा भी है—

ताटङ्क-वल्गनतरङ्गित गण्डलेखमानाभिलम्बिदरदोलिततारहारम् ।
आश्रोणि-गुल्फ-परिमण्डलितोत्तरीयं वेशं नमस्यत महोदयसुन्दरीणाम् ।।[2]

अर्थात् कान्यकुब्ज की सुन्दर ललनाओं के कानों में लटकते हुए झूमर, हृदय पर स्थित चंचल हार और धोती के ऊपर ओढ़ी जाने वाली टखनों तक लटकती हुई चादर वाले वेश को नमस्कार है ।

कवि ने स्थान-स्थान पर मध्यदेश के प्रति उत्कट प्रेम प्रकट किया है ।

यथा—

"पाँचालमण्डलभुवां सुभगः कवीनां श्रोत्रे मधु क्षरति किंचन काव्यपाठः" आदि गौरवपूर्ण कवि की उक्तियाँ अपनी जन्म-भूमि को ही इंगित करती हैं ।

"यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः"[3]

यह वाक्य भी राजशेखर की सर्वभाषा-निषण्णता का प्रतिपादक है । यह उनकी जन्मभूमि के प्रति अनुरक्ति का ही द्योतक है । अतः डॉ० घोष के मतानुसार राजशेखर की जन्मभूमि मध्यदेश थी ।

---

1. बालरामायण 10–90
2. काव्य-मीमांसा,अध्याय 3
3. काव्य-मीमांसा, अध्याय 10

किन्तु किसी स्थल विशेष का वर्णन कवि की जन्मभूमि का परिचायक हो यह मापदण्ड समीचीन नहीं है क्योंकि अनेक ऐसे कवि भी हुए हैं। जिनकी रचनाओं में अपनी मातृभूमि की अपेक्षा अन्य स्थलों का विशद वर्णन मिलता है क्योंकि जिस स्थान के भी गुण कवि को आकृष्ट करने में समर्थ हो जाते हैं, कवि वहीं का विशद वर्णन किया करता है। अतः कान्यकुब्ज नरेशों के गुणविशेष के कारण कवि राजशेखर ने कान्यकुब्ज में अधिक दिन तक निवास किया था। किन्तु कान्यकुब्ज को उनका जन्म-स्थान इन प्रमाणों के आधार पर नहीं माना जा सकता है। यों तो कवि ने लाट देश को ललाटभूमि लिखा है। अत. लाट देश को कवि की जन्म भूमि मान लिया जाये? किन्तु आगे चलकर वे उस देश के राजा को मायावी और लम्पट लिखते हैं। इन बातों से स्पष्ट है कि कहीं की प्रशंसा और बुराई कवि की मानसिक सन्तुष्टि और विरक्ति की द्योतक है, न कि जन्म भूमि की।

श्री आप्टे महोदय[1] का विचार है कि "राजशेखर महाराष्ट्र (दक्षिण) देश के निवासी थे क्योंकि उन्होंने महाराष्ट्र की प्राकृतिक शोभा का वर्णन बड़ी सहृदयता से किया है तथा "तद्धित प्रिया हि दाक्षिणात्या:" इस महाभाष्य के वचनानुसार दक्षिण देशवासी प्राय: तद्धित के प्रयोगों का बाहुल्येन वर्णन करते हैं, वैसा ही राजशेखर की रचना में मिलता है। अत: वे दाक्षिणात्य (महाराष्ट्र) निवासी थे।

"विद्धशालभंजिका" के टीकाकार श्री नारायण दीक्षित[2] ने वहीं टीका में लिखा है कि—बालरामायणे स्वस्य महाराष्ट्रवर्णनात् महाराष्ट्रकवि: सोऽयं देशी प्रायस्वदेशजान् प्रयुक्तवान्। योऽस्माकं सुबोधो बहुधास्ति स:। श्रीदीक्षित का कथन है कि राजशेखर महाराष्ट्रीय कवि थे।

बालरामायण में राजशेखर ने वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती का जन्म-स्थान विदर्भ चुना है और उसे वाङ्मय की विलास-भूमि माना है तथा सरस्वती पुत्र काव्य-पुरुष और साहित्य वधू की विवाहस्थली विदर्भ के वत्सगुल्म को स्वीकार किया है।

इस प्रकार सरस्वती के वरद पुत्र (राजशेखर) ने सरस्वती पुत्र की जन्म-स्थली विदर्भ चुनकर संभवत: स्वयं की जन्मस्थली की ओर ही संकेत दिया है। राजशेखर के आदर्श भवभूति का जन्मस्थान भी विदर्भ ही है। राजशेखर ने विदर्भ की विशेष प्रशंसा की है। सम्भवत: इस प्रशंसा के मूल में राजशेखर की मातृभूमि के प्रति अनन्य भक्ति रही है।

इस प्रकार विदर्भ में जन्म लेने वाला यह कवि बाल्यकाल में विदर्भ में रहा और प्रारम्भिक युवावस्था में लाट देश में, तदनन्तर सभी देशों का परिभ्रमण कर, अन्त में स्थायी रूप से कान्यकुब्ज में रहा होगा।

---

1. राजशेखर हिज लाइफ एण्ड राइटिंग्स—आप्टे पृ० 22
2. विद्धशाल-भञ्जिका

राजशेखर का जन्मस्थान महाराष्ट्र मानने वाले विश्रुत विद्वान् निम्न-लिखित हैं—

1. डॉ० मिराशी[1]
2. श्री स्टेनकोनो एवं श्री लोनमैन[2]
3. श्री एस० के० दे[3]
4. श्री कृष्णमाचारियर[4]
5. श्री पी० वी० काणे[5]
6. श्री दलाल तथा श्री शास्त्री[6]

यायावर वंश—कविराज राजशेखर का वंश यायावर था। यायावर का अर्थ है—

1. पुनः-पुनः याति देशान्तरं गच्छति वा।
2 पुनः-पुनः अतिशयेन वा याति, देशात् देशान्तरं गच्छति।

या+यङ्+द्वित्वादि+वरच्। परिव्रज्याशील साधु अर्थात् एक स्थान पर न रहने वाला साधु अथवा वह साधु जिसका कोई नियत स्थान न हो। "संस्कृत-शब्दार्थकौस्तुभ" शब्द-कोष में यायावर का अर्थ ब्राह्मण लिखा है। अतः राजशेखर ब्राह्मण थे। राजशेखर ने स्वयं को उपाध्याय लिखा है—"बालकविः कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः"[7] उपाध्याय शब्द ही राजशेखर को ब्राह्मण सिद्ध करता है क्योंकि आज भी उपाध्याय ब्राह्मण मिलते हैं। किन्तु डॉ० कीथ उन्हें क्षत्रिय मानते हैं—वे अपने मत के समर्थन में राजशेखर का नाम तथा उनकी पत्नी का क्षत्रिय कन्या होना प्रमाणार्थ प्रस्तुत करते हैं। केवल नाम जाति का आधार नहीं हो सकता है। दूसरे ब्राह्मण ब्राह्मणेतर जाति से विवाह नहीं कर सकता था। इसके लिये कोई शास्त्रीय या सामाजिक वैधानिक आपत्ति नहीं थी। अतः यायावर वंश ब्राह्मण वंश ही था, यही मत समीचीन प्रतीत होता है।

प्राचीन काल में ऋषियों के दो कुल थे—यायावरीय तथा शालीन। यायावरीयों का नियम था कि वे एक स्थान में न रहकर प्रायः यात्रा करते रहते थे। ये गृहस्थी सन्त थे। यायावर वंश का उल्लेख भटिट्काव्य में भी मिलता है।

---

1. ए० वी० ओ० आर० आई०—पृ० 366
2. कर्पूरमंजरी-हारवर्ड ओरियण्टल सीरीज—पृ० 180, 181
3. हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर जिल्द एक एस० के० दे० पृ० 425
4. ,, ,, एन० कृष्णामाचारी—पृ० 625
5. इन्ट्रोडक्सन टु साहित्यदर्पण—डॉ० काणे पृ० 207
6. काव्य-मीमांसा—गायकवाड़ ओरियन्टल मीरीज पृ० 30 (प्रस्तावना)
7. कर्पूरमंजरी 1·9

यायावरा: पुण्यफलेन चान्ये प्रानर्च्रु रच्यजिगदर्चनीयम् ।[1]

याज्ञवल्क्य-स्मृति में आचाराध्याय 128 मिताक्षरा टीका में देवल ने गृहस्थों के दो भेद किये हैं—

यथाह देवल :

"द्विविधो गृहस्थो यायावरो शालीनश्च"

"तयोर्यायावर: प्रवरो" योजनाध्यापनप्रतिग्रहरिक्थसञ्चयवर्जनाद् षट्-कर्माधिष्ठितः प्रैष्य चतुष्पदगृह ग्रामधनधान्ययुक्तो लोकानुवर्ती शालीन:" इति ।

याज्ञवल्क्य ने स्वयं यायावरों के चार भेद किये हैं—

कुशूलकुम्भीधान्यो वा त्र्याह्निको श्वस्तनोऽपि वा ।
जीवेद्:वाऽपि शिलोञ्छेन श्रेयानेषां पर:-पर: ।।[2]

एषां चतुर्णां मध्ये शालीनो यायावरो वा पर: पर: श्रेयान् प्रशस्ततर: । यायावर शालीनों से ऊँचे माने जाते हैं क्योंकि उनकी आजीविका उत्तम है । वे काटकर घर ले जाते समय पृथ्वी पर गिरे हुए अन्न मात्र को ही खाकर जीवन यात्रा चलाते थे और सम्पत्ति का संचय नहीं करते थे । उन्होंने अपनी आजीविका के लिये यज्ञ, अध्यापन, दानादि का आश्रय नहीं लिया ।

वैखानस गृह्यसूत्र 1–8 में यायावरों के लिये छः कार्य लिखे हैं—

(1) हविष (2) पौरोहित्य (3) अध्ययन एवं अध्यापन (4) दान (5) श्रौत एवं स्मार्त अग्नि का निरन्तर सेवन, (6) एवं अतिथियों की परिचर्या । यद्यपि ये कथन यायावरों के कार्यों में परस्पर भिन्नता सिद्ध करते हैं । पुनरपि यायावर अपनी धार्मिकता के लिये प्रसिद्ध था तथा कवियों के लिये प्रसिद्ध था तथा कवियों के लिये कल्पतरु था एवं अपनी विद्वत्ता के लिये विश्रुत था । यह निर्विवाद सत्य है ।

वंश-परिचय

राजशेखर के पूर्वज—यायावरवंशीय राजशेखर महाराष्ट्र के मूल निवासी थे । यायावरवंश गृहस्थी सन्तों का था । यायावर का अर्थ है—परिव्रज्याशील साधु यायावर वंश ब्राह्मणों का एक प्रतिष्ठित वंश था । इसकी विस्तृत व्याख्या हम पीछे कर चुके हैं । इस कुल में अनेक कवियों ने जन्म लेकर इस कुल के गौरव की अभि-वृद्धि की है । राजशेखर के पूर्वजों में अकालजलद, सुरानन्द, तरल, कादम्बरी राम, एवं कविराज आदि अनेक साहित्यकारों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । लिखा भी है—

---

1. भट्टिकाव्य 2/20
2. याज्ञवल्क्य-स्मृति, आचाराध्याय: 128

स मूर्त्तो यत्रासीद् गुणगुण इवाकालजलदः ।
सुरानन्दः सोऽपि श्रवणपुटपेयेन वचसा ॥
न चाऽन्ये गण्यन्ते तरल कविराजप्रभृतयो ।
महाभागस्तस्मिन्नयमजनि यायावर-कुले ॥[1]

सुरानन्द के विषय में, यथा—

नदीनामेकलसुता नृपाणां रणविग्रहः ।
कवीनां च सुरानन्दश्चेदिमण्डलमण्डनम् ॥[2]

तरल कवि के सम्बन्ध में, यथा—

यायावरकुलश्रेणेर्हारयष्टेश्च मण्डनम् ।
सुवर्णबन्धरुचिरस्तरलस्तरलो यथा ॥

कादम्बरी-राम के विषय में–यथा—

अकालजलदश्लोकैश्चित्रमात्मकृतैरिव ।
ख्यातः कादम्बरीरामो नाटके प्रवरः कविः ॥[3]

कविराज के विषय में, यथा—

बालकविः कविराजो निर्भय-राजस्य तथोपाध्यायः ।
इत्यस्य परम्परया आत्मा माहात्म्यमारूढः ॥[4]

अकाल-जलद को महाराष्ट्र-कवि-चूणामणि कहा गया है। ये राजशेखर के प्रतिपतामह थे। इन्होंने इस कुल में विशेष ख्याति अर्जित की थी। अकाल-जलद की वचन-चन्द्रिका का कवि–चकोर नित्य ही पान करते हैं किन्तु वह चन्द्रिका रिक्त नहीं होती। लिखा भी है—

अकालजलदेन्दोः सा हृदया वचन-चन्द्रिका ।
नित्यं कविचकोरैर्या पीयते न तु हीयते ॥[5]

तथा च—

तदकाल-जलद प्रणप्तुस्तस्य गुणगणः किमिति न वर्ण्यते ।[6]

बल्लभदेव कृत सुभाषितावली में अकाल-जलद नामाङ्कित एक श्लोक दाक्षिणात्य के नाम से वर्णित है जो शार्ङ्गधरपद्धति में अकाल जलद के नाम से

---

1. बाल रामायण, एक
2. सूक्तिमुक्तावलि
3. जल्हणः, सूक्तिमुक्तावलि
4. कर्पूरमंजरी 1–9
5. जल्हणः, सूक्ति-मुक्तावलि
6. विद्धशालभंजिका ।

अंकित है। यह श्लोक श्लेष गर्भित है। सम्भवतः वे इस सुन्दर अन्योक्ति के कारण ही "अकालजलद" के नाम से विख्यात हुए हों। जैसे "माघकवि" "घण्टाकवि" के नाम से तथा कालिदास "दीपशिखा" के नाम से विख्यात हैं। जिस जलरहित तालाब में दर्दुर (मेंढक) अपने विवर छिद्रों में मूर्छित पड़े थे। कच्छप (कछुए) शैत्य प्राप्ति हेतु भूतल में प्रविष्ट हुए जा रहे थे और बड़े-बड़े मीन पङ्क. के ढेर पर छटपटा रहे थे। उस समय अचानक अकाल जलद (अनवसर के मेघ) ने आकर शुष्कतडाग में सुवृष्टि की। अब वहाँ वनगजों के यूथ गर्दन तक डूबकर जल पी रहे हैं।

यथा—

भेकैः कोटरशायिभिर्मृतमिवक्ष्मान्तर्गतं कच्छपैः।
पाठीनैः पृथुपङ्क.कूटलुठितैर्यस्मिन्मुहुर्मूर्च्छितम्॥
तस्मिंच्छुष्कसरस्यकालजलदेनागत्य यच्चेष्टितम्।
येनाकण्ठनिमग्नवन्यकरिणां यूथैः पयः पीयते॥

इस प्रकार राजशेखर ने अकालजलद की प्रशस्ति लिखी है। किन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि उस महान् काव्यकार की कोई भी प्रबन्ध रचना आज उपलब्ध नहीं है। वैसे अकालजलद अपने काल के लब्धप्रतिष्ठ कवि थे। इसमें संदेह को अवसर नहीं है। राजशेखर ने अपने पितामह के विषय में कुछ नहीं लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि राजशेखर के पितामह साधारण व्यक्ति रहे होंगे। अतः राजशेखर ने उनके विषय में मौन साध ली है। सुरानन्द कवि चेदि नरेश रणविग्रह की सभा के कविरत्न थे। तथा काव्यशास्त्र के आचार्य थे क्योंकि राजशेखर ने काव्य-मीमांसा के 13वें अध्याय में अपहरण-पद्धति के सन्दर्भ में सुरानन्द के मत को उद्धृत किया है। यथा –

"सोऽयमुल्लेखवाननुग्राह्यो मार्गः इति सुरानन्दः"[1]

कविराज राजशेखर ने तरलकवि को यायावर कुल का अलंकार लिखा है। कादम्बरी–राम भी यायावर कुलोत्पन्न कवि थे, जिनकी रचनायें अकालजलद से प्रभावित थीं। वे श्रेष्ठ नाटककार थे। किन्तु आज इन कवियों की कृतियाँ भी उपलब्ध नहीं है। कविराज शब्द के नाम का भी प्रयोग राजशेखर ने यायावर कुल के कवियों की गणना में किया है। सम्भवतः राजशेखर ने कविराज शब्द का प्रयोग स्वयं के लिये किया होगा क्योंकि वे अपने को कविराज कहलाने में विशेष गौरव का अनुभव करते थे। यद्यपि कविराज नाम से प्रसिद्ध अनेक कवि हुए हैं किन्तु यायावर कुल में कविराज राजशेखर के अतिरिक्त अन्य कोई कवि कविराज की उपाधि या नाम से विश्रुत नहीं मिलता है। अतः राजशेखर ने कविराज शब्द का प्रयोग स्वयं के लिये ही किया है।

---

1. काव्यमीमांसा, अ० 13

वैसे कविराज नाम से अभिहित बंगाल नरेश लक्ष्मण सेन की विद्वत्सभा की शोभा बढ़ाने वाले कोई कविरत्न थे । यथा—

गोवर्द्धनश्च, शरणो जयदेव उमापतिः ।।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य च ।।

इसके अतिरिक्त राघवपाण्डवीय नामक काव्य के प्रणेता कविराज नामक कवि हुए हैं । यह कविराज धारा-नरेश कामदेव के सभापण्डित थे । कामदेव के शासनकाल का समय 1182 से 1187 माना जाता है । प्रथम तो यह कविराज यायावर कुल में उत्पन्न नहीं हुए दूसरे राजशेखर के बाद हुए हैं । अतः राजशेखर द्वारा इनके नामोल्लेख का प्रश्न ही नहीं उठता है ।

कविराज राजशेखर के पिता का नाम दुर्दुक या दुहिक था । इनकी माता का नाम शीलवती था । लिखा भी है—

"तदामुष्यायणस्य महाराष्ट्रचूड़ामणेरकालजलदस्य चतुर्थोदौर्दुकिः ।
शीलवती सूनुरुपाध्यायः श्रीराजशेखर इत्यपर्याप्तं बहुमानेन ।।[1]

राजशेखर के पिता किसी राजा के यहाँ महामन्त्री थे । ऐसा स्वयं राजशेखर ने लिखा है—

"सूक्तमिदं तेनैव महासुमन्त्रि-पुत्रेण ।"
यशः प्रसूते विपदोरुणद्धि यशांसि दुग्धे मलिनं प्रमार्ष्टि ।।[2]
"उक्तं हि तेनैव महासुमन्त्रिपुत्रेण ।"[3]

किन्तु दुर्दुक कवि किस राजा के यहाँ महामन्त्री थे । ऐसा उल्लेख कहीं नहीं मिलता है । माता के विषय में भी नाम मात्र के अतिरिक्त कोई जानकारी उपलब्ध नहीं होती है । राजशेखर ने अपने किसी बहिन अथवा भाई का उल्लेख नहीं किया है । इससे स्पष्ट है कि वे अपने माता पिता की एक मात्र सन्तान थे । राजशेखर की पत्नी चौहानवंशीय कन्या अवन्ति सुन्दरी थी । अवन्ति सुन्दरी परम विदुषी तथा काव्य-शास्त्र-विवेचिका थी । उसने शास्त्रों का गहन अध्ययन, चिन्तन तथा मनन किया था । उसका प्राकृत तथा संस्कृत पर समान अधिकार था । इसके अतिरिक्त वह तत्कालीन जन भाषाओं में भी पारंगत थी । अलंकारशास्त्र के विषय में भी उसने कुछ मौलिक-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था । राजशेखर उसके वैदुष्य पर मुग्ध थे । इसी कारण उन्होंने अवन्तिसुन्दरी के मत को तीन बार "काव्य-मीमांसा" में (पृष्ठ 20‘ 46, 57) में उद्धृत किया है । अवन्तिसुन्दरी की इच्छा से ही राजशेखर के प्राकृत नाटक (शाटक) कर्पूरमंजरी का रंगमंच पर अभिनय हुआ है । यथा—

---

1. बाल रामायण अंक एक /13–14
2. बाल रामायण 1/8/7
3. बालभारत 1/8/9

चाहु आणकुलमोलिमालिआ राउसेहर कइंद गेहिणी ।
भन्तुणो किइभवन्ति सुन्दरी सा पउंजई में अभिच्छइ ।।[1]

संस्कृतानुवाद में—

चाहुमानकुलमौलिमालिका राजशेखरकवीन्द्रगेहिनी ।
भर्तुः कृतिमवन्तिसुन्दरी सा प्रयोक्तुमेवमिच्छति ।।[2]

अवन्तिसुन्दरी का कुल चौहाणों में मूर्धन्य था। तथा वह राजशेखर को विशेष प्रिय थी। यह बात उपरिलिखित पद्य से सिद्ध हो जाती है। अवन्तिसुन्दरी नाम से यह भी अनुमानित होता है कि राजशेखर की पत्नी अवन्ति देशोत्पन्ना रही होगी। अवन्ति देश की रमणियों की काम-विदग्धता की भी राजशेखर ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। यथा—

विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रतिकर्मणि ।[3]

अवन्तिसुन्दरी ने काव्य रचना भी की थी। इसका पता हमें बालरामायण (1–12) से चलता है।

"यद्यस्ति स्वस्ति तुभ्यं भवपठनरुचिर्विद्धि नः षटप्रबन्धान्"[4]

किन्तु अवन्तिसुन्दरी की रचनायें काल के कराल कपोल में समा गई।

राजशेखर का अवन्तिसुन्दरी के साथ अनुलोम (अन्तर्जातीय) विवाह हुआ था। संभवतः यह विवाह सौन्दर्य तथा गुणों के परस्पर आकर्षण पर ही आधारित रहा होगा। तभी तो राजशेखर ने "कर्पूरपंजरी" की रचना "अवन्तिसुन्दरी" की प्रीति के लिए की थी।

तिलकमंजरी के प्रणेता आचार्य धनपाल की बहिन का नाम भी अवन्ति सुन्दरी था। इनका समय दशवीं शताब्दी है। डॉ० बूलर अवन्तिसुन्दरी को राजशेखर की पत्नी न मानकर आचार्य धनपाल की बहिन मानते हैं। उनका यह कथन हास्यास्पद मात्र ही है।

अनेक राजशेखर—यद्यपि संस्कृति-साहित्य में राजशेखर नामक अनेक व्यक्ति मिलते हैं किन्तु उन सबका देशकाल भिन्न होने के कारण काव्यमीमांसाकार राजशेखर से उनका पृथकत्व स्वतः ही सिद्ध हो जाता है।

1. राजशेखर नाम के अनेक विद्वान् हुए हैं, जिनमें से एक दक्षिण देश का राजा था। यह राजा आठवीं शताब्दी के शंकराचार्य का समकालीन था।

---

1. कर्पूरमञ्जरी 1/11
2. कर्पूरमंजरी 1/11 (संस्कृत)
3. तृतीयपद बाल-रामायण 1-12 काव्यमाला सीरीज
4. बाल-रामायण अंक 10

माधवाचार्य ने अपनी "शंकरदिग्विजय" पुस्तक में इस राजा राजशेखर[1] का उल्लेख इस प्रकार किया है—" **नृपतिः कश्चन राजशेखराख्यः** । पूर्वकाल में प्राचीन विद्वान् इसी राजशेखर को इन नाटकों का प्रणेता समझते थे । किन्तु आज नवीन गवेषणओं ने इस भ्रान्ति का निराकरण कर दिया है । अतः "राजशेखर-चरित" में वर्णित केरलवासी "राजशेखर" माधवाचार्य वर्णित राजा "राजशेखर" से भिन्न हैं । क्योंकि एक तो यह "राजशेखर" राजा था दूसरे शंकराचार्य का समकालीन भी । काव्यमीमांसाकार "राजशेखर" का काल शंकराचार्य के काल से भिन्न होने के कारण दोनों का पृथकत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है । दूसरे "शंकरदिग्विजय" ग्रन्थ को इतिहासकार प्रामाणिक ग्रन्थ मानने में भी आपत्ति करते हैं ।

2. "प्रबन्धकोष" के निर्माता एक जैन विद्वान् भी राजशेखर सूरि[2] नाम से विश्रुत हैं । इनका काल तेरहवीं शताब्दी है । डॉ० मैक्समूलर ने नाम की समानता के कारण भ्रान्तिवश यायावरीव राजशेखर और जैन कविराज राजशेखर सूरि को अभिन्न माना है । डॉ० मैक्समूलर का यह मत निराधार है । अतः असंगत है ।

3. जनश्रुति के आधार पर पता चलता है कि दक्षिण देश में "जंगेजशेरि के निकट तलइनइल्ल ग्राम में 750 ई० से 850 ई० के मध्य किसी राजशेखर[3] नामक राजा होने का वर्णन मिलता है । इस जनश्रुति के विषय में भी लोगों को सन्देह हैं ।

4. एक कोल्लूरिवंशज राजशेखर[4] गोदावरी के किनारे पेरूर में भी उत्पन्न हुए हैं । इनका समय 1840 ई० है । इनका दूसरा नाम सोमशेखर भी था । इन्होंने "साहित्यकल्पद्रुम", "शिवशतक" और "अलंकार मकरन्द" नामक तीन ग्रन्थों की रचना की है ।

5. केरल प्रदेश में सन् 322 ई० में भी एक राजशेखर[5] नामक राजा हुआ है । इसने मुकुन्दमाला ग्रन्थ की रचना की थी । कवि-कुञ्जर ने "राजशेखर चरित" नामक अपने ग्रन्थ में इस राजा को "कुलशेखर" तथा "रसिकशेखर" शब्दों से अभिहित किया है । यह राजशेखर तो "यायावर-राजशेखर" के नहीं ठहरते हैं ।

---

1. हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर—एन० कृष्णामाचारी । पृ० 625
2. तदैव पृ० 432
3. तदैव पृ० 626
4. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर—एन० कृष्णामाचारी, पृ० 626
5. तदैव पृ० 508 ।

उपरिलिखित पाँचों राजशेखरों में से तीन तो नरेश थे। एक कोल्लूरिवंशज थे तथा एक जैनाचार्य थे। काव्यमीमांसाकार "कविराज राजशेखर" न तो नरेश थे और न जैन कवि। दूसरे वे यायावरवंश में उत्पन्न हुए थे न कि कोल्लूरिवंश में। इसके अतिरिक्त यायावर-वंशीय राजशेखर का काल 874 ई० 970 ई० के मध्य निश्चित होता है। अतः यायावर वंशीय कविराज राजशेखर इन सब राजशेखरों से सर्वथा भिन्न सिद्ध है।

व्यक्तित्व—बालरामायण आदि अनेक नाटक लिखने के कारण कविराज राजशेखर जहाँ महनीय नाटकार के रूप में विश्रुत हैं, वहाँ "काव्यमीमांसा" आदि ग्रन्थों के प्रणेता होने के कारण अलंकाराचार्यों में भी विशिष्ट स्थान रखते हैं। "लोक तथा शास्त्र" दोनों का सूक्ष्म निरीक्षण करने के कारण ये अपने जीवन में ही विशेष गौरव तथा सम्मान को प्राप्त हो गए थे। उनके जीवन का अधिकांश भाग राज दरबार में व्यतीत हुआ था। अतः उनकी वाणी में संयति, शिष्टता, जीवन में आदर्श तथा व्यवहार में राज-सभोचित गरिमा पायी जाती है। राजशेखर का पारिवारिक जीवन आनन्दमय तथा ऐश्वर्यपूर्ण था, इसलिये उनकी प्रकृति विलास तथा विनोद प्रिय थी। साहित्य और युग में परस्पर बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव पाया जाता है। साहित्य युग का निर्माता होता है, तो युग साहित्य का। इसी प्रकार कवि का जैसा स्वभाव होता है, वैसा ही उसका काव्य होता है। कविकालीन जैसी साहित्यिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थितियाँ होती हैं, वैसी ही स्थितियों का चित्रण काव्यकार किया करता है। केवल प्रखर-प्रतिभा-सम्पन्न कवि तत्कालीन दोषों को प्रकट कर उनसे त्राण पाने का मार्ग प्रशस्त किया करता है। राजशेखर बहुज्ञ आलंकारिक थे, अतः उन्होंने तत्कालीन जनरुचि के अनुरूप अपने साहित्य का सृजन किया और अपनी मौलिक प्रतिभा से परम्परागत आ रही साहित्य प्रणाली को नूतन दिशा प्रदान की। राजशेखर की लेखनी ने ग्रहण योग्य प्राचीन परम्परा को अंगीकार किया और वर्ज्य पद्धति का परित्याग किया। "काव्य-मीमांसा" में राजशेखर ने कवि तथा आलोचक के स्वरूप, प्रकार, काव्य के भेद, रीतिनिरूपण, काव्यार्थ की योनि, शब्द-हरण तथा अर्थापहरण आदि अनेक विषय कवियों तथा आलोचकों के लिए उपयोगी सामग्री के रूप में प्रतिपादित किए हैं। इस प्रकार कवि और आलोचकों हेतु आवश्यक सकल सिद्धान्तों का सुन्दर तथा नवीन रूप में निरूपण किया है। कतिपय सिद्धान्त तो बिल्कुल नूतन है। वैसे राजशेखर ने पूर्ण ईमानदारी का परिचय दिया है। वे जिस कविता या आलोचक के मत को उद्धृत करते हैं, उसका पूर्णरूपेण उल्लेख करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इस ग्रन्थ के द्वारा अनेक अज्ञात नामों से तथा सुप्रसिद्ध प्राचीन साहित्यकारों के इतिहास, कृति तथा उनके सिद्धान्तों से हम परिचित हो जाते हैं। भारत के

विभिन्न प्रान्तों के कवि काव्य का उच्चारण किस रीति से करते हैं। इसका रोचक वर्णन हमें काव्यमीमांसा में मिल जाता है। इस प्रकार राजशेखर का व्यक्तित्व, कवि, आलोचक, नाटककार, इतिहासकार, भूगोलवेत्ता, नवीन-सिद्धान्त-प्रणेता तथा सकल-भाषा-विशेषज्ञ के रूप में व्यक्त होता है।

अध्ययन—

राजशेखर ने किन-किन पाठशालाओं या गुरुकुलों में किस-किस गुरु से अध्ययन किया यह तो कहीं निर्दिष्ट नहीं है। किन्तु राजशेखर ने किस-किस वेद, शास्त्र या कला, उपनिषद्, स्मृति एवं पुराणों का अध्ययन किया। इन बातों का पता हमें उनकी रचनाओं के अवलोकन से सुगमता पूर्वक चल जाता है।

1. वेद और वेदांग—

राजशेखर ने ऋग्वेद की दो रचनायें "काव्यमीमांसा" में उद्धृत की है। वैसे उन्होंने चारों वेदों तथा छहों वेदांगों का अध्ययन किया था क्योंकि उन्होंने कविराज होने के लिए वेदवेदांगवित् होना अनिवार्य बताया है। अतः दूसरों को उपदेश देने वाला कविराज स्वयं वेद और वेदांगों का अध्येता रहा होगा। उनका शास्त्र-निर्देश नामक द्वितीय अध्याय वेद और वेदांगों की उपादेयता पर प्रकाश डालता है। वेद ज्ञान के लिए—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण तथा ज्यौतिष—इन छह शास्त्रों का ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार अलंकार-शास्त्र का ज्ञान भी वेदार्थ ज्ञान का आवश्यक अंग है।

2. व्याकरण-शास्त्र—

व्याकरण के नियमों के निर्देश हमें कवि रहस्य के छठे अध्याय में मिलते हैं। वहाँ प्रकृति-प्रत्यय, सुबन्त—तिङन्त धातु, पदज्ञान, समासान्त, तद्धितान्त, एवं कृन्दत शब्दों का परिचय, वृत्तियाँ, शब्द—ब्रह्मवाद-विवेचन, महाभाष्य-पश्पशाह्निक-समीक्षण, व्याकरण का काव्यविद्या की दृष्टि से मूल्यांकन आदि महत्वपूर्ण विवेचन राजशेखर की व्याकरण-पारंगता के परिचायक हैं।

3. रामायण और महाभारत—

बालरामायण और बालभारत नाटकों की कथावस्तु क्रमशः रामायण तथा महाभारत से गृहीत हैं। ये कथानक कवि के रामायण तथा महाभारत के प्रति श्रद्धा और निष्ठा के परिचायक हैं।

4. उपनिषद्—

राजशेखर ने ऐतरेय, शतपथ, तैत्तिरीय, ब्राह्मण, मुण्डक, ईश, आदि उपनिषदों का अध्ययन तथा चिन्तन किया था।

5. पुराण—

काव्यपुरुष की कल्पना ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त या वायुपुराण के कथानक पर आधारित प्रतीत होती है। ब्रह्मवचन और उसके पाँचों प्रकारों का वर्णन भी

कवि-रहस्य अधिकरण, अध्याय, वायुपुराण और ब्रह्माण्ड पुराण पर आधारित है। विष्णु-पुराण, अग्निपुराण और आदर्श पुराणों का भी कवि पर प्रभाव लक्षित होता है। यह पुराण-प्रेम कवि के पुराणों के अध्ययन का द्योतक है।

6. दर्शन—

राजशेखर के ग्रन्थों पर आस्तिक तथा नास्तिक दोनों प्रकार के दर्शन ग्रन्थों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जो उनके दर्शन-निष्णातत्व का द्योतक है। कविरहस्य का अर्थ-व्याप्ति नामक नवमअध्याय राजशेखर के सांख्य, न्याय, योग, वैशेषिक, वेदान्त, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा आदि आस्तिक दर्शन एवं बौद्ध, जैन तथा चार्वाक् आदि नास्तिक दर्शनों के ज्ञान पर प्रकाश डालता है।

कवि के वर्णनीय विषय के प्रसंग में राजशेखर ने काव्य-मीमांसा के 8 अध्याय में श्रुति, स्मृति, इतिहास, दर्शन, अर्थशास्त्र, धनुर्वेद, कामशास्त्रों आदि बारह स्रोत बतलाये हैं। इसके अतिरिक्त कवि को अनेक शास्त्रों, व्यवहारों, चौंसठ कलाओं, तथा देशकाल आदि का व्यापक ज्ञान अपेक्षित है। इन नियमों के अनुसार कवि को इन विषयों का ज्ञान आवश्यक है। अतः राजशेखर ने कविराज होने के लिए, इन विषयों का निश्चित रूपेण अध्ययन किया होगा।

6. काव्य तथा नाट्यग्रन्थ—

राजशेखर ने रघुवंश, कुमार-संभव, किरातार्जुनीय, शिशुपाल-वध, जानकीहरण, हयग्रीववध, सूर्यशतक, अमरुशतक, वेणी-संहार, कादम्बरी एवं चण्डी कामसूत्र, गाथा-सप्तशती, सुभाषितावली, मालती-माधव एवं महावीर-चरित आदि ग्रन्थों के उदाहरण काव्यमीमांसा में उद्धृत किये हैं। ये उद्धरण राजशेखर के विपुल काव्य तथा नाट्य ग्रन्थों के अनुशीलन के परिचायक हैं।

8. काव्यशास्त्र—

राजशेखर उच्चकोटि के कवि तथा नाटककार के अतिरिक्त एक मूर्धन्य साहित्यशास्त्र-प्रणेता के रूप में साहित्य-वाङ्मय में आदृत हैं। संस्कृत-साहित्यशास्त्र में राजशेखर का समुन्नत स्थान है तथा उन्होंने परवर्ती साहित्यशास्त्र पर पर्याप्त प्रभाव डाला है। अलंकार-शास्त्र का क्रमबद्ध इतिहास निर्माण करने की दृष्टि से भी राजशेखर का महत्वपूर्ण स्थान है। विभिन्न देशों की स्थिति का भी उन्होंने सफलता से चित्रण किया है।

राजशेखर ने कविरहस्य नामक प्रकरण में रीति, रस, गुण, अलंकार तथा अन्यान्य विषयों पर लेखनी चलाई है तथा भरत, रुद्रट, सुरानन्द, श्यामदेव, वाक्पतिराज, मेधाविरुद, मंगल, रोहिणी और आनन्दवर्धन के नामों का स्पष्ट उल्लेख किया है। तथा "आचार्याः" शब्द लिखकर भामह, दण्डी आदि के प्रति आदर व्यक्त किया है। इस प्रकार राजशेखर ने पूर्ववर्ती समस्त आचार्यों के ग्रन्थों का आलोडन किया था। यह सुस्पष्ट है।

9. भूगोलज्ञान—

राजशेखर ने खूब देशाटन किया था, अतः वे प्राचीन भारत के भूगोल के विशेष ज्ञाता थे। भूगोल से सम्बन्धित इनकी "भुवनकोश" रचना थी किन्तु आज वह अनुपलब्ध है। अन्यथा इनके भौगोलिक ज्ञान पर और भी प्रकाश पड़ता।

महाराष्ट्र के विदर्भ जनपद के वत्सगुल्म नगर में सम्भवतः राजशेखर का बाल्यकाल व्यतीत हुआ। इसके वाद वे युवावस्था में कान्यकुब्ज पहुँचे। राजनीतिक-संकट उपस्थित होने के कारण उन्हें कान्यकुब्ज छोड़कर त्रिपुरी जाना पड़ा। यह तो निर्विवाद सिद्ध है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्य स्थानों का भी सम्यक् पर्यटन किया था। इसके लिये उनके ग्रन्थ साक्ष्य हैं। "बालरामायण" में कवि ने मिथिला, लंका, कोंकण, अयोध्या, सिंहल, कैलास, कामरूप, पाण्ड्य, द्रविण, माहिष्मती, दशार्ण, मथुरा, अवन्ति, कुशस्थली, ऋथकैशिक, कुन्तल, कांची, लाट, मगध, कम्बोज, सौराष्ट्र, शक, नेपाल, आन्ध्र, हैहय, विदेश, लम्पाक, वाल्व. वाल्हीक, प्रयाग तथा चित्रकूट आदि का वर्णन मिलता है। "बालभारत" में मुरल, मेकल, कलिंग, रपट व कुरु जनपदों का प्राकृतिक वर्णन मिलता है। इन स्थानों के अतिरिक्त सैकड़ों स्थानों के नाम इनकी कृतियों में उपलब्ध होते हैं। सम्पूर्ण देशों के नामों का अध्ययन करना यदि किसी को अभीष्ट हो तो टीकाकार डॉ० गंगासागर राय की हिन्दी काव्यमीमांसा का परिशिष्ट "ख" भौगोलिक स्थान द्रष्टव्य है।

राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में भौगोलिक आधार पर इन स्थानों का पाँच भागों में विभाजन किया है। सैंकड़ो देशों का वर्णन कवि के भौगोलिक-ज्ञान की पारंगता का बोधक है।

10. भाषाएँ—राजशेखर के काल में संस्कृत भाषा के अतिरिक्त प्राकृत, अपभ्रंश, और पैशाचिक भाषाओं का प्रचलन भी अधिक मात्रा में था। राजशेखर स्वयं अनेक भाषाओं के मर्मज्ञ थे, जिनका उन्हें गर्व था। इस विषय का उन्होंने अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है। प्राकृत-भाषा की सर्वश्रेष्ठ कृति कर्पूरमंजरी है। राजशेखर के काल में किस देश में किस भाषा का सुन्दर उच्चारण एवं विशेष प्रयोग होता था अर्थात् किस देशवासी को कौनसी भाषा विशेष प्रिय थी। इस विषय पर "काव्य-मीमांसा" द्वारा अच्छा प्रकाश पड़ता है।

लाटदेशवासियों को प्राकृत-भाषा विशेष प्रिय है और लाटदेश की ललनाओं द्वारा उच्चरित प्राकृत तो काम को उत्तेजित करती है। यथा—

पठन्ति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः।
जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया ॥[1]

तथा लाट देश का वर्णन—बालरामायण अंक 10 में दर्शनीय है।

आगे वे लिखते हैं कि प्राकृत भाषा के अक्षर जब कानों में प्रवेश कर जाते

1. काव्यमीमांसा, अध्याय 7।

हैं, तब अन्य भाषाओं का रस कानों को कड़वा लगता है । राजशेखर प्राकृत भाषा को संस्कृत से भी अधिक कोमल मानते हैं । संस्कृत भाषा यदि पुरुष है तो प्राकृत भाषा स्त्री है । संस्कृत और प्राकृत का अन्तर स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—

परूसा संविकअ वन्धा पाउदबन्धो विहोई सुउमारो ।
पुरुष महिलाणं जेत्तिअ मिहं तरे तेत्तिमिमाणं ।।[2]

राजशेखर प्राकृत को संस्कृत का मूल मानते हैं अर्थात् संस्कृत को प्राकृत का परिष्कृत रूप मानते हैं—वे लिखते हैं—"यद्योनिः किल संस्कृतस्य" ।

अपभ्रंश के विषय में राजशेखर का विचार है कि यह भव्य भाषा है । वे लिखते हैं—'सुभव्योऽपभ्रंशः" । राजशेखर तृतीय स्थान पर भूतभाषा या पैशाची भाषा को प्रतिष्ठित करते हैं । पैशाची भाषा को सरस भाषा मानते हैं । लिखा भी है कि ये भाषाएं किन किन स्थानों पर व्यवहृत होती थीं । राजशेखर स्वयं विभिन्न भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित थे । उन्होंने तत्कालीन भाषाओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अतिविस्तार से अध्ययन, चिन्तन, तथा मनन किया था । वे संस्कृत-कवियों को केवल महाकवि मानते हैं और विविध भाषाओं में रचना करने वाले कवि को कविराज कहते हैं । वे स्वयं को "कविराज" कहते हुए गौरव का अनुभव करते हैं ।

इस प्रकार राजशेखर प्रारम्भ में 'बालकवि" कहलाए, तदनन्तर कविराज की उपाधि से अलंकृत हुए ।

राजशेखर के विषय में कतिपय प्रशस्तियाँ—

राजशेखर की अमृतवर्षिणी सूक्तियों के विषय में प्रशस्ति सुनिए—

पातुं श्रोत्र-रसायनं रचयितुं वाचः सतां सम्मताः ।
व्युत्पत्ति परमामवाप्तुमवधिं लब्धुं रस-स्रोतसः ।।
भोक्तुं स्वादु फलं च जीविततरोर्यद्यस्ति ते कौतुकं ।
तद् भ्रातः शृणु राजशेखरकवेः सूक्तीः सुधास्यन्दिनीः ।।[1]

तथा—तिलकमंजरीकार महाकवि धनपाल के शब्दों में राजशेखर की प्रौढ़ रचना की प्रशस्ति सुनिये—

समाधिगुणशालिन्यः प्रसन्नपरिपक्त्रिमाः ।
यायावरकवेर्वाचो मुनीनामिव वृत्तयः ।।[2]

सोड्ढल कवि राजशेखर की सरस रचना की प्रशंसा में लिखते हैं—

---

2. कर्पूरमंजरी 1, 8 ।
1. 'राजशेखर की कविगोष्ठी के अन्य सदस्य' कृष्णशंकर शर्मा द्वारा रचित ।
2. तिलकमंजरी, 33 ।

यायावरः प्राज्ञवरो गुणज्ञैराशंसितः सूरिसमाजवर्यैः ।
नृत्यत्युदारं भणिते रसस्तथा नटीवयस्योढरसा पदश्रीः ।।

राजशेखर के आदर्श कवि :

राजशेखर ने अपने सम्बन्ध में स्वय लिखा है—

बभूव बल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम् ।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्त्तते सम्प्रति राजशेखरः ।।

अर्थात् पहले बाल्मीकि नामक कवि हुए । फिर वे भर्तृमेण्ठ के नाम से भूमण्डल पर अवतरित हुए । तत्पश्चात् उन्होंने ही भवभूति के नाम से पृथ्वी पर जन्म लिया और अब वे ही राजशेखर के रूप में विद्यमान हैं । राजशेखर ने प्रथम आदर्श कवि बाल्मीकि को माना है । वे उनके प्रति अगाध श्रद्धा रखते थे ।

वास्तव में राजशेखर के आदर्श कवि उनके पूर्वजन्मा-उत्तररामचरित, मालतीमाधव, महावीरचरित नामक उत्कृष्ट नाटकों के रचयिता-कवि भवभूति थे । उन्होंने भवभूति की शैली में अपने नाटक लिखने का प्रयास किया है । वेद, व्याकरण, दर्शन, उपनिषद् आदि विविध विषयों का ज्ञान भी राजशेखर में भवभूति के समान प्रौढ़ था ।

राजशेखर ने अपना द्वितीय आदर्शकवि हयग्रीववध महाकाव्य के प्रणेता भर्तृमेण्ठ को माना है । सम्भवतः राजशेखर ने "हयग्रीववध" के आदर्श पर 'हर-विलास-काव्य' की रचना की हो । राजशेखर ने भर्तृमेण्ठ की वक्रोक्तियों की प्रशंसा की है । प्राचीन कवि समाज में भर्तृमेण्ठ विशेष समादृत थे ।

वक्रोक्त्या मेण्ठराजस्य वहन्त्या सृणिरूपताम् ।
आविद्धा इव धुन्वन्ति मूर्द्धानं कविकुञ्जराः ।।[1]

इनके अतिरिक्त राजशेखर ने विशिष्टकविप्रशस्तिप्रकरण में विकटनितम्बी (1) शीला (2) भट्टारिका, (3) सुभद्रा, एवं (4) प्रभुदेवी आदि कवयित्रियों की भी प्रशंसा की है । तथा चाण्डालकवि दिवाकर, कुम्भकारकवि द्रोण की भी राजशेखर ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है । यथा—

के वैकटनितम्बेन[1] गिरां गुम्फेन गुम्फिताः ।
निन्दन्ति निजकान्तानां न मौग्ध्यमधुरा गिरः ।। (1)
शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चालीरीतिरुच्यते ।
शीला[2] भट्टारिका[3] वाचि बाणोक्तिषु च सा यदि ।। (2)
पार्थस्य मनसि स्थानं लेभे खलु सुभद्रया ।
कवीनां वचोवृत्तिचातुर्येण सुभद्रया[4] ।। (3)
सूक्तीनां स्मरकेलीनां कलानां च विलासभूः ।
प्रभुदेवी कविर्लाटी गताऽपि हृदि तिष्ठति ।। (4)

---

1. जल्हण. सूक्तिमुक्तावलि ।

अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्ग-दिवाकरः ।
श्री हर्षस्याभवत्सभ्यः समो बाणमयूरयोः ।। (5)
सरस्वतीपवित्राणां जातिस्तत्र न देहिनाम् ।
व्यासस्पर्द्धी कुलालोऽभूद् यद् द्रोणो भारते कविः ।। (6)

यद्यपि राजशेखर ने अनेक कवियों की प्रशस्ति लिखी है तथापि उनके आदर्शकवि बाल्मीकि भर्तृमेण्ठ तथा भवभूति ही रहे हैं ।

ग्रन्थकार राजशेखर

आज राजशेखर द्वारा लिखित पाँच ग्रन्थ समुपलब्ध हैं । जिनमें से "बालरामायण" और "बालभारत" दो नाटक हैं । कर्पूरमंजरी (सट्टक) और "विद्धशालभंजिका" नामक दो नाटिका हैं । ख्यातिप्राप्त बहुचर्चित साहित्य-शास्त्रीय-ग्रन्थ "काव्यमीमांसा" है ।

राजशेखर ने "हरविलास" नामक महाकाव्य भी लिखा था । ऐसा अनुसन्धनकर्ता विद्वानों का मत है क्योंकि राजशेखर स्वयं लिखते हैं कि एक भाषा में प्रबन्धकाव्य की रचना करने वाला कवि, "महाकवि" होता है और अनेक भाषाओं में रचना करने वाला कवि "कविराज" कहलाता है । ऐसे कविराज संसार में कतिपय ही होते हैं । राजशेखर स्वयं को कविराज मानते हैं । लिखा भी है—

बालकविः कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः[1]

योऽन्यतमः प्रबन्धप्रवीणः स महाकविः । यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषेषु तेषु तेषु प्रबन्धेषु तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतंत्रः स कविराजः । ते यदि—जगत्यपि कतिपये ।[2]

चौदहवीं शताब्दी के आचार्य हेमचन्द्र ने अपने "काव्यानुशासन" में "स्वनामांकता यथा राजशेखरस्य हरविलासे" पंक्ति लिखी है तथा दो श्लोकों को उदाहरण में उद्धृत किया है ।

आशीर्यथा हरविलासे

1. ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म श्रुतीनां मुखमक्षरम् ।
   प्रसीदतु सतां स्वान्तेष्वेकं त्रिपुरुषीमयम् ।।

सुजनदुर्जनस्वरूपं यथा—हरविलासे

2. इतस्ततो भ्रमन् भूरि न पतेत् पिशुनः शुनः ।
   अवदाततया किंच न भेदो हसतः सतः ।।

इस प्रकार "हरविलास" नामक महाकाव्य राजशेखर द्वारा विरचित था । यह तो सुनिश्चित है किन्तु ग्रन्थ की अनुपलब्धि के कारण उस पर प्रकाश डाला जाना संभव नहीं है । 13वीं शताब्दी के वृत्तिकार उज्ज्वलदत्त ने अपनी उणादि-

---

1. कर्पूरमंजरी 1–9
2. काव्यमीमांसा, अध्याय 5

सूत्रवृत्ति में "हरविलास" नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है किन्तु "हरविलास" के रचयिता का नाम नहीं लिखा है।

दशाननक्षिप्तखुरप्रखण्डितः क्वचिद्गतार्थो हरदीधितिर्यथा।[1] इससे सिद्ध होता है कि उस समय तक यह ग्रन्थ प्रसिद्ध हो गया था। वास्तव में राजशेखर ने "हरविलास" महाकाव्य लिखकर कविराज से पूर्व महाकवित्व प्राप्त किया होगा।

बाल-रामायण की प्रस्तावना में राजशेखर लिखते हैं कि यदि तुम्हारी पढ़ने में रुचि है तो मेरे द्वारा रचित छः प्रबन्धों को पढ़ो—

ब्रूते यः कोऽपि दोषं महदिति सुमतिर्बालरामायणेऽस्मिन्।
प्रष्टव्योऽसौ पटीयानिह भणितिगुणो विद्यते वा न वेति॥
यद्यस्ति स्वस्ति तुभ्यं भव पठनरुचिर्विद्धि नः षट्प्रबन्धान्।
नैवं चेद्दीर्घमास्तां नटवटुवदने जर्जरा काव्यकन्था॥[2]

ये षट् प्रबन्ध कौन से हैं? विद्वानों के लिए यह एक विचारणीय समस्या बन गयी है। जिसका आज तक कोई सर्वमान्य निर्णय उपस्थित नहीं हो सका है। इसके अतिरिक्त राजशेखर काव्यमीमांसा के अध्याय 17 के अन्तिम श्लोक में लिखते हैं कि जिसे देश विभाग की अधिक जानकारी प्राप्त करनी है, उसे हमारा "भुवन-कोष" पढ़ना चाहिये। यथा—

"यस्तु जिगीषत्यधिकं पश्यतु मद्भुवनकोशमसौ"

कुछ विद्वान् "भुवन-कोष" रचना को स्वतन्त्र ग्रन्थ मानते हैं तो कुछ विद्वान् काव्यमीमांसा का ही अध्याय विशेष मानते हैं। पुस्तक की अनुपलब्धि के कारण इस विषय का स्पष्टीकरण दुरूह बन गया है। यह "भुवन-कोष" भूगोल-संबंधी है। "हरविलास" को राजशेखर की रचना मान लेने पर उनके षट् ग्रन्थों की पूर्ति हो जाती है।

डॉ० मिराशी "षट्प्रबन्ध" को राजशेखर की प्रथम कृति अंगीकार करते हैं।[3] डॉ० झाम्बरे ने अपने प्रबन्ध में "षट् प्रबन्धों" को छः स्वतन्त्र ग्रन्थ माना है। वे षटप्रबन्धों (6) के अतिरिक्त बालरामायण, बाल-भारत, हरविलास, कर्पूरमंजरी, विद्धशालभंजिका, भुवनकोष, तथा काव्यमीमांसा को मिलाकर राजशेखर को 13 ग्रन्थों का निर्माता मानते हैं।

यहाँ विवेचनीय विषय यह है कि डॉ० मिराशी "षटप्रबन्ध" को एक रचना मानते हैं और डॉ० झाम्बरे "षट्प्रबन्ध" को छः ग्रन्थ। इस विषय का उत्तर

---

1. हरविलासे।
2. उणादिसूत्रवृत्ति-उज्ज्वलदत्त 212
3. बालरामायण 1–11
4. पाठक कमौमोरेशन वाल्यूम पृ० 360

तो राजशेखर की यह पंक्ति ही दे देती है।—"विद्धि नः षट्प्रबन्धान्[1] प्रबन्ध शब्द में द्वितीया का बहुवचन छः पृथक् प्रबन्धों का ही सूचक है न कि "षट्प्रबन्ध" नामक किसी एक रचना का। अतः डॉ० झाम्बरे का मत सही है। किन्तु विचारणीय विषय यह है कि ये छः प्रबन्ध बालरामायण, बालभारत, हर-विलास, कर्पूरमंजरी, विद्धशालभंजिका, काव्यमीमांसा हैं अथवा इनसे भिन्न छः प्रबन्ध हैं। यदि ये ही छः प्रबन्ध हैं तो कोई आपत्ति नहीं है। अन्य हैं तो इन उपरिलिखित ग्रन्थों से भिन्न कौन से छः ग्रन्थ थे ? यदि उपलब्ध ग्रन्थों से भिन्न छः ग्रन्थों का अस्तित्व स्वीकार भी कर लिया जाय तो उनकी अनुपलब्धि तथा उनके सम्बन्ध में प्रामाणिक उल्लेखों के अभाव में मौन ही धारण करना पड़ता है। डॉ० मिराशी,[2] डॉ० एस० के० डे०[3] एवं प्रो० रैनो[4] "भुवन-कोष" को स्वतन्त्र ग्रन्थ न मानकर "कवि रहस्य अधिकरण" का ही अन्तिम अध्याय मानते हैं।

श्री एम० कृष्णमाचारियर[5] राजशेखर को "अष्ट-पत्रदलकमल" ग्रन्थ का भी निर्माता मानते हैं तो प्रो० रैनो[6] राजशेखर को "रत्नमंजरी" नाटिका का कर्त्ता लिखते हैं। किन्तु राजशेखर के लिखी इन दोनों रचनाओं के कर्तृत्व के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राजशेखर की उपलब्ध कृतियाँ केवल कर्पूरमंजरी, बालरामायण, बालभारत, विद्धशालभंजिका, तथा काव्यमीमांसा हैं। "हरविलास" अनुपलब्ध रचना अवश्य है परन्तु इसके कर्ता राजशेखर ही थे। यह सर्वग्राह्य मत है। अन्य ग्रन्थों के कर्तृत्व के संबंध में ग्रन्थों की अनुपलब्धि तथा पुष्ट-प्रमाणों के अभाव के कारण उन्हें राजशेखर की रचना मानना समीचीन नहीं है। हम यह तो मानते हैं कि राजशेखर जैसे विशिष्ट विद्वान् ने इन उपलब्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों की भी रचना की होगी किन्तु किन ग्रन्थों की रचना की है ? यह विचार ग्रन्थों की उपलब्धि से पूर्व लेखनी का विषय नहीं बन सकता है। अतः हमें केवल उनका नाम निर्देश करके ही मौन धारण करना होगा।

---

1. बाल-रामायण, 1–12
2. पाठक कमैमोरेशन वाल्यूम पृ० 360
3. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर–एम० के० डे० भाग एक पृ० 455
4. इन्ट्रोडक्शन टु कर्पूरमंजरी–एन० जी० सुरू पृ० 34
5. हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर–एन० कृष्णमाचारी पेज 627
6. उपर्युक्त– ,, ,, 628

रचनाक्रम

राजशेखर के ग्रन्थों के रचनाकाल के विषय में आज तक मतैक्य नहीं है। कतिपय विशिष्ट विद्वानों के मत प्रस्तुत हैं—

1. डॉ० मिराशी—

1. बालरामायण,
2 बालभारत,
3. कर्पूरमंजरी,
4. विद्धशाल-भंजिका,
5. काव्य-मीमांसा।

2. श्री सी० डी० दलाल—

1. बालरामायण,
2. बालभारत,
3. विद्धशाल-भंजिका, व
4. कर्पूरमंजरी।

3. श्री वी० एस० आप्टे एवं डॉ० स्टेनकोनो—

1. कर्पूरमंजरी,
2. विद्धशालभंजिका,
3. बालरामायण, व
4. बालभारत।

4. डॉ० ए० बी० कीथ—

1. कर्पूरमंजरी,
2. बाल-रामायण,
3. विद्धशाल-भंजिका,
4. बाल-भारत।

5. प्रो० रैनो एवं श्रीशास्त्री—

1. कर्पूरमंजरी,
2. विद्धशाल-भंजिका,
3. बालरामायण, व
4. काव्यमीमांसा।

श्री बी० एस० आप्टे तथा डॉ० स्टेनकोनो "कर्पूरमंजरी को कवि की आदि रचना मानते हैं और डॉ० कीथ एवं प्रोफेसर रैनो तथा श्रीशास्त्री जी भी इस पक्ष के समर्थक हैं। दूसरी ओर डॉ० मिराशी तथा सी० डी० दलाल "बालरामायण" को कवि की आदि कृति मानते हैं। मेरे विचार से डॉ० मिराशी तथा श्री सी० डी०

दलाल का मत ही अधिक समीचीन है क्योंकि "बालरामायण" कवि की साधारण रचना है। दूसरे "रामायण" और बाल-भारत" में कवि स्वयं को महामंत्री पुत्र कहकर अपने पिता का परिचय देते हैं। अन्य तीन ग्रन्थों में उन्होंने अपने पिता के सम्बन्ध में इसलिए लिखना उचित नहीं समझा कि पहले लिखा ही जा चुका है अथवा इन दो ग्रन्थों के रचनाकाल तक इनके शिर पर पिता की छत्रछाया रही होगी और बाद में इनके पिता दिवंगत हो गए होंगे। अतः बालरामायण ही कविराज की आदि रचना रही होगी।

"बालरामायण" के बाद कवि ने सम्भवतः "बालभारत" की रचना की होगी, क्योंकि कवि की प्रथम दृष्टि कालक्रम के विचार से रामायण पर पड़ी होगी तदनन्तर महाभारत पर। वैसे भी प्रायः कवि प्रारम्भ से प्राचीन प्रसिद्ध काव्यग्रन्थों से कथानक ग्रहण किया करते हैं, और उन ग्रन्थकारों को गुरु मानकर काव्य-रचना से प्रवृत्त हुआ करते हैं तदनुसार बुद्धि तथा प्रतिभा के विकसित हो जाने पर कवि मौलिक रचना में प्रवृत्त होते हैं। डॉ० वी० एस० आप्टे, डॉ० स्टेनकोनो, डॉ० कीथ, आदि "बालभारत" को कवि की अन्तिम रचना मानते हैं। उनका कथन है कि "बालभारत" की अपूर्वता इस ग्रन्थ को कवि की अन्तिम रचना सिद्ध करती है। "किन्तु उनका यह कथन सारगर्भित नहीं जान पड़ता है" क्योंकि ग्रंथ की अपूर्णता में ग्रन्थ के अन्तिम भाग का कालकवलित हो जाना ही हेतु है। जिसके कारण आज ग्रन्थ पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है। दूसरे बालरामायण और बालभारत लिखते समय बाल शब्द का प्रयोग "बालकवि" की ही ख्याति का प्रतीक है।

"कर्पूरमंजरी" की रचना कवि ने अपनी दयिता की प्रसन्नता के लिये युवावस्था में की है। कर्पूरमंजरी का रंगमंच पर अभिनय उसी की इच्छा से हुआ था। लिखा भी है—

चाहुआण कलमउमलिया लिया राजसेहरक इन्द्रगेहिणी।
भत्तुण्डो कि दि अवन्ति सुन्दरी सा पउजाइ दुभेद मिच्छदि ॥[1]

इसी का संस्कृतानुवाद पढ़िये—

चाहुमान कुलमौलिमालिका राजशेखर कवीन्द्रगेहिनी।
भर्तुः कृतिअवन्तिसुन्दरी सा प्रयोक्तुमेवेच्छति ॥

उपलब्ध कृतियों में "विद्धशालभंजिका" कवि की चतुर्थ रचना रही होगी। इसकी रचना त्रिपुरी में हुई थी क्योंकि राजशेखर को राजनैतिक संकट के कारण कुछ दिन के लिये राजा महीपाल के शासन को छोड़कर त्रिपुरी नरेश के यहाँ जाना पड़ा था। राजनैतिक उथल-पुथल के नष्ट होने पर राजशेखर पुनः "कान्यकुब्ज" आ गए थे।

---

1. कर्पूरमंजरी, 1/11.

''काव्यमीमांसा'' कवि की प्रौढ़ बुद्धि, प्रतिभा एवं विवेक की परिचायिका होने के कारण अन्तिम रचना ठहरती है। काव्यमीमांसा की रचना कहाँ हुई ? इस विषय में डॉ० दशरथशर्मा का कथन है कि काव्यमीमांसा कन्नौज में लिखी गई है। किन्तु डॉ० मिराशी का कथन है कि काव्यमीमांसा की रचना त्रिपुरी में हुई थी।

मेरे विचार से किसी भी सुन्दर, मौलिक, चिन्तनपूर्ण ग्रन्थ की रचना किसी भी राज्य के शान्त वातावरण में ही सम्भव है। अतः कान्यकुब्ज के राजनैतिक संकटकाल के समाप्त हो जाने पर, अपने आश्रयदाता की खुशहाली के समय ही कवि ने इस ग्रन्थ की रचना कान्यकुब्ज में की होगी।

काव्य-सौन्दर्य

1. बालरामायण--इस नाटक का मूल स्रोत रामायण है। इसमें 10 अंक है। आकार की दृष्टि से यह विपुलकाय नाटक है। इस नाटक में कवि ने नाटकीयता के साथ-साथ अपनी उदात्त काव्यशक्ति का भी परिचय दिया है। नाटक के अंक लम्बे-लम्बे हैं। इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि कवि ने सम्पूर्ण रामचरित को इस नाटक में गुम्फित करने का प्रयास किया है। कथानक में कवि ने अवसरानुकूल परिवर्तन कर मौलिकता का परिचय दिया है। यह नाटक नाटकीयता की अपेक्षा काव्यत्व की दृष्टि से अधिक सफल है। यद्यपि कविराज ने इस नाटक की नाटकीयता के सम्बन्ध में सन्देह का निराकरण स्वयं इन शब्दों में किया है—

''ब्रूते यः कोऽपि दोषं महदिति सुमतिर्बालरामायणेऽस्मिन्। प्रष्टव्योऽसौ
पटीयानिह भणितिगुणो विद्यते वा न वेति। यद्यस्ति स्वस्ति
तुभ्यं भव पठनरुचिः.........।''[1]

यहां ध्यातव्य है कि इस नाटक के सम्बन्ध में या तो कवि को स्वयं सन्देह उत्पन्न हुआ होगा अथवा किसी ने शंका की होगी, तभी कविराज ने ये पंक्तियाँ लिखीं होंगी। इस ग्रन्थ में 741 पद्य हैं। जिनमें 200 शार्दूल-विक्रीड़ित में हैं। राजशेखर शार्दूलविक्रीड़ित छन्द की रचना के लिये विशेष प्रसिद्ध हैं।

शार्दूलक्रीड़ितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः।
शिखरीव परं वक्रैः सोल्लेखैरुच्चशेखरः॥[2]

राजशेखर ने बालरामायण की रचना करने से पूर्व 'बाल्मीकि-रामायण' तथा कालिदास और भवभूति के नाटकों का चिन्तन किया था। इन तीनों कवियों का पर्याप्त प्रभाव राजशेखर के नाटकों पर लक्षित होता है।

दिङ् मात्रमुदाह्रियते-''बभूव बल्मीकभवः पुराकविः स्थितः पुनर्यो भवभूति-

---

1. बाल'रामायण। 12
2. सुवृत्ततिलक

रेखया"-लिखकर कविराज ने बाल्मीक के प्रति श्रद्धा व्यक्त की है। भवभूति और राजशेखर के भाव-साम्य का एक उदाहरण देखिये—अपि ग्रावा रोदित्यपि दलितवज्रस्य हृदयम्। भवभूति ग्रावग्रन्थीनां परं यदि न दलति हृदयम्। राजशेखर। अब कालिदास और राजशेखर के भाव-साम्य का एक निदर्शन।

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने।
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः॥
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी।
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥[1]

अभ्युत्थानमुपागते गृहपतौ तद्भाषणे नम्रता तत्पादार्पित दृष्टिरासनविधिस्तस्योपचर्या स्वयम्। सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति प्राच्यैः पुत्रि! निवेदिताः कुलवधूसिद्धान्तधर्मा अमी। निर्व्याजा दयिते ननान्दृषु नता, श्वश्रूषु भक्ता भव स्निग्धा बन्धुषु वत्सला परिजने स्मेश सपत्नीष्वपि। पत्युर्मित्रजने सनर्मवचना,

खिन्ना च तद्द्वेषिषु स्त्रीणां संवननं नतभ्रु। तदिदं श्रेष्ठौषधभर्तृषु।[2] इसमें सीता स्वयंवर से रामराज्याभिषेक तक की कथा वर्णित है।

प्रथम चार अंक की घटनायें बालकाण्ड पर आधारित हैं। पाचवाँ अंक अरण्यकाण्ड से सम्बद्ध है। छठे अंक की कथा अयोध्या काण्ड एवं अरण्यकांड पर आश्रित है। सातवें अंक की कथा सुन्दरकाण्ड तथा किष्किन्धाकाण्ड से प्रभावित है। अष्टम, नवम एवं दशम अंक में युद्ध कथायें हैं। ये युद्धकाण्ड से सम्बन्धित हैं। कविराज ने अवसरानुकूल कथानक में परिवर्तन कर नवीनता तथा मौलिकता का परिचय दिया है। जिन स्थलों पर कवि ने नवीनता प्रकट की है, वे ये हैं—[3]

1. सीता-स्वयंवर,
2. विवाहोपरान्त दशरथ का आगमन,
3. स्वयंवर के अवसर पर विश्वामित्र की अनुपस्थिति,
4. ताड़का, मारीच एवं सुबाहु का वध,
5. राम-परशुराम-संघर्ष, छद्म मस्तकों का प्रकरण,
6. यन्त्र-जानकी,
7. शूर्पण खां,
8. कैकेयी का दोष–निवारण, एवं

---

1. कालिदासकृत-अभिज्ञान-शाकुन्तलम् 4-18,
2. कालिदासकृत–अभिज्ञान-शाकुन्तलम्। 4/18
3. बालरामायण 4/43/44.

9. दशरथ-मरण ।

राजशेखर ने जहाँ प्रसंगों में परिवर्तन किया है, वहाँ अपनी नवीनता का परिचय सकारण दिया है ।

राजशेखर में पूर्ववर्ती, वाल्मीकि, कालिदास तथा भवभूति आदि कवियों के कथानक साम्य के अतिरिक्त अनेक स्थलों पर भाव-साम्य तथा शब्द-साम्य के भी दर्शन होते हैं ।

इस नाटक में नवीनता, मौलिकता, काव्यत्वादि गुणों के विद्यमान होने पर भी नाटकीयता की चरम सीमा के दर्शन नहीं होते हैं । अतः इसे असाधारण नाटकों की कोटि में स्थापित नहीं किया जा सकता है क्योंकि नाटक में अनावश्यक विस्तार के कारण गति-प्रवाह हीन लक्षित होता है । इसके पात्र आदर्शमय होते हुए भी मानवीय धरातल पर ही संचरण करते हैं । इस नाटक में 67 पात्र हैं । पात्रों की बहुलता नीरसता को ही जन्म देती है ।

2. बाल-भारत—इसका द्वितीय नाम 'प्रचण्ड-पाण्डव' भी है । इस नाटक के आज केवल दो ही अंक उपलब्ध हैं । शेष अंक काल-क्रोड में समा गये हैं । जो लोग नाटक को अपूर्ण मानते हैं । अर्थात् अगले अंकों की रचना राजशेखर न कर सके, यह मानते हैं । उनका विचार तर्क-संगत नहीं जान पड़ता क्योंकि राजशेखर जैसा विशिष्ट प्रखर-प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् कवि कभी भी विघ्नों के सम्मुख नतमस्तक नहीं हो सकता । इस नाटक में दो पक्षों या दो परिवारों या पाण्डव-कौरवों या धर्म और अधर्म के युद्ध का वर्णन मिलता है । यद्यपि "बाल-भारत" का कथानक कवि ने महाभारत से ग्रहण किया है । पुनरपि "साहित्य समाज का दर्पण होता है" इस उक्ति के अनुसार "बाल-भारत" में तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति के प्रतिबिम्ब के दर्शन होते हैं । जहां महाभारत में "कौरव और पाण्डव" जैसे भाइयों में राज्य के लिए उग्र युद्ध हुआ वहाँ राजा महेन्द्रपाल के दो पुत्रों (महीपाल और भोज द्वितीय) में गृह कलह रहा है । इस बात की सूचना हमें इस नाटक से मिल जाती है किन्तु कृति की पूर्ण रूप में अनुपलब्धि के कारण हम कवि-हृदय की पूर्ण जानकारी नहीं दे सकते हैं । इस नाटक की कथावस्तु द्रोपदी-स्वयंवर से प्रारम्भ होती है । प्रारम्भ में "शिव-स्तुति" नान्दी के रूप में की जाती है । क्योंकि शिव रौद्ररस के देवता हैं । द्रौपदी अपनी सखी सहित जब सजकर "स्वयंवर-मण्डप" में उपस्थित होती है तो ब्राह्मणवेषधारी पाण्डव उसके अनुपम सौन्दर्य से प्रभावित हो जाते हैं । तभी घोषणा होती है कि जो "मत्स्यवेधन" करेगा, द्रोपदी उसी का वरण करेगी । जब दुःशासन, शकुनि, जयद्रथ, दुर्योधन, शिशुपाल और जरासन्ध आदि मत्स्यवेधन नहीं कर पाते हैं, तब ब्राह्मणवेषधारी अर्जुन तदर्थ उपस्थित होता है और अनायास ही मत्स्यवेधन कर

लेता है। उपस्थित राजसमूह ईर्ष्याग्नि से जल उठता है और अर्जुन सबके बीच से द्रौपदी को उठाकर ले जाता है।

द्वितीय अंक मे द्यूतक्रीड़ा का वर्णन है। जिसमें युधिष्ठिर राज्य तथा पत्नी को हारकर तेरह वर्ष के लिए बनवास को चले जाते हैं। द्रौपदी को केशाकर्षण आदि द्वारा अपमानित किया जाता है। द्रौपदी विनय-याचना करती है किन्तु सभा जड़वत् मूक रहती है। उस अपमान को देखकर वहाँ भीम दुःशासन का रुधिरपान, दुर्योधन का उरुभंग तथा उनके रक्त से लिप्त हाथों से द्रोपदी की वेणी बांधने का संकल्प करता है। इस पर उन्हें शकुनि वन जाने की आज्ञा सुनाता है और अंक समाप्त हो जाता है। प्रथम अंक की कथा महाभारत के आदि पर्व तथा द्वितीय अंक सभापर्व पर आश्रित है। बाल-भारत या महाभारत की उक्तियों में पर्याप्त समता पायी जाती है। यथा—

आहूतो न निवर्तेय ।[1]
आहूतो न निवर्तेय ।[2]

मौलिकपरिवर्तन—

1. धृष्टद्युम्न द्वारा अतिथियों की सेवा और गुणगान।
2. अतिथियों के कुल और शील का बन्दीगण द्वारा विस्तृत-वर्णन।
3. अर्जुन द्वारा सोत्साह मत्स्यवेधन और निर्विरोध द्रोपदी-प्राप्ति।
4. द्रौपदी के सौन्दर्य की प्रशंसा।
5. द्यूत क्रीड़ा में युधिष्ठिर क्रमशः स्वयं को फिर भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव और अन्त में द्रोपदी को दांव पर लगाते हैं।
6. स्वयंवर में कर्ण पर प्रकाश नहीं डाला गया है।
7. मत्स्यवेधन का नाम राधावेध रखा गया है।
8. द्रोपदी के वस्त्रापहरण काल में कवि ने कृष्ण की जगह त्रिभुवन-मोहिनी-विद्या द्वारा द्रोपदी के सम्मान की रक्षा की है।

नाटक की अपूर्णता के कारण कवि हृदय के पूर्ण उद्‌गारों का पता नहीं चलता है। वैसे यह नाटक वीर-रस का सुन्दर उदाहरण है।

3. कर्पूरमंजरी—यह सट्टक चार जवनिकान्तारों में विभक्त है। यह प्राकृत-भाषा में लिखा गया सट्टक है। सट्टकों के विकास में "कर्पूरमंजरी" का महत्व-पूर्ण योगदान है। परवर्ती सट्टक प्रणेता कथानक, वर्णन-पद्धति एवं रचना रूप की दृष्टि से कर्पूरमंजरीकार के ऋणी प्रतीत होते हैं। अर्थात् सट्टक के प्रथम लेखक श्री राजशेखर ही

---

1. महाभारत 2/7/13
2. बाल-भारत 11/52/16 आदि

हैं जिन्होंने सट्टक परम्परा की सर्वप्रथम नींव रखी थी। सट्टकों के लक्षण के अनुसार सट्टक में विष्कम्भक, प्रवेशक तथा अङ्क का अभाव रहता है। शेष नियम नाटिका के समान होते हैं। कर्पूरमंजरी की प्रस्तावना में लिखा भी है—

"सो सट्टओ स्तिभणइ दूरं जो णाडिआइ अणुहरइ।
किं उण पवेस विक्खम्भकाई केवलं ण दीसन्ति ।।

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में तथा "धनञ्जय और धनिक" ने "दशरूपक" में नाटिका के लक्षणों का विस्तार से वर्णन किया है।

यहाँ हम सर्वप्रथम धनञ्जय तथा धनिक द्वारा मान्य नाटिका के लक्षण को उद्धृत करते हैं—

लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र सङ्कीर्णान्यिनिवृत्तये ।
तत्र वस्तु प्रकरणान्नाटकान्नायको नृपः ।।
प्रख्यातो धीर-ललितः शृंगारोऽङ्गी सलक्षणः ।
स्त्रीप्रायश्चतुरङ्कादि भेदकं यदि चेष्यते ।।
एक द्वित्र्यङ्क पात्रादिभेदेनान्तररूपता ।
देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ।।
गम्भीरा मानिनी कृच्छ्रातद्वशान्नेतृसङ्गमः ।
नायिका तादृशी मुग्धा दिव्या चातिमनोहरा ।।
अन्तः पुरादि सम्बन्धादासन्ना श्रुतिदर्शनैः ।
अनुरागो नवावस्थो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम् ।।
नेता तत्र प्रवर्त्तेत देवीत्रासेन शङ्कितः ।
कैशिक्यङ्गैश्चतुर्भिश्च युक्ताङ्कैरिव नाटिका ।।

आचार्य विश्वनाथ ने भी शब्दान्तर से नाटिका का लक्षण पूर्ववर्त्ती आचार्यों के विचारों को स्वीकार करते हुए इस प्रकार दिया है—

नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्याद् स्त्रीप्राया चतुरङ्किका ।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः ।।
स्यादन्तः पुरसम्बद्धा संगीतव्यापृताथवा ।
नवानुरागा कन्याऽत्र नायिका नृपवंशजा ।।
सम्प्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः ।
देवी भवेत्पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ।।
पदे-पदे मानवती तद्वंशः संगमो द्वयोः ।
वृत्तिः स्यात्कैशिकी स्वल्पविमर्शाः सन्धयः पुनः ।।

अर्थाद् नाटिका को उपरूपक भी कहते हैं, इसका इतिवृत्त कल्पित होता है।

इसमें स्त्रीपात्र अधिक होते हैं। चार अंक होते हैं। इसका नायक प्रख्यात कुलोत्पन्न धीरललित नायक होना चाहिये। नायिका का नायक के अन्तः पुर से सम्बद्ध होना अथवा संगीत कला में दक्ष होना राजवंशोत्पन्ना तथा नवानुरागशीला कन्या होनी चाहिये। नायक तथा नायिका का परस्पर प्रणय-व्यापार प्रधान राजमहिषी के भय से युक्त, तथा उन दोनों (नायक-नायिका) का संगम उसके अधीन होना चाहिये। राजमहिषी राजकुलोत्पन्ना, प्रगल्भा, पग-पग पर मान करती हुई वर्णित होनी चाहिये। इसमें कैशिकी वृत्ति प्रधान रूप से रहनी चाहिये। विमर्श-सन्धि के अंशमात्र से चारों सन्धियों का निरूपण होना चाहिये।

"कर्पूरमंजरी" की रचना करते समय यद्यपि राजशेखर के सम्मुख नाटिका के सम्पूर्ण लक्षण विद्यमान थे। किन्तु नाटिका को सट्टक का रूप देने के लिए कविराज ने कुछ मौलिक परिवर्तन इस प्रकार किए हैं।

1. "अंक" के स्थान पर "जवनिका" शब्द का प्रयोग।
2. नायिका के नाम पर सट्टक का नामकरण।
3. नृत्य का अनिवार्य रूप से प्रयोग।
4. सकल पात्रों द्वारा प्राकृत भाषा का ही व्यवहार।
5. विष्कम्भक, प्रवेशक, तथा अंक का अभाव।

आचार्यों में अभिनवगुप्त, हेमचन्द्र, सगरनन्दी, शारदातनय, ने भी सट्टक के विषय में विचार किया है। कुछ मतभेदों के रहते हुए भी लगभग सभी के विचार सामान्य हैं।

कथानक—

यद्यपि कर्पूरमंजरी की कथावस्तु कल्पित है। पुनरपि इस कथानक के बीज सम्भवतः राजशेखर को गुणाढ्य की बृहत्कथा से उपलब्ध हुए होंगे। "बृहत्कथा" तो आज अनुपलब्ध है किन्तु उसका सारांश क्षेमेन्द्र की "बृहत्कथा-मंजरी" में मिलता है। उसमें निम्नलिखित कथा के बीज मिलते हैं। "कथासरित्सागर" में भी सोमपाल की पुत्री कर्पूरिकी की कथा मिलती है। "कर्पूरमंजरी" की कथा में तथा "कथासरित्सागर" की इस कथा में नाम मात्र को छोड़कर शेष घटना साम्य रखती है। पुनरपि राजशेखर ने कुछ मौलिक परिवर्तन किये हैं। यथा—

1. नायिका प्राप्ति हेतु संघर्ष का अद्भुत रूप से सरस वर्णन।
2. प्राकृतिक चित्रण में नवीनता।
3. सामाजिक घटनाओं एवं पर्वों का नवीन ढंग से चित्रण।
4. कथानक में रोचकता तथा प्रवाह लाने के लिये भावों का सरसचित्रण।
5. संवादों में संक्षिप्तता, सरसता, तथा प्रभावोत्पादकता का ध्यान।

6. पात्रों में सजीवता के दर्शन ।
7. अभिनेयता की सफलता ।

उपरिलिखित ये सब विशेषतायें कवि की कल्पना-शक्ति की देन हैं ।

"कर्पूरमंजरी" में चण्डपाल तथा कर्पूरमंजरी की प्रणयकथा वर्णित है । यह आधिकारिक कथा है । क्योंकि दोनों ही फलभोक्ता हैं । विचक्षणा एवं विदूषक की काव्यगोष्ठी प्रासंगिक कथा के रूप में रखी गई है ।

आधिकारिक कथावस्तु में पाँच अर्थ-प्रकृतियों का निर्वाह करना होता है ।

बीज यथा—

भैरवानन्द सिद्धि-बल से कर्पूरमंजरी को राजा चण्डपाल के सम्मुख अवतरित करता है ।

बिन्दु यथा—

कर्पूर मंजरी को देखकर राजा द्वारा अपनी कामावस्था का चित्रण किया जाना ।

पताका यथा—

तदनन्तर प्रेम का उत्तरोत्तर विकास ।

प्रकरी यथा—

नायिका के कारावास से मूल प्रवाह में बाधा की उपस्थिति ।

कार्य यथा—

नायिका कर्पूर मंजरी की प्राप्ति एवं परिणय ।

पाँचों सन्धियों का इस सट्टक में पूर्ण निर्वाह हुआ है ।

नाटिका में पाँच अवस्थाओं का चित्रण करना होता है ।

आरम्भ—

प्रथम जवनिका में बीज अर्थ प्रकृति के साथ ही "आरम्भ" अवस्था में प्रारम्भ होता है ।

यत्न—

द्वितीय जवनिका नायिका का प्रणयपत्र तथा नायक के यत्न में विदूषक एवं नायिका के फलागम के लिये प्रयत्नशील हैं ।

प्राप्त्याशा—

नायिका के कठोर नियन्त्रण में होने पर भी राजा के हृदय में प्राप्त्याशा बनी रहती है ।

नियताप्ति—

फल प्राप्ति की आशा क्षीण होने पर विदूषक द्वारा कर्पूरमंजरी की प्राप्ति के लिये यह कहना—"कर्पूर-मंजरी का हाथ पकड़ो"

फलागम —

राजा को कर्पूर मंजरी की प्राप्ति तथा चक्रवर्ती सम्राट् की उपलब्धि फलागम की सूचक है ।

उपरिलिखित पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ एवं पाँच-अवस्थायें ही मिलकर पाँच सन्धियों को जन्म देती हैं।

मुखसन्धि—

प्रणय-निवेदन।

प्रतिमुखसन्धि—

नायक-नायिका का परस्पर मिलन के लिए प्रयत्न।

गर्भ-सन्धि—

नायिका का बन्दी होना।

अवमर्श-सन्धि—

भैरवानन्द द्वारा नायिका को बन्धन से मुक्त करके विवाह वेदी पर पहुँचाना।

निर्वहण-सन्धि—

नायक-नायिका का विवाह-वर्णन।

इस प्रकार निस्संदेह राजशेखर का शिल्प-विधान उनके वैशिष्ट्य का प्रतिपादक है। इसके अतिरिक्त राजशेखर ने बालरामायण एवं बालभारत में भी नाट्य शास्त्र के प्राय सभी नियमों का पालन किया है। केवल बालरामायण में कथानक का अति विस्तार पाठक को कुछ खलता है। शास्त्रीय-नियमों के पालन में राजशेखर ने जहाँ तक औचित्य समझा है, वहाँ तक पालन किया है अन्यथा मौलिक नवीनता ग्रहण कर ली है।

राजशेखर के रूपकों में चरित्र-चित्रण

बालरामायण—के पात्र दिव्य तथा अदिव्य हैं। आदर्शपात्र होते हुए भी मानवीय धरातल पर संचरण करते हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से तीन पात्र राम, सीता तथा रावण मुख्य हैं। शेष 64 पात्र सामान्य हैं। प्रधान पात्रों का व्यक्तित्व सम्पूर्ण नाटक में व्याप्त है। इस नाटक के नायक "राम" हैं। नायक के समस्त गुण उनमें विद्यमान हैं। सीता नायिका है। वह अद्वितीय सुन्दरी है तथा सकल शुभलक्षणों से अन्वित हैं। रावण खलनायक है। खलनायक के रूप में सुन्दर चित्रण हुआ है। अन्य सभी पात्रों के चरित्र भी योग्यतानुसार सजीवतामय है।

बालभारत—उपलब्ध दोनों अंकों में अर्जुन का चरित्र यशस्वी रूप में निखरकर आता है। शेष पाण्डवों में युधिष्ठिर का चरित्र सरलता एवं सत्यता के कारण द्यूत-क्रीड़ा के व्यापार में पराजेता के रूप में सम्मुख आता है। अन्तिम अंक में भीम द्वारा द्रौपदी के केशापकर्षण का बदला लेने के लिए दुर्योधन के उरूभंग, दुःशासन के रक्तपान तथा कौरवों के वध का संकल्प किया जाता है। यह कथन भीम के लिए भावी विजेता के रूप का सूचक है जो कि उसकी वीरता, प्रतिशोधकत्व

की भावना, एवं उत्साह-सम्पन्नता का प्रतीक है। खलनायक के रूप में मुख्य पात्र यद्यपि दुर्योधन है पुनरपि दु:शासन आदि का खलनायक के सहयोगी के रूप में यथार्थ चित्रण हुआ है। खलनायक में पाये जाने वाले गुण तथा अवगुणों का सम्मिश्रण पूर्ण रूपेण मिलता है। इस नाटक की नायिका अति सुन्दरी परम विदुषी, सत्कुलोत्पन्ना, स्वाभिमानिनी द्रोपदी है।

कथानक का सौन्दर्य वास्तव में पात्रों के चरित्र-चित्रण से ही चमकता है। इस क्षेत्र में राजशेखर को पूर्णरूपेण सफलता मिली है।

कर्पूरमंजरी—राजा चण्डपाल धीर-ललित-नायक के समस्त गुणों से युक्त है। वह सौन्दर्यानुरागी है। विभ्रमलेखा राजा चण्डपाल की प्रधानमहिषी है। वह स्वकीया मध्या नायिका है। वह अद्वितीय सुन्दरी है। वह राजा के प्रति अनुरक्ता है। वैसे वह दयालु प्रकृति तथा भीरू स्वभावा है। अन्य पात्रों में विदूषक तथा विचक्षणा नायक तथा नायिका के सहायक हैं तथा विनोदप्रिय व सहृदय हैं। भैरवानन्द पाखण्डी, दम्भी, आत्मवंचक और नास्तिक के रूप में चित्रित हुआ है। इस प्रकार राजशेखर की सम्पूर्ण पात्र सृष्टि सरस, सजीव एवं सन्तुलित है।

तीनों नाटकों के रस

बाल-रामायण—बाल-रामायण की प्रस्तावना में स्वयं कविराज राजशेखर ने लिखा है--"वीराद्भुतप्रायो रसप्रबन्धे"। इससे स्पष्ट है कि "बाल रामायण" में वीर तथा अद्भुत रस की प्रधानता है तथा अन्य रसों की भी उपलब्धि पायी जाती है।

रावण सीता के वियोग में व्याकुल है, वह विप्रलम्भ रसाभास की अभिव्यक्ति है।

करुण रस के प्रतिपादन में भी राजशेखर सिद्धहस्त हैं। देखिए एक उदाहरण—

सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी।
गत्वा जवात् त्रिचतुराणि पदानि सीता॥
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद् ब्रुवाणा।
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम्॥[1]

राजमहल में पली हुई शिरीषपुष्प के समान कोमालाङ्गी सीता अयोध्या से बाहर वेगपूर्वक तीन चार पग ही चलकर (थकी हुई) कहती हैं हे राम, "अभी और कितना चलना है" (यह सुनकर) राम का हृदय द्रवित हो उठता है और नेत्रों

---

1. बाल रामायण—6/34

से अश्रुओं की धारा प्रवाहित होने लगती है। यह वर्णन कितना मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी है।

वीर रस को भी कवि ने मूर्त रूप प्रदान कर दिया है—

राम लंकेश्वर रावण को चेतावनी देते हुए कहते हैं—हे लंकेश्वर, सीता को दे दो। राम स्वयं तुमसे याचना करता है। तुम्हें यह कैसा मतिभ्रम हो गया है। अर्थात् तुम्हारी बुद्धि क्यों नष्ट हो गई है? नीति मार्ग को अपनाओ। अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। अन्यथा खरदूषण और त्रिशिरा के रुधिर से लिप्त धनुष की प्रत्यञ्चा पर चढ़ा हुआ बाण इसे सहन नहीं कर सकेगा।

यथा—

भो लंकेश्वर दीयतां 'जनकजा' रामः स्वयं याचते।
कोऽयं ते मतिविभ्रमःस्मर नयं नाद्यापि किंचिद्गतम् ॥
नैवं चेत् खरदूषण त्रिशिरसां कण्ठ-स्रजा पङ्किलः।
पत्री नैष सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः ॥[1]

अद्भुत रस के क्षेत्र में भी राजशेखर अग्रणी हैं। उदाहरणार्थ—

सीता के मायावी मस्तक का क्षेपण अद्भुत रस का व्यंजक है। हास्यरस की योजना के लिये कवि के नाटकों में विदूषक तथा चेटी पात्रों के कथोपकथन को चुना है।

बीभत्स रस का सुन्दर उदाहरण ताड़का-वध का प्रसंग है।

इसके अतिरिक्त युद्ध स्थल के भयंकर गर्जन-तर्जन भयानक रस को, राम एवं परशुराम का संवाद रौद्र-रस, एवं मुनियों के पवित्र आश्रमों का मनोहारी रम्य वर्णन शान्त-रस को पुष्ट करते हैं।

बालभारत

वीर रस का सुन्दर उदाहरण है। भीम जब द्रोपदी के केशापकर्षण को देखता है, तब वह उत्तेजनापूर्ण शब्दों में कहता है—मैं कौरवों का विनाश कर, दुःशासन का रुधिरपान तथा रुधिर लिप्त हाथों से द्रोपदी की वेणी बाँधने का संकल्प करता हूँ।

यह कथन वीर-रस के परिपाक का सुन्दर उदाहरण माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त बालभारत में श्रृंगार, हास्य तथा रौद्र रस के भी दर्शन होते हैं।

कर्पूरमंजरी

यह संयोग तथा वियोग श्रृंगार-प्रधाना नाटिका (सट्टक) है। वियोग-श्रृंगार का एक उदाहरण देखिए—

---

1. बालरामायण—9/19

सह दिवसणिसाहिँ दोहरा सासदण्डा।
सह मणिवलएहिँ बाहधारा गलन्ति ।।
तुह सुहअ बिओए तीअ उब्बिविरीए।
सह अ तणुलदाए दुब्बला जीविदासा ।।[1]

अर्थात्—विरह में दिन-रात जितने लम्बे हो गये हैं, वह उतनी ही लम्बी-लम्बी श्वाँसे छोड़ रही है। कृशता इतनी अधिक हो गई है कि सतत प्रवाहित अश्रु-धारा के साथ मणिकंकण भी गिर रहे हैं और क्या कहें? शरीर की बढ़ती हुई दुर्बलता के साथ-साथ उसके जीवन की आशा भी क्षीण होती जा रही है।

नायिका की विरह दशा का कितना स्वाभाविक चित्रण है। विरही नायक की दशा भी दर्शनीय है—

परं जोण्हा उण्हा गरलसरिसो चन्दणरसो।
खरक्खारो हारो रअणिपवणा देहतवणा ।।
मुणाली बाणाली जलई अजलद्दा तणुलदा।
बरिट्ठा जं दिट्ठा कमल वअणासां सुणअणा ।।[2]

अर्थात्—जब से उस सुनयना को देखा है, तभी से चाँदनी गर्म मालूम पड़ती है, चन्दन का लेप विष की तरह प्रतीत होता है और हार घाव पर नमक की तरह लगता है एवं रात्रि की शीतल वायु भी शरीर को दग्ध करती है। कमल नाल बाणों की तरह लगते हैं। स्नान करने पर भी शरीर जलता रहता है।

वियोग शृंगार की दृष्टि से यहाँ पूर्ण रसपरिपाक हुआ है।

संयोग शृंगार की झलक देखिये—

राजा वसन्त वर्णन द्वारा अपनी प्रिया विभ्रम लेखा को प्रसन्न करता हुआ कहता है कि हे प्रिये! विभ्रम-लेखे, वसन्त वर्णन से मैं तुम्हें प्रसन्न करता हूँ—

पिए विब्भम लेहए-एक्को अहं बड्ढावओ तुज्झ। विब्भमगव्वप्प अठ्ठाविअं तरुणीणं, वहावअं मलअमारुदं दोलिदाणच्चणीणं, चारूप्पपं चिद पंचमं, कलअंठि कण्ठ-कंदलेसु कंदलिअकं दप्पकको अण्ड दण्ड खण्डिद चंडिमं, सिणिद्धबन्धुं वसुन्धरा पुरन्धीर विसारि अप्पसिदिप्पमाणे अच्छिणी महुच्छवं अहिच्छं पेक्खदु।

अद्भुत रस की दृष्टि से कर्पूरमंजरी का विशेष महत्व है। योगी भैरवानन्द द्वारा नायिका की अवधारणा एवं विधि प्रयोगों का कौशल अद्भुत रस का पोषक है।

हास्य रस की उत्पत्ति के लिए कवि ने विदूषक की अवतारणा की है, यह पात्र यत्र-तत्र विनोदार्थ हास्य रस की सृष्टि करता रहता है।

1. कर्पूरमंजरी 2/9
2. कर्पूरमंजरी 2/11

इस प्रकार राजशेखर की तीनों रचनाओं में यथावसर प्रसंगानुकूल उचित रूप से सभी रसों का परिपाक सुन्दर रूप में हुआ है ।

प्रकृति-चित्रण

राजशेखर ने प्रकृति के कोमल पक्ष को ही चुना है और उसमें उन्हें सफलता भी मिली है । प्रकृति का सजीव चित्रण करने में कविराज की लेखनी चित्रकार की तूलिका बन गई है । वन-प्रदेश का ललित-चित्रण देखिए—

ताम्बूलीनद्ध मुग्ध क्रमुक-तरुतलप्रस्तरे सानुगाभिः ।
पायं-पायं कलाचीकृतकदलदलं नारिकेलो फलाम्भः ।।
सेव्यन्तां व्योमयात्रा श्रमजलजयिनः सैन्यसीमन्तिनीभि—
र्दात्यूह-व्यूह केली-कलित-कुह कुहारावकान्ता वनान्ताः ।।[1]

अर्थात्—पान की बेलों से व्याप्त सुपारी के वृक्षों के नीचे पड़े हुए बिस्तरों के ऊपर बैठकर, केले के पत्तों के दोने बनाकर, नारियल का पानी पीकर, लंका से मिथिला तक व्योममार्ग से की गई यात्रा के कारण, उत्पन्न स्वेदलवों को सुखा देने वाले और कौओं की क्रीड़ा के काँव-काँव से कूजित, सुन्दर वन प्रदेशों का उपयोग हमारी सेना की महिलायें अपने सहचरों के साथ करें ।

यहाँ कवि ने वन प्रदेश की मादक सुषमा का चित्रण किया है । सूर्यास्त काल के वर्णन को देखिए—

लो आणं लो अणेहिं सह कमलवणं अद्धणिद्धं कुणंतो ।
मुंचंतो तिव्वभावों सहअ सहरिसं माणिणी माणसेहिं ।।
मंजिठ्ठा रत्तसुत्तच्छविकिरण च ओ चक्कवा एक्कभित्तो ।
जादो अत्थाचलत्थो उवह दिणमणी पक्कणारंगपिंगो ।।[2]

अर्थात्—मञ्जिष्ठ के रंग से रंजित सूत्रों की भांति कान्तिमान्, किरणों को धारण करने वाला, चक्रवाक पक्षियों का परममित्र, तथा पकी हुई नारंगी के समान रक्त और पीत रवि, लोगों के नेत्रों के साथ-साथ कमलवन को संकुचित सा करता हुआ, माननियों के मान के साथ-साथ अपने प्रकाश को क्षीण करता हुआ, एकदम अस्ताचल की ओर जा रहा है ।

प्रकृति के स्वाभाविक रूप का यह "कितना सुन्दर निदर्शन है ।" यह वर्णन जितना सजीव है, उतना ही यथार्थ एवं सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक भी है । राजशेखर ने प्रकृति पर मानवीय भावनाओं का भी सुन्दर ढंग से आरोप किया है । "बाल-रामायण" में रावण सीता के विरह में व्याकुल है, उसे सम्पूर्ण प्रकृति में अपनी भाव-

---

1. बाल-रामायण 1/63
2. कर्पूरमंजरी 2/50

नाओं के दर्शन होते हैं। यहां तक है कि वह पशु-पक्षी तथा वृक्षलता आदि को भी सम्बोधित करके अपने प्रश्नों का उत्तर खोजता है। उधर राम के बाणों से आहत हुआ अचेतन सागर पुरुष रूप धारण कर सपत्नीक क्षमा याचना करता है तथा जटायु पक्षी होकर भी सीता की सहायता के लिए रावण से लड़ पड़ता है, इत्यादि मानवीयकरण के अनेक उदाहरण राजशेखर की रचनाओं में मिलते हैं।

राजशेखर यद्यपि प्रकृति के प्रति हृदय से अनुरक्त हैं, पुनरपि नाटकीय सीमा का ध्यान रखकर ही प्रकृति का चित्रण करते हैं। यही कारण है कि प्रकृति-चित्रण उतना सजग और विशाल न हो पाया, जैसा होना चाहिये था।

काव्यमीमांसा

अलंकार-शास्त्र की परम्परा से सुस्पष्ट है कि राजशेखर ने सुदूरपूर्व से आती हुई परम्परा का समादर करते हुए अपने मौलिक विचारों का प्रतिपादन किया है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा को 18 अधिकरणों में लिखा था।

"इत्थङ्कारश्च प्रकीर्णत्वात् सा किञ्चिदुच्चिच्छिदे। इतीयं प्रयोजकाङ्गवती संक्षिप्य सर्वमर्थमल्पग्रन्थेन अष्टादशाधिकरणी प्रणीता।"

किन्तु खेद का विषय है कि यह महान् ग्रन्थ अभी तक अपने पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं हुआ है। आज इस अठ्ठारह अधिकरणात्मक काव्यमीमांसा का केवल प्रथम अधिकरण समुपलब्ध है, जो अठ्ठारह अध्यायों में विभक्त है।

1. प्रथमोऽध्याय:	—	शास्त्रसंग्रह:।
2. द्वितीयोऽध्याय:	—	शास्त्रनिर्देश:।
3. तृतीयोऽध्याय:	—	काव्यपुरुषोत्पत्ति:।
4. चतुर्थोऽध्याय:	—	पदवाक्यविवेक:।
5. पंचमोऽध्याय:	—	व्युत्पत्ति: काव्यपाकश्च।
6. षष्ठोऽध्याय:	—	पदवाक्यविवेक:।
7. सप्तमोऽध्याय:	—	वाक्यभेदा:।
8. अष्टमोऽध्याय:	—	काव्यार्थयोनय:।
9. नवमोऽध्याय:	—	अर्थव्याप्ति:।
10. दशमोऽध्याय:	—	कविचर्या राजचर्या च।
11. एकादशोऽध्याय:	—	शब्दहरणम्।
12. द्वादशोऽध्याय:	—	अर्थहरणम्।
13. त्रयोदशोऽध्याय:	—	अर्थहरेणष्वालेख्यप्रख्यादि भेदा:।
14. चतुर्दशोऽध्याय:	—	कविसमयस्थापना।
15. पंचदशोऽध्याय:	—	गुणसमयस्थापना।

16. षोडशोऽध्याय: — स्वर्ग्यपातालीय कविरहस्य-स्थापना ।

17. सप्तदशोऽध्याय: — देशविभाग: ।

18. अष्टादशोऽध्याय: — कालविभाग: ।

सुविधा की दृष्टि से हम इन अठ्ठारह अध्यायों को वर्ण्य विषय के आधार पर निम्न भागों में विभक्त कर सकते हैं—

1. काव्य-सिद्धान्त ।
2. कवि-शिक्षा-सम्प्रदाय ।
3. काव्य-शास्त्रीय-सम्प्रदाय और राजशेखर ।
4. साहित्य-शास्त्र को राजशेखर की देन ।

1. काव्य-सिद्धान्त—इसके अन्तर्गत हम काव्यहेतु, काव्य का स्वरूप, काव्य-प्रकार एवं कवित्व-प्राप्ति, काव्य में चमत्कार, काव्य में रस तथा अलंकार, काव्यगत गुण तथा दोष, पद, वाक्य, शब्द तथा अर्थ विचार आदि का अध्ययन करेंगे ।

2. कवि-शिक्षा-सम्प्रदाय—इसके अन्तर्गत हम कवियों, आलोचकों एवं शिष्यों के भेद, कवि-समय तथा देशकालविभागादि का अध्ययन करेंगे ।

3. काव्य-शास्त्रीय-सम्प्रदाय और राजशेखर—इसके अन्तर्गत पूर्ववर्ती आचार्यों का राजशेखर पर प्रभाव तथा काव्य-शास्त्र परम्परा में राजशेखर के स्थान पर विचार करेंगे ।

4. साहित्य-शास्त्र को राजशेखर की देन—इसके अन्तर्गत हम परवर्ती आचार्यों पर राजशेखर के प्रभाव का अध्ययन करेंगे ।

"काव्यमीमांसा" में काव्य-पुरुष की कल्पना राजशेखर की महत्वपूर्ण देन है । अलंकारशास्त्र के क्रमबद्ध प्राचीन इतिहास के दर्शन के लिए भी यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है । काव्यमीमांसा निस्सन्देह राजशेखर की अन्तिम एवं प्रौढ़ रचना है । नाना शास्त्रों का परिचय तथा विभिन्न मतमतान्तरों की समालोचना यह सिद्ध करती है कि काव्यमीमांसा उनकी अन्तिम रचना है । इस प्रकार स्पष्ट है कि राजशेखर को जहाँ कवि तथा नाटककार के रूप में सफलता तथा ख्याति उपलब्ध हुई वहाँ, वे साहित्य-मीमांसक के रूप में भी विशेष समादृत हुए हैं । वास्तव में यदि "काव्यमीमांसा" आज अपने पूर्ण कलेवर में उपलब्ध होती है तो निस्सन्देह राजशेखर आलंकारिकों में मूर्धन्य माने जाते । राजशेखर की लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनके परवर्ती अनेक आचार्यों ने राजशेखर को आदर्श मान कर अपने ग्रन्थ प्रसूनों की सृष्टि की है ।

(अ) आचार्य श्रीक्षेमेन्द्र—काव्य-शास्त्र के प्रणयन में जिस प्रकार "ध्वनि-सम्प्रदाय" के प्रवर्तक आनन्दवर्धनाचार्य, "रीति-सम्प्रदाय" के संस्थापक वामना-

चार्य, और "वक्रोक्ति-सम्प्रदाय" के जन्मदाता के रूप में आचार्य कुन्तक लब्ध-प्रतिष्ठ हैं, उसी प्रकार आचार्य क्षेमेन्द्र "औचित्य-सम्प्रदाय" के संस्थापक के रूप में विख्यात हैं। उन्होंने अपनी साहित्य-सम्पदा के द्वारा संस्कृत वाङ्मय को विभूषित किया है। उनका 'साहित्यिक कर्तृत्व' विपुल, विविध, नैसर्गिक उज्ज्वल प्रतिभा-सम्पन्न एवं महत्वपूर्ण है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य-सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना करके संस्कृत-साहित्य-शास्त्रीय विचारों की श्रीवृद्धि की है। सहृदय क्षेमेन्द्र ने सामयिक लोक जीवन का व्यापक रूप से सूक्ष्म निरीक्षण किया था।[1] उन्होंने श्री शारदा की उपासना तथा[2] निरन्तर शास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन तथा चिन्तन करके विशेष योग्यता सम्पादित की थी। उन्होंने छन्दः शास्त्र, काव्य-शास्त्र, रसपूर्ण लघुकाव्य, नीति सम्बन्धी काव्य, कोश इत्यादि विविध विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। उस समय काश्मीर का वातावरण अशान्त, असन्तोष, षड्यन्त्र तथा नैराश्यपूर्ण था। क्षेमेन्द्र उस युग से असन्तुष्ट तथा उद्विग्न थे। उसे सुधारने के लिये अर्थात् समाज और राष्ट्र को दुष्टता से मुक्त कर शिष्टता तथा स्वार्थ के स्थान पर परार्थ की भावना से युक्त करने के लिये, उन्होंने अपनी सफल लेखनी को काव्य-प्रणयन में लगाया।

समय—क्षेमेन्द्र का जन्म कब हुआ, इस सम्बन्ध में यद्यपि निश्चित रूप से कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है तथापि उन्होंने अपने ग्रन्थ "कविकण्ठाभरण" में लिखा है "तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलाऽयं कृतः। इसी प्रकार "औचित्य-विचार-चर्चा" में भी लिखा है—"राज्ये श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोऽयं कृतः।" इस प्रकार "राजा अनन्तराज" के नाम का उल्लेख किया है। राजा अनन्त का शासन[3] 1028–1063 ई० सन् तक रहा। उसने अपने पुत्र "कलश" के लिए सिंहासन छोड़ दिया था। "कलश" ने 1063 से 1089 ई० सन् तक राज्य किया।

क्षेमेन्द्र ने अपने "समय-मातृका" ग्रन्थ की रचना 1050 में (अन्तिम पद्य 2 और 4) अनन्तराज के काल में ही की थी किन्तु "दशावतार-चरितम्" ग्रन्थ का प्रणयन 1066 में (अन्तिम पाँचवाँ पद्य) "कलश" के राज्य काल में किया था।

---

1. कृत्वा निश्चलदैवपौरुषमयोपायं प्रसूत्यै गिरां।
क्षेमेन्द्रेण यदर्जितं शुभफलं तेनास्तु काव्यार्थिनाम्॥

कविकण्ठाभरण 5/3

2. क्षेमेन्द्र नामा तनयस्तस्य विद्वत्सपर्यया।
प्रयातः कविगोष्ठीषु नामग्रहणयोग्यताम्॥

(भारतमंजरी, हरिवंशोपसंहार श्लोकांक 7)

3. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास—पी० वी० काणे प्र० सं० 1966 पृष्ठ 303

"औचित्य विचार चर्चा"[1] और "कविकण्ठाभरण"[2] की रचना राजा अनन्त के शासन काल में हुई। अतः क्षेमेन्द्र का साहित्यिक कार्यकाल 11वीं शताब्दी का द्वितीय तथा तृतीय चरण निर्धारित होता है। इसलिये क्षेमेन्द्र का स्थिति काल भी यही सिद्ध होता है तथा क्षेमेन्द्र ने अपनी "बृहत्कथामंजरी" में तथा "भारतमंजरी" में अभिनवगुप्त को अपना साहित्य-शास्त्र का गुरु माना है और इस विषय में लिखा भी है—

"श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः।
आचार्यशेखरमणेर्विद्या-विवृत्ति-कारिणः ।।[3]

श्लोक में उल्लिखित "विद्याविवृति" प्रत्यभिज्ञा-दर्शन पर लिखी गई टीका है। यह टीका 1014 ई० में पूर्ण हुई थी। क्षेमेन्द्र ने अपनी कवित्व-लाभ-सम्बन्धी चर्चा श्लेष अलंकार में कविकण्ठाभरण में भी की है। यथा—

एतां नमः सरस्वत्यै यः क्रियामातृकां जयेत्।
क्षेमेन्द्रं स लभते भव्योऽभिनववाग्वैभवम् ।।

श्रीअभिनवगुप्त का काल दशम शताब्दी का अन्तिम भाग तथा ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है। तथा अभिनवगुप्त का साहित्यिक-सृजन-काल 980–1020 ई० सन् तक रहा है। इससे स्पष्ट होता हैं कि क्षेमेन्द्र ने अभिनवगुप्त के उत्तरवर्ती जीवन काल में उनसे अध्ययन किया होगा। अतः क्षेमेन्द्र का जन्म 990 ई० सन् के आस-पास और मृत्यु 1066 ई० सन् के पश्चात् हुई होगी।

आचार्य क्षेमेन्द्र के पुत्र श्री सोमदेव ने इनके ग्रन्थ "अवदान-कल्पलता" का रचनाकाल 1052 ई० सन् लिखा है। इन सब प्रमाणों के आधार पर श्रीक्षेमेन्द्र का काल दसवीं शताब्दी के अन्त से लेकर 11वीं शताब्दी का द्वितीय तथा तृतीय चरण सिद्ध होता है।

डॉ० मनोहर लाल गौड़ ने "आचार्य क्षेमेन्द्र" नामक पुस्तक में क्षेमेन्द्र के जीवन-वृत्त के विषय में लिखा है—

"अनुमान किया जाता है कि इन्होंने "बृहत्कथा मंजरी" सन् 1037 में "समयमातृका" 1050 में तथा "दशावतारचरित" 1066 में लिखे थे। "दशावतार चरित" इनकी अन्तिम रचना है। अतः 1070 के भगभग इनका मृत्युकाल अनुमित होता है। × × ×

यह सन् 990 के लगभग उत्पन्न हुए थे। इनका जीवन काल सन् 990 से 1060 तक तथा काव्य-काल 1015 से 1066 तक स्थिर होता है।

---

1. श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलाऽयं कृतः—औचित्यविचार-चर्चा
2. श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोऽयं कृतः। कविकण्ठाभरण
3. बृहत्कथामंजरी, उपसंहार पृष्ठ 37 भारतमंजरी, उपसंहारात्मक पद्य आठ

जन्म स्थान—प्राय: संस्कृत कवियों तथा आलोचकों की जन्मस्थली अज्ञात तथा विवादग्रस्त मिलती है। इसका कारण शायद उन मनीषियों की दार्शनिक भावना ही रही है। इसी भावना के कारण उन्हें नाम के प्रति मोह का अभाव रहा होगा। किन्तु सौभाग्य का विषय है कि सरस्वती वरदपुत्र आचार्य क्षेमेन्द्र की जन्म भूमि ज्ञात है तथा उसके सम्बन्ध में सभी विद्वान् एकमत हैं। विपुल काव्यराशि के प्रणेता महाकवि क्षेमेन्द्राचार्य 'काव्य-शास्त्र-जगत्' में औचित्य विषयक महनीय कल्पना के कारण सदा अमर रहेंगे। इनका जन्म भारत की प्रकृति की सौन्दर्यमूर्ति, प्रेरणा-दायिनी, मनोहारिणी, दिव्यस्थली, पण्डितों की परीक्षा की केन्द्रभूमि **शारदा देश (काश्मीर)** में हुआ। लिखा भी है—

"आसीत् प्रकाशेन्द्र इति प्रकाश: काश्मीरदेशे त्रिदशेश्वर-श्री: ।
×× ×× ××
तस्यात्मज: सर्वमनीषि-शिष्य: श्रीव्यासदासापरपुण्यनामा ।
क्षेमेन्द्र इत्यक्षयकाव्य-कीर्तिश्-चक्रे नवौचित्य-विचारचर्चाम् ॥[1]

जीवन-परिचय—काश्मीर निवासी क्षेमेन्द्र के पिता का नाम प्रकाशेन्द्र, इनके पितामह का नाम सिन्धु, सिन्धु के पिता भोगेन्द्र तथा पितामह नरेन्द्र थे जो जयापीड के यहाँ नौकर थे। इनका परिवार धनी तथा समृद्ध था। इनके पिता अत्यधिक विद्वान् उदार और दानी ब्राह्मण थे। दान के विषय में उन्होंने अपने ग्रन्थ "दशावतार-चरित" के अन्त में द्वितीय श्लोक में लिखा है—

"काश्मीरेषु बभूव सिन्धुरधिक: सिन्धोश्च निम्नाशय: प्राप्तस्तस्य
गुणप्रकर्षयशस: पुत्र: प्रकाशेन्द्रताम् । विप्रेन्द्रप्रतिपादितान्न ।
धनभूगोसंघकृष्णाजिनै: प्रख्यातातिशयस्य तस्य तनय: क्षेमेन्द्रनामा-
भवत् ॥"

क्षेमेन्द्र ने अपने पिता के उपकार कार्यों का वर्णन कई स्थलों पर किया है। कतिपय उपकारों का वर्णन औचित्य-विचार-चर्चा में मिलता है। इनके पिता शैव थे। इनके घर में प्रतिदिन ब्रह्मयज्ञ चलता रहता था। इन्होंने (प्रकाशेन्द्र ने) एक ब्रह्म-मन्दिर की प्रतिष्ठा भी कराई थी, मन्दिर में वे भी भूमि तथा मृगचर्म का ब्राह्मणों को दान किया करते थे। जहाँ षोडशी पूजा की निरति में उन्हें, एक दिन ब्रह्म-समाधि की उपलब्धि हो गई थी। लिखा भी है—

"आसीत् प्रकाशेन्द्र इति प्रकाश: काश्मीरदेशे त्रिदशेश्वर-श्री: ।
अभूद् गृहे यस्य पवित्रसत्रम् अच्छिन्नमग्रासनमग्रजानाम् ॥
य: श्रीस्वयम्भूभवने विचित्रे लेप्य-प्रतिष्ठापित-मातृचक्र: ।
गो-भूमि-कृष्णाऽजिन-वेश्म-दाता तत्रैव काले तनुमुत्ससर्ज ॥

---

1. औचित्य-विचार-चर्चा ।

"बृहत्कथामंजरी" में क्षेमेन्द्र ने स्वयं ही लिखा है—

'यस्य मेरोरिवोदारकल्याणापूर्वसम्पदः ।
अगण्यमभवद् गेहे यस्य भोज्यं द्विजन्मनाम् ॥"
तस्यात्मजः सर्वमनीषि-शिष्यः श्रीव्यासदासापरपुण्यनामा ।
क्षेमेन्द्र इत्यक्षयकाव्यकीर्तिश्चक्रे नवौचित्य-विचारचर्चाम् ॥

पिता के अन्य गुणों का वर्णन भी "भारतमंजरी" के अन्त में (काव्य-माला संस्करण पृ० 849–850 श्लोक 205) क्षेमेन्द्र ने किया है। क्षेमेन्द्र के भाई का नाम चक्रपाल था। इस बात का उल्लेख क्षेमेन्द्र ने "कविकण्ठाभरण" में किया है। "श्रीकामन केशव लेले" चक्रपाल को मुक्ताकण का भाई बतलाते हैं। उनका कहना है कि कविकण्ठाभरण में "यथाचैतदभ्रातुश्चक्रपालस्य" का "यथारन्ध्र ...." के साथ सम्बन्ध है। यह श्लोक मुक्ताकण का है, अतः चक्रपाल मुक्ताकण का भाई था न कि क्षेमेन्द्र का। अन्य सभी विद्वान् चक्रपाल को क्षेमेन्द्र का भाई मानते हैं।

पिता की छत्रछाया सिर से उठ जाने के बाद यद्यपि क्षेमेन्द्र अनाथ हो गये थे किन्तु उनका धैर्यसिन्धु फिर भी अविचल बना रहा। उन्होंने अनेक गुरुओं की शरण ली और उनसे विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण की। इन्होंने अपना द्वितीय नाम "व्यासदास" लिखा है—

"तस्यात्मजः सर्वमनीषि-शिष्यः श्रीव्यासदासापरपुण्यनामा ।
क्षेमेन्द्र इत्यक्षयकाव्यकीर्तिश् चक्रे नवौचित्य-विचारचर्चाम् ॥"

तथा "दशावतार-चरित" में भी अपना द्वितीय नाम व्यासदास लिखा है—

"इत्येष विष्णोरवतारमूर्तेः काव्यामृतास्वादविशेष-भक्त्या ।
श्रीव्यासदासान्यतमाभिधेन, क्षेमेन्द्रनाम्ना विहितः प्रबन्धः ॥

प्रारम्भ में क्षेमेन्द्र शैव थे किन्तु बाद में "सोमाचार्य" के सम्पर्क से वैष्णव-धर्म की दीक्षा ग्रहण की। शैवमण्डल में रहकर भी इनके परमभागवत होने का कारण इनके दीक्षागुरु भागवताचार्य सोमपाद की शिक्षा का प्रभाव था।[1] क्षेमेन्द्र ने "बृहत्कथा-मंजरी" ग्रन्थ में—

श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्याद् साहित्यं बोधवारिधेः ।
आचार्यशेखरमणेः विद्याविवृति-कारिणः ॥

लिखकर, विश्वविख्यात आलंकारिक अभिनवगुप्त के चरणों में बैठकर साहित्य-विद्या ग्रहण की तथा उनको अपना साहित्यिक गुरु माना है। इन्होंने अपने ग्रन्थों में उनके रचनाकाल का भी उल्लेख किया है। इन्होंने रामयशस् की प्रेरणा से भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थों में लिखा भी है–राजा अनन्तवर्मा प्रतापी तथा विनीत राजा था। उसके राज्य में सर्वत्र अभ्युदय, सुख और शान्ति का साम्राज्य था। यथा—

---

1. बृहत्कथा मंजरी 19/37

"यस्यासिः परिवार-कृत् त्रिभुवनप्रख्यातशीलश्रुतेः ।
सर्वस्याऽवनतेन तेन नितरां प्राप्ता विशेषोन्नतिः ॥
आशाः शीतलतां नयत्यऽविरतं यस्य प्रतापानलस् ।
तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलाऽयं कृतः ॥

राजा अनन्तराज ने 1063 ई० में अपना राज्यभार कलश को सौंप दिया था। कलश के एक श्लोक का उल्लेख क्षेमेन्द्र ने "सुवृत्ततिलक" में किया है। इससे सिद्ध होता है कि क्षेमेन्द्र को अनन्तराज तथा कलश दोनों के राज्य में ही समान आश्रग एवं गौरव मिला होगा।

"तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः।"[1]
"राज्ये श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोऽयं कृतः।"[2]

क्षेमेन्द्र के रत्नसिंह परम मित्रों में से थे। वे एक बार बीजवेहारा तीर्थयात्रा करने सोपुर की ओर गये थे। तब वे अपने पुत्र उदयसिंह को क्षेमेन्द्र के पास छोड़ गये थे। इसका उल्लेख उन्होंने 'औचित्य-विचार-चर्चा' में किया है।

श्रीरत्नसिंहे सुहृदि प्रयाते शार्व-पुरं श्री विजयेश-रात्रि।
तदात्मजस्योदयसिंहनाम्नः कृते कृतम् तेन गिरां विचारः ॥

क्षेमेन्द्र मित्रों का सम्मान करने वाले, विनोदप्रिय तथा मधुरभाषी कवि थे। इन्होंने भगवान् वेदव्यास के साहित्य के समान अपनी कुछ रचनाओं को धर्म-नीति आदि सदुपदेशों से विभूषित किया है। यथा—अरण्य-वास का यह वर्णन कितना सुन्दर है। पदावली इतनी स्निग्ध है कि कहीं भी बेमेल शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता।

दयित-जन-वियोगोद्वेगरोगातुराणां।
विभव-विरह-दैन्यम्लायमानाननानाम् ॥
शमयति शितशल्यं हन्त नैराश्यनश्य-
द्भवपरिभवतान्तिः शान्तिरन्ते वनान्ते ॥
अद्वेषपेशलं कुर्यान्मिनः कुसुमकोमलम्।
बभूव द्वेषदोषेण देव-दानवसंक्षयः ॥
यत्नेन शोषयेद् दोषान् न तु तीव्रव्रतैस्तनुम्।
सा तपसा कुम्भकर्णोऽभूत् नित्यनिद्राविचेतनः ॥
उद्वेजयेन्न तैक्षण्येन रामाः कुसुमकोमलाः।
सूर्यो भार्याभयाच्छित्वै तेजो निजमशातयत् ॥
कविभिर्नृपसेवासु वित्तालङ्कारहारिणी।
वाणी वेश्येव लोभेन परोपकरणीकृता ॥

---

1. औचित्य-विचार-चर्चा।
2. कविकण्ठाभरण।

तथा 'दशावतारचरित' की ये पंक्तियाँ भी इस विषय में दर्शनीय हैं—

सर्वापकारः सुकृतप्रहारः क्लेशावतारः कुशलापसारः ।
शीलापचारः कुपदाभिसारः पापप्रकारः परदारहारः ।।

इन्होंने जनमानस को पवित्र और विशुद्ध बनाने के लिए और दुष्टता के स्थान पर शिष्टता तथा स्वार्थ के स्थान पर परार्थ की भावना को जागृत करने के लिए अपनी सिद्ध लेखनी को काव्य के विभिन्न अंगों की रचना में लगाया। अपने युग के वातावरण को स्वस्थ करने के लिए क्षेमेन्द्र ने सराहनीय प्रयास किये और इस दिशा में सफलता ने उनका वरण भी किया। महर्षि वेदव्यास के आदर्श के अनुरूप रचना करने वाला यह साहित्यकार नाम्ना ही नहीं, प्रत्युत यथार्थतः व्यासदास ही था। संस्कृत में काव्य तथा काव्य-शास्त्र की रचना क्षेमेन्द्र की अलौकिक प्रतिभा का निदर्शन है। क्षेमेन्द्र के तृतीय गुरु उपाध्याय गंगक थे।

क्षेमेन्द्र का पुत्र सोमेन्द्र—क्षेमेन्द्र के पुत्र सोमेन्द्र को कतिपय विद्वान् कथा-सरित्सागर के रचयिता सोमदेव से अभिन्न व्यक्ति मानते हैं किन्तु यह मत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि पिता के द्वारा किये गये प्रौढ़ अनुवाद के रहते हुए पुत्र को उसी ग्रन्थ का अनुवाद करने की आवश्यकता ही क्यों होती ? दूसरी बात यह कि सोमेन्द्र द्वारा रचित "जीमूतवाहन" का अवदान-सरित्-सागर के तद्विषयक आख्यान, शैली, भाव तथा घटनाचक्र की दृष्टि से नितान्त भिन्न हैं क्योंकि कल्पलता की शैली नितान्त स्निग्ध रसपेशल तथा हृदयहारिणी है। इसीलिए सोमेन्द्र ने इस ग्रन्थ की तुलना उस अविनश्वर "विहार" से की है, जो अपने वर्णन के द्वारा बौद्धों एवं काव्य प्रेमी रसिको के हृदयों का सर्वदा अनुरंजन करता रहेगा।

"संसक्तनेत्रामृतविन्दुचित्राः कालेन ते ते विगता विहाराः ।
सरस्वतीतूलिकया विचित्रवर्णक्रमैकोल्लिखितावदानाः ।।
तातेन योऽयं विहितो मदर्थैः सन्नन्दनः पुण्यमयो विहारः ।
न तस्य नाशेऽस्ति युगक्षयेऽपि जनानलोल्लासपरिप्लवेन ।।

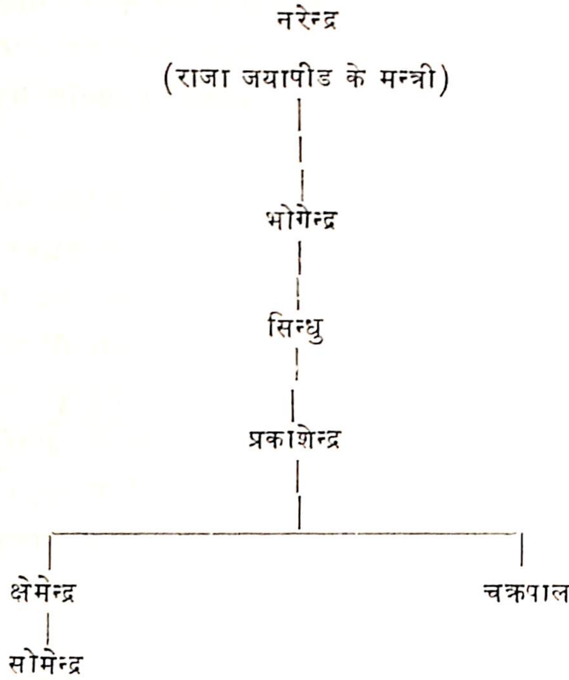
अतः सोमेन्द्र कथासरित्सागर का रचयिता नहीं है। "बोधिसत्वावदान कल्पलता" की रचना क्षेमेन्द्र ने की। यह एक विशाल कथात्मक कृति है। इस कल्पलता में 108 पल्लव (कथाएँ) हैं, जिनमें अन्तिम पल्लव का निर्माण, पिता की मृत्यु हो जाने पर, क्षेमेन्द्र के पुत्र सोमेन्द्र ने मंगलमयी भावना से किया।

सोमेन्द्र कृत भूमिका से भी अनेक रहस्यों का पता चलता है। "रामयश" नामक किसी प्रेमीबन्धु तथा "नक्क" नामक किसी काश्मीरी बौद्ध भिक्षुक के आग्रह से इस ग्रन्थ की रचना की गई थी। ग्रन्थ की विशालता को देखकर क्षेमेन्द्र ने तीन पल्लवों में समाप्त कर दिया था। तदनन्तर सुगत ने स्वप्न में क्षेमेन्द्र को पूर्णरूप में लिखने का आदेश दिया। यह रचना उसी सुगत के आदेश की परिणति है। यह

ग्रन्थ इतना लोकप्रिय हुआ कि डेढ़ सौ वर्ष के भीतर ही तिब्बती भाषा में अनूदित होकर भारत से बाहर पहुँच गया। चंगेजखाँ के पौत्र चीनी सम्राट् कुवले खाँ के धार्मिक गुरु "फग्का" की आज्ञा से इसका पद्यानुवाद किया गया। "संतोन् लोचव" द्वारा अनूदित यह ग्रन्थ तिब्बती भाषा का एक नितान्त श्लाघनीय, अनुकरणीय और उदात्त काव्य माना जाता है।

इतिहास के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि क्षेमेन्द्र के पूर्वज राज्य में अमात्य पद पर आसीन थे। क्षेमेन्द्र भी अनन्तराज के राज्य में उच्च पद पर आसीन रहे। क्षेमेन्द्र के आविर्भाव काल में देश में असंतोष, षड्यन्त्र, नैराश्य तथा रक्तपात व्याप्त था। तत्कालीन राजा अनन्तराज स्वयं मानसिक दुर्बलता तथा बौद्धिक शिथिलता के शिकार थे। तभी तो अनन्तराज ने 1063 ई० में अपने ज्येष्ठ पुत्र कलश को राज्य सिंहासन पर अभिषिक्त करके कुछ वर्षों के बाद पुनः राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली थी। इसके अनन्तर 1077 ई० में राजकार्य से विरत हुए। किन्तु 1081 में अनन्तराज ने आत्महत्या कर ली और शोक विव्हला विदुषी महारानी सूर्यवती ने अपने पति के साथ ही चिता पर अपने प्राणों का स्वेच्छा से उत्सर्ग किया। अतः तत्कालीन काश्मीर का वातावरण कविता जैसी कोमल भावना के विकास के लिए भी नितान्त अनुपयुक्त था। यह क्षेमेन्द्र की प्रखर प्रतिभा, विपुल गुणराशि तथा ग्रन्थों के चिन्तन तथा अनुशीलन का ही परिणाम था जो ये उस स्थिति में भी विपुल काव्यराशि तथा औचित्य-सिद्धान्त का सफल प्रतिपादन कर सके। यद्यपि क्षेमेन्द्र ने स्वयं अनन्तराज का राज्य-सुख-समृद्धि तथा शान्ति से परिपूर्ण लिखा है किन्तु यह विचार केवल अनन्तराज के प्रति सद्भाव का ही प्रतीक है। वास्तव में क्षेमेन्द्र ने अनेक जाति के लोगों से सम्पर्क स्थापित किया था। तत्कालीन समाज पतनोन्मुख था। अतः उनकी रचनाओं में समाज के प्रति तीखे व्यंग्य यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। उन्हें बौद्ध धर्म में सामाजिक आदर्श दिखाई दिये। अतः उन्होंने शैव होते हुए भी "बौद्धावदान-कल्पलता" में बुद्ध को भगवान् मानकर स्तुति की है तथा "दशावतारचरित" में बुद्ध को दशअवतारों में स्थान देकर उनके प्रति श्रद्धा प्रगट की है। यह विचार क्षेमेन्द्र की उदारहृदयता के परिचायक हैं। समाज को उन्होंने निकट से देखा था, अतः उन्हें समाज का व्यापक तथा बहुमुखी अनुभव था। जहाँ-जहाँ कवि को समाज में दोष दिखाई दिये, वहाँ यथार्थ चित्रण कर उस पर व्यंग्य भरी वाणी से प्रहार करते हुए सुधार की ओर उन्मुख करने की चेष्टा की है। व्यास, बाल्मीकि तथा गुणाढ्य के क्षेमेन्द्र विशेष प्रशंसक थे।

क्षेमेन्द्र के परिवार का इतिहास



क्षेमेन्द्र का व्यक्तित्व—क्षेमेन्द्र एक बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न ग्रन्थकार थे। उन्होंने विविध विषयों को लेखनी का विषय बनाया और सर्वत्र सफलता अर्जित की। उनकी असाधारण मौलिक प्रतिभा-प्रभा ने संस्कृत-साहित्य के अनेक विभागों का स्पर्श कर अलंकृत किया। उनकी भारती महत्वाकांक्षिणी, सहजसुबोधिनी, गहन, व्यापक तथा तत्वान्वेषिणी है। संस्कृत-वाङ्-मयाकाश में वे समुज्ज्वल देदीप्यमान नक्षत्र की भाँति दीप्तिमान् हैं। उनका कवित्व और आचार्यत्व पर समान रूपेण असाधारण अधिकार है। क्षेमेन्द्र संस्कृत भाषा के महाकवियों में अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न कवि हैं तो हास्यरस के तो संस्कृतसाहित्य में एक मात्र प्रतिनिधि कवि हैं। इन्होंने एक नवीन प्रकार के आख्यानों का प्रणयन किया है, जिसमें हास्य के ब्याज से सदुपदेश प्रदान किया गया है। क्षेमेन्द्र का मुख्य उद्देश्य है—तत्कालीन, राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दोषों का निरूपण कर उनका निवारण करना। जनता के चरित्र के सुधार तथा मनोरंजन की भावना से प्रेरित होकर ही क्षेमेन्द्र ने रामायण तथा महाभारत की कथाओं का संक्षेपीकरण रामायण मंजरी तथा भारतमंजरी के नाम से किया। बृहत्कथा का सरस पद्यानुवाद कर

क्षेमेन्द्र ने अप्राप्त प्राचीन कथा साहित्य की अमूल्य-निधि पाठकों के सम्मुख प्रकट है । "बोधिसत्वावदान-कल्पलता" की रचना क्षेमेन्द्र की धार्मिक उदार भावना की प्रतीक है । क्योंकि उन्होंने वैष्णव धर्मावलम्बी होने पर भी भगवान् बुद्ध के शुभ-चरितों का वर्णन किया है । क्षेमेन्द्र की आलोचना सूक्ष्म तथा मार्मिक है । "कवि-कण्ठाभरण" में तो क्षेमेन्द्र ने कवित्व प्राप्ति के लिए पूर्णतया तद्विषयक स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत किया है । जब हम ईश्वरीय व्यापारों से लेकर मानवीय व्यवहारों तक सर्वत्र औचित्य के अखण्ड साम्राज्य की ही महत्ता पाते हैं, तो ऐसी स्थिति में काव्य कला जगत् में भी औचित्य के अखण्ड साम्राज्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन कोई आश्चर्य नहीं/काव्य और कला भी लोक-वृत्त के समान औचित्यपूर्ण होने पर ही सहृयानुरंजक हो सकते हैं क्योंकि काव्य और कला लोकवृत्त के प्रतिबिम्ब ही तो हैं । यही है, रसौचित्य का सिद्धान्त ।" "औचित्य-सिद्धान्त" की प्रतिपादिका "औचित्य-विचारचर्चा" क्षेमेन्द्र की अमरकृति है । मुख्य रूप में औचित्य का साङ्-गोपाङ्ग विवेचन इस ग्रन्थ में हुआ है । अतः क्षेमेन्द्र औचित्य-सम्प्रदाय के विदग्ध व्यवस्थापक माने जाते हैं । औचित्यतत्व को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को ही है ।

क्षेमेन्द्र रचित "सुवृत्ततिलक" छन्दः शास्त्र का असाधारण ग्रन्थ है । क्षेमेन्द्र ने छन्दों के सौन्दर्य को ध्यान में रखकर प्रसिद्ध वृत्तों का संग्रह कर छन्दः प्रेमी शिष्यों का विशेष उपकार किया है ।

क्षेमेन्द्र एक सफल नाटककार, यथार्थ इतिहासवेत्ता, ईमानदार समालोचक, विद्वान् कोशकार, मौलिक-साहित्य-विमर्शक, समाज-सुधारक, धार्मिक, सहिष्णु, नीतिज्ञ, महाकवि तथा सुयोग्य लब्धप्रतिष्ठ आचार्य के रूप में विश्रुत हैं । डॉ० सूर्यकान्त जी का अधोलिखित कथन भी सारयुक्त प्रतीत होता है—

"Kshemendra holds a unique position in the history of Sanskrit Literature. He appears as Poet, Dramatist, Rhetorician, bescico grapher and historian. He has written numerous works whicn form important landmarks in several fields of Sanskrit Literature.........Almost every important branch of Sanskrit Literature has been enriched by the facile pen of this versatile genius, indeed, in the whole range of Sankrit Literature. Only Bnoja and Kshemendra have tried their hand on such a variety of subject, but Kshemendra displays a depth and originality peculiarily his own." — Kshemendra Studies, 1954, p. 53

क्षेमेन्द्र विस्तृत विषय को भी संक्षेप में प्रभावोत्पादक ढंग से प्रतिपादन करने में पूर्णतया समर्थ हैं। इसीलिए उनका विवेचन-प्रतिपादन हमेशा सुस्पष्ट, निःसंदिग्ध, पद्धतिपूर्ण एवं परिपूर्ण रहता है। क्षेमेन्द्र ने दूसरे कवियों की रचना का समादर तथा आचार्यों के मतों को स्वीकार करते हुए अपने मन की पुष्टि की है। उदाहरणों में उन्होंने विना भेदभाव के गुण तथा दोषों पर प्रकाश डाला है। इससे क्षेमेन्द्र की उदारहृदयता, कलाप्रियता तथा गुण-ग्राहकता के दर्शन होते हैं।

रचनाएं

आचार्य क्षेमेन्द्र ने साहित्य-वाटिका में अनेक कुसुमग्रन्थों का सृजन किया था। उन्होंने विविध विषयों को लेखनी का विषय बनाया था। साथ ही पर्याप्त सफलता तथा कीर्ति अर्जित की थी। उनकी साहित्यिक दृष्टि अतिसूक्ष्म, गहन तथा व्यापक थी। उनका हृदय महत्वाकांक्षी तथा 'भारती' बहुमुखी-प्रतिभा-सम्पन्न थी और 'बुद्धि' प्रखरा, सुबोधिनी तथा विमर्शनी थी। अतः क्षेमेन्द्र ने संस्कृत-साहित्य के काव्य, काव्यशास्त्र और नीतिकथा आदि विभागों की समृद्धि की है। वे व्यास, बाल्मीकि तथा आचार्य अभिनवगुप्त के समान विद्याव्यसनी तथा सत्प्रवृत्तग्रन्थकार थे। 'डा० सूर्यकान्त कहते हैं' कि क्षेमेन्द्र व्यास वाल्मीकिवत् स्फूर्तिदाता थे।[1] संस्कृत-साहित्याकाश में क्षेमेन्द्र एक जाज्वल्यमान नक्षत्र के समान देदीप्यमान हैं। क्षेमेन्द्र ने संस्कृत-वाङ्मय की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन तथा गहनचिन्तन किया था। आचार्य क्षेमेन्द्र आचार्य होने के साथ-साथ कवि भी थे। उन्होंने नाटक, आध्यात्मिक तत्व, अभिधानकोश, इतिहास, साहित्य, भक्ति, समाज का निरीक्षण, विलासीजन के सम्पर्क का ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त किया था। उनकी बुद्धि सर्वतोगामी एवं सर्वरस थी। तभी तो उन्होंने आलोचकों, साहित्य-शास्त्रियों, रसिकों, सहृदयों, कवियों तथा आदर्श प्रेमी सामाजिकों के लिए अमूल्य पाठ्य सामग्री प्रस्तुत की है।

क्षेमेन्द्र ग्रन्थावली के विषय में विभिन्न मत

आचार्य क्षेमेन्द्र ने कुल कितने ग्रन्थों की सृष्टि की थी। यह प्रश्न आज तक विचारणीय बना हुआ है। क्षेमेन्द्र के कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और अनेक ग्रन्थ आज तक अप्रकाशित हैं, पुनरपि कुछ ग्रन्थों के विषय में विद्वानों में आज तक ऐकमत्य स्थापित नहीं हो सका है। डा० सूर्यकान्त एक स्थल पर लिखते हैं कि क्षेमेन्द्र ने 32 ग्रन्थों की रचना की।[2] दूसरे स्थल पर उसी पुस्तक में वे क्षेमेन्द्र द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या 34 देते हैं।[3] अतः उनका मत इस सन्दर्भ में प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है।

---

1. क्षेमेन्द्र स्टडीज, 1954, पृ० 05
2. उपर्युक्त, पृ० 01
3. उपर्युक्त, पृ० 28।

"सुभाषित-रत्न-भाण्डागारम्" के सम्पादक भी क्षेमेन्द्र की कृति संख्या 34 ही मानते हैं।[1]

"डॉ० दे" क्षेमेन्द्र के ग्रन्थों की संख्या 37 लिखते हैं।[2]

डॉ० काणे का कथन है कि क्षेमेन्द्र ने भारतमंजरी एवं बृहत्कथामंजरी के अतिरिक्त 40 ग्रंथों की रचना की है।[3]

"क्षेमेन्द्र लघुकाव्य संग्रह" के सम्पादकों का भी यही मत है। क्षेमेन्द्र ने लगभग 40 ग्रन्थों की रचना की।[4]

इस प्रकार क्षेमेन्द्र की ग्रन्थ संख्या का समीचीन निर्णय करना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। क्योंकि कुछ ग्रंथ तो प्रकाशित हैं, कुछ अप्रकाशित अर्थात् हस्तलिखित और कुछ अप्राप्य हैं। सारांश में हम इतना निश्चित रूप से कह सकते हैं कि, क्षेमेन्द्र की कुल ग्रन्थ संख्या 32 से लेकर 40 चालीस के सन्निकट है।

इनके ग्रन्थों को हम तीन भागों में रख सकते हैं—

1. प्रकाशित।
2. अप्रकाशित अर्थात् हस्तलिखित।
3. अप्राप्त किन्तु उल्लिखित।

इन ग्रन्थों का हम इस प्रकार वर्गीकरण कर सकते हैं—

1. काव्यशास्त्रीय।
2. काव्यात्मक (महाकाव्य तथा खण्डकाव्य)।
3. उपदेशात्मक (नीति-सम्बन्धी)।
4. सारांश रूपान्तर (पद्यानुवाद, कथा-साहित्य)।
5. हास्यपरक आख्यान।
6. विविध (फुटकर)।
7. संदिग्ध।

प्रकाशित रचना 19 हैं। अप्रकाशित किन्तु उपलब्ध रचना 14 हैं। ग्रन्थों में जिनका उल्लेख मिलता है किन्तु आज अनुपलब्ध हैं, ऐसे ग्रन्थ ये हैं—

1. अमृततरंग (अप्रकाशित)।
2. अवसरसार (अप्रकाशित)।
3. कनकजानकी।
4. कविकर्णिका (अप्रकाशित)।

---

1. सुभाषितरत्नभाण्डारम्, 1952 एब्रीविएशन्स एण्ड सोर्सेस, पृ० 2
2. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स 1960, वौल्यूम एक पृ० 132-133
3. उपर्युक्त, पृ० 264
4. माईनर वर्क्स ऑफ क्षेमेन्द्र 1961, इन्ट्रोडक्शन पृ० 8

5. क्षेमेन्द्र प्रकाश
6. चित्रभारत नाटक
7. दानपारिजात
8. नीतिकल्पतरु
9. पद्यकादम्बरी
10. पवन पंचाशिका
11. मुक्तावली
12. मुनिमत-मीमांसा
13. राजाबलि
14. ललितरत्नमाला
15. लावण्यवती
16. वात्स्यायन सूत्रसार
17. विनयवल्ली
18. वेताल पंचविंशति
19. शशिवंश

1. शास्त्रीय ग्रन्थ :

1. औचित्यविचारचर्चा
2. कविकण्ठाभरण
3. सुवृत्ततिलक, और
4. कविकर्णिका ।

2. काव्यात्मक :

(क) महाकाव्य :

1. दशवतार-चरित-काव्य
2. बौद्धावदानकल्पलता
3. शशिवंशकाव्य, और
4. अमृततरंग ।

(ब) खण्डकाव्य :

1. अवसरसार
2. पवनपंचाशिका
3. मुक्तावली-काव्य
4. राजावली-काव्य
5. लावण्यवती
6. विनयवल्ली
7. व्यासाष्टक

8. सेव्यसेवकोपदेश
4. क्षेमेन्द्र प्रकाश, और
10. मुनिमतमीमांसा

3. उपदेशात्मक काव्य :

1. चतुर्वर्गसंग्रह
2. चारुचर्या,
3. दर्पदलन
4. देशोपदेश
5. दानपारिजात
6. नीतिकल्पतरु, और
7. समयमातृका ।

4. हास्यपरक आख्यान :

1. नर्ममाला, और
2. कलाविलास ।

5. नाटक :

1. कनकजानकी
2. चित्रभरतनाटक, और
3. ललितरत्नमाला ।

6. सारांश रूपान्तर :

1. पद्यकादम्बरी
2. बृहत्कथामंजरी
3. भारतमंजरी
4. रामायणमंजरी
5. वात्स्यायन सूत्रसार, और
6. बेतालपंचविंशति ।

7. कोष :

1. लोक-प्रकाश

8. संदिग्ध ग्रन्थ :

1. हस्तिप्रकाश, और
2. स्पन्द-निर्णय

1 शास्त्रीय ग्रन्थ :

1. औचित्य-विचार-चर्चा—"औचित्य-विचार चर्चा" यह अलंकार-ग्रन्थ क्षेमेन्द्र की मौलिक-प्रतिभा, विवेचक-बुद्धि तथा विदग्धता का परिचायक है । यह एक

महत्वपूर्ण अलंकार ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ ने क्षेमेन्द्र की कीर्ति में चार चाँद लगा दिये हैं। इस ग्रन्थ में औचित्य का विशद विश्लेषण अति प्राञ्जल भाषा में किया गया है। औचित्य को काव्य का आत्मतत्व मानकर लिखा गया यह समीक्षा-ग्रन्थ है। 'औचित्य' रस-सिद्ध-काव्य का भी जीवितसर्वस्व है। औचित्य मत का प्रतिपादक यह स्वतन्त्र तथा मौलिक ग्रन्थ है। ग्रन्थ में केवल 39 कारिकाएँ हैं और उनमें आत्मतत्व औचित्य का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। क्षेमेन्द्र की दृष्टि से काव्यगत, पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रियापद, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्व, सत्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम, आशीर्वचन और काव्यांगों में औचित्य रहता है। कारिकाओं को स्पष्ट करने के लिए क्षेमेन्द्र ने 106 उदाहरणार्थ श्लोक दिये हैं। जिनमें से 35 पद्य क्षेमेन्द्र के हैं। क्षेमेन्द्र का कथन है कि काव्य की आत्मा यदि रस है तो रस की आत्मा औचित्य है। वह शब्दों, उनके अर्थों, गुणों, अलंकार, रस तथा काव्य के सभी आश्रयों के औचित्य पर आश्रित है। इस प्रकार क्षेमेन्द्र का यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

2. **कविकण्ठाभरण**—वास्तव में यह ग्रन्थ कवियों के कण्ठ का आभरण है। जिसमें कवि बनने के विविध उपायों पर प्रकाश डाला गया है, अतः यह ग्रन्थ कवित्वाभिलाषी व्यक्तियों के लिए विशेष उपकारक है। क्षेमेन्द्र ने इस ग्रन्थ को पाँच अध्यायों में विभक्त किया है। प्रथम सन्धि में कवित्व शक्ति को प्राप्त करने के लिए दिव्य तथा पौरुष उपायों का वर्णन है। अल्पप्रयत्नसाध्य, कृच्छ्रसाध्य, तथा असाध्य नामक त्रिविध शिष्यों को त्रिरूपों में काव्यसाधना का पथ प्रदर्शित किया है। क्षेमेन्द्र का एतद्विषयक विवेचन संक्षिप्त होते हुए भी सारगर्भित है। द्वितीय-सन्धि में छायोपजीवी, पदकोपजीवी, सकलोप-जीवी, और भुवनोपजीवी नामक पाँच प्रकार के कवियों का सोदाहरण निरूपण किया है। तदनन्तर "भाषाप्रभुकवि" को शतोपदेश दिये हैं। तृतीय-सन्धि में काव्य के प्रधान तत्व चमत्कृति का निरूपण प्राधान्येन किया गया है। चतुर्थ-सन्धि में क्षेमेन्द्र ने गुण तथा दोषों का विवेचन किया है। वे काव्यगत तीन मुख्य दोषों को स्वीकार करते हैं—शब्ददोषता, अर्थदोषता, तथा रसदोषता। गुणों के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्रका विचार-शब्द निर्दोषता, अर्थनिर्दोषता, तथा रसनिर्दोषता जहाँ होती है, वहीं काव्य सगुण होते हैं। क्षेमेन्द्र मुख्य रूप से काव्य के पाँच भेद करते हैं—सगुणकाव्य, निर्गुणकाव्य, सदोषकाव्य, निर्दोषकाव्य तथा सगुणदोषकाव्य। पंचम-सन्धि में शास्त्रीय-ज्ञान की महिमा तदनु तर्क, व्याकरण, राजनीति, धर्मशास्त्र, भरतपरिचय, आत्मज्ञान आदि अठ्ठाईस शास्त्रों के ज्ञान का सोदाहरण वर्णन किया गया है। इन सन्धियों का क्रमिक प्रकार यह है—तत्राकवेः कवित्वाप्तिः शिक्षाप्राप्तगिरः कवेः। चमत्कृतिश्च शिक्षाप्तौ गुणदोषोद्गतिस्ततः।

पाश्चात्परिचय प्राप्तिरित्येते पंचसंग्रयः ।[1] अन्त में क्षेमेन्द्र ने परिश्रमी कवि के लिये शुभकामनाएँ प्रकट की हैं। यह रचना भाव तथा शैली की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

3. **सुवृत्ततिलक**—यह छन्दः-शास्त्र पर लिखा गया मूल्यवान् ग्रन्थ है। क्षेमेन्द्र ने शिष्यों के लिए लय, ताल, यति आदि को ध्यान में रखकर इस ग्रन्थ में सुन्दर छन्दों का संग्रह किया है। इस ग्रन्थ में सत्ताईस छन्दों के लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं। इस ग्रन्थ में वृत्तावचय (छन्दों का चुनाव) गुण-दोष-प्रदर्शन (छन्दों के गुण तथा अवगुणों का वर्णन) तथा वृत्त विनियोग (छन्दों का उपयोग) नामक तीन विन्यास हैं। जिनमें 124 कारिकाएँ है। इस ग्रन्थ में यह भी लिखा है कि कौन-सा वृत्त किस भाव की रचना के अनुकूल होगा। अन्त में विशेष कवियों के सम्बन्ध में यह भी लिखा है कि कौन कवि किस छन्द में विशेष प्रवीण था। छन्दों के सम्बन्ध में ऐसी आलोचनात्मक प्रखर बुद्धि के दर्शन अन्यत्र नहीं होते हैं। डॉ० कीथ, डॉ० दे, तथा डॉ० काणे आदि विद्वानों ने भी क्षेमेन्द्र के इस लघुकाव्य ग्रन्थ की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। "क्षेमेन्द्र लघुकाव्य संग्रह" के सम्पादकों ने सुवृत्ततिलक के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार व्यक्त किया है।[2]

"Occupies a Unique place among works on metres. In this work he has discussed for the first time the merits, flows and proper usages of several metres. This difficult task has been very well accomplished by him. He was a pioneer in this type of work without any followers till today."

4. **कविकर्णिका**—इस ग्रन्थ का उल्लेख क्षेमेन्द्र ने "औचित्य-विचार-चर्चा" में किया है। सम्भवतः इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय काव्य के रस, भाव, गुण तथा दोष रहा होगा। यह ग्रन्थ आज अप्राप्य है। अतः इस ग्रन्थ से बारे में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। डॉ० पी० वी० काणे "संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास"[3] में लिखते हैं—"औचित्य-विचार-चर्चा" में उन्होंने (क्षेमेन्द्र ने) अपनी कविकर्णिका काव्यालंकार का भी उल्लेख किया है परन्तु यह रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी। कविकर्णिका काव्यालंकार को कविकण्ठाभरण से अतिरिक्त रचना मानना सन्दिग्ध है।"

कविकर्णिका और कविकण्ठाभरण एक ही ग्रन्थ है। यह मत डॉ० पी० वी० काणे का तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता है क्योंकि दोनों ग्रन्थों के नाम में न तो साम्य है, और न क्षेमेन्द्र जैसा विद्वान् यह भूल कर सकता है कि "कविकण्ठाभरण" के

1. कविकण्ठाभरण 1·34
2. माइनर वर्क्स ऑफ क्षेमेन्द्र 1961 इन्ट्रोडक्शन, पृ० 140
3. अनुवादक डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री प्रथम संस्करण 1966 पृ० 330 तृतीय पंक्ति के अन्त में।

स्थान पर "कविकर्णिका" लिख जाये। दूसरे "कविकर्णिका" के विषय में क्षेमेन्द्र ने स्पष्ट लिखा है—

कृत्वाऽपि काव्यालंकारां क्षेमेन्द्रः कविकर्णिकाम्।
तत्कलंकं विवेकं च विधाय विबुधप्रियम्॥[1]

तथा "कविकण्ठाभरण" के विषय में क्षेमेन्द्र स्पष्ट रूप से लिखते हैं—

सुविभक्तिसमन्वितं बुधैर्गुणसंयुक्तममुक्तसौष्ठवैः।
रचितं पदकैः सुवर्णवत् कविकण्ठाभरणं विचार्यताम्॥[2]

इन दोनों श्लोकों के पढ़ने पर स्पष्ट हो जाता है कि "कविकर्णिका" तथा "कविकण्ठाभरण" दो पृथक ग्रन्थ रहे होंगे। जिनमें से आज कविकर्णिका अनुपलब्ध है।

2. काव्यात्मक

(क) महाकाव्य—

1. दशावतारचरितकाव्य—इसका कथानक पुराणों पर आधारित है। इसमें विष्णु के दश अवतारों का वर्णन है। सप्तम अध्याय में राम को विष्णु का अवतार कहा गया है। यह रचना इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें सर्वप्रथम बुद्ध को विष्णु का अवतार कहा गया है। भगवान् बुद्ध के जीवन का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। बुद्ध को विष्णु का अवतार सर्वप्रथम इस काव्य में सिद्ध किया गया है। अतः यह चर्चा मौलिक है। इस काव्य से क्षेमेन्द्र की उत्कट विष्णु भक्ति का परिचय मिलता है तथा भगवान बुद्ध, के प्रति आदर भाव प्रकट होता है। यह वर्णन कवि की उदार हृदयता का परिचायक है। इसकी रचना 1066 में हुई, ऐसा डॉ० सूर्यकान्त मानते हैं किन्तु "एकाधिकेऽब्दे विहितश्चत्वारिंशे सकार्तिके"[1] के अनुसार संवत् 1141 बैठता है और खिस्ताब्द 1084 ई० बैठता है क्योंकि संवत् में 57 घटाने पर सन् निकल आता है।

2. बौद्धावदानकल्पलता—यह जातक कथाओं पर आधारित काव्य है। अवदान का अर्थ है 'शुभचरित्र'। इसमें 108 पल्लव हैं। रस की दृष्टि से यह काव्य अति सुन्दर है तथा भगवान् बुद्ध के प्रति श्रद्धासुमन के समर्पण के कारण यह बौद्धों का धार्मिक काव्य भी कहा जा सकता है। इस काव्य के लेखन में कवि को सज्जनानन्द तथा वीरभद्र से प्रेरणा मिली थी। कवि इसी कृति को पूरा न कर सका। इसका अन्तिम 108वाँ पल्लव क्षेमेन्द्र के पुत्र सोमेन्द्र ने लिखकर पूरा किया। इसका रचना समय 1052 ई० है। यह ग्रन्थ कवि के बौद्धदर्शन के गहन अध्ययन,

1. औचित्यविचारचर्चा, करिका।
2. कविकण्ठाभरण।
3. 'दशावतारचरितोपसंहार' श्लोक 5

तथा कवि की सहिष्णुता को प्रकट करता है। इस काव्य के लेखन में वीर्यभद्र नामक बौद्ध आचार्य ने "क्षेमेन्द्र की सहायता की और "सूर्य श्री" ने क्षेमेन्द्र के लिपिक के पद की पूर्ति की। 1272 ई० में इस ग्रन्थ का तिब्बती-भाषा में अनुवाद हुआ। आज भी यह ग्रन्थ पूर्ण रूप में तिब्बती भाषा में उपलब्ध है।[1]"

'डॉ० कीथ' इस ग्रन्थ को विषय की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानते हैं, रचना की दृष्टि से नहीं।"[2] इस ग्रन्थ के विषय में डॉ० कीथ की यह धारणा संगत नहीं जान पड़ती है कि "यह ग्रन्थ रचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है।" रस ही काव्य की आत्मा होता है। इसकी दृष्टि से यह रचना परिपूर्ण है। अत: रचना की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। इसमें बुद्ध के पूर्व जन्मों से सम्बद्ध पारमिता व्यंजक आख्यानो का पद्यानुवाद है।

3. **शशिवंशकाव्य**—इस ग्रन्थ में शशिवंशी (चन्द्रवंशी) राजाओं की कथा वर्णित है। यह महाकाव्य है। इस ग्रन्थ के पाँच श्लोक "कविकण्ठाभरण" में क्षेमेन्द्र ने उदाहरण रूप में दिये हैं। "यथा मम शशिवंशे। उदाहरण श्लोकों की संख्या 14, 16, 23, 25 तथा 55 है। डॉ० पी० वी० काणे ने इस ग्रन्थ का नाम शिशुवंश लिखा है।[3] किन्तु यह नाम उचित नहीं जान पड़ता है क्योंकि डॉ० सूर्यकान्त जी, डॉ० मनोहरलाल गौड़ तथा प्रो० वामनकेशवलेले आदि ने इस ग्रन्थ का नाम शशिवंश महाकाव्य लिखा है। शशिवंश पर आधारित काव्य हो भी सकता है, यह वंश पुराण इतिहास में प्रसिद्ध है। किन्तु भारतीय इतिहास में शिशुवंश नामक कोई वंश नहीं मिलता है। अत: पी० वी० काणे का यह "शिशु-वंश" महाकाव्य नामकरण बुद्धिगम्य प्रतीत नहीं होता है। दुर्भाग्य का विषय है कि यह ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं है। जिससे कि क्षेमेन्द्र के महाकवित्व पर कुछ आलोक डाल सकता। इस ग्रन्थ की अनुपलब्धि संस्कृत साहित्य की बड़ी हानि है।

4. **अमृततरंग**—क्षीर-सागर-मन्थन की पौराणिक कथा पर आधारित यह काव्य है। इस काव्य का एक श्लोक कविकण्ठाभरण की पंचम सन्धि में उदाहरणार्थ 49वाँ पद्य उद्घृत किया गया है। तुरंगलक्षणपरिचयो यथा मम अमृततरंगनाम्नि काव्ये—

---

1. डॉ० सूर्यकान्त—क्षेमेन्द्र स्टडीज, 1954—पृ० 19-20
2. डॉ० ए. बी. कीथ—ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, 1953 पृ० 493।
3. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पी० वी० काणे अनुवादक—डॉ० इन्द्र चन्द्र शास्त्री प्र० सं० सन् 1966 पृ० 330।

आवर्तशोभी पृथुसत्वराशि: फेनावदात: पवनोरुवेग: ।
गंभीरघोषोऽद्रिविमर्दखेदादश्वाकृतिं कर्तुमिवोद्यतोऽब्धि: ॥

माइनर वर्क्स ऑफ क्षेमेन्द्र 1961 इन्ट्रोडक्शन पृ० 10 पर इस ग्रन्थ को लघुकाव्य लिखा है तथा इसी आधार को वामनकेशवलेले ने भी प्रामाणिक मानकर इस ग्रन्थ को लघुकाव्य माना है। श्रीमधुसूदन कौल ने इस ग्रन्थ को महाकाव्य स्वीकार किया है। डॉ० मनोहर लाल गौड़ "आचार्य क्षेमेन्द्र" नामक पुस्तक में पृ० 9 पर अमृततरंग ग्रन्थ को महाकाव्य मानते हैं। किन्तु ग्रन्थ की अनुपलब्धि के कारण इस सन्दर्भ में विशेष प्रकाश नहीं डाला जा सकता है।

(ख) खण्डकाव्य

1. अवसरसार—यह ग्रन्थ क्षेमेन्द्र ने अपने आश्रयदाता अनन्तराज की स्तुति में लिखा था। इस काव्य का एक श्लोक क्षेमेन्द्र ने उदाहरण के रूप में अपनी 'औचित्य-विचार-चर्चा' में दिया है। "न तु यथा ममैवावसरसारे—

"भग्नाहितश्वसितवातविबोध्यमान: ।
काष्ठाश्रयेण सहसैव विवृद्धिमाप्त: ॥
तापं तनोति निहतारिविलासिनीनां ।
वह्निद्युतिर्भुवननाथ भवत्प्रताप: ॥

'क्षेमेन्द्र-लघुकाव्य-संग्रह' में इस ग्रन्थ का नाम "अवतारसार" दिया गया है।[1] यह नाम तर्क संगत प्रतीत होता है क्योंकि स्व० पं० क्षेमेन्द्र ने तथा डॉ० मनोहरलाल जी गौड, श्री पी० वी० काणे तथा डॉ० सूर्यकान्त जी आदि ने भी इस ग्रन्थ का नाम "अवसरसार" ही लिखा है।

2. पवनपंचाशिका—यह लघुकाव्य है। इसमें वायु का वर्णन सुन्दर रूप में हुआ है। इसमें पचास श्लोक हैं। इस काव्य का वर्णन कवि ने 'सुवृत्ततिलक' ग्रन्थ में किया है। ग्रन्थ का आकार तथा विषय ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट हैं।

3. मुक्तावली काव्य—यह भी अनुपलब्ध काव्य है। इसका उल्लेख कवि-कण्ठाभरण में मिलता है। यथा—

मोक्षोपायपरिचयो यथा मम मुक्तावल्याम्—
निरासंगा प्रीति: विषयनियमोऽन्तर्न तु बहि:
स्वभावे भावानां क्षयजुषि विमर्श: प्रतिदिनम् ।
अयं संक्षेपेण क्षपिततमसामक्षयपदे
तपोदीक्षाक्षेपक्षपण निरपेक्ष: परिकर: ॥

इस पुस्तक का विषय मोक्षप्राप्ति के उपाय रहा होगा। और क्षेमेन्द्र ने सम्भवत: कवि बनने वालों को सम्बोधित करके कहा है कि कवि को काव्य-रचना

---

1. Minor works of Kshemendra 1961, Introduction, p. '11'.

के पूर्व दर्शन-शास्त्र का भी अध्ययन करना चाहिये। इस श्लोक से क्षेमेन्द्र का दार्शनिक होना भी सिद्ध होता है।

4. राजावली—(नृपावली) इस ग्रन्थ के नाम से प्रतिपादित होता है कि यह ग्रन्थ राजाओं के चरित्र से सम्बन्धित रहा होगा। राजावली ग्रन्थ में सम्भवत: काश्मीरी राजाओं की वंशावली कविता में लिखी गई थी, ऐसा कल्हण का मत है। "राजतरंगिणी" ग्रन्थ में इस रचना का उल्लेख मिलता है। यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। "इस ग्रन्थ की अनुपलब्धि से संस्कृत-साहित्य की बड़ी हानि हुई है।[1]

5. लावण्यवती—यह काव्य हास्य-रस प्रधान है। इसमें वासन्तिका नाम की गणिका नायिका रही होगी। इसका नायक अत्रिवसु नामक श्रोत्रिय था। अत्रिवसु की अपनी पत्नी भी थी। किन्तु वह वासन्तिका पर भी अनुरक्त था। यह रचना हास्यरस बहुला होने पर भी शृंगारपरक है। यहाँ दोनों (हास्य तथा शृंगाररसाभास) में कोई विरोध नहीं है। अपितु अंगभूत शृंगाररसाभास के मिश्रण से हास्यरस और भी अधिक चमत्कृति प्रधान हो गया है। इस काव्य में "मृच्छकटिक" के समान नायक, नायिका, ब्राह्मण तथा विट आदि पात्रों का उल्लेख मिलता है। इस काव्य के छ: श्लोक 'औचित्य-विचार-चर्चा में उदाहरणार्थ दिये गये हैं।

यह काव्य भी आज अनुपलब्ध है। इस ग्रन्थ का उल्लेख क्षेमेन्द्र ने "औचित्य-विचार-चर्चा" में किया है। इस ग्रन्थ का विषय धर्मराज युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव के शौर्य का वर्णन करना तथा कौरवों का दर्पदलन करना रहा होगा। यह वीर रस का काव्य रहा होगा। इस विषय में इसी ग्रन्थ का यह श्लोक द्रष्टव्य है—लिखितमपि–औचित्यविचार-चर्चायां वाक्यगतौचित्योदाहरणम्—यथा मम विनयवल्ल्याम्—

देवो दयावान्विजयो जितात्मा यमौ मन: संयममाननीयौ।
इति ब्रुवाण: स्वभुजं प्रमार्ष्टि य: कीचकाकालिककालदण्डम्।।
धीर: स किर्मीरजटासुरारि: कुबेरशौर्यप्रशमोपदेष्टा।
दृष्टो हिडिम्बादयित: कुरूणां पर्यन्तरेखा-गणना-कृतान्त:।। युग्मकम्।।

क्षेमेन्द्र लघुकाव्य संग्रह के सम्पादक ने इस ग्रन्थ का नाम "विनयवती" लिखा है।[2] किन्तु यह समीचीन नहीं है क्योंकि स्वयं क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचार-चर्चा' में इस ग्रन्थ का नाम विनयवल्ली लिखा है (यथा मम विनयवल्ल्याम्)।

6. व्यासाष्टक—यह रचना विभिन्न रसों से युक्त—भगवान् वेदव्यास की स्तुति में लिखी गई थी। इसमें आठ श्लोक हैं। यह रचना क्षेमेन्द्र की 'भारत

---

1. डॉ० ए० बी० कीथ—ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, 1953, पृ० 16
2. माईनर वर्क्स ऑफ क्षेमेन्द्र, 1961 इन्ट्रोडक्शन पृ० 25

मञ्जरी' का परिशिष्ट ही प्रतीत होती है। यह रचना क्षेमेन्द्र की व्यास-परक प्रगाढ़ आदर भावना की प्रतीक है। कवि की दूसरे कवि के प्रति श्रद्धा और आदर-भावना उसके विश्वास हृदय की द्योतक है।

7. **सेव्यसेवकोपदेश**—क्षेमेन्द्र का यह व्यवहार नीतिपरक शिक्षा का श्रेष्ठ लघु-काव्य है। इसमें श्लोक संख्या 61 है। इसमें स्वामी और सेवक के कर्त्तव्यों का विवेचन किया गया है। इनमें परस्पर स्थायी माधुर्य और सौहार्द्र कैसे स्थापित हो सकता है? इस पर भी विचार किया गया है। अर्थात् मालिक और नौकर के कर्त्तव्य और उत्तरदायित्वों का विवरण दिया गया है। इसमें परस्पर सम्बन्ध बिगड़ने का मुख्य कारण स्वामी का दर्प तथा सेवक का लोभ होता है। इसे समाप्त कर देना ही सौख्य का सेतु है। ऐसी क्षेमेन्द्र की धारणा हैं। क्षेमेन्द्र ने इस ग्रन्थ के मंगलाचरण में सन्तोष के महत्व को स्वीकार कर इस गुण को प्रणाम किया है। यथा—"विभूषणाय महते तृष्णातिमिरहारिणे।

नमः सन्तोषरत्नाय सेवाविषविनाशिने ॥"[1]

श्रीभण्डारी का मत है कि यह रचना एक योग्य स्वामी की सेवा के प्रतिपादन करने के लिये लिखी गई है।

8. **क्षेमेन्द्र-प्रकाश**—यह पुस्तक आज अनुपलब्ध है। किन्तु उसके नाम से स्पष्ट ज्ञात होता है कि क्षेमेन्द्र ने अपने जीवन पर प्रकाश डालने वाला यह ग्रन्थ लिखा होगा। यदि यह ग्रन्थ उपलब्ध होता तो क्षेमेन्द्र के जन्म और मृत्यु की अनिश्चितता समाप्त हो जाती। तथा अनेक गुप्त तथ्यों का प्रकाशन होता।

9. **मुनिमत-मीमांसा**—इसमें वेद व्यास के तात्पर्य का वर्णन है। इसके पन्द्रह श्लोक 'औचित्य-विचार-चर्चा' में मिलते हैं। यह काव्य अति सुन्दर रहा होगा। अभिमन्यु-वध से सम्बन्धित करुण रस, "शरीर क्या है?" से सम्बन्धित श्लोक में बीभत्स रस, समुद्र-वर्णन-सम्बन्धी-रसानौचित्य, महात्माओं के वर्णन में शान्त-रस, अर्जुन-पराक्रम वर्णन में वीर तथा करूण-रस, मन्द-बुद्धि मनुष्य की क्लेशावस्था के वर्णन में शान्त, शृंगार, करुण, बीभत्स, संसार के प्रति विरक्ति, गन्धर्वों द्वारा पराजित दुर्योधन की तप: प्रवृत्ति, स्वर्ग और मोक्ष में भेद, शिशुपाल द्वारा कृष्ण के प्रति व्यंग्य-वचन, तरुणी का वर्णन, पिशुनों की निन्दा, अहंकार ही सासांरिक बन्धन का मूल और निरंहकारिता ही मोक्ष हैं, का वर्णन, राजलक्ष्मी के कुत्सित व्यापार का वर्णन, भीम पर आक्षेप, आदि वर्णनों का उल्लेख इन श्लोकों में मिलता है। जैसे खिचड़ी का एक दाना ही उसकी परिपक्वता के ज्ञान के लिये पर्याप्त होता है वैसे ही ये 15 श्लोक यह सिद्ध करते हैं कि—यह आध्यात्मिक श्रेष्ठ काव्य रहा होगा।

---

1. सेव्यसेवकोपदेश, श्लोक एक।

3. उपदेशात्मककाव्य

1. **चतुर्वर्ग संग्रह**—मानव का 'जीवन-लक्ष्य' धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष प्राप्ति है, अत: कवि ने इसमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का काव्यात्मक ढंग से वर्णन किया है। इसमें काम का वर्णन अधिक सफल हुआ है। इस ग्रन्थ में क्षेमेन्द्र ने शिष्यों के उपदेश के लिए तथा बुद्धिमानों के सन्तोष के लिए, स्वरचित श्लोकों का वर्ग-संग्रह किया है। क्षेमेन्द्र ने लिखा भी है--

उपदेशाय शिष्याणां सन्तोषाय मनीषिणाम् ।
क्षेमेन्द्रेण निजश्लोकै: क्रियते वर्ग-संग्रह: ।।[1]

इसमें धर्म-प्रशंसा, अर्थ-प्रशंसा तथा मोक्ष-प्रशंसा नामक चार परिच्छेद हैं। जिनमें क्रमश: धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्रशंसा की गई है। मोक्ष-प्रशंसा यद्यपि कठिन विषय है, पुनरपि कवि ने सरल भाषा में समझाने का प्रयास किया है। श्लोक संख्या 106 है।

2. **चारुचर्या**--अनुष्टुप् छन्द में लिखी हुई यह सौ श्लोकों की रचना है। इस रचना का मुख्य उद्देश्य सुन्दर नियम, नीति और विनय को सिखाना है। इसके प्रत्येक श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलंकार के माध्यम से प्रथम पंक्ति में नैतिक सूक्ति देकर, पुन: उदाहरण देकर पुष्टि की गई है। ये उदाहरण महाकाव्यों और पुराणों से संगृहीत हैं। "यह रचना अपने काल में इतनी प्रसिद्ध हुई कि विद्या द्विवेद ने प्रभावित होकर 'नीति-मंजरी' लिखी तथा 'जल्हण' ने 'मुग्धोपदेश' लिखा है। ऐसा डॉ० कीथ का विचार है।[2] यह सदाचार की शिक्षा देने वाला सरल व सुन्दर ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में विष्णु की स्तुति की गई है।

श्रीलाभसुभग: सत्यासक्त: स्वर्गापवर्गद: ।
जयतात् त्रिजगत्पूज्य: सदाचार इवाच्युत: ।।[3]

3-- **दर्पदलन**—इस काव्य का मुख्य विषय दर्प (अभिमान) की निन्दा करना है। इसमें अभिमान के सात कारणों की कल्पना करके प्रत्येक कारण पर एक-एक अध्याय लिखा गया है। यथा–कुल, वित्त, श्रुत, रूप, शौर्य, दान एवं तप। ये सात दर्प (अभिमान) के कारण बताये हैं। इसी आधार पर कुल-विचार, धन विचार, एवं तपो-विचार आदिसप्त अध्यायों का नामकरण किया गया है। इन सातों हेतुओं के वर्णन के अवसर पर प्रत्येक हेतु पर एक-एक कल्पित कथा लिखी गई है, जिसमें अभिमान के विनाश से लाभ की सूचना मिलती है। क्षेमेन्द्र का इस

---

1. चतुर्वर्गसंग्रह: धर्म-प्रशंसा 1/2 ।
2. डॉ० ए० बी० कीथ–ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, 1953 पृ० 239।
3. 'चारुचर्या' श्लोक एक ।

ग्रन्थ के प्रणयन में यद्यपि मुख्य उद्देश्य नीत्युपदेश ही रहा है। पुनरपि यह ग्रन्थ 'सुन्दर काव्य' का उदाहरण है क्योंकि इसमें कवि की सूक्ष्म तथा व्यापक प्रखर प्रतिभा का परिचय मिलता है तथा लोक-निरीक्षण का सूक्ष्म-विवेचन भी मिलता है। यह एक विशालकाय काव्य है। यह उपदेशात्मक काव्य है तथा इसमें प्रसिद्ध कहावतों का बाहुल्य है।

4 देशोपदेश––हास्य-रस के संस्कृत-साहित्य में एक मात्र प्रतिनिधि कवि क्षेमेन्द्र हैं। इन्होंने सुन्दर आख्यानों का हास्य के व्याज से शोभन उपदेश दिया है। क्षेमेन्द्र ने इस काव्य की रचना लोक-सुधार के लिए की है। काश्मीर के भ्रष्ट प्रशासन का यथार्थ चित्रण तथा उन पर तीक्ष्ण व्यंग्य कसना, इस काव्य का लक्ष्य है। इसमें वैयाकरण, वैद्य, ज्योतिषी, भिक्षुक, कायस्थ, गौड़ीय छात्र, वृद्धवर, कवि, शेखीखोर, कृपण, वेश्या, कुट्टनियाँ, विट, आदि के भ्रष्ट आचरण की आलोचना करते हुए उपहास उड़ाया गया है। इसमें दुर्जन-वर्णन, कदर्य-वर्णन, वेश्यावर्णन, कुट्टनीवर्णन, विटवर्णन, छात्रवर्णन वृद्धभार्यावर्णन एवं प्रकीर्ण नामक 8 उपदेशात्मक अध्याय तथा 298 श्लोक + उपसंहारपरक श्लोकद्वय (2) हैं।

प्रथम उपदेश में––दुर्जनों का उपहास उड़ाया गया है।

द्वितीय उपदेश में––कृपणों (कंजूसी) के स्वभाव, व्यवहार तथा कार्य का वर्णन करते हुए उस पर तीखा व्यंग्य कसा है। यथा–कृपण मेहमान के आने पर स्वयं भी भोजन का परित्याग कर देता है।

तृतीय उपदेश में––नर्त्तकी वेश्या का धागे में बंधी हुई कठपुतली के समान वर्णन किया गया है।

चतुर्थ उपदेश में––कुट्टनियों के कपटाचरण पर प्रकाश डाला गया है।

पंचम उपदेश में––विटों के व्यवहार की आलोचना की गई है।

षष्ठ उपदेश में––इसमें काश्मीर में पढ़ने के लिए आये हुए गौड़ (बंगाली) छात्र के अवांछित आचरण पर व्यंग्य किया गया है।

सप्तम उपदेश में––एक बूढ़े व्यक्ति के विवाह का उपहास उड़ाया गया है।

अष्टम उपदेश में––इसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों की आलोचना की गई। यथा––कुकवि, नीमहकीम, साधारण व्याकरण वेत्ता आदि के कार्यों का चित्रण करते हुए व्यंग्य कसे गये हैं।

यह क्षेमेन्द्र का नवीन प्रयास है। यद्यपि कहीं-कहीं हास्य शिष्टता से दूर हट गया है, पुनरपि यह यथार्थ-ज्ञान और नीति-उपदेश का सुन्दर काव्य है। श्री मधुसूदन कौल ने इसका संपादन किया है और काश्मीर अनुसन्धान विभाग के द्वारा इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया गया है।

5. दानपारिजात––इस पुस्तक का उल्लेख "श्रीवामन लैले ने" क्षेमेन्द्र की

ग्रन्थावली का वर्गीकरण" में किया है।[1] किन्तु इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में कुछ भी परिचय नहीं मिलता है । सम्भवत: इसमें दान-सम्बन्धी-महिमा का वर्णन किया गया होगा ।

6. **नीतिकल्पतरु**–डॉ० सूर्यकान्त के मतानुसार यह व्यास रचित राजनीति-परक ग्रन्थ की व्याख्या है । 'औचित्यविचारचर्चा" में "नीतिलता" का उल्लेख मिलता है। पुष्ट प्रमाणों के अभाव में निश्चितरूपेण यह कहना कठिन है कि ये दोनों रचना एक हैं, या पृथक् ?

7. **समयमातृका**––एक वणिक्-पुत्र की, वेश्या कलावती वृत्त वंचना, इस काव्य का मुख्य विषय है। क्षेमेन्द्र के मतानुसार इस ग्रन्थ की रचना सत्पक्ष की रक्षा के लिए की गई है ।

"क्षेमेन्द्रसुभाषितं कृतमिदं सत्पक्षरक्षाक्षमम्" ।[2]

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में कामदेव की स्तुति की गई है। यथा––

अनंगवातलास्त्रेण जिता येन जगत्त्रयी ।
विचित्रशक्तये तस्मै नम: कुसुम-धन्वने ।।[3]

यहाँ वेश्याएं कैसे युवकों को अपने चंगुल में फांस लेती हैं, इसका रहस्योद्घाटन किया गया है। इस ग्रन्थ में कलावती नवीन वेश्या है, जिसका परिचय किसी नाई द्वारा पुरानी वेश्या से होता है, वह सुन्दर नहीं है, पुनरपि अनुभव के आधार पर एक योग्य धनगृहीता तथा सिद्धादेश वाली वेश्या मानी गई है। यह काव्य आठ समयों में विभक्त हैं ।

1. चिन्तापरिप्रश्न
2. चरितोपन्यास
3. प्रदोष-वेश्यालाप-वर्णन
4. पूजाधरोपन्यास
5. रागविभागोपन्यास
6. निर्गम
7. कामुक-समागम, एवं
8. कामुक-प्राप्ति ।

1. **चिन्तापरिप्रश्न**––कनक नाई का कलावती से प्रथम परिचय ।
2. **चरितोपन्यास**–कनक नाई द्वारा वेश्या की काश्मीर यात्रा का मनोरम वर्णन ।

---

1. कविकण्ठाभरण–भूमिका पृ० 23 क्षेमेन्द्र की ग्रन्थावली का वर्गीकरण पृ० सं० 1967 ।
2. समय-मातृका, उपसंहार श्लोक 4
3. समय-मातृका, 1/ 1

3. **प्रदोष वेश्यालय वर्णन**—वेश्यालयों की संध्याकालीन शोभा का वर्णन ।

4. **पूजाधरोपन्यास**—पुरातन वेश्या का कलावती से मिलन ।

5. **रागविभागोपन्यास**—पुरातन वेश्या द्वारा 80 प्रकार के प्रेमियों का वर्णन आदि ।

6. **निर्गम**—प्रात: कालीन वेश्यालयों की दशा का वर्णन ।

7. **कामुक-समागम**—कामुक को अपने जाल में फंसाने का यत्न ।

8. **कामुक-प्रकृति**—कामुक के साथ उपभोग तथा वंचना ।

"समयमातृका" में पंचाल धर्म और कृत्याश्र-विहार की चर्चा भी मिलती है । यह क्षेमेन्द्र की उपदेशपरक सुन्दर रचना है । किन्तु कवि ने काव्य के अन्त में सत्कविभारती की जो वेश्या के साथ तुलना की है, वह कवि की भूल ही कही जायेगी । देखिए—"समयमातृकोपसंहार" श्लोक एक ।

"सालंकारतया..............कलाशालिनी"

दामोदरगुप्त के कुट्टनी मत की पद्धति का वेश्या-व्यवसाय-विषयक 635 श्लोक तथा उपसंहार-परक-श्लोक-चतुष्टय । उपदेशपरक-काव्य । टीकाकार-प्रा० वामन केशव लेने कविकण्ठाभरण की भूमिका पृ० 20 पर "समयातृका" का रचनाकाल 1050 ख्रिस्ताब्द लिखा है । डॉ० सूर्यकान्त जी भी "समयमातृका" का रचनाकाल 1050 ही मानते हैं । और अपने मत की पुष्टि में—"संवत्सरे पंचविशे पौषशुक्लादिवासरे" समयमातृकोपसंहार श्लोक 2 प्रमाणार्थ उद्धत करते हैं । इस उद्धरण का अर्थ है—संवत् ।। 25 पौष शुक्ल रविवार में (रचना की गई) ।

संवत् और सन् में 55 वर्ष का अन्तर रहता है । संवत् 1125—55= 1070 ई० इस प्रकार ख्रिस्ताब्द 1050 के स्थान पर 1070 ई० मानना ही गणित सम्मत है ।

4. हास्यपरक आख्यान

1. **नर्ममाला**—यह ग्रन्थ तीन परिहासों में विभक्त है । यह हास्यपरक आख्यान है । इसमें कुल 407 श्लोक हैं । यह रचना देशोपदेश के सदृश है । उपहास के मुख्य पात्र नियोगी, चाक्रिक तथा दुराचारी कायस्थ हैं । शासकगणों की दुर्नीति का भी उपहास उड़ाया गया है । सन्नियमों की स्थापना की है । तत्कालीन कायस्थ केवल नौकरी करते थे और उनके आचरण सुन्दर नहीं थे । अत: क्षेमेन्द्र ने कायस्थों के असह्य, व्यवहार का यथार्थ चित्रण किया है । इस पुस्तक के अध्ययन से सिद्ध होता है कि उस काल में रिश्वत का बोलबाला था । यह पुस्तक कायस्थों की उत्पत्ति को भी बतलाती है । अन्त में लेखक ने कायस्थों के अतिरिक्त श्रमणिका, मठदैक्षिका, सभर्तृका, गणक, वैद्यों, ज्योतिषियों आदि की त्रुटियों पर भी प्रकाश डाला है । इस रचना का सम्पादन श्री मधुसूदन कौल ने किया है । तथा प्रकाशन काश्मीर अनुसंधान विभाग ने किया है ।

2. **कलाविलास**—हास्य रस की दृष्टि से यह क्षेमेन्द्र की सर्वश्रेष्ठ रचना है । यह रचना दश अध्यायों में विभक्त है ।

प्रथम अध्याय—इसमें मूलदेव नामक एक प्रसिद्ध धोखेबाज का वर्णन है। तथा तीन प्रकार की अकड़ बतलाई गई है (1) बत्तख की तरह, (2) कछुए की तरह, (3) बिल्ली की तरह। यह अकड़ मानव तथा पशुओं में समान रूप से पायी जाती है।

द्वितीय अध्याय—इसमें चन्द्रगुप्त को उपदेश दिया गया है। लोभ का उद्गम तथा व्यापार में उसके प्रकार का वर्णन मिलता है।

तृतीय अध्याय—इसमें प्रेम करने वाले व्यक्तियों की दयनीय आम दशा का चित्रण किया गया है।

चतुर्थ अध्याय—इसमें वेश्याओं के छद्म पूर्ण चरित्र का वर्णन मिलता है तथा वेश्याओं की 64 कलाओं का भी वर्णन किया गया है।

पंचम अध्याय—इसमें कायस्थों के कुकृत्यों पर व्यंग्य किया गया है।

षष्ठ अध्याय—इसमें अकड़ या मद की निन्दा की गई है। अकड़ 14 प्रकार की होती है। यह अध्याय अतिसुन्दर है।

सप्तम अध्याय—इसमें कवि और गायकों की कमी पर व्यंग्य कसे गये हैं।

अष्टम अध्याय—इसमें सुनारों की उत्पत्ति तथा वंचना पर व्यंग्य मिलता है।

नवम अध्याय—इसमें नाना प्रकार के धूर्तों के आचरण का वर्णन मिलता है।

दशम अध्याय—इसमें बुद्ध के जीवन का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। तथा सकल कलाओं का निरूपण किया गया है।

यह उपहास उपरोधपरक काव्य है। इसमें 551 श्लोक हैं। मूलदेव नामक व्यक्ति इस काव्य का नायक है। वह धूर्ततथा वंचक है। क्षेमेन्द्र का मत है कि कलियुग में धरातल पर वंचना जब अवतीर्ण हुई तो वह यति, नारी, वैद्य, गायक, स्वर्णकार, कायस्थ, नट आदि में प्रविष्ट हुई, तदनन्तर वह पशु-पक्षियों तक में प्रविष्ट हो गई। क्षेमेन्द्र ने इन व्यवसायियों की व्यवसाय सम्बन्धी चालाकियों का यथार्थ एवं रोचकतापूर्ण वर्णन किया है। पाठकों के लिये पठनीय ग्रन्थ है।

5. नाटक

1. कनकजानकी (सोने की सीता)—इस ग्रन्थ के नाम से ही सिद्ध है कि यह नाटक राम बनवास के बाद की घटना पर आधारित रहा होगा। इसकी विषय वस्तु का आधार रामायण है। इसमें खरदूषण और त्रिशिरा से राम का युद्ध दर्शाया गया है। तथा सीता की मुक्ति पर्यन्त की कथा रही होगी। यह करुण रस प्रधान नाटक रहा होगा। प्राप्त श्लोकों के आधार पर इस नाटक में प्रकृति-चित्रण की सुन्दरता का आभास मिलता है। स्वाभाविक वर्णन में नाटककार को सफलता

मिली है। दुर्भाग्य का विषय है कि आज यह नाटक उपलब्ध नहीं है। इस नाटक के पाँच श्लोकों का कविकण्ठाभरण में उदाहरणार्थ क्षेमेन्द्र ने वर्णन किया है।

2. चित्रभारत नाटक—इस नाटक की कथावस्तु महाभारत से गृहीत है।[1] 'कविकण्ठाभरण' में उदाहरण 18 श्लोक 42। औचित्य-विचारचर्चा में सत्यौचित्य का उदाहरण 31 श्लोक भी मिलता है। इस ग्रन्थ की अनुपलब्धि के कारण इसकी विषयवस्तु पर अधिक प्रकाश नहीं डाला जा सकता है।

3. ललित-रत्नमाला—यह नाटक वत्सराज-रत्नावली की प्रेम-कथा पर आधारित है। इस नाटक का नायक वत्सराज उदयन है। और नायिका रत्नावली है। इसका नायक धीरललित है। यह रचना श्रृंगार-रस-प्रधान है। इसका एक पद्य 'औचित्य-विचार-चर्चा' में उदाहरण के रूप में मिलता है। यथा—
लिङ्गौचित्योदाहरणे (यथा मम ललितरत्नमालायाम्)

निद्रां न स्पृशति त्यजत्यपि धृतिं धत्ते स्थितिं न क्वचि-
द्दीर्घां वेत्ति कथाँ न भजते सर्वात्मना निर्वृतिम्।
तेनाराधयता गुणस्तव जपध्यानेन रत्नावलीं
निःसङ्गेन पराङ्गना परिगतं नामापि नो सह्यते॥

6. सारांश रूपान्तर—

1. पद्यकादम्बरी—बाणभट्ट की कादम्बरी के सारांश का यह पद्यबद्ध अनुवाद है। इसकी कथा कादम्बरी पर आश्रित है। कादम्बरी इस काव्य की नायिका है। इसका प्रधान रस श्रृंगार है। इसके आठ श्लोक 15, 17, 20, 24, 26, 34, 37 तथा 45 उदाहरण रूप में 'कविकण्ठाभरण' में मिलते हैं। भाषा, भाव तथा शैली की दृष्टि से यह सुन्दर रूपान्तर है।

2. बृहत्कथामञ्जरी—"बृहत्कथा" पैशाची प्राकृत भाषा में गुणाढ्य कवि ने सात लाख श्लोकों में लिखी थी। यह अपने समय की प्रसिद्ध रचना रही है। उसी का सारांश सात हजार पाँच सौ पद्यों में संस्कृत में आचार्य क्षेमेन्द्र ने अनूदित किया है। अन्तिम लम्बक उपसंहारात्मक है। इस काव्य को क्षेमेन्द्र ने 19 लंबकों में विभक्त किया है। अतिसंक्षेप के कारण काव्य-रस-प्रवाह में अवरोध सा बन गया है। भाषा कहीं कहीं दुरूह हो गई है। "यह काव्य अनाकर्षक एवं निर्जीव है।" ऐसा मत डॉ० सूर्यकान्त तथा डॉ० कीथ् का है। इतिहास की दृष्टि से यह रचना महत्वपूर्ण है। आज साहित्य-जगत् में गुणाढ्य की बृहत्कथा पैशाची प्राकृत में उपलब्ध नहीं है किन्तु क्षेमेन्द्र की इस रचना से गुणाढ्य की रचना बृहत्कथा-मंजरी के सम्बन्ध में पर्याप्त विषय ज्ञान हो जाता है। क्षेमेन्द्र स्वयं लिखते हैं कि उनके पास गुणाढ्य की बृहत्कथामंजरी थी।

---

1. माईनर वर्क्स ऑफ क्षेमेन्द्र, 1961, इन्ट्रोडक्शन, पृ० 11।

प्रथम लम्बक	—गुणाढ्य की स्तुति।
द्वितीय लम्बक	—उद्यान की महिमा।
तृतीय लम्बक	—पद्मावती की विजय का वर्णन।
चतुर्थ लम्बक	—विद्याधरों के भावि राजा नरवाहनदत्त का वर्णन।
पंचम लम्बक	—शक्तिवेग का आगमन वर्णन।
षष्ठ लम्बक	—सूर्य प्रभा की कथा की विस्तृति।
सप्तम लम्बक	—कलिंग सेन की कन्या का नरवाहनदत्त से विवाह वर्णन।
अष्टम लम्बक	—बेला और उसके पति की कथा का वर्णन।
नवम लम्बक	—राजकुमारी ललितलोचन का राजकुमार से वाग्दान की चर्चा तथा अदृश्य होने का वर्णन।
दशम लम्बक	—विक्रमादित्य की कथा का वर्णन।
एकादश लम्बक	—कु० ललितलोचन के अनुरक्त मन की चर्चा।
द्वादश लम्बक	—गोमुख मुक्ताफलकेतु की कथा का वर्णन करता है।
त्रयोदश लम्बक	—राजकुमार मदनमुनका को विद्याधरों की पाँच कथाओं की सहायता से प्राप्त कर लेते हैं किन्तु फिर भी उसे खो देते हैं और फिर चार कन्याओं से विवाह कर लेते हैं।
चतुर्दश लम्बक	—राजकुमारों का रत्नप्रभा से विवाह-वर्णन।
पंचदश लम्बक	—राजकुमार और अलंकारवती का विवाह-वर्णन।
षोडश लम्बक	—शक्ति या यासस का विवाह-वर्णन।
सप्तदश लम्बक	—वामदेव सन्त से सप्त-रत्न-प्राप्ति का वर्णन तथा गन्धार देवा के वध का वर्णन।
अष्टादश लम्बक	- गोपाल और पालक का उज्जैन राज्य से त्याग-पत्र।
एकोनविंश लम्बक	—अवन्ति वर्मा का नायिका से विवाह वर्णन।
विंश लम्बक	—उपसंहारात्मक।

क्षेमेन्द्र पंचम लम्बक तक तो गुणाढ्य की रचना का पूर्ण अनुकरण करते हैं किन्तु बाद में विस्तार और संकोच स्वेच्छा से करने लगते हैं। कवि ने अलंकार-शैली का आश्रय लिया है। काव्यशास्त्र की दृष्टि से यह रचना अधिक सुन्दर न होने पर भी मनोहारिणी है।

1. क्षेमेन्द्र कृत रामायण-मंजरी, काव्यमाला नं० 83 निर्णयसागर, (1903)

3. रामायणमंजरी—यह बाल्मीकि कृत रामायण के सारांश का पद्यों में किया गया रूपान्तर है। ग्यारहवीं शताब्दी में रामायण का महत्व कितना था और लोगों के द्वारा पठन-पाठन की क्या रूपरेखा थी ? इसका परिचय हमें क्षेमेन्द्र के काव्य से चल जाता है। यह ग्रन्थ 198 प्रसंगों में विभक्त है। यह रचना 6391 श्लोकों में निबद्ध है। इसकी भाषा सरल, सुगम और प्रवाहपूर्ण है। प्रारम्भ में मंगलाचरण किया गया है, जिसमें भगवान् विष्णु की स्तुति की गई है। बाद में महर्षि बाल्मीकि और उनकी रचना "रामायण" की प्रशंसा की गई है। क्षेमेन्द्र बाल्मीकि को सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं।

यह काव्य केवल ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व का है परन्तु काव्य-दृष्ट्या (worthless) है। यह विचार डा० कीथ का है।[1] इसमें कविता के दर्शन नहीं होते हैं और अस्पष्ट अवतरणों से भरी हुई है। ऐसा अभिप्राय डॉ० सूर्यकान्त जी का है।

किन्तु इन दोनों के ये कथन न्याय संगत नहीं प्रतीत होते हैं। भाव की दृष्टि से यह ग्रन्थ सुन्दर है। इस ग्रन्थ में महाकवि बाल्मीकि जैसा सौष्ठव चाहे न रहा हो किन्तु इस ग्रन्थ को भाव-शून्य नहीं कहा जा सकता है। देखिये एक नमूना—

इति दुरितविरामः कीर्तिकान्ताभिरामः।
सुजनहृदयरामः कोऽप्यभूद्यः यः सः रामः ।।
प्रकृतमनुसरामः पापपाशुँ तरामः
सुकृतभुविचरामस्तस्य नाम स्मरामः ।।

(उत्तरकाण्ड अन्तिम श्लोक)

बताइये यह श्लोक किस सहृदय के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट नहीं करता है ? कैसी सुन्दर ललित पदावली है। ऐसे सैकड़ों श्लोक द्रष्टव्य हैं।

4. भारतमंजरी—यह व्यासकृत "महाभारत" का सूक्ष्म पद्यानुवाद है। इस ग्रन्थ से "महाभारत" ग्रन्थ के तत्कालीन रूप के दर्शन हो जाते हैं। यह रचना महाभारत का सार होने पर भी मूल ग्रन्थ का सत्य प्रतिनिधित्व करती है। क्षेमेन्द्र ने इसमें महाभारत की छोटी से छोटी घटनाओं का भी उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ 10665 श्लोकों में उपनिबद्ध है। क्षेमेन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना रामयशस् नामक अपने मित्र की प्रेरणा से की। इस काव्य में अनुष्टुप् छन्द का बाहुल्य है। वैसे कवि ने वसन्त-तिलका, मालिनी, शार्दूलविक्रीड़ित, पृथ्वी आदि छन्दों का प्रयोग किया है। महाभारत की कथा का पद्यानुवाद में वर्णन करना ही क्षेमेन्द्र का मुख्य प्रयोजन है। इस ग्रन्थ का प्रणयन 1037 खिस्ताब्द में हुआ था। यह ग्रन्थ विषय तथा काव्य की दृष्टि से सुन्दर तथा

1. Dr. A.B. Keith—A History of Sanskrit Literature 1953, P. 136.

सफल है। कवि ने स्वयं को व्यासदास लिखा है। यह कथन क्षेमेन्द्र की व्यास के प्रति श्रद्धा का प्रतीक है। संस्कृत-साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने वालों के लिए यह रचना विशेष महत्वपूर्ण है।

"इस रचना का साहित्यिक और कवित्व की दृष्टि से बहुत कम मूल्य है। यद्यपि यह एक अच्छा सारांश है किन्तु यह शुष्क और रसहीन है" ऐसा अभिप्राय डॉ सूर्यकान्त जी का है।[1] किन्तु उनकी यह आलोचना न्यायोचित प्रतीत नहीं होती है क्योंकि यह ग्रन्थ काव्यदृष्ट्या, भावपूर्ण तथा साहित्य-सौन्दर्य से अन्वित है। इसी ग्रन्थ की प्रसिद्धि ने क्षेमेन्द्र को "कवीन्द्रता" की उपाधि प्रदान की।

कवि ने जनता के चरित्र सुधार तथा मनोरंजन की भावना से प्रेरित होकर ही "रामायण" तथा "महाभारत" का पद्यानुवाद रामायणमंजरी तथा भारतमंजरी के नाम से किया है। इनका रचनाकान 1037 ई० है।

5. **वात्स्यायन**—वात्स्यायन के कामसूत्रों का सारांश वर्णित है। इसमें काम (अनंग) सम्बन्धी विकारों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। रति किस प्रकार सुखद हो सकती है। इसके उपायों का वर्णन तथा स्त्री में काम किस दिन कहाँ वास करता है, स्त्रियों के काम के आधार पर विभिन्न लक्षणों का वर्णन किया गया है। यह कामशास्त्र की दृष्टि से सुन्दर रूपान्तर रहा होगा। इस ग्रन्थ का एक श्लोक औचित्य-विचार-चर्चा में मिलता है।

यथा—

कामः कामं कमलवदनानेत्रपर्यन्तवासी
दासीभूतत्रिभुवनजनः प्रीतये जायतां वः।
दग्धस्यापि त्रिपुररिपुणा सर्वलोकस्पृहार्ह्
यस्याधिक्यं रुचिरतितरामञ्जनस्येव याता ।।[2]

6. **वेतालपंचविंशति**—इसमें वेतालों की पच्चीस कथाओं का वर्णन किया गया होगा जैसा कि नाम से ही ज्ञात होता है। यह ग्रन्थ कथाओं का पद्यानुवाद था। मनोरञ्जन की दृष्टि से यह उपादेय था किन्तु कालकवलित हो जाने के कारण इसके सम्बन्ध में आज प्रकाश डालना कठिन कार्य है।

7. कोष

लोकप्रकाश—यह ग्रन्थ शब्द-कोष के समान हितकारी है। इसमें क्षेमेन्द्र कालीन हिन्दुओं की दिनचर्या, व्यापारियों के लेन-देन सम्बन्धी व्यवहार की भाषा, काश्मीरियों के अधिकारियों की उपाधियां तथा कार्य, प्रान्त के परगने आदि के नाम लिखे हुए हैं। संक्षेप में यह ग्रन्थ काश्मीर के प्रशासन, तथा व्यापार संबंधी विवरण, भूगोलादि ज्ञान की चर्चा आदि विषयों की जानकारी देने वला कोष है।

1. डॉ० सूर्यकान्त—क्षेमेन्द्र स्टडीज 1954 पृ० 17।
2. औचित्य-विचार-चर्चायां वात्स्यायनकामसूत्राद् गृहीतः।

बूहलर[1] इस ग्रन्थ को व्यास दास क्षेमेन्द्र की रचना मानते हैं। वेबर[2] इस रचना को क्षेमेन्द्र की नहीं मानते हैं। पं कौल भी वेबर के मत का ही समर्थन करते हैं। लेकिन उनका कथन है कि यह रचना मोगलकालीन किसी तृतीय श्रेणी के ग्रन्थकार की है, क्योंकि इसमें फारसी शब्दों की प्रचुरता है।

किन्तु वेबर और पं० कौल "लोक-प्रकाश के रचयिता क्षेमेन्द्र नहीं है" इस विषय में कोई प्रबल प्रमाण उद्धृत नहीं कर सके हैं। अनेक ग्रन्थों के लेखक को विविध भाषाओं का ज्ञान हो तो इसमें क्या आश्चर्य है? इन दोनों की अपेक्षा बूहलर के तर्क कहीं अधिक बुद्धिसंगत प्रतीत होते हैं।

8. सन्दिग्ध ग्रन्थ

1. हस्तिप्रकाश—पं० शिवदत्त जी ने 'हस्तिप्रकाश' ग्रन्थ को भी क्षेमेन्द्र कृत माना है।

2. स्पन्द-निर्णय—स्पन्द-निर्णय तथा स्पन्द सन्दोह रचनाओं को "बूहरल" महोदय एक जगह क्षेमेन्द्र की रचना मानते हैं। किन्तु आगे चलकर वे कहते हैं कि ये रचनायें व्यासदास क्षेमेन्द्र की न होकर अभिनवगुप्त के दूसरे शिष्य क्षेमराज की रही होंगी। इस प्रकार इन पुस्तकों के विषय में निर्णयजनक उत्तर नहीं मिलता है।

इस प्रकार 36+1=37 ग्रन्थ क्षेमेन्द्र कृत सिद्ध होते हैं। क्षेमेन्द्र की ग्रन्थावली क्षेमेन्द्र को उत्कृष्ट कोटि का ग्रन्थकार तो सिद्ध करती ही है, साथ ही क्षेमेन्द्र के श्रेष्ठ आचार्यत्व और कवित्व को भी प्रतिपादित करती है। इन ग्रन्थों में से कुछ अनुपलब्ध हैं तो कुछ अप्रकाशित। 19 ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित हुए हैं। हमारा वर्गीकरण विषय के आधार पर है।[3]

1. शास्त्रीयग्रन्थ = 4

2 काव्यात्मक—	
महाकाव्य 4	
खण्डकाव्य	10
3. उपदेशात्मक काव्य	7
4. हास्यपरक आख्यान	2
5. नाटक	3
6. सारांश रूपान्तर	6
7. कोष	1
8. संदिग्ध ग्रन्थ	2

यह वर्गीकरण क्षेमेन्द्र की विविध-विषय-प्रवेशिका, लोकाचारनिपुणा तथा सर्वरसालोकिनी प्रतिभा का परिचायक है। समाज के यथार्थ जीवन का वास्तविक

---

1. डॉ० सूर्यकान्त—क्षेमेन्द्र स्टडीज 1954, पृ० 25।
2. देशोपदेश और नर्ममाला 1923 इन्ट्रोडक्शन पृ० 25।
3. डा० मनोहरलालगौड़—'आचार्य क्षेमेन्द्र' पृ० 9।

चित्रण कर जीवन की दुर्बलताओं पर मीठी चुटकी लेते हुए कवि ने परिष्कार की भावना को व्यक्त किया है। जिस प्रकार जीवन के विविध रूप हैं, उसी प्रकार कवि के वर्ण्य विषय भी अनेक हैं। क्षेमेन्द्र ने चाहे शास्त्रीय-विषय को ग्रहण किया चाहे काव्य को, दोनों में ही संस्कृत वाङ्मय के समुज्ज्वल रूप के दर्शन होते हैं। "न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम" कालिदास रचित अभिज्ञानशाकुन्तलम् का यह कथन क्षेमेन्द्र में सर्वाङ्ग रूपेण क्रियान्वित दिखलाई देता है। क्षेमेन्द्र को अनेक शास्त्रों तथा कलाओं का ज्ञान था। उनकी रचनाएं इस विषय की पोषिका हैं। क्षेमेन्द्र शब्द, अर्थ, अलंकार तथा रस आदि विभिन्न विषयों में औचित्य की प्रतिष्ठा करके औचित्य-विचार-विवेचन की मौलिकता के कारण आचार्यत्व की दृष्टि से समुन्नत स्थान पर आसीन हो चुके हैं। आचार्य भामह ने ठीक ही लिखा है—

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान् कवेः ॥[1]

क्षेमेन्द्र के विषय में आचार्य भामह की यह उक्ति पूर्णतया चरितार्थ होती है। क्षेमेन्द्र का विशाल साहित्य उनकी बहुमुखी प्रतिभा का द्योतक है। इनकी लेखनी ने जिस तरह अनेक उत्तमोत्तम अलंकार शास्त्र के ग्रन्थों को जन्म दिया है, उसी प्रकार श्रेष्ठ महाकाव्य और खण्डकाव्यों का सृजन किया है।

इसीलिये डॉ० कीथ को इनकी काव्य-प्रतिभा में बीसवीं शताब्दी की सी आधुनिकता के दर्शन होते हैं। वास्तव में संस्कृत-साहित्य में विविध विषयों पर जैसी सफलता क्षेमेन्द्र की लेखनी को मिली है, वैसी किसी अन्य को नहीं। इनमें कवित्व और आचार्यत्व दोनों का सुन्दर सम्मिश्रण मिलता है। वास्तव में आचार्य क्षेमेन्द्र में जैसा उत्कृष्ट कवित्व मिलता है, वैसा ही श्रेष्ठ आचार्यत्व भी। अतः संस्कृत-साहित्य-जगत् में क्षेमेन्द्र का स्थान असाधारण है।

———

1. भामहकृत-काव्यालंकार 5/4।

2

"काव्य के प्रयोजन एवं हेतु"

(अ) काव्य के प्रयोजन

"निरुद्देश्यं मन्दोऽपि न प्रवर्तते क्वापि" मन्दबुद्धि भी बिना किसी उद्देश्य (प्रयोजन) के किसी भी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है। फिर विद्वान् पुरुष बिना प्रयोजन के काव्य के प्रति क्यों प्रवृत्त होगा ? अत: काव्य—शास्त्रियों ने सर्वप्रथम काव्य प्रयोजन के विषय में विचार किया। भारतीय काव्यशास्त्र में हमें काव्य प्रयोजन से सम्बन्धित पर्याप्त विवेचन मिलता है। विद्वानों ने मुख्यत: लोक-मंगल की भावना को ही काव्य का मुख्य प्रयोजन माना है।

भरत मुनि से लेकर वर्तमान समय तक काव्यशास्त्रियों ने यह विचार किया कि काव्य के कौन से प्रयोजन हो सकते हैं। इन आचार्यों ने अनेक प्रयोजनों पर प्रकाश डाला है। कवि कभी एक प्रयोजन विशेष के लिये काव्य रचना करता है तो कभी अनेक प्रयोजनों को लक्ष्य करके कविता लिखता है। एक प्रयोजन होने पर भी अन्य प्रयोजनों का फल भी कभी स्वत: प्राप्त हो जाता है।

कतिपय प्रमुख आचार्यों के मत इस विषय में लिखे जा रहे हैं—

भरत

अलंकार-शास्त्र के आद्याचार्य भरतमुनि ने "नाट्यशास्त्र" में नाट्य के उद्देश्यों के रूप में काव्य के प्रयोजनों का निरूपण किया था। "नाट्यशास्त्र" में नाट्य वेद की प्रस्तावना विषयक विस्तार सुस्पष्ट है—

उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्।
हितोपदेशजननं धृति-क्रीड़ा-सुखादि-कृत्॥
दु:खार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेश-जननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥[1]

अर्थात् यह नाट्य उत्तम मध्यम एवं अधम मनुष्यों के कर्मों का आश्रय-

---

1. भरत-नाट्यशास्त्र 1. 113–115।

भूत है। हितकारी उपदेश देने वाला है। धैर्य, मनोविनोद और सुख आदि का प्रदाता है एवं अवसर होने पर दुःखी, पीड़ित तथा शोक सन्तप्त व्यक्तियों को विश्रान्ति देने वाला है। यह धर्म, यश तथा आयु को बढ़ाता है और संसार को उपदेश देने वाला है।

भरत ने दृश्य-काव्य। नाट्यों के जो ये प्रयोजन कहे हैं। इनका अन्तर्भाव मम्मट द्वारा प्रतिपादित छः प्रयोजनों में हो जाता है।

आचार्य भामह ने निम्नलिखित काव्य के प्रयोजन अंगीकार किये हैं—

धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु-काव्य-निबन्धनम्।[1]

अर्थात् उत्तम काव्य के लिखने और पढ़ने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है, कलाओं में विलक्षणता आती है, यश मिलता है और आनन्द प्राप्त होता है।

भामह के इस श्लोक को उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने आदरपूर्वक अपनाया है।

वामन ने जो काव्य के प्रयोजन कहे हैं, वे संक्षिप्त हैं। उन्होंने काव्य की रचना के दो प्रयोजन माने हैं—कीर्ति और आनन्दानुभूति। वे प्रीति (आनन्दानुभूति) को काव्य का दृष्ट प्रयोजन और कीर्ति को अदृष्ट प्रयोजन मानते हैं। उन्होंने इस विषय में 3 श्लोक लिखे हैं—

काव्यं सद् दृष्टार्थ प्रीति-कीर्ति-हेतुत्वात्।
प्रतिष्ठां काव्य-बन्धस्य यशसः सरणिं विदुः।
अकीर्तिवर्तिनीं त्वेवं कुकवित्व–विडम्बनाम्।(1)
कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः।
अकीर्तिन्तु निरालोकनरकोद्देश–दूतिकाम्।(2)
तस्मात् कीर्तिमुपादातुमकीर्तिञ्च व्यपोहितुम्।
काव्यालंकार-सूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुंगवैः।(3)[2]

अर्थात् काव्य की रचना करने से यश प्रतिष्ठित होता है और बुरी कविता करने वाला अपकीर्ति का भागी होता है। यश के द्वारा स्वर्ग प्राप्त होता है तथा अपकीर्ति नरक में ले जाने वाली होती है। अतः कवि–श्रेष्ठों को चाहिये कि कीर्ति को उपार्जित करने तथा अपकीर्ति को दूर करने के लिये "काव्यालंकार" के सूत्रों को समझकर उत्तम कविता करें।

---

1. भामह-काव्यालंकार–1–12
2. वामन—काव्यालंकार सूत्र–1.1.5

राजा भोज ने काव्य रचना के दो प्रयोजन माने हैं—यश और आनन्द की प्राप्ति। उन्होंने लिखा भी है—

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।[1]

अर्थात् दोषों से रहित, गुणों से युक्त, अलंकारों से अलंकृत तथा रस से सम्भृत काव्य की सृजना करता हुआ कवि कीर्ति और प्रीति को प्राप्त करता है।

कुन्तक ने अपने "वक्रोक्ति-जीवितम्" में काव्य के प्रयोजनों का निरूपण करते हुए लिखा है—

धर्मादि-साधनोपायः सुकुमार क्रमोदितः।
काव्य-बन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥
व्यवहार परिस्पन्द सौन्दर्य-व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥[2]

अर्थात् श्रेष्ठ-कुल में उत्पन्न राजपुत्र आदि के लिए काव्य की रचना की जाती है। यह सुन्दर एवं सरस ढंग से कहा गया—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करने का उपाय है। उत्तमकाव्य का अध्ययन करने से सभी प्रकार के व्यक्तियों को व्यवहार का ज्ञान होता है। इससे भी बड़ी बात यह है कि काव्य-रूपी-अमृत के रस से सहृदयों के हृदय में चतुर्वर्ग की प्राप्ति से भी श्रेष्ठ आनन्दानुभूतिरूप चमत्कार उत्पन्न होता है।

कुन्तक का विशेष बल है इस बात पर कि काव्य से आनन्दानुभूति रूप चमत्कार उत्पन्न होता है।

कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।
आह्लाद्यामृतवत् काव्यमविवेकगदापहम्॥[3]

प्रयोजन की दृष्टि से भी कुन्तक ने शास्त्र को कड़वी औषधि के समान अज्ञान रूपी रोग का निवारक माना है। तथा काव्य को अमृत के समान मधुर औषधि माना है।

वाग्भट

वाग्भट ने "काव्यानुशासन" में काव्य के प्रयोजनों का विशद विवेचन किया है—

---

1. सरस्वती कण्ठाभरण 1.2।
2. वक्रोक्ति-जीवितम्, प्रथम उन्मेष, 3–5 कारिका।
3. वक्रोक्ति-जीवितम्। 1–7 की वृत्ति।

काव्यम् । प्रमोदायानर्थपरिहाराय व्यवहारज्ञानाय त्रिवर्ग-
फललाभाय कान्तातुल्यतयोपदेशाय कीर्तये च ।[1]
वयन्तु कीर्तिमेवैकां काव्यहेतुतया मन्यामहे........अत:
कीर्तिरेवैका काव्यहेतु: ।[2]

वाग्भट का मत है कि प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत काव्य के छ: प्रयोजन-आनन्द, अनर्थ का निवारण, व्यवहार का ज्ञान, धर्मार्थ काम का लाभ, कान्ता-तुल्य, उपदेश और कीर्ति । में से—पाँच उद्देश्य तो अन्य साधनों से भी प्राप्त हो सकते हैं किन्तु कीर्ति ही एक मात्र ऐसा प्रयोजन है, जिसकी उपलब्धि काव्य मात्र से ही सम्भव है ।

रुद्रट

रुद्रट ने चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को काव्य का प्रयोजन अंगीकार किया है और लिखा है—

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।
लघुमृदु च नो रसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्य: ।[3]

"अग्निपुराण" में त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, और काम) ही नाट्य (काव्य) के प्रयोजन लिखे हैं—

त्रिवर्गसाधनं नाट्यम् ।[4]

आचार्य विश्वनाथ के मत में, "काव्य के द्वारा अल्प-बुद्धि वाले मनुष्यों को भी सरलता से चतुवर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की प्राप्ति होती है—

चतुर्वर्गफल-प्राप्ति: सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव.............................।।[5]

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार काव्य का प्रयोजन चतुर्वर्ग फल-प्राप्ति है ।

1. भगवान् नारायण आदि के चरणारविन्द की स्तुति से धर्म लाभ सुनिश्चित है । वेद वाक्य भी यही सिद्ध करता है-एक: शब्द: सुप्रयुक्त: सम्यग्ज्ञात: स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति ।

2. काव्य से धन की प्राप्ति प्रसिद्ध ही है ।

---

1. वाग्भट—काव्यानुशासन-काव्यमाला सं० 43 (1915) पृ० 2
2. वाग्भट— काव्यानुशासन पृ० 2
3. रुद्रट-काव्यालंकार 12–1
4. अग्निपुराण 338–7
5. साहित्यदर्पण 1·2 की प्रवृत्ति ।

3. काम की प्राप्ति धन द्वारा होती ही है।

4. सदुपदेश आदि मोक्षोपयोगी वाक्यों द्वारा मोक्ष प्राप्ति भी सम्भव है। अल्प बुद्धि वाले भी काव्य द्वारा पुरुषार्थ चतुष्टय को प्राप्त कर सकते हैं। लिखा भी है—

किञ्च काव्याद्धर्मप्राप्तिर्भगवन्नारायण-चरणारविन्दस्तवादिना, "एक: शब्द: सुप्रयुक्त: सम्यग्ज्ञात: स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति" इत्यादि-वेदवाक्येभ्यश्च सुप्रसिद्धैव। अर्थप्राप्तिश्च प्रत्यक्षसिद्धा। कामप्राप्तिश्चार्थद्वारैव। मोक्षप्राप्तिश्चैतज्जन्यधर्मफलाननुसन्धानात्, मोक्षोपयोगिवाक्ये व्युत्पत्याधायकत्वाच्च। चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दु:खादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते। परमानन्द-सन्दोह-जनकतया सुखादेव सुकुमार-बुद्धीनामपि पुन: काव्यादेव। ननु तर्हि परिणत-बुद्धिभि: सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्न: करणीय, इत्यपि न वक्तव्यम्। कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिण: सितशर्करा-प्रवृत्ति: साधीयसी न स्यात्।[1]

इस प्रकार आचार्यविश्वनाथ ने काव्य-प्रयोजन का विशद विवेचन किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के प्रयोजनों के विषय में केवल एक ही पंक्ति लिखी है—

"तत्र कीर्तिपरमाह्लाद-गुरुराज-देवता प्रसादाद्यनेक प्रयोजनकस्य काव्यस्य"।

अर्थात् काव्य के अनेक प्रयोजन होते हैं। कीर्ति, परमाह्लाद, और गुरु एवं देवता की कृपा आदि।

इसमें गुरु और देव कृपा द्वारा अनर्थ का निवारण एवं राजा की कृपा से धन लाभ। आदि पद द्वारा व्यवहारज्ञान और कान्ता-सम्मित-उपदेश का संकेत मिलता है। अत: पण्डितराज जगन्नाथ काव्य-प्रयोजन के विषय में मम्मट से प्रभावित जान पड़ते है।

अत: वाग्देवतावतार मम्मट का काव्य-प्रयोजन-विषयक विचार प्रस्तुत करते हैं—

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्य: परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

1. कालिदास आदि के समान यश की प्राप्ति।

2. धावक आदि के समान अर्थ की प्राप्ति।

3. आचार का परिज्ञान।

4. सूर्य की स्तुति से मयूर कवि का कुष्ठ-निवारण हो गया था। अत: मम्मट का विचार है, भगवत् स्तुति द्वारा अनर्थ निवारण।

---

1. साहित्यदर्पण 1·2 की वृत्ति।

5. परमानन्द की अनुभूति। काव्य के निर्माण अथवा पाठ के साथ ही एक विशेष प्रकार की आन्तरिक आनन्द की अनुभूति होती है।

6. स्त्री के समान सरसतापूर्वक यथायोग्य उपदेश।

कवि तथा सहृदय दोनों के हित-सम्पादक ये छः काव्य के प्रयोजन मम्मट को अभीष्ट हैं। इन प्रयोजनों के साथ कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उपदेश करना भी एक मुख्य प्रयोजन है। काव्य की उपदेश शैली वेद शास्त्र आदि से सरल एवं सरस होने के कारण विलक्षण है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने "ध्वन्यालोक" में सहृदयों की मानसिक प्रसन्नता को ही ध्वनि-काव्य का मुख्य-प्रयोजन माना है।

तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्।[1]

राजशेखर के अनुसार—आनन्द, कीर्ति, धन-प्राप्ति, शिष्यहित, हितोपदेश, राजोपकार, एवं लोकरुचि काव्य के प्रयोजन हैं। इनमें से कतिपय प्रयोजन कवि-निष्ठ (अर्थात् कवि के स्वयं के लिये) हैं। कुछ प्रयोजन पाठक या श्रोता से सम्बन्धित होते हैं। अतः उन्हें पाठक-निष्ठ मानना चाहिये। कविनिष्ठ प्रयोजन के अन्तर्गत (1) आनन्द (2) कीर्ति एवं (3) धन-प्राप्ति। तथा पाठकनिष्ठ प्रयोजन के अन्तर्गत—(1) शिष्यहित (2) हितोपदेश (3) राजोपकार एवं (4) लोकरुचि की गणना की जाती है।

राजशेखर का कथन है कि काव्य-पुरुष की कथा को जानने वाला कवि इहलोक और परलोक दोनों में आनन्दित रहता है।[2] उसीप्रकार जो राजा सभापति बनकर काव्यों की परीक्षा करता है, वह सर्वदा सुखी रहता है।[3] इस प्रकार आनन्द को उन्होंने स्पष्ट रूप से काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है। राजशेखर ने कीर्ति को भी काव्य का प्रयोजन माना है। राजशेखर की सम्मति में जिस कवि की प्रतिभा का अधिक प्रसार होता है, उसकी कीर्ति समस्त संसार को धवलित कर देती है।[4]

"राजाश्रयेण च गताः कवयः प्रसिद्धिम्।" कवि कीर्ति के प्रसार में राजगण भी सहायक होते हैं। कीर्ति को काव्य का प्रयोजन तो अधिकांश काव्यशास्त्रियों ने माना है। किन्तु राजाओं को कविकीर्ति का प्रचारक मानना राजशेखर की अपनी मौलिक उद्भावना है।[5] राजशेखर काव्य-रचना को धन-प्राप्ति का साधन भी मानते हैं। "प्रबन्ध किसी के पास धरोहर के रूप में रख देने से, बेच देने से दान

1. ध्वन्यालोक 11
2. काव्यमीमांसा अ. 3 पृ० 10
3. काव्यमीमांसा अ. 10 पृ० 55
4. काव्यमीमांसा अ. 9 पृ० 49
5. काव्यमीमांसा अध्याय 6 पृ० 27

कर देने से अग्नि एवं जल आदि से विनष्ट हो जाते हैं" । ये वाक्य भी काव्य प्रयोजनों में धनप्राप्ति का संकेत देते हैं । लिखा भी है—

यदित्थं कथयन्ति-निक्षेपो विक्रयो दानं देशत्यागोऽल्पजीविता
त्रुटिको वह्निरम्भश्च प्रबन्धोच्छेदहेतव: ।[1]

इस प्रकार पूर्ववर्ती आचार्यों ने जिन काव्य-प्रयोजनों का प्रतिपादन किया था उनको और अधिक परिमार्जित तथा सुन्दर रूप में हम राजशेखर में देखते हैं ।

आचार्य क्षेमेन्द्र

आचार्य क्षेमेन्द्र "अक्षय-कीर्ति" को काव्य का प्रयोजन मानते हैं । औचित्य-विचार-चर्चा का निम्न श्लोक इस बात की पुष्टि में सहायक है ।

क्षेमेन्द्र इत्यक्षयकाव्य-कीर्ति—
श्चक्रे नवौचित्यविचारचर्चाम् ।।[2]

तथा व्यास के प्रति क्षेमेन्द्र की निम्नांकित श्रद्धा भी कीर्ति को काव्य का प्रयोजन सिद्ध करती है—

नुम: सर्वोपजीव्यं तं कवीनां चक्रवर्तिनम् ।
यस्येन्दुधवलै: श्लोकैर्भूषिता भुवनत्रयी ।[3]

———

1. काव्यमीमांसा अध्याय पृ० 53
2. औचित्य-विचार-चर्चा ।
3. कविकण्ठाभरण द्वि, सं० की वृत्ति ।

2

काव्य के हेतु

(अ) काव्य के हेतु

सकल संसार में जितने कार्य दिखलाई देते हैं, उन सबके पीछे कोई न कोई कारण अवश्य ही रहा है। जब प्रत्येक वस्तु के निर्माण में अवश्य ही कोई कारण निहित रहता है तब फिर काव्य के निर्माण में कारण का अभाव कैसे रह सकता है ? दूसरे साहित्य और जनजीवन का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। तभी तो मानव में रहने वाले प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को आचार्य काव्य का कारण मानते हैं। वास्तव में काव्य-सृजन का सामर्थ्य उत्पन्न करने वाले साधन 'काव्य-हेतु' या 'काव्य-कारण' कहे जाते हैं। अत: हेतु का अभिप्राय: उन साधनों से है जो कवि की काव्य-रचना में उपकारक होते हैं।

काव्य-हेतु है क्या ? इस विषय पर भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने गहन अध्ययन एवं चिन्तन किया है। यद्यपि इस सम्बन्ध में हमें विद्वानों में मतभेद देखने को मिलता है। पुनरपि अधिकांश विद्वान् प्रकारान्तर से एक दूसरे के विचारों से सहमत होते दिखाई देते हैं। भारतीय-काव्य-शास्त्रियों में जिन्होंने काव्य-हेतुओं का निरूपण किया है—उनमें भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, कुन्तक और मम्मट आदि आचार्यों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

1. भामह-प्रतिपादित काव्य-हेतु

शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रया: कथा: ।
लोको युक्ति: कलाश्चेति मन्तव्या: काव्यगैरमी ॥
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम् ।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्य: काव्यक्रियादर: ॥[1]

भाव यह है कि शब्द, छन्द, कोश, अर्थ, इतिहासाश्रित कथा, लोकालोक-व्यवहार- ज्ञान, युक्ति और कला ज्ञान एवं प्रसिद्ध कवियों के काव्यों का अनुशीलन

1. काव्यालंकार 1·9–10

आदि काव्यज्ञों द्वारा प्रयुक्त शब्दादि को जानकर ही नवीन काव्य रचना करनी चाहिए। वैसे 'भामह' प्रतिभा को कवि के लिए प्रधान साधन मानते हैं—

"काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावत:"[1]

उनके मतानुसार काव्य की स्फूर्ति केवल उसी व्यक्ति को होती है जो प्रतिभा से सम्पन्न होता है। गुरु के उपदेश देने पर भी प्रतिभा के अभाव में काव्य-सृष्टि असम्भव है। वे लिखते हैं—

"गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जड़धियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावत:॥"

प्रतिभा-सम्पन्न कवि की कविता ही आह्लादमयी बन सकती है। प्रतिभा-हीन कवि अपने काव्य से उस प्रकार निन्दनीय होता है, जिस प्रकार कुपुत्र के जन्म से पिता निन्दनीय होता है।

"सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते॥"[2]

2. **दण्डी** ने तीन काव्य हेतु माने हैं। लिखा भी है—

"नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतञ्च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्या: कारणं काव्य-सम्पद:॥"[3]

इस प्रकार आचार्य दण्डी ने मुख्य रूप से स्वाभाविक प्रतिभा, निर्मल-शास्त्र-ज्ञान, दोषहीन-शास्त्र-श्रवण अर्थात् व्युत्पत्ति तथा परिपूर्ण अभ्यास (अर्थात् पुन: पुन: काव्य बनाते रहना) को काव्य-हेतु (काव्य-सम्पत्ति) अङ्गीकार किया है।

पूर्वजन्म के वासनाजन्य संस्कार (गुणों) पर प्रतिभा आश्रित है। किसी कवि में प्रतिभा है तो यह अति सुन्दर है। किन्तु यदि किसी कवि में प्रतिभा का अभाव है तब भी कवि को निरुत्साहित नहीं होना चाहिए क्योंकि केवल प्रतिभा काव्य की स्फूर्ति के लिए समर्थ नहीं होती। अत: प्रतिभाहीन कवि को शास्त्र से तथा यत्न से अर्थात् अभ्यासपूर्वक कविता करनी चाहिए क्योंकि ऐसे उत्साही प्रयत्नशील कवि पर निश्चय ही सरस्वती अनुग्रह करती है। लिखा भी है—

"न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना, गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता, ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥[4]

इस प्रकार दण्डी तीन हेतुओं के योग पर बल देते प्रतीत होते हैं।

---

1. काव्यालंकार 1/5
2. काव्यालंकार 1/11
3. दण्डी-'काव्यादर्श' 1/103
4. काव्यादर्श 1/104

3. **वामनाचार्य** के मतानुसार काव्य हेतु ये हैं—

(1) लोक, (2) विद्या, (3) प्रकीर्ण । ये तीनों काव्य-निर्माण के साधन हैं । लिखा भी है—

"लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि ।"[1]

वामनाचार्य ने काव्य हेतु के स्थान पर काव्याङ्ग शब्द का व्यवहार किया है । वामन के मत में प्रतिभा ही मुख्य तत्व है । यह वासना रूप से कवि के हृदय में रहती है । प्रथम तो प्रतिभा के बिना काव्य निष्पन्न ही नहीं होता । यदि निष्पन्न भी हुआ तो वह उपहास का पात्र बनता है ।

"कवित्वस्य बीजं' कवित्वबीजम् जन्मान्तरागतसंस्कारविशेषः कश्चित् ।
यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्यात् ॥"[2]

लोक का अर्थ है, "लोक व्यवहार का ज्ञान"

लोकवृत्तं लोकः[3]

विद्या से वामन का अभिप्राय है—शब्द, स्मृति, अभिधानकोश, छन्दो—विचिति, कला, कामशास्त्र, दण्डनीति आदि विद्या । लिखा भी है—

"शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्र—
दण्डनीतिपूर्वा विद्याः ।"[4]

प्रकीर्ण के छः भेद हैं—

1. लक्ष्यतत्व (अन्य काव्यानुशीलन),
2. अभियोग (अभ्यास),
3. वृद्धसेवा (गुरुचरणों की सेवा द्वारा ज्ञानार्जन),
4. अवेक्षण (उपयुक्त शब्दों का चयन),
5. प्रतिभान (प्रतिभा),
6. अवधान (चित्त की एकाग्रता),

लिखा भी है—

"लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवावेक्षणं प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम्"[5]

इस प्रकार वामन ने काव्य के कारणों का अधिक विस्तार के साथ विवेचन किया है । पुनरपि वामन दण्डी के ही अनुयायी प्रतीत होते हैं ।

वामन ने प्रतिभा को प्रतिभान शब्द द्वारा अभिहित कवित्व का बीज माना

---

1. काव्यालंकार 1/3/1
2. काव्यालंकार सूत्र 1/5/16 की वृत्ति ।
3. काव्यालंकार 1/3/2
4. काव्यालंकार 1/3/3
5. काव्यालंकार 1/3/11

है। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध कवियों के काव्यों का अनुशीलन, काव्य-निर्माण में उद्योग, काव्यगुरु की सेवा तथा अनेक शास्त्रों का ज्ञान भी काव्य की अभिव्यक्ति के हेतु अंगीकार किए हैं। सर्वाधिक व्यवहार की बात उन्होंने यह कही है। कि कवि होने के लिए एकाग्रमन तथा एकान्तस्थान होना अत्यावश्यक है। लिखा भी है—

"कवित्वबीजं प्रतिभानम्
चित्तैकाग्र्यमवधानम्
तद्देशकालाभ्याम्।"[1]

4. रुद्रट—रुद्रट भी काव्य कारणों में शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की गणना करते हैं। वे 'शक्ति' को काव्य का प्रधान हेतु स्वीकार करते हैं। शक्ति के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—

मनसि सदा सुसमाधिनि, विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥[2]

अर्थात् सर्वथा एकाग्रचित्त (समाधिस्थ) मन में सर्वथा अर्थों का अनेक प्रकार से विस्फुरण हुआ करता है तथा कोमलकान्तपदावली स्वयं कवि के सम्मुख अवभासित हुआ करती है, जिसके द्वारा रचना का निर्माण हुआ करता है, उसी का नाम शक्ति है। शक्ति के दो भेद हैं—सहजा तथा उत्पाद्या। सहजा जन्मान्तरीय-संस्कारों से समुद्भूत शक्ति है, तथा उत्पाद्या—शास्त्र, लोकानुभव, अभ्यास आदि से प्राप्त शक्ति का नाम है। इस कथन से यह भाव निकलता है कि प्रतिभा दो प्रकार की होती है, एक ईश्वर प्रदत्त और दूसरी व्युत्पत्तिजन्या। यथा—

प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
पुंसा सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा॥[3]

वास्तव में 'शक्ति' प्रतिभा का ही पर्याय है। प्रतिभा एक जन्मान्तरीय संस्कार विशेष है।

5. भट्टतौत—भट्टतौत के मतानुसार नये-नये अर्थों का उन्मीलन करने वाली प्रज्ञा ही 'प्रतिभा' कहलाती है। लिखा भी है—

"प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा"

6. आचार्य जयदेव—"प्रतिभा ही कवित्व का मूल कारण है।" ज्ञान

---

1. काव्यालंकार 1/3/18
2. काव्यालंकार 1/15
3. काव्यालंकार 1/16

और अभ्यास प्रतिभा रूप बीज को अंकुरित करने के लिए मिट्टी और जलवत् कार्य करते हैं। लिखा भी है—

प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्ध बीजोत्पत्तिर्लतामिव ।।

7· आचार्य कुन्तक—आचार्य कुन्तक के अनुसार पूर्वजन्म तथा इस जन्म के संस्कार के परिपाक से पुष्ट होने वाली कोई कवित्वशक्ति ही प्रतिभा है।

"प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।"

8. आचार्य भट्टगोपाल—आचार्य भट्टगोपाल के मतानुसार प्रतिभा कवित्व का बीज-विशेष है, जिस प्रकार वृक्ष को देखकर बीज की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार काव्य रूपी कार्य के द्वारा जन्मान्तरीय-संस्कार-विशेष-शक्ति की सत्ता का अनुमान किया जाता है। जिसके बिना काव्य सम्भव नहीं।

"कवित्वस्य लोकोत्तरवर्णना नैपुण्यलक्षणस्य बीजमुपादानस्थानीयः
संस्कारविशेषः। कार्यकल्पनीया काचिद्वासनाशक्तिः।"[1]

9. आचार्य आनन्दवर्धन—आचार्य आनन्दवर्धन के मतानुसार व्युत्पत्ति तथा प्रतिभा दोनों काव्य हेतुओं में से प्रतिभा का ही विशेष महत्व है। यद्यपि शास्त्र-ज्ञान के अभाव में दोषोत्पत्ति स्वाभाविक है किन्तु प्रतिभा इन दोषों का शमन करने में समर्थ हो जाती है। प्रतिभा के अभाव में भी दोष का आविर्भाव सहज है किन्तु उन दोषों का शमन करने में व्युत्पत्ति सामर्थ्यहीन होती है। इस प्रकार दोषोत्पत्ति तो दोनों के ही अभाव में उपस्थित होती है परन्तु प्रतिभा-रहित काव्य-दोष अधिक बड़ा दोष होगा, अपेक्षाकृत व्युत्पत्तिरहित काव्य के। लिखा भी है—

"अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्येवावभासते ।।"[2]

काव्य-प्रयोजन का सर्वप्रथम कारण प्रतिभा ही है। आनन्दवर्धनाचार्य का कथन है कि कवि की प्रतिभा की अभिव्यक्ति उसकी रचना के प्रतीयमान अर्थ से ही हुआ करती है—

"सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।।"

---

1. वामन-काव्यालंकारसूत्र 1/3/16

2. ध्वन्यालोक।

अर्थात् काव्य के आस्वाद्यमान अर्थ तत्व को स्फुरित करने वाली महाकवियों की वाणी उनके अलौकिक व असाधारण-प्रतिभा-विशेष को प्रकट करती है। यह प्रतिभा कवियों में नैसर्गिक हुआ करती है।

आचार्य महिमभट्ट—

प्रतिभा को ही काव्य का सर्वस्व अङ्गीकार करते हैं—

रसानुकूलशब्दार्थ-चिन्तास्तिमितचेतसः ।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः ।।
स हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते ।
येन साक्षात्करोत्येव भावाँस्त्रैलोक्यवर्तिनः ।।

रसानुकूल शब्द और अर्थ के चिन्तन में लीन एकाग्रचित्त कवि की प्रज्ञा जब क्षण भर के लिए पदार्थ के सत्य स्वरूप का स्पर्श करती हुई उद्बुद्ध होती है। तब वह प्रतिभा कहलाती है। वही भगवान् का तृतीय नेत्र है। उसी के द्वारा त्रैलोक्यवर्त्ती भावों का साक्षात्कार कवि करता है।

10. **आचार्य 'हेमचन्द्र'** ने अपने ग्रन्थ 'काव्यानुशासन' में लिखा है—

प्रतिभैव च कवीनां काव्यकारणकारणम् ।
व्युत्पत्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकारकौ न तु काव्य-हेतू ।।

अर्थात् प्रतिभा ही काव्य-साधनों का साधन है। व्युत्पत्ति और अभ्यास से उसी का सम्यक् विकास होता है। न कि व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के हेतू हैं। इनके अतिरिक्त वाग्भट और पीयूषवर्ष आदि आचार्यों के विचार भी दण्डी के समान ही मिलते हैं।

11. **'वाग्भटालंकार'** ग्रन्थ के निर्माता **'वाग्भट'** लिखते हैं—'प्रतिभा' काव्य का कारण है, व्युत्पत्ति (लोक और शास्त्र के ज्ञान से उत्पन्न हुआ संस्कार विशेष) भूषण है और बार-बार का अभ्यास काव्य-रचना में प्रगति लाता है। इससे स्पष्ट है कि प्रतिभा काव्य की जननी है, व्युत्पत्ति सौन्दर्य—दात्री है तथा अभ्यास शीघ्र काव्य-निर्माण में सहायक होता है। लिखा भी है—

प्रतिभाकारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम् ।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्यादि कविसंकथा ।।[1]

'वाग्भट' प्रतिभा के सम्बन्ध में कहते हैं—

प्रसन्नपद-नव्यार्थयुक्त्युद्बोधविधायिनी ।
स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी ।।[2]

अर्थात् सत्कवि की प्रसन्नपदों (ललित, प्रसाद, गुण युक्त पदों) में अभिव्यक्त की

---

1. वाग्भटालंकार 1/3
2. वाग्भटालंकार 1/4

हुई नव्यार्थ से (मौलिक अर्थ से) पूर्ण युक्तियों का उद्‌बोधन करने वाली सब ओर प्रसरणशील, चमत्कारयुक्त बुद्धि को 'प्रतिभा' कहते हैं।

12. 'चन्द्रालोककार'' पीयूषवर्ष वाग्भट की बात को ही उदाहरण सहित प्रस्तुत करते हैं—

व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से युक्त प्रतिभा उसी तरह काव्य के प्रति हेतु है, जिस तरह मृत्तिका और जल के सहयोग से बीज लता के प्रति कारण होता है। भाव यह है कि प्रतिभा कविता की उत्पादिका, व्युत्पत्ति पोषिका तथा अभ्यास सम्वर्धक रूप से कारण है।

13. पण्डितराज जगन्नाथ

काव्य का कारण केवल प्रतिभा को ही मानते हैं। और प्रतिभा के दो भेद बतलाते हुए कहते हैं कि यह प्रतिभा किसी कवि में तो देवता या महापुरुष आदि की प्रसन्नता से उत्पन्न अदृष्ट शक्ति के रूप में अवभासित होती है और किसी कवि में विलक्षण व्युत्पत्ति और अभ्यास-जन्य होती है। वे इस विषय में लिखते हैं—

> ''तस्य (काव्यस्य) च कारणं कविगता केवला प्रतिभा।
> तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवतामहापुरुषादिजन्यमदृष्टम्। क्वचिच्च विलक्षण व्युत्पत्ति काव्यकरणाभ्यासौ।''[1]

पण्डितराज जगन्नाथ ने एक जगह प्रतिभा को ''नैसर्गिकी'' लिखा है और दूसरे स्थल पर ''पूर्ववासनागुणानुबन्धि''।

अर्थात् स्वाभाविक तथा संस्कारजन्या।

अदृष्ट-पुरुष प्रयत्न साध्य होता है, पुनः नैसर्गिक कैसे ? संस्कार-अनुभवजन्य होता है, अतः पुरुष प्रयत्न से साध्य होता है। वह भी स्वाभाविक कैसे हो सकता है ? वह वासना रूप ही है। वासना गुणानुबन्धि नहीं हो सकती। इसलिये प्रतिभा का अर्थ उन्होंने बुद्धि विशेष ही ग्रहण किया होगा।

आगे वे लिखते हैं—जिनसे काव्य बन सके, ऐसे शब्दार्थों की उपस्थिति प्रतिभा है। अर्थात् ''सा (प्रतिभा) च काव्यघटनाकूल—शब्दार्थोपस्थितिः।'' शक्ति के द्वारा काव्य के अनुकूल शब्द और अर्थ कवि के मन में शीघ्रातिशीघ्र आते हैं। इस प्रकार जगन्नाथ भी प्रतिभा को प्रधान मानते हुए भी व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के पक्षपाती ही ठहरते हैं।

यही मत हमें अन्यत्र भी देखने को मिलता है। यथा—''बुद्धिर्नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा मता'' अर्थात् उस बुद्धि-विशेष को प्रतिभा कहा गया है, जिसके द्वारा नई-नई कल्पना उद्‌भूत हो।

---

1. रसगंगाधर। आनन 1।

14. मम्मट—

कवि में रहने वाली उसकी स्वाभाविक प्रतिभा रूप (1) शक्ति लोक-व्यवहार, शास्त्र तथा काव्य आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न (2) निपुणता और काव्य की रचना शैली तथा आलोचना पद्धति को जानने वाले विज्ञों की शिक्षा के अनुसार काव्य निर्माण का (3) अभ्यास (बारबार काव्य निर्माण में प्रवृत्त होना ही अभ्यास है) ये तीनों मिलकर समष्टि रूप से काव्य के विकास (उद्‌भव) के कारण हैं। लिखा भी है—

शक्ति-निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्‌भवे ।।[1]

मम्मट का विचार है कि प्रतिभा के बिना प्रथम तो काव्य निर्माण ही असम्भव है। हुआ भी तो उपहास का पात्र होगा। इस प्रकार मम्मट भी शक्ति, निपुणता और अभ्यास को मानते हुए भी प्रतिभा को ही प्राथमिकता देते हैं। व्युत्पत्ति को मम्मट निपुणता नाम से अभिहित करते हैं। यह दो प्रकार से प्राप्त होती है। लोक (चराचर जगत् का ज्ञान) तथा शास्त्रों के अध्ययन से तथा काव्यज्ञों द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलकर कवि अनौचित्यादि दोषों से मुक्त रहता है। व्याकरण कोषादि से भाषा परिष्कृत हो जाती है। तथा अभ्यास से काव्य रचना में गति त्वरा हो जाती है।

15. अग्निपुराण भी लिखा है—

कवित्वं दुलर्भं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा ।
व्युत्पत्तिर्दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभ: ।।[2]

जगत् में प्रथम तो कवि होना ही कठिन है। यदि कोई कवि है तो उसमें शक्ति (प्रतिभा) का होना दुर्लभ है। प्रतिभा-सम्पन्न भी यदि कवि है तो उसे लोक और शास्त्र का ज्ञान तथा विवेक हो, यह दुर्लभ है।

इस प्रकार 'अग्निपुराण' भी व्युत्पत्ति तथा शक्ति को मानते हुए भी विवेक प्राप्ति हेतु अभ्यास की ओर इंगित करता है।

''काव्य-कारण'' के विषय में राजशेखर ने ''काव्यमीमांसा'' में अति सुन्दर और विशद रूप से विवेचन किया है। राजशेखर ने अपने मत की स्थापना में आचार्य श्यामदेव तथा मंगल के मतों का उल्लेख किया है। वह इस प्रकार है—

16. आचार्यश्यामदेव—

काव्य-निर्माण में सबसे सहायक वस्तु ''समाधि'' को मानते हैं। समाधि का अर्थ है, चित्त की एकाग्रता।

---

1. काव्यप्रकाश पृ० 303 कारिका।
2. अग्निपुराण 33/4।

"काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते" इतिश्यामदेवः।

मनस एकाग्रता समाधिः।[1]

समाहित होने वाला चित्त ही नवीन अर्थों का समुन्भीलन करता है। वास्तव में काव्य के सृजन की शक्ति का उन्मेष तभी होता है, जब कवि सरस्वती की आराधना मनोयोग से करता है। पदार्थों को भली-भांति जानने के लिए चित्त को एकाग्र करके कवि को तत्वान्वेषण करना चाहिये। चित्त की एकाग्रता ही अर्थों का उन्मीलन करती है "समाहितं चित्तमर्थान्तरं पश्यति" काव्यकर्म में कवि की समाधि ही सर्वोत्कृष्ट व्यापार करती है। समाधि का लक्षण देखिये—

"सारस्वत किमपि तत्सुमहा रहस्यं
यद्गोचरे च विदुषां निपुणैकसेव्यम्।
तत्सिद्धये परमयंपरमोऽभ्युपायो
यच्चेतसो विदितवेद्यविधेः समाधिः॥[2]

इसके अतिरिक्त वाग्भट और पीयूषवर्ष आदि आचार्यों के विचार भी दण्डी के समान ही मिलते हैं।

17. आचार्यमंगल—व्युत्पत्ति और प्रतिभा में से व्युत्पत्ति को वरीयता देते हैं। व्युत्पत्ति का अर्थ है—बहुज्ञता। जहाँ न पहुँचे रवि, तहाँ पहुँचे कवि"। यह उक्ति तभी चरितार्थ होती है जब कवि का ज्ञान शास्त्रों द्वारा उपलब्ध व्युत्पत्ति को प्राप्त कर लेता है। आचार्य मंगल व्युत्पत्ति को प्रतिभा से श्रेष्ठ मानते हैं। "व्युत्पत्तिः श्रेयसी" इति मंगलः"।[3]

प्रसरति किमपि कथञ्चन नाभ्यस्ते गोचरे कवेः कस्य।
इदमेव तत्कवित्वं यद्वाचःसर्वतोदिक्काः॥
"अभ्यासः" इति मंगलः।[4]

"अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः" सा हि सर्वगामी सर्वत्र निरतिशयं कौशल-माधत्ते।

यह लिखकर मंगल ने अभ्यास को काव्य-हेतु में प्राथमिकता प्रदान की है। उनका मत है कि व्युत्पत्ति कवि के अशक्ति-जन्य-दोष को आवृत कर देती है।

कवेः सम्व्रियते शक्तिर्व्युत्पत्या काव्यवर्त्मनि।
वैदग्धी चित्रचित्तानां हेया शब्दार्थगुम्फना॥[5]

---

1. काव्यमीमांसा अध्याय 4 पृ० 11
2. काव्यमीमासा अध्याय 4 पृ० 11
3. काव्यमीभांसा अध्याय 5 पृ० 16
4. काव्यमीमांसा अध्याय 5 पृ० 16
5. काव्यमीमांसा अध्याय 5 पृ० 16

"अभ्यास" काव्यकर्म में सबसे अधिक सहायक है। लगातार काव्य-निर्माण के प्रयास को अभ्यास कहते हैं। अभ्यास मनुष्य को सब विषयों में अति प्रवीण कर देता है।

18. राजशेखर—आचार्य श्यामदेव तथा मंगल के मत को प्रस्तुत कर अपने विचारों को व्यक्त करते हैं।

"समाधि" (चित्त की एकाग्रता) आन्तरिक प्रयास तथा "अभ्यास" काव्य-निर्माण में बाह्य साधन या प्रयास मात्र है—"समाधिरान्तर: प्रयत्नो बाह्यस्त्वभ्यास:" ये दोनों (समाधि और अभ्यास) मिलकर ही अन्त:स्थ शक्ति को विकसित करते हैं—"तावुभावपि शक्तिमुदभासयत:" उन दोनों से व्यक्त की गयी शक्ति ही काव्य का हेतु है। उनके मतानुसार "शक्ति" प्रतिभा और व्युत्पत्ति से भी उत्कृष्ट है, क्योंकि शक्ति ही प्रतिभा और व्युत्पत्ति को जन्म देती है। शक्ति- सम्पन्न ही किसी पदार्थ का उत्पादक तथा अन्वेषक हो सकता है। शक्ति सम्पन्न ही व्युत्पन्न होता है। इस प्रकार शक्ति ही काव्य में हेतु होती है—"सा केवलं काव्ये हेतु:। इति यायावरीय:" शक्ति का विकास अवश्य प्रतिभा और व्युत्पत्ति के द्वारा होता है। इसलिए राजशेखर "शक्ति" को ही काव्य के उन्मीलन मे प्रधान हेतु मानते हैं। जो "शब्द समूह, अर्थ समूह, अलंकारता और उक्ति शैली आदि अन्य कवित्वापेक्षित विषयों को हृदय में अवभासित कर दे—उसी को प्रतिभा कहते हैं"—

"शक्तिकर्तृके हि प्रतिभा व्युत्पत्तिकर्मणी।

शक्तस्य प्रतिभातिशक्तश्च व्युपद्यते ॥ का० मी० अध्याय 4

या शब्दग्राममर्थसार्थमलंकारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमभिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा।" प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति के लिए अदृष्टपदार्थ तथा परोक्ष की घटनायें भी प्रत्यक्षवत् होती हैं तथा प्रतिभा रहित व्यक्ति के लिए विद्यमान पदार्थ भी दृष्टिगोचर नहीं होता है—"अप्रतिभस्य पदार्थपरोक्ष इव प्रतिभावत: पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव।" व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में वे लिखते हैं "बहुज्ञता व्युत्पत्ति:" इत्याचार्या:। उचितानुचितविवेको व्युत्पत्ति: इति यायावरीय:। आचार्यों का कथन है कि बहुज्ञता व्युत्पत्ति है किन्तु राजशेखर उचित और अनुचित के विवेक को व्युत्पत्ति कहते हैं। राजशेखर प्रतिभा और व्युत्पत्ति को समान रूपेण आवश्यक मानते हैं। वे कहते हैं—जैसे सौन्दर्य के लिए रूप और लावण्य ये दोनों समान रूप से आवश्यक है, वैसे ही काव्य सौन्दर्य में प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों ही समानरूपेण कारण हैं। प्रतिभा-व्युत्पत्तिमाँश्च कवि : कविरित्युच्यते। तथा "प्रतिभा व्युत्पत्ती मिथ: समवेते श्रेयस्यौ" इति यायावरीय:। न खलु लावण्याद् ऋते रूपसम्पदो वा लावण्यलब्धिर्महते सौन्दर्याय। किन्तु आगे चलकर वे प्रतिभा और व्युत्पत्ति के समन्वय पर बल देते हैं—"प्रतिभा-व्युत्पत्तिर्मिथ: समवेते श्रेयस्यौ" इति यायावरीय:।" जिस प्रकार लावण्य सौन्दर्य का पूरक है और रूप सौन्दर्य, लावण्य का उत्कर्षक है,

उसी प्रकार प्रतिभा और व्युत्पत्ति परस्पर एक दूसरे की पूरक हैं। अर्थात् प्रतिभा के अभाव में व्युत्पत्ति तथा व्युत्पत्ति के अभाव में प्रतिभा निरर्थक है।

अन्त में राजशेखर काव्य के साधन रूप में शक्ति के साथ-साथ प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास के महत्व को भी स्वीकार कर लेते हैं।

बुद्धिमत्वं च काव्याङ्ग विद्यास्वभ्यासकर्म च।
कवेश्चोपनिषच्छक्तिस्त्रयमेकत्र दुर्लभम् ॥[1]

अर्थात् बुद्धिमत्ता, काव्य एवं उसकी अंगभूत विद्याओं का अभ्यास तथा कवियों का उपनिषत् (रहस्य अर्थात् शक्ति)—ये तीनों एक स्थान पर अत्यन्त दुर्लभ हैं।

राजशेखर ने प्रतिभा को दो भागों में विभक्त किया है—कारयित्री और भावयित्री। लिखा भी है—"सा (प्रतिभा) द्विधा कारयित्री, भावयित्री च। कवि का उपकार करने वाली प्रतिभा कारयित्री कही जाती है और भावुक सदस्यों का उपकार करने वाली प्रतिभा भावयित्री कहलाती है। लिखा भी है—"कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री। भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री।"

'कारयित्री' पुनः तीन प्रकार की होती है—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी'। "साऽपि त्रिधा सहजाऽऽहार्यौपदेशिकी च" इन तीनों के बल पर ही कवि नवीन अर्थों की कल्पना करता है, तथा उन्हें कोमल शब्दों में संजोकर सदस्यों का मनोरंजन करता है।

1. "सहजा" शब्द का अर्थ है जन्म के साथ उत्पन्न होने वाली प्रतिभा। अर्थात् पूर्वजन्म के वे संस्कार जो इस जन्म के संस्कारों से मिलकर उद्‌बुद्ध हो जाते हैं। सहजा इस लोक के किञ्चित् संस्कार से ही प्रस्फुटित होती है।

2. "आहार्या" शब्द का अर्थ है "आहरण के योग्य" आहार्या प्रतिभा इस जन्म के संस्कारों से उत्पन्न होती हैं। अर्थात् "आहार्या" प्रतिभा को उद्‌बुद्ध करने के लिए अत्यधिक अभ्यास अपेक्षित होता है। इसके लिए महान् प्रयत्न करने पड़ते हैं।

3. "औपदेशिकी" प्रतिभा, मन्त्र, तन्त्र, आदि के उपदेश से उद्‌भूत होती है। औपदेशिकी के लिए यही जन्म उपदेशकाल तथा संस्कार काल है। फलतः यह विलम्ब से सुफला सिद्ध होती है। लिखा भी है—

1. "जन्मान्तर संस्कारापेक्षिणी सहजा।"
2. "इह जन्म संस्कारयोनिराहार्या"।
3. "मन्त्रतन्त्राद्युपदेशप्रभवा औपदेशिकी"

भावयित्री प्रतिभा ही कवि के श्रम तथा अभिप्राय का ज्ञान कराती है। उसी के द्वारा कविव्यापार रूपी कल्पतरु सफल (फलान्वित) होता है। उसके

---

1. काव्यमीमांसा अध्याय 4 पृ० 13।

अभाव में कविकर्म निष्फल रह जाता है "सा हि कवे: श्रममभिप्रायञ्च भावयति। तथा खलु फलित: कवेर्व्यापारतरु:, अन्यथा सोऽवकेशी स्यात् (काव्य-मीमांसा) भाव यह है कि कवि भावयित्री प्रतिभा के बल पर काव्य निर्माण में समर्थ होता है तथा काव्य रचना की जनन-शक्ति भी इसी में मुख्य रूप से रहती है।

भावयित्री प्रतिभा के बल से ही भावक या आलोचक कवि के श्रम और अभिप्राय को समझ या प्रकट कर सकता है। इस प्रकार राजशेखर की सम्मति में आलोचक का कर्म तथा कवि का कर्म समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। कवि जहाँ इसके बल पर काव्यरचना में प्रवृत्त होने की सामर्थ्य पाता है, वहाँ आलोचक इसी के बल पर काव्य-रचना का मूल्यांकन करने की सामर्थ्य प्राप्त करता है।

आगे चलकर राजशेखर कवियों के तीन भेद करते हैं—सारस्वत, आभ्यासिक तथा औपदेशिक।

1. सारस्वत-बुद्धिमान् सारस्वत कवि वह है, जिसकी सरस्वती जन्मान्तर संस्कार से काव्यकर्म में प्रवृत्त होती है।

2. आहार्य बुद्धिवाला आभ्यासिक कवि वह है, जिसकी भारती इस जन्म के अभ्यास से उद्भासित होती हैं।

3. दुर्बुद्धि औपदेशिक कवि वह है जिसका वाणी-विलास उपदेश से होता है।

प्रतिभातारतम्येन प्रतिष्ठा भुवि भूरिधा।
भावकस्तु कवि: प्रायो न भजत्यधमां दशाम्।

अर्थात् पृथ्वी पर प्रतिभा के आधार पर विभिन्न प्रकार की प्रतिष्ठा होती है। भावक कवि प्राय: अधम दशा को प्राप्त नहीं होते हैं।

इस प्रकार राजशेखर ने उपदेशजन्य ज्ञान तथा अभ्यासजन्य ज्ञान की अपेक्षा सहजा-प्रतिभा-जन्य-ज्ञान को वरीयता प्रदान की है।

काव्य तथा काव्याङ्गभूत विद्याओं का जिस विद्वान् ने अभ्यास किया है तथा जो मंत्रों के अनुष्ठान में संलग्न है, उसके लिये कविराज पद दूर नहीं है। अर्थात् वह सद्य: कविराजत्व को प्राप्त हो जाता है। यह लिखकर राजशेखर ने अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया है।

काव्यकाव्याङ्ग विद्यासु कृताभ्यासस्य धीमत:।
मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता॥

आचार्य क्षेमेन्द्र

अथेदानीमकवे: कवित्वशक्तिरुपदिश्यते। प्रथमं तावद्दिव्य: प्रयत्न: तत: पौरुष:। "कविकण्ठाभरण"

अब कवि को किन उपायों के द्वारा कवित्व शक्ति प्राप्त होती है उसका उपदेश किया जाता है। उसमें प्रथमत: दिव्य प्रयत्न है, तत्पश्चात् पौरुष प्रयत्न।

दिव्य प्रयत्न "ऊँकार रूप स्वस्ति चिन्ह" की स्तुति माना है। जप के अनुष्ठान से देवी सरस्वती प्रसन्न होकर साधक को आशीर्वाद देती हैं। आशीर्वाद प्राप्त साधक की वाणी में अभिनवता अर्थात् सुन्दरता आती है। सुन्दरता सम्पन्न वाणी से प्रसूत काव्य हितप्रद होता है।

एतां नमः सरस्वत्यै यः क्रियामातृकां जपेत्।
क्षेममैन्द्रं स लभते भव्योऽभिनववाग्भवम्॥[1]

यह अदृष्ट दिव्य शक्ति, विकार रहित, आकार शून्य, और श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ है। इस शक्ति का ध्यान किया जाए।

निर्विकारां निराकारां शक्तिं ध्यायेत् परात्पराम्।

यह शक्ति बीज त्रयी से वाच्य है। बीज त्रयी (बीज मंत्र) वाली, काम एवं मोक्ष की जननी है।

"एषा बीजत्रयी वाच्या सा हि वाक्काममुक्तिसूः"

इस प्रकार क्षेमेन्द्र "शक्ति" को मान्यता देते हुए प्रतीत होते हैं। शक्ति के सम्बन्ध में राजशेखर भी कहते हैं—

सा केवलं काव्ये हेतुः "इति यायावरीयः"

राजशेखर और क्षेमेन्द्र दोनों की शक्ति में साम्य पाया जाता है। राजशेखर की शक्ति को समाधि (चित्त की एकाग्रता) और अभ्यास मिलकर उद्भासित करते हैं और क्षेमेन्द्र की शक्ति उपासना (चित्त की एकाग्रता) तथा अभ्यासजन्या है।

"समाधिराभ्यन्तरो यत्नः बाह्यस्त्वभ्यासः"

क्षेमेन्द्र भी लिखते हैं कि—

अभिनव काव्य के निर्माण के लिये वह (शिष्य) महाकवि की परिचर्या एकाग्रचित्त होकर करे। यथा—

महाकवेः काव्यत्वक्रियायै तदेकचित्तः परिचारकः स्यात्।[2]
श्वेतां सरस्वतीं मूर्ध्नि चन्द्रमण्डलमध्यगाम्।
अक्षराभरणां ध्ययेद् वाङ्मयामृतवर्षिणीम्॥

अर्थात् शुभ्र चन्द्रमण्डल के मध्य रहने वाली, अक्षरों के (अविनाशी) आभूषणों को धारण करने वाली सरस्वती का मस्तक (अर्थात् बुद्धि अथवा मन में) ध्यान किया जाना चाहिये। "ध्यान" चित्त की एकाग्रता पर ही सम्भव है। अतः चित्त की एकाग्रता पर दोनों बल देते हैं।

श्वेतां विशेषण सरस्वती के दिव्यत्व का और निर्मलत्व का द्योतक है। "चन्द्र मण्डल मध्यगाम्" विशेषण सरस्वती के दिव्यत्व का प्रतिपादक है। अक्षराभरणाम्—न क्षरतीति यत् तदक्षरम्। अक्षर—"नित्यत्व रूप, पद, वाक्यादि आभरण

1. कविकण्ठाभरण।
2. 20 कवि०।

वाली" अर्थ का प्रतीक है। क्षेमेन्द्र की शक्ति भी दिव्य शक्ति ही है। पण्डितराज जगन्नाथ भी प्रतिभा के दो कारण मानते है। देवता अथवा महापुरुष आदि की प्रसन्नता से उत्पन्न अदृष्ट और कहीं विलक्षण व्युत्पत्ति-अभ्यास द्वारा—

तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवतामहापुरुषादिजन्यमदृष्टम् ।
क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्तिकारणाभ्यासौ ।।[1]

अतः क्षेमेन्द्र के विचार पण्डितराज से भी मिलते-जुलते ही हैं। आगे क्षेमेन्द्र लिखते हैं—

काव्यक्रियेच्छाङ्कुर मूलभूमिमन्विष्य विश्रान्तिलवेन मोक्षः ।
अन्यावधाने मदनस्य मोक्षस्तृतीयबीजे सकलेऽस्ति मोक्षः ।।[2]

काव्य की क्रिया के (निर्माण) इच्छा रूप अंकुर के मूल उद्गम स्थान (ऐं) की किंचित् अवधान से खोज करने पर वाणी मुक्त (अनन्यपरतन्त्र) हो जाती है। दूसरे "क्लीं" पर चित्त की एकाग्रता से काम वासना का मोक्ष (व्यक्तिगत वासनाओं का क्षय) हो जाता है। और तृतीय बीज "सौः" पर ध्यान केन्द्रित करने से मोक्ष होता है। अर्थात् परमोच्च आनन्द की प्राप्ति होती है।

यहाँ क्षेमेन्द्र का यह भाव दिखलाई देता है कि उत्तम काव्य के निर्माण के लिये कवि की वाणी पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होनी चाहिये उसकी व्यक्तिगत वासनाओं का क्षय होना चाहिये। तथा काव्य-निर्माण-काल में कवि का अन्तःकरण आह्लादैकमय होना चाहिए। अवधान का अर्थ चित्त की एकाग्रता ही है अर्थात् काव्य निर्माण काल में चित्त की एकाग्रता आवश्यक है। तभी शक्ति सक्रिय होती है।

अब क्षेमेन्द्र पौरुष उपायों पर प्रकाश डालते हैं—

विज्ञातशब्दागमनामधातुश्छन्दोविधाने विहितश्रमश्च ।
काव्येषु माधुर्यमनोरमेषु कुर्यादखिन्नः श्रवणाभियोगम् ।।[3]

जिसने शब्दशास्त्र (व्याकरण) से नाम, धातु आदि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया है और जिसने छन्दों की रचना में बहुत परिश्रम किया है, वह माधुर्य के कारण रमणीय बने काव्यों के श्रवण का उद्योग अनलस होकर करे। ऐसे ही विचार अन्य आचार्यों की निम्न उक्तियों में भी पाये जाते हैं :

भामह—

शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः ।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैर्ह्यमी ।।[4]

---

1. रसगंगाधर।
2. कविकण्ठाभरण–14।
3. कविकण्ठाभरण 1/16।
4. काव्यालंकार 1/9।

वामन—

शब्दस्मृत्यभिधानकोष-छन्दोविचितिकला कामशास्त्र
दण्डनीति पूर्वा विद्या:" ।[1]

रुद्रट—

छन्दोव्याकरण कला लोकस्थिति पदपदार्थ विज्ञानात् ।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ।।[2]

मम्मट—

शक्तिनिपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।।[3]

शक्ति: कवित्वबीजरूप: संस्कार-विशेष: । यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात् । लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकलोकवृत्तस्य । **शास्त्राणां छन्दो व्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्ग-गज-तुरंगखड्गा दिलक्षण ग्रन्थानाम्, काव्यानां च महाकविसम्बन्धिनाम्** । आदि ग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्ति: । काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनेः पुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रय: समुदिता: न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतव: ।

मम्मट ने शास्त्र तथा काव्यों के अध्ययन तथा चिन्तन से उत्पन्न ज्ञान को "निपुणता" कहा है ।

क्षेमेन्द्र इस ज्ञान को **विवेक** मानते हैं । यथा—

गीतेषु गाथास्वथ देशभाषाकाव्येषु दद्यात्सरसेषु कर्णम् ।
वाचां चमत्कारविधायिनीनां नवार्थचर्चासु रुचिं विदध्यात् ।।[4]
रसे रसे तन्मयतां गतस्य गुणे गुणे हृर्षवशीकृतस्य ।
विवेकसेकस्वकपाकभिन्नं मन: प्रसूतेऽङ्कुरवत् कवित्वम् ।। (8)
पठेत्समस्तान्किल कालिदासकृतप्रबन्धानितिहासदर्शी ।
काव्याधिवासप्रथमोद्गमस्य रक्षेत्पुरस्तार्किकगन्धमुग्रम् ।। (9)

क्षेमेन्द्र की दृष्टि में काव्यनिर्माण से पूर्व गुण दोषादि के ज्ञान के लिए विवेक की सहायता अपेक्षित है । सर्वप्रथम कवि काव्यानुकूल विषय का चयन करता है, फिर विषय पर अध्ययन तथा चिन्तन करता है, तदनन्तर स्वबुद्धि योजनानुसार विषय का प्रकटीकरण करता है । काव्य निर्माण हेतु इतिहास तथा प्रसिद्ध काव्यों का अनुशीलन भी आवश्यक है ।

अभ्यास के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र लिखते हैं—

---

1. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति: 1-3-3 ।
2. काव्यालंकार 1-18 ।
3. काव्यप्रकाश 1/3 ।
4. कविकण्ठाभरण 1, 17-19 ।

वह (शिष्य) अभ्यास के हेतु वाक्यार्थ पद समूह के अर्थ से रहित पदों के सन्निवेशों के द्वारा वृत्त की रचना करे। "अभ्यासहेतोः पदसन्निवेशै-र्वाक्यार्थशून्यै-र्विदधीत वृत्तम् ।"

विद्वानों के मतानुसार दो प्रकार के कवि होते हैं—हृदय कवि तथा बुद्धि-कवि। क्षेमेन्द्र भी हृदय कवि, को अल्पप्रयत्नसाध्य कवि मानते हैं तथा बुद्धि व अभ्यास द्वारा रचना करने वाले को कृच्छ्र साध्य कवि मानते हैं किन्तु हृदयहीन तथा बुद्धि-हीन कवि को वे पत्थर के समान मानते हैं और उन्हें असाध्य कवि की कोटि में रखते हैं।

वैसे क्षेमेन्द्र विवेकी हृदययुक्त कवि को ही वरीयता देते प्रतीत होते हैं—

देखिये—

विविध रसों के आस्वादन में निमग्न और भिन्न-भिन्न हर्षप्रद गुणों से आकृष्ट कवि का हृदय विवेक के सिंचन के द्वारा परिपक्व होकर द्रवित होता है तथा भीतर पके अंकुर के समान कवित्व का सृजन करता है।

रसे रसे तन्मयतां गतस्य गुणे गुणे हर्षवशीकृतस्य ।
विवेकसेकस्वकपाकभिन्नं मनः प्रसूतेऽङ्कुरवत् कवित्वम् ।।[1]

'वर्डसवर्थ' ने भी कवित्व के हेतु के सम्बन्ध में प्रायः ऐसी ही धारणा व्यक्त की है—"पोयट्री इज ए स्पौटेनियस ओवरफ्लो ऑफ पॉवरफुल फीलिंग्स टेकिंग्स इट्स ओरिजिन फ्रौम दी इमोशन्स रिकलेक्टेड इन ट्रेन्कुयेलिटी" यही विचार राजशेखर के हैं—

प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कवि-रित्युच्यते । स च त्रिधा ।

शास्त्रकविः, काव्यकविरुभयकविश्च । तेषामुत्तरोत्तरीयो गरीयान् इति श्यामदेवः । "न इति यायावरीयः । यथा स्वविषये सर्वो गरीयान् । अर्थात् प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति से युक्त कवि ही कवि कहा जाता है। वह तीन प्रकार के हैं—(1) शास्त्र कवि, (2) काव्यकवि, और (3) उभय कवि। श्यामदेव आचार्य का कथन है कि इनमें उत्तरोत्तर कवि श्रेष्ठ हैं पर यायावरीय राजशेखर का कथन है कि "नहीं"। अपने-अपने विषय में सभी कवि श्रेष्ठ हैं। उभयकविस्तूभयो-रपि वरीयान्यद्युभयत्र परं प्रवीणः स्यात्। उभय कवि दोनों में श्रेष्ठ है क्योंकि वह दोनों विषयों में प्रवीण होता है। और भी लिखा है—प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ" इति यायावरीयः। यायावरीय राजशेखर का मत है कि प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति दोनों मिलकर भले होते हैं। प्रतिभा के महत्व को स्वीकार करते हुए क्षेमेन्द्र लिखते हैं—

प्रतिभा से अलंकृत कवि का काव्य, लक्ष्मी से सुशोभित गुणी पुरुष के निर्मल कुल के समान विभूषित होता है। यथा—

1. कविकण्ठाभरण 18।

प्रतिभाभरणं काव्यमुचितं शोभते कवे:।
निर्मलं सगुणस्येव कुलं भूतिविभूषितम् ।।[1]

आगे वे कारिका की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—प्रतिभा से सुभूषित कवि का काव्य ऐश्वर्य से चमत्कृत गुण वालों के उज्ज्वल कुल के समान सुशोभित होता है। यथा—

प्रतिभालंकृतं कवे: काव्यमुचितं गुणवत: कुलमिव विमलं लक्ष्म्या प्रकाशितं शोभते।

प्रतिभा का अर्थ है—"नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि:" प्रतिभा। नूतन से नूतन भावों का उद्रेक करने वाली बुद्धि "प्रतिभा" है।

इस प्रकार आचार्य क्षेमेन्द्र ने शक्ति, प्रतिभा, विवेक (व्युत्पत्ति) तथा अभ्यास को काव्यत्व का हेतु स्वीकार किया है। राजशेखर ने भी काव्य के साधन रूप में शक्ति के साथ-साथ प्रतिभा—व्युत्पत्ति और अभ्यास के महत्व को अंगीकार किया है।

———

1. औचित्यविचार चर्चा 35।

3

"काव्य का स्वरूप, काव्य–प्रकार व कवित्व–प्राप्ति"

काव्य का स्वरूप

सामान्य रूप से "कविकर्म" को काव्य कहा जाता है। अब प्रश्न उठता है कि "कवि" किसे कहते हैं ? उत्तर देते हैं--चमत्कृति प्रधान, भावनानुकूल शब्दों का गुम्फन अथवा किसी वस्तु के सुन्दर ढंग से वर्णन करने वाले को कवि कहते हैं। काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने "कवृ वर्णने" धातु से कवि शब्द की व्युत्पत्ति मानी है। इसका अर्थ है—काव्यकर्म या काव्यरचना। लिखा भी है—कविशब्दश्च" कवृ वर्णने" इत्यस्य धातोः काव्यकर्मणो रूपम्।" काव्यमीमांसातृतीयोऽध्यायः।

कुछ विद्वानों का मत है कि "कवृ वर्णने" धातु से कवि शब्द सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि वह पवर्गीयोपध है, अतः "कुङ् शब्दे" धातु से इन् प्रत्यय करके "कवि" शब्द सिद्ध करना चाहिये। अर्थ की दृष्टि से "किसी विषय का कहने वाला ही "कवि" कहलाता है। "अमरकोषकार" ने कवि पद का अर्थ "पण्डित" लिखा है। "आचार्य क्षेमेन्द्र" ने कहा है कि काव्य वस्त्वनुरूपकथन से उपादेयता को प्राप्त करता है। अर्थात् वस्तुतत्वानुरूप कथन से कवि की वाणी सत्यबोध की स्थिरता से हृदय सम्मत होकर ग्राह्य कोटि में आ जाती है। यथा—

काव्यं हृदयसंवादि सत्यप्रत्ययनिश्चयात्।
तत्वोचिताभिमानेन यात्युपादेयतां कवेः॥"[1]

आगे चलकर क्षेमेन्द्र लिखते हैं।

किसी वस्तु के सत्व के अनुरूप कवियों की वाणी विवेकानुमोदित सुधी जनों के उदात्त चरित्र की तरह अपूर्व चमत्कृति प्रदान करती है। अर्थात् सत्व के अनुरूप वर्णन से कवि की सूक्ति उसी तरह अपूर्व आनन्द प्रदान करती है, जैसे विचार करने पर सुन्दर प्रतीत होने वाला सज्जनों का उदात्त चरित्र। यथा—

चमत्कारं करोत्येव वचः सत्वोचितं कवेः।
विचाररुचिरोदारचरितं सुमतेरिव॥"[2]

---

1. औचित्यविचारचर्चा 30
2. औचित्यविचारचर्चा 31

अत: योग तथा रूढि दोनों की समन्वयात्मक-दृष्टि से विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि किसी वस्तु का चमत्कृतिपूर्ण वर्णन करने वाला विद्वान् "कवि" कहलाता है। वस्तुत: काव्य का स्वरूप अति व्यापक तथा अति सूक्ष्म होने के कारण काव्य को लक्षण की परिधि में बाँधना, अति कठिन कार्य है। यही कारण है कि आदि काल से लेकर आज तक विभिन्न विद्वानों द्वारा काव्य का स्वरूप निर्धारित करने के लिए निरन्तर प्रयास किये जाते रहे हैं। पुनरपि सर्वसम्मत काव्य का कोई लक्षण निर्णीत न हो सका। अनुभूति एवं बुद्धि का समन्वय कर, काव्य के स्वरूप का निर्धारण करने वाले विभिन्न विशिष्ट विद्वानों द्वारा स्वीकृत काव्य—लक्षणों का यहाँ हम परिचय देकर उनकी उपयोगिता पर विचार करेंगे। उससे पूर्व हम जीवन का काव्य के साथ क्या सम्बन्ध है ? इस पर विचार करना उचित समझते हैं।

जीवन और काव्य—

जीवन और काव्य का सम्बन्ध सूक्ष्म और व्यापक है। विज्ञान की उन्नति का प्रभाव भी साहित्य को स्पर्श करता ही है तथा प्रकृति का कथनीय सौन्दर्य भी कवि के हृदय को क्षुब्ध करता है। विज्ञान का दानवीय रूप भी कवि के हृदय को क्षुब्ध करता है। वैज्ञानिक जहाँ रूक्षता के लिये प्रसिद्ध है, वहाँ कवि सहृदयता के लिए समादृत है। वास्तव में कवि में जहाँ वैज्ञानिकों जैसी सूक्ष्म निरीक्षणता पायी जाती है, वहाँ मानवीय प्रेम-भावना भी उसी रूप में प्रवाहित होती है। वैज्ञानिक जहाँ उन्नति मात्र या अवनति मात्र के साधनों का निर्माता है, वहाँ कवि मानव जीवन को अमरता मात्र ही प्रदान करता है। वैज्ञानिक मूर्त्त का ही विश्लेषण कर सकता है किन्तु कवि अमूर्त्त को भी मूर्त्तता प्रदान करने की सामर्थ्य रखता है तथा वह मूर्त और अमूर्त्त दोनों को अपना विषय बनाता है। शास्त्र या विज्ञान जीवन के तत्व को ही प्रकट करते हैं तो काव्य यथार्थ तथा आदर्श जीवन के तत्व को ही प्रकट करते हैं। कवि यथार्थ तथा आदर्श के प्रतिपादन द्वारा जीवन को अमरता प्रदान करता है। राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक आदि स्थितियाँ जहाँ कवि के हृदय पर संस्कार डालती हैं वहाँ कवि भी अपने काव्य निर्माण द्वारा समस्त स्थितियों पर अपनी छाप ही नहीं वरन् उन्हें अपने विचारानुकूल परिवर्त्तित करने का भी श्रेय अर्जित करता है। लिखा भी है—"स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते" प्रशासक का सम्मान स्थान विशेष पर ही होता है किन्तु विद्वान् का सर्वत्र समादर होता है। अन्य सभी शास्त्र तो बाह्य जगत् का ही चित्र उपस्थित करते हैं या उपकार करते हैं। किन्तु काव्य का महत्व इसलिए भी अधिक है कि वह सहृदय के सूक्ष्म मनोभावों के चित्रण के साथ बाह्य जगत् के सुन्दर चित्रों का चित्रण करते हुए प्रशस्त मार्ग का उपदेश भी देता चलता है। वास्तव में "काव्य" जीवन का ही सच्चा प्रतिबिम्ब होता है। तथा वह जीवन

की घटनाओं से भी प्रभावित होता है। पुनरपि अपने विवेक द्वारा रहस्यों का उद्घाटन करता हुआ जीवन के वास्तविक तत्व को पहचानने में सहायता करता है। कवि प्रजापति के समान अपार काव्य संसार का स्रष्टा है। यथा—

अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते ।[1]

इस प्रकार काव्य संसार का निर्माता कवि है। उस कवि प्रजापति की इच्छा और रुचि के अनुसार ही इस काव्य संसार की रचना होती है। "आचार्य भामह" ने भी लिखा है—

न वह शब्द है, न वह वाच्य है, न वह न्याय है, न वह कला है, जो काव्य का अङ्ग न हो। अहो, कवि का भार महान् है।

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो, न सा कला, ।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ।।[1]

काव्य के सम्बन्ध में उपरिलिखित कथन पूर्णतया सार्थक है।

कवि अपने काव्य में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की त्रिवेणी प्रवाहित करता है। जिसमें मज्जन करके पाठक या श्रोता पुण्य तथा आनन्द का लाभ प्राप्त करता है। सत्यम् का अर्थ—"ज्ञान" (नोईंग) (Knowing)

ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् ।[2]

सत्य स्वरूप ही ब्रह्म है। सत्य का अन्य अर्थ है, वस्तुस्थिति का यथार्थ चित्रण। मनु कहते हैं "सत्यपूतां वदेद्वाणीम्" अर्थात् सत्य से पवित्र वाणी बोलनी चाहिये। अन्यत्र भी लिखा है—"सत्यम् ब्रूयात्" सत्य बोलना चाहिये।

"शिवम्" का अर्थ है—"कल्याणकारी भावना" (फीलिंग) (Feeling) यजुर्वेद में भी लिखा है—"तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु"। कवि शिव (कल्याणकारी) रूप में ही सत्य का दर्शन करना चाहता है। तभी तो भारवि ने लिखा है—"हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ।" (किरातार्जुनीयम्)।

सुन्दरम् का अर्थ है–दोषरहित मनोहर वस्तु (ब्यूटी)। सौन्दर्य की परिभाषा महाकवि माघ ने इस प्रकार की है "क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति-तदेवरूपं रमणीयतायाः[3]।" अर्थात् प्रत्येक क्षण में नवीनता को प्राप्त करने वाला तत्व ही रमणीय (सुन्दर) है।

साहित्यकार सत्य और शिवमयी भारती को सौदर्न्य के परिधान में देखना

---

1. काव्यलंकार 5/4
2. श्रुति।
3. शिशुपालवद्य— 4/17

चाहता है । भगवान् श्री कृष्ण ने सत्य, प्रिय तथा हितकारी वाणी को तप की संज्ञा दी है । यथा—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।।"[1]

कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने तीनों को एक रूप में देखा है—

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार ।
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक सेवा में शिव अविकार ।।"[2]

वास्तव में 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' तीनों ही पर–ब्रह्म के रूप के प्रतिपादक हैं । जीवन में सत्यांश ही तेज रूप है । वही प्रकाश की किरणों से जीवन को आलोकित करता है । जब 'सत्य-ज्ञान' कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करता है, तभी व्यक्ति को जगत् में शिवम् (कल्याणकारी) रूप के दर्शन होते हैं और सत्यम् तथा शिवम् से मिश्रित भावना के उदय काल में व्यक्ति को जगत् में सौंदर्यानुभूति होती है । क्यों-कि सत्यं, शिवं से परिष्कृत कवि का हृदयदर्पण निर्मल हो जाता है और उसमें जगत् के सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब भासित होता है । सौन्दर्य से आलोकित हृदय-दर्पण से विशुद्ध भावना की मयूखें निकला करती हैं । वे ही काव्यत्व का सृजन करती हैं ।"[3]

काव्य पर लगे कुछ आरोप—

1. काव्य असत्य अर्थ का प्रतिपादन करता है ।
2. अशोभन वस्तु का अभिधान करता है ।
3. असुन्दर, असत्य अर्थों का भी वर्णन करता है ।

अत: काव्य का अध्ययन अहितकर है ।

1. 'असत्यार्थाभिधायित्वात् नोपदेष्टव्यं काव्यम्' इत्येके ।[4]"
2. 'असदुपदेशकत्वात् तर्हि नोपदेष्टव्यम्' इत्यपरे ।
3. 'असभ्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्' इति केचित् ।

काव्य पर आरोप लगाने वालों के इन वचनों का उत्तर श्री राजशेखर काव्यमीमांसा के छठे अध्याय में इस प्रकार देते हैं—

1. काव्य में कोई भी वस्तु असत्य नहीं होती । जो सत्याभास प्रतीत होता

---

1. श्री मद्भगवद्गीता 17/15
2. आधुनिक कवि: ।
3. 'काव्यमीमांसा' अध्याय 6
4. वही ।

है, वह अर्थवाद है। अर्थवाद का प्रयोग वेद, उपनिषद् तथा महाभाष्य में भी मिलता है, अत: काव्य निर्दुष्ट है। तथा 'काव्य' नित्य सत्य की अभिव्यक्ति करता है।

2. काव्य में जिन अशोभनीय वस्तुओं का वर्णन मिलता है, वह अग्राह्य (निषेध्य) रूप में है, ग्राह्य (विधेय) रूप में नहीं।

3. रही असभ्य अर्थ के अभिधान, असौन्दर्य के चित्रण की बात उसके विषय में उत्तर यह है कि—प्रसंगानुसार कवि यथार्थ रूप में असुन्दर तथा असभ्य बातों का उल्लेख भी करता है। तो वह केवल पात्रगत अवगुणों पर प्रकाश डालता हुआ, उनसे दूर रहने की शिक्षा देता है। न कि वह वर्णन, कवि का उद्देश्य होता है।

राजशेखर लिखते हैं—प्रथम आरोप का उत्तर यथा—

नासत्यं नाम किञ्चन काव्ये यस्तु स्तुत्येष्वर्थवाद: ।
स न परं कवि-कर्मणि श्रुतौ च शास्त्रे च लोके च ।। का. मी.6

द्वितीय आरोप का उत्तर—

अस्यायमुपदेश: किन्तु निषेध्यत्वेन न विधेयत्वेन । का. मी. 6

तृतीय आरोप का उत्तर—

प्रक्रमापन्नो निबन्धनीय एवायमर्थ: । यदिदं श्रुतौ शास्त्रे चोपलभ्यते । 'अंग्रेज कवि कीट्स' ने भी सत्य और सौन्दर्य को अभिन्न माना है। वे लिखते हैं—'ब्यूटी ईज ट्रुथ ट्रुथ इज ब्यूटी' (Beauty is Truth Truth is beauty)

काव्य सृजन की प्रक्रिया

शरीर धारण किए बिना जीवात्मा अपनी सृजनात्मक शक्ति का परिचय देने में असमर्थ होता है । अत: काव्य-सृजन के विषय में भी शरीर के महत्व को सर्वप्रथम स्वीकार करना पड़ता है।

मन की एकाग्रता के बिना काव्याभिव्यक्ति दुरूह ही नहीं, वरन् असम्भव भी है। अत: राजशेखर ने स्वयं काव्यमीमांसा में चित्त की एकाग्रता पर बल दिया है............यदार्त्तिविनिवृत्तिरेकाग्रतायतनम् ।[1]

किन्तु शरीर और मन, आत्मतत्व के अभाव में निष्क्रिय रहते हैं। अत: सिद्ध है कि आत्मत्व के स्पर्श से ही शरीर तथा मन उद्‌बुद्ध एवं सक्रिय होते हैं। जैसे—सूर्य के आलोक से आलोकित होकर ही चन्द्रमा प्रकाशमान होता है। वैसे ही आत्म-तत्व के आलोक से ही शरीर, मन तथा समस्त इन्द्रियाँ आलोकित होकर सक्रिय होती हैं। अत: आत्मतत्व (आत्मानुभूति) का महत्व सर्वोपरि है। "आत्मतत्व" आनन्दमय, अखण्ड, प्रकाशमय, चिन्मय तथा नित्य है। इसी के कारण

---

1. काव्यमीमांसा 10

काव्यधारा में नित्यता, तेजस्विता, चेतनता तथा आनन्द आदि के दर्शन होते हैं। यही आत्मतत्व जगत् और जीव के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्यों का उद्घाटन करता है। सामान्यतया "मनस्तत्व" कवि में "कल्पनाशक्ति" को उद्भूत करता है। "बुद्धितत्व" विवेक का सृजन कर साहित्य में उपयोगी पदार्थों को प्रकाशित करता है। "आत्म-तत्व" कवि में चेतना जाग्रत कर "अनुभूति" का संचार करता है।

कल्पना-प्रधान-काव्य में कलात्मकता का वैशिष्ट्य मिलता है। विवेक प्रधान "उपयोगी काव्य" में नीति-उपदेशात्मक प्रधान विचारों का प्रवाह रहता है। अनुभूति प्रधान काव्य में अन्तस्तथा यथार्थ बाह्य-जगत् से सम्पन्न सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। कल्पना प्रधान काव्य की अपेक्षा बुद्धि प्रधान-काव्य श्रेष्ठ होता है और इन दोनों की अपेक्षा अनुभूति-प्रधान-काव्य उत्कृष्ट होता है, किन्तु जहाँ कल्पना, बुद्धि और चेतना विशिष्ट अनुभूति तीनों तत्व समान रूप से क्रियाशील होते हैं। वह काव्य-जगत् सर्वाधिक सुन्दर तथा महत्वपूर्ण होता है।

अनुभूति करना क्योंकि आत्मा का ही धर्म है। अत: आत्माभिव्यक्ति ही काव्याभिव्यक्ति है। साहित्यकार अपने जीवनाभूतिजन्य संस्कारों के प्रकाशन में आनन्द उपलब्ध करता है। इसलिए सानन्द कवि का आत्म-प्रकाशन ही काव्य है। साधारण व्यक्ति के आत्म-प्रकाशन तथा कवि के आत्म-भाव-प्रकाशन में इतना ही अन्तर होता है कि साधारण व्यक्ति का भाव-प्रकाशन उसका केवल निजी होता है किन्तु कवि का आत्म-भाव-प्रकाशन अपने साथ-साथ लोक के हृदयस्थ भावों का भी प्रकाशक होता है। क्योंकि कवि की आत्मानुभूति का जगत् की आत्मानुभूति के साथ तादात्म्य होता है। इसलिए कवि की आत्माभिव्यक्ति व्यापक होती है। इस सम्बन्ध में कुछ विचारकों का मत देना उचित ही होगा—

1. "आत्माभिव्यक्ति को ही काव्य का मुख्य तत्व मानना चाहिये।"[1]
2. "काव्य का प्रमुख कार्य हमारे आन्तरिक जीवन की अभिव्यक्ति है।"[2]
3. "साहित्यकार की अन्तरात्मा की छाप ही, उसकी शैली है।"[3]
4. "आत्मा अपनी स्वतन्त्र क्रिया कल्पना के सहारे रूप का सूक्ष्म साँचा खड़ी करती है और उस साँचे में स्थूल द्रव्य को ढालकर अपनी रचना को अभिव्यक्त करती है।"[4]

क्रोंचे का मत है कि "अभिव्यक्ति" ही कला या सौन्दर्य है।[5]

---

1. प्रसिद्ध विचारक "हीगेल"
2. प्रसिद्ध विचारक "हीगेल"
3. प्रसिद्ध कवि "गेटे"
4. दी ऐस्थेटिक फैक्ट इज फ्राम एण्ड नथिंग बट फ्राम।
5. क्रोंचे: सौन्दर्यशास्त्र पृ० 26

5. टैगोर का मत है कि "हृदय का जगत् अपने को व्यक्त करने के लिये आकुल रहता है, इसीलिए चिरकाल से मनुष्य के भीतर साहित्य का वेग है।"

6. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "कविता को जीवन और जगत् की अभिव्यक्ति माना है" आगे चलकर वे लिखते हैं "सत्वोद्रेक हृदय की मुक्तावस्था से किया हुआ शब्द-विधान काव्य है।"

7. जयशंकर प्रसाद—"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है।

8. सुमित्रानन्दन पन्त—"कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेम रचनात्मक ज्ञान-धारा है।"

9. महादेवी वर्मा—"कविता कवि विशेष की भावनाओं का चित्रण है, इतना ठीक है कि उससे वैसी ही भावनायें किसी दूसरे के हृदय में आविर्भूत होती हैं।"

10. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—

(क) कविता प्रभावशाली रचना है जो पाठक या श्रोता के मन पर आनन्ददायी प्रभाव डालती है।

(ख) मनोभाव शब्दों का रूप धारण करते हैं। वही कविता है चाहे वह पद्यात्मक हो चाहे गद्यात्मक।

(ग) अन्तःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है।[1]

11. ठाकुर कवि—पंडित और प्रवीनन को जो छिन हरैं सौ कवित्त कहावै।

12. अन्य हिन्दी काव्यकारों में आचार्य केशव, श्रीपति, चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, देव तथा सुरति मिश्र ने जो 'काव्य-लक्षण' दिये हैं वे सब भामह, मम्मट, विश्वनाथ आदि संस्कृत काव्यकारों के लक्षणों के अनुवाद मात्र हैं।

उपरिलिखित मतों का भी सार यही है कि काव्य-सृजन-प्रक्रिया में आत्माभिव्यक्ति ही प्रधान होती है। इस आत्माभिव्यक्ति को हम क्षेमेन्द्र और राजशेखर की शक्ति तथा प्रतिभा की कोटि में रख सकते हैं क्योंकि शक्ति और प्रतिभा हृदयस्थ भावों की ही अभिव्यक्ति करते हैं। वास्तव में कवि सृष्टि के सौन्दर्य का मर्मज्ञ होता है, वह न केवल मर्मज्ञ होता है वरन् उसका उपभोक्ता भी होता है। जब वह जगत्सौन्दर्य के आनन्द का आस्वाद कर आत्मविभोर हो

---

1. रसज्ञ रंजन, 50

जाता है। तब उसके हृदय से उद्‌गार निःसृत होते हैं । ये भाव ही काव्य कहलाते हैं । तत्ववेत्ता केवल मस्तिष्क का उपयोग करता है किन्तु कवि मस्तिष्क के साथ-साथ हृदय का उपयोग बहुलता से करता है । साधारणतया किसी विषय का चमत्कारी, श्रोतृ-जनहृदयहारी वर्णन, जिन शब्दों के द्वारा किया जाता है, वे शब्द ही काव्य हैं ।

काव्यलक्षण—इस प्रकरण में, अब तक हुए प्रधान काव्य-लक्षणकारों के मतों की विवेचना करते हुए कविराज राजशेखर तथा क्षेमेन्द्राचार्य के सिद्धान्तों का विश्लेषण करना हमारा विवेच्य विषय है ।

1. अग्निपुराणकार—अभीष्ट अर्थ को संक्षेप में प्रकट करने वाली पदावली से युक्त ऐसा काव्य है, जिसमें अलंकार प्रकट हो और जो दोष रहित तथा गुण सहित हो ।

"संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।
काव्यं स्फुटालंकारं गुणवद्दोषवर्जितम् ॥[1]

जिसका आशय है कि "आडम्बर रहित, सीमित शब्दावली जो वक्तव्य विषय को रमणीय रूप से निरूपित करती है, वही काव्य है ।"

2. आचार्यभामह—आचार्य-भामह के अनुसार काव्य की परिभाषा है—"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् ।"[2] इसका अर्थ है सुस्पष्ट, सुन्दर, शब्दार्थ-युगल ही काव्य है। "अर्थात् अर्थानुकूल शब्दावली का प्रयोग ही काव्य है। भामह के मतानुसार काव्य के लिए शब्द तथा अर्थ का समान महत्व है । किन्तु यह लक्षण सुस्पष्ट नहीं है ।

3. आचार्य दण्डी—आचार्य दण्डी ने काव्य का लक्षण यह माना है—

"शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली"[3]

अर्थात् इष्ट अर्थ से व्यवच्छिन्न (नपी तुली) पदावली काव्य का शरीर है । वास्तव में "आचार्य दण्डी" ने अग्निपुराण के लक्षण में से "संक्षेपात्" तथा "वाक्यम्" को हटा दिया है । अतः इसमें कोई नवीनता नहीं है । अग्निपुराणकार, आचार्य भामह, आचार्य दण्डी आदि ने काव्य के बाह्य स्वरूप का ही स्पष्टीकरण किया है ।

---

1. अग्निपुराण 337 अध्याय 607 श्लोक ।
2. काव्यालंकार प्रथम परिच्छेद, 16
3. काव्यादर्श ।

4· आचार्य रुद्रट—आचार्य रुद्रट ने काव्य-लक्षण के विषय में कुछ नवीन गवेषणा की। उन्होंने लिखा है कि "ननु शब्दार्थौ काव्यम्।" अर्थात् वे शब्द तथा अर्थ दोनों के समन्वित रूप को काव्य मानते हैं। उनका कहना है कि "यद्यपि काव्य में वर्णित अर्थ वास्तविक नहीं होते हैं, वरन् कवि-कल्पना-प्रसूत होते हैं। पुनरपि कवि अपने काव्य-चातुर्य से उन्हें नवीन रूप प्रदान कर देता है। इस प्रकार कवि के काव्यगत वर्णित शब्दों के समान उसके अर्थों का भी समान महत्व होता है। क्योंकि "कवि-कल्पना-प्रसूत," "वसन्तसेना और चारुदत्त" मृच्छकटिक आदि में यद्यपि अनैतिहासिकता है। पुनरपि कवि कृतित्व के कारण वे वास्तविक के समान अनुभूतिगम्य होते हैं।

5. वामनाचार्य—वामनाचार्य ने काव्यलक्षण के विषय में कुछ और नवीनता लाने का प्रयास किया है। वे लिखते हैं—"काव्यं सुग्राह्यमलंकारात्" अलंकार के कारण काव्य ग्राह्य है और सौन्दर्य ही अलंकार है। यथा—"सौन्दर्यमलंकार:"। यह काव्य-सौन्दर्य कैसे सुलभ हो सकता है। इसका उत्तर देते हैं—स दोषगुणालंकारहानादानाभ्यास। काव्यशब्दोऽयंगुणालंकार-संस्कृतयो: शब्दार्थयोर्वर्तते।[1] अर्थात् दोषों के त्याग और गुण अलंकारों के ग्रहण करने से काव्य में वह सौन्दर्य भासित होता है। इस प्रकार वामन के मतानुसार सम्पूर्ण काव्य का लक्षण इस प्रकार हुआ है—"गुण तथा अलंकारों से सुशोभित शब्दार्थ युगल "काव्य" कहलाता है। वामन ने काव्य को सौन्दर्यमय माना है तथा सौन्दर्य को अलंकार कहा है। इस प्रकार एक स्थल पर सौन्दर्य काव्यत्व का परिचायक है तो दूसरे चरण में अलंकार रूप में उपकरण मात्र है। वैसे वामन रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं। यथा—"रीतिरात्मा काव्यस्य"।

6. ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य—ध्वनि-वादी आचार्यों में प्रमुख माने जाते हैं। इन्होंने "काव्यस्यात्मा ध्वनि:" लिखकर काव्य के अन्तस् का सर्वप्रथम सफलतापूर्वक विवेचन किया है। काव्य के विषय में वे एक स्थान पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं—"शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्" अर्थात् शब्दार्थ-युगल ही काव्य है या कह सकते हैं कि "काव्य शब्दार्थ रूपी शरीर वाला है।"

7. धाराधिपति राजाभोज—धारापति राजाभोज "सरस्वती-कण्ठाभरण" में काव्य लक्षण के प्रसंग में कहते हैं—

"निर्दोषं गुणवत् काव्यमलंकारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कवि: कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिञ्च विन्दति॥

दोषरहित, गुणयुक्त, अलंकारों से अलंकृत और सरस काव्य का प्रणेता कवि कीर्ति और प्रीति (आनन्द) को प्राप्त करता है।

---

1. काव्यालंकार सूत्र।

यह श्लोक इस बात का द्योतक है कि राजा भोज "शब्दार्थ-युगल" को काव्य मानते हैं। यह "रसान्वितं" शब्द काव्य की आत्मा का उद्‌बोधक है। "अलंकारैः" यहाँ बहुवचन पद शब्दालंकार तथा अर्थालंकार को प्रकट करता है। शब्दालंकार तथा अर्थालंकार काव्य के शरीर "शब्द तथा अर्थ" पर प्रकाश डालते हैं। "गुणवत्" पद का अर्थ है गुणयुक्त तथा निर्दोष का अर्थ है दोषाभाव। यह लक्षण मम्मट के काव्य-लक्षण की पूर्वपीठिका विदित होता है।

8. **वाग्देवतावतार काव्यप्रकाशकार मम्मट**—वाग्देवतावतार काव्यप्रकाशकार मम्मट ने सकल काव्यशास्त्रों का आलोडन कर सर्वग्राह्य काव्य-लक्षण का निरूपण किया है—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

अर्थात् निर्दोष, गुणयुक्त और अधिकतर अलंकारयुक्त और कभी-कभी अलंकाररहित शब्दार्थ युगल "काव्य" है। मम्मट गुण की अनिवार्यता को स्वीकार करते हैं, किन्तु अलंकार के विषय में उनका विचार है—अलंकार-सहित शब्दार्थ-युगल वाला काव्य श्रेष्ठ है, पर कहीं यदि स्पष्टतः अलंकार भी न रहे तो भी काव्यत्व की हानि नहीं होती है। अर्थात् अलंकार के अभाव में भी उन्हें काव्यत्व इष्ट है।

यद्यपि मम्मट ने इस काव्यलक्षण में स्पष्ट रूप से रस की चर्चा नहीं की है तथापि उन्होंने रस को काव्य में सर्वोपरि स्थान दिया है क्योंकि वे गुणों की अनिवार्यता स्वीकार करने के पक्ष में है और गुणों को वे रस का धर्म मानते हैं। अतः मम्मट रस के महत्व को सर्वोच्च मानते हैं। यथा—

"ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥[1]

मम्मट की काव्य-परिभाषा अपने ही अंग (गुणों) से अंगी (रस) को स्पष्ट करने वाली है।

9. **आचार्य हेमचन्द्र**—आचार्य हेमचन्द्र ने "काव्यानुशासन" में मम्मट के काव्यलक्षण के समान ही काव्य की परिभाषा लिखी है—

"अदौषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्"

अन्तर केवल इतना है कि मम्मट अलंकार की अनिवार्यता स्वीकार नहीं करते हैं और आचार्य हेमचन्द्र ने अलंकार की भी अनिवार्यता पर बल दिया है।

भाव यह है कि कवि हल्के शब्दार्थों का प्रयोग काव्य में न करें वरन् गुण और अलंकारों से युक्त उक्ति-वैचित्र्य के साथ गम्भीर-भावों की अभिव्यक्ति करें।

---

1. काव्यप्रकाश 8 उल्लास 66

10. वाग्भटाचार्य—वाग्भटाचार्य ने वामन और मम्मट दोनों के मतों का समन्वित रूप ग्रहण कर अपने काव्य की परिभाषा लिखी है—

"गुणालंकाररीतिरसोपेतः साधुशब्दार्थसन्दर्भः काव्यम्"

अर्थात् गुण, अलंकार, रीति और रस से युक्त तथा दोष रहित सुन्दर शब्दार्थों का समूह काव्य है।"

11. चन्द्रालोककार "पीयूषवर्ष" जयदेव—चन्द्रालोककार "पीयूषवर्ष" जयदेव ने अपने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियों का विचार-सार ग्रहण कर काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा ।
सालंङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक् ।।[1]

दोषरहित, गुण, अलंकार, रीति, रस तथा वृत्ति इन समस्त उपादानों से युक्त कवि की वाणी 'काव्य' है।

इस लक्षण में जयदेव ने अनेक तत्वों का संग्रह मात्र किया है। यह लक्षण अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोषों के कारण अनुगत भी नहीं हो सकता है। अतः यह काव्य का लक्षण न होकर काव्यतत्वों का संग्रह मात्र है। जयदेव काव्य में अलंकार की अनिवार्यता पर बल देते हैं—अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती । असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ।[2] अर्थात् जो शब्दार्थ विशिष्ट काव्य को अलंकार रहित मानते हैं वे फिर अग्नि को अग्नित्व रहित भी मान सकते हैं।

12. आचार्य कुन्तक—आचार्य कुन्तक ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि । बन्धेष्ववस्थितौ काव्यम्" अर्थात् वक्र व्यापारशाली और किसी प्रबन्ध में व्यवस्थित शब्दार्थ काव्य है।

कुन्तक ने वक्रोक्ति पर बल दिया है। किन्तु उनके काव्य-लक्षण में यह स्पष्ट नहीं है कि वक्रता क्या है ? बन्ध कैसा होना चाहिये ? तथा वक्रोक्ति और बन्ध से रहित भी काव्य होता है। अतः यह लक्षण ग्राह्य नहीं हो सकता।

13. आचार्य शौद्धोदनि—आचार्य शौद्धोदनि ने काव्य की परिभाषा अपने "अलंकारसूत्र" में यह लिखी है "रसादिमद्वाक्यं काव्यम्" अर्थात् रसादि से युक्त वाक्य काव्य है। इस परिभाषा का खंडन आचार्य केशव मिश्र ने "अलंकार शेखर" में किया है। मिश्र जी लिखते हैं कि—आदि पद से यहाँ अलंकार का भी बोध कराकर शौद्धोदनि ने अलंकार को भी रस की समकक्षता प्रदान करदी है। यह उचित नहीं है क्योंकि अलंकाराभाव में भी काव्य की सृष्टि होती है।

---

1. चन्द्रालोक 1/7
2. वहीं 1/8

14. आचार्य विश्वनाथ—आचार्य विश्वनाथ ने "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" काव्य का लक्षण माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथ का काव्यलक्षण शौद्धोदनि के काव्य-लक्षण से प्रभावित है किन्तु विश्वनाथ ने अपने काव्य-लक्षण में परिष्कृत रूप ग्रहण किया है अर्थात् आदि पद को निकाल दिया है। इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ का लक्षण सर्वथा अभिनव नहीं है। इनके मतानुसार—"रसयुक्त वाक्य काव्य है" रस पद से आस्वाद योग्य रसाभास, भाव, भावाभास भावोदय, भावसन्धि भावशबलता और भावप्रशम इन सभी असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यों का ग्रहण किया है। आचार्य विश्वनाथ ने "दोषास्तस्यापकर्षका:" लिखकर दोष को केवल अपकर्ष का हेतु माना है—कार्य के स्वरूप का विघटक नहीं है। "अलंकारास्तस्योत्कर्षका:" लिखकर अलंकार को केवल काव्य का उत्कर्षक माना है न कि काव्य के स्वरूप का आधायक।

वास्तव में अलंकार धारण करने से शरीर की शोभा बढ़ती है किन्तु अलंकाराभाव में मनुष्य के मनुष्यत्व की क्षति नहीं होती है। इसी प्रकार शरीर के काणत्वादि दोष जन्य हो जाने पर काव्यशरीर का महत्व अवश्य कम हो जाता है किन्तु काणत्वादि दोषों के रहने पर भी मनुष्य का मनुष्यत्व नष्ट नहीं होता है।

15. गोविन्द दास ठक्कुर—काव्यप्रकाश की प्रदीप नामक टीका के लेखक गोविन्ददास ठाकुर के मतानुसार—काव्य में रस तथा अलंकार दोनों ही चमत्कार के जनक हैं। अत: काव्यलक्षण में दोनों का महत्व समान है क्योंकि दोनों में से एक का भी अभाव हो जाने पर चमत्कार का अभाव हो जायेगा। चमत्कार ही काव्य में सार है। भले ही सरस स्थलों में अलंकारों का अभाव रहे किन्तु नीरस स्थलों में अलंकारों का रहना आवश्यक है। यह विचार उन्होंने मम्मट के काव्य-लक्षण की व्याख्या में प्रकट किये हैं।

16—पंडितराज जगन्नाथ—शब्दमात्र को काव्य मानने के पक्ष में है। उनकी काव्य की परिभाषा निम्न है—

"रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द: काव्यम्"

रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करने वाला अर्थात् जिस शब्द से रमणीय अर्थ का बोध हो, वह शब्द काव्य है। फिर रमणीयता क्या है ?—"रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता" अर्थ में रमणीयता क्या हो सकती है ? उत्तर देते हैं—जिसके ज्ञान से लोकोत्तर (अलौकिक) आनन्द उपलब्ध हो, वह अर्थ रमणीय है। रमणीय अर्थ का प्रतिपादक या सूचक शब्द जो काव्य कहलाता है, वह लोकोत्तर-चमत्कार-जनक होता है। "काव्य सुना अर्थ ज्ञान न हो सका" इत्यादि सार्वजनिक व्यवहार से विशिष्ट प्रकार का शब्द ही काव्य सिद्ध होता है। किन्तु यह मत विशेष समादृत नहीं हुआ।

कविराज राजशेखर ने अपने पूर्ववर्त्ती मान्य आचार्यों के काव्य लक्षणों का अध्ययन एवं अनुशीलन कर अधोलिखित काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है।

"गुणवदलंकृतञ्च वाक्यमेव काव्यम्"[1]

अर्थात् गुण और अलंकारों से युक्त वाक्य काव्य है। राजशेखर ने काव्य-पाक के प्रसंग में वामन के मत का खण्डन करके अवन्ति सुन्दरी के मत का समर्थन किया है, जिसमें उन्होंने रसोचित शब्दार्थ सूक्तियों के निबन्धन को पाक स्वीकार किया है।

"इयमशक्तिर्न पुनःपाकः" इत्यवन्तिसुन्दरी। यदेकस्मिन् वस्तुनि महाकवीनामनेकोऽपि पाठःपरिपाकवान्भवति। तस्माद्रसोचित-शब्दार्थ-सूक्तिनिबन्धनः (नं) पाकः।

यदाह—गुणालंकाररीत्युक्ति-शब्दार्थ-ग्रथनक्रमः।
स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति ।।[2]

राजशेखर ने यद्यपि अनेक बातों में वामन के प्रति सहमति व्यक्त की है। किन्तु काव्यलक्षण के विषय में वे उनसे दूर हैं। वामन की काव्य-परिभाषा में गुण नित्य धर्म हैं और अलंकार अनित्य। किन्तु राजशेखर के विचार में गुणों के साथ-साथ अलंकार भी अनिवार्यता की कोटि में ही ठहरते हैं। इस प्रकार इनकी काव्य परिभाषा वामन के प्रतिकूल है। राजशेखर की काव्य-परिभाषा अलंकारवादी आचार्य उद्भट्ट के अधिक सन्निकट प्रतीत होती है। "उद्भट्ट" की परिभाषा निम्नलिखित है—

"गुणालंकार चारुत्वमयुक्तमप्यधिकोज्ज्वलम्"

अर्थात् गुण तथा अलंकारों की चारुता अयुक्त होने पर भी अधिक सुन्दर है। उनके भाव-पक्ष के सौन्दर्य के प्रति निष्ठा की प्रतीक है। अलंकारों की अनिवार्यता के प्रति उनका दृष्टिकोण कलापक्ष की उत्कृष्टता को ग्रहण करने के पक्ष में है। इस प्रकार राजशेखर ने काव्य के भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनों की पुष्टि करने हेतु ही काव्य के लिए गुण तथा अलंकारों की अनिवार्यता पर बल दिया है। पुनरपि वे गुणों के अधिक पक्षपाती हैं। उनकी दृष्टि में अलंकारों का स्थान गुणों की अपेक्षा गौण है। काव्य-पुरुष का वैशिष्ट्य, उसके गुणमय तथा अलंकारों से अलंकृत होने में है।

"समः प्रसन्नो मधुर ओजस्वी चासि—अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति।[3]

कविराज राजशेखर आचार्य होने के साथ-साथ कवि भी हैं तभी तो उनके

---

1. काव्यमीमांसा अ० 6 पृ० 24
2. काव्यमीमांसा।
3. काव्यमीमांसा अध्याय 3 पृ० 1

काव्यलक्षण में गुणों (अन्तः सौन्दर्य) के साथ अलंकार (बाह्य सौन्दर्य) के प्रति आग्रह, उनके हृदय पक्ष और बुद्धि पक्ष के समन्वय का प्रतिपादक है।

राजशेखर ने काव्य की आत्मा रस को ही स्वीकार किया है। उन्होंने रस के विषय में आपराजिति (लोल्लट) के मत को उद्धृत किया है "किन्तु रसवत् एवं निबन्धो युक्तो न नीरसस्य" इत्यापराजितिः। राजशेखर नाट्यशास्त्र की इस मान्यता का आधान काव्य में भी करते हैं। कवि के द्वारा नदी, पर्वत, सागर आदि के वर्णन में रसाधान किया जा सकता है। वे कवियों के प्रभेद में भी "रसकवि" का महत्व सर्वोपरि स्वीकार करते हैं। इससे स्पष्ट है कि राजशेखर रस को काव्य की आत्मा मानते हैं। इस प्रकार वे गुण तथा अलंकारों की सत्ता को रस-निवेश में सहायक मानते हैं। इस विषय में राजशेखर रुद्रट तथा उद्भट के ऋणी हैं। विचारणीय यह है कि रुद्रट और उद्भट अलंकारवादी आचार्य हैं किन्तु राजशेखर रसवादी प्रधान हैं। राजशेखर के लक्षण में रुद्रट की अपेक्षा पूर्णता और व्यापकता अधिक है। राजशेखर ने अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों की अपेक्षा काव्य के स्वरूप पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है—शब्द और अर्थ काव्य-पुरुष के शरीर हैं, संस्कृत मुख है, प्राकृत बाहु हैं, अपभ्रंश जंघा हैं। पैशाची पाद हैं, मिश्रित भाषायें वक्षः-स्थल हैं, सम, प्रसन्न, मधुर, उदार और ओजस्वी काव्य के गुण हैं, सुन्दर उक्तियाँ वाणी हैं, रस आत्मा है, छन्द रोम है, प्रश्नोत्तर पहेली आदि वाग्विनोद हैं, अनुप्रासादि अलंकार आभूषण हैं, श्रुति तेरा गुणगान करती है। विद्यावधू तेरी पत्नी है।

आचार्य क्षेमेन्द्र—यथा शरीर के बिना आत्मा और आत्मा के बिना शरीर का महत्व अपूर्ण है। तथा शब्दार्थ काव्य के शरीर तथा रस काव्य की आत्मा है। जैसे यदि शरीर सुन्दर स्वस्थ और मनोहर नहीं है तो वह शरीर व्यक्तित्वहीन बन जाता है। कोई व्यक्ति सुन्दर स्वस्थ और मनोहर तो है किन्तु उसका आत्मा क्रूरता कृतघ्नता, बेईमानी, कायरता तथा अधीरता आदि दोषों से युक्त है, तो उसका स्वस्थता, सुन्दरता और मनोहरता आदि "शारीरिक-सौन्दर्य" महत्वहीन हो जाता है। वैसे ही—शब्दार्थ तथा रस, काव्य के लिए अन्योन्याश्रित हैं किन्तु जिस प्रकार चेतन तथा स्वस्थ शरीरधारी मानव में मानवता का अभाव, मानव को पशुता आदि दोषों से निन्द्य सिद्ध करता है, उसी प्रकार काव्य में भी शब्दार्थ, गुण, रसादि भी औचित्य के अभाव में निस्सार ही प्रतीत होते हैं। अतः शब्दार्थ काव्य के शरीर हैं, रस आत्मा है तथा औचित्य काव्य का भी काव्यत्व है। स्वयं क्षेमेन्द्र लिखते हैं—

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एवं गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥[1]

1. औचित्य-विचार-चर्चा, पृ० 115

रस से सिद्ध काव्य का स्थिर जीवन औचित्य ही है। "काव्य" रस से उसी प्रकार सिद्ध होता है, जिस प्रकार पारद रस के सेवन से शरीर। अलंकार भी औचित्य के अभाव में नाममात्र के अलंकार हैं, गुण भी औचित्य के अभाव में नाम मात्रेण गुण हैं। अर्थात् औचित्य के कारण ही अलंकारों की अलंकारता तथा औचित्य के कारण ही गुणों का वैशिष्ट्य सम्पादित होता है। आचार्यक्षेमेन्द्र के विचार से— जिस प्रकार पारद के सेवन से शरीर स्थिरता, तथा चिर यौवन को प्राप्त करता है उसी प्रकार औचित्य के द्वारा "रस" सिद्ध-काव्य को चिर-स्थायी सौन्दर्यमय-जीवन प्राप्त होता है। रस तथा औचित्य के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में वे लिखते हैं कि "रस" काव्य की आत्मा है और औचित्य काव्य का जीवन है। अर्थात् काव्य का प्राणरूप है रस और जीवभूत है औचित्य। काव्य में चमत्कार का उदय औचित्य से सम्पन्न होता है। यथा—"औचित्यरूप चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे"।[1]

शब्दार्थ के विषय में क्षेमेन्द्र के विचार "कविकण्ठाभरण" की तृतीय-सन्धि के प्रथम श्लोक में मिलते हैं। यथा—

सुकविरतिशयार्थी वाक्चमत्कारलोभा—
दभिसरति मनोज्ञे वस्तुशब्दार्थसार्थे।
भ्रमर इव वसन्ते पुष्पकान्ते वनान्ते।
नवकुसुमविशेषामोदमास्वादलोलः॥

अर्थात् जिस प्रकार वसन्त ऋतु में प्रत्यग्र विकसित, विशिष्ट पुष्पों की सुगन्ध के आस्वाद के लिए पर्युत्सुक भ्रमर फूलों से रमणीय बने उपवन की ओर दौड़ता है, उसी प्रकार सत्कवि वाणी की चमत्कृति के (सुन्दरता के, हृद्यता के) लोभ से आकर्षक विषय (वस्तु) मनोहर शब्द तथा रमणीय अर्थ वाले काव्य का अनुसरण करता है।

यह पद्य क्षेमेन्द्र के काव्यशरीर-विषयक विचार का द्योतक है। सुन्दर विषयवस्तु का प्रतिपादक, मनोहर शब्द तथा रमणीय अर्थ ही चमत्कृतिपूर्ण हो सकता है।

क्षेमेन्द्र का विचार है कि "चमत्कृतिविहीन कवि का काव्य, कविता, नहीं कहला सकता "वह केवल पद्य रचना मात्र है" "न हि चमत्कारविरहितस्य कवेः कवित्वं, काव्यस्य वा काव्यत्वम्"

आगे वे लिखते हैं—चमत्कार-निर्माण में अक्षम कवि में कवित्व नहीं होता, अथवा चमत्कार से रहित काव्य को काव्य नहीं कहा जा सकता है।

एकेन केनचिदनर्घमणिप्रभेण
काव्यं चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम्।

---

1. औचित्य-विचार-चर्चा, श्लोक—3

निर्दोषलेशमपि रोहति कस्य चित्ते
लावण्यहीनमिव यौवनमङ्गनानाम् ॥[1]

अर्थात् युवतियों का तारुण्य यदि सौन्दर्यहीन हो तो जैसे वह लवमात्र दोष से मुक्त होने पर भी किसी के चित्त में आकर्षण पैदा नहीं कर सकता है, वैसे ही सुन्दर वर्णों से निबद्ध तथा पूर्णतया निर्दोष काव्य यदि चमत्कृतिजनक शब्दों से रहित हो तो किसका मन आकृष्ट करेगा ? सोना भी तो मूल्यवान् रत्नों की कान्ति से ही आकर्षक बनता है।

भाव यह है कि काव्य सुन्दर वर्णों से निबद्ध तथा पूर्णतया निर्दोष होते हुए भी चमत्कार हीन रहने पर अनाकर्षक ही रहता है।

त्रिदशविधश्चमत्कार:—अविचारितरमणीय: विचार्यमाण-रमणीय:, समस्त-सूक्तव्यापी, सूक्तैकदेशदृश्य: शब्दगत:, अर्थगत:, शब्दार्थगत:, अलंकारगत:, रसगत:, प्रख्यातवृत्तगतश्च ।[2]

अर्थात् काव्यगत चमत्कार दश प्रकार के होते हैं—

1. बिना विचार किये प्रतीत होने वाला चमत्कार।
2. विचार करने पर प्रतीत होने वाला चमत्कार।
3. समस्त सूक्ति में रहने वाला चमत्कार।
4. सूक्ति के एक अंश में रहने वाला चमत्कार।
5. शब्द में रहने वाला चमत्कार।
6. अर्थ में रहने वाला चमत्कार।
7. शब्द तथा अर्थ दोनों में रहने वाला चमत्कार।
8. अलंकार में रहने वाला चमत्कार।
9. रस में रहने वाला चमत्कार।
10. प्रख्यात व्यक्ति के वृत्त (चरित्र) में रहने वाला चमत्कार।

काव्यगत गुणों के विषय में क्षेमेन्द्र के विचार निम्न है—

"तत्र शब्दवैमल्यम्, अर्थवैमल्यम्, रसवैमल्यम् इति त्रय:, काव्यगुणा: ।"

काव्य में, शब्दों की विमलता (निर्दोषता) अर्थ की विमलता और रस की विमलता, ये तीन काव्य के गुण हैं।[3]

इसके अतिरिक्त क्षेमेन्द्र औचित्यविचारचर्चा में गुणौचित्य के सम्बन्ध में लिखते हैं—"ओज, प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य आदि गुण काव्य में तभी भव्य तथा सौभाग्यसम्पन्न होते हैं, जब वे प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप ही होते हैं। यथा-वीर-पुरुष

---

1. कविकण्ठाभरण, तृ० सन्धि 2 श्लोक।
2. कविकण्ठाभरण, तृतीय-सन्धि।
3. कविकण्ठाभरण।

की उक्ति में ओजगुण । श्रृंगार में माधुर्य तथा सौकुमार्य गुण का सन्निवेश हृदयहारी होता है। गुण काव्य के अन्तरंग उपकरण है।

इस कथन से स्पष्ट है कि क्षेमेन्द्र निर्दोष शब्द और अर्थ के साथ-साथ निर्दुष्ट रस को ही काव्य मानने में आग्रह रखते हैं किन्तु शब्दार्थ और रस चमत्कृति-पूर्ण होने चाहिये । चमत्कृति का जनक सर्वत्र औचित्य ही है ।

अलंकार को काव्यगत गुणों से भिन्न मानने के कारण क्षेमेन्द्र का दृष्टिकोण अलंकारों को काव्य में नित्यता प्रदान न करना ही रहा होगा। वैसे-उन्हें अलंकार भी औचित्यपूर्ण ही ग्राह्य हैं। अलंकारौचित्य के विषय में वे लिखते हैं—

अर्थौचित्यवता सूक्तिरलङ्कारेण शोभते ।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा ।।[1]

अर्थात् प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप अलंकार-विन्यास होने से कवि की उक्ति उसी प्रकार चमत्कृत होती है, जिस प्रकार पीन स्तन पर रखे गये हार से मृगनयनी सुन्दरी। वास्तव में अलंकार का अलंकारत्व इसी में है कि वह प्रकृत अर्थ तथा प्रस्तुत रस का पोषक हो। इसके अभाव में वह अलंकार कविता कामिनी के लिए भार स्वरूप ही है। अलंकार को क्षेमेन्द्र बाह्य उपकरण ही मानते हैं। यदि काव्य में अलंकार है तो सुन्दर है किन्तु अलंकाराभाव में भी काव्यत्व को कोई क्षति नहीं है। समग्र रूप में हम क्षेमेन्द्र के काव्यलक्षण को इस प्रकार स्वीकार कर सकते हैं— **"मनोहर विषयवस्तु के प्रतिपादक, चमत्कृतिपूर्ण गुण तथा रस से युक्त औचित्य-विशिष्ट, निर्दोष, रमणीयशब्दार्थ काव्य जीवन हैं"** ।

क्षेमेन्द्र ने यद्यपि पृथक् से कोई काव्यलक्षण नहीं लिखा है। पुनरपि यत्र तत्र से उनके विचारों के ग्रहण करने पर उनके विचारों की अभिव्यक्ति ऊपर दे दी गई है।

राजशेखर और क्षेमेन्द्र

दोनों ही शब्दार्थ युगल को काव्य का शरीर मानते हैं। दोनों ही रस को काव्य की आत्मा मानते हैं। दोनों ही चमत्कृति में विश्वास रखते हैं। अन्तर केवल इतना है कि राजशेखर चमत्कार के स्थान पर चारुत्व का प्रयोग करते हैं। राजशेखर और क्षेमेन्द्र दोनों ही गुणों को काव्य का अंतरंग उपकरण मानते हैं और दोनों ही अलंकारों को काव्य का बाह्य उपकरण मानते हैं। केवल क्षेमेन्द्र शब्द, अर्थ, गुण, अलंकार और रसादि का महत्व औचित्यपूर्ण होने पर ही अङ्गीकार करते हैं। उचित से उनका अभिप्राय: है—जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, वह उचित कहलाती है और उसी के भाव को विद्वानों ने "औचित्य" कहा है। यथा—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।

1. औचित्यविचारचर्चा, श्लोक 15

उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ।।[1]

काव्य में अलंकारों के प्रति राजशेखर जितने पक्षपाती हैं, उतने क्षेमेन्द्र नहीं । क्षेमेन्द्र मम्मट और आनन्दवर्धन के अधिक सन्निकट हैं । अलंकारों की काव्य में अनिवार्यता के कारण राजशेखर शब्द, अर्थ, गुण तथा रस के विषय में तो मम्मट के विचारों से सहमत हैं किन्तु अलंकारों के विषय में उनका दृष्टिकोण भिन्न है। वास्तव में, काव्य में. प्रयुक्त अलंकार, लौकिक अलंकारों के समान शरीर (शब्दार्थ) से पृथक् नहीं किये जा सकते हैं । सम्भवत: राजशेखर का अलंकारों की अनिवार्यता के प्रति पक्षपात का यही कारण रहा होगा ।

मानव पर अन्य जीवों की अपेक्षा वाग्देवी की विशेष कृपा रही है । जिसके कारण मानव सकल प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है । आदि काल से श्रुति या लिपिबद्ध हुई मानव की वाणी को हम वाङ्‌मय के नाम से अभिहित करते हैं । यही "वाङ्‌मय" शब्द आगे चलकर साहित्य का पर्यायवाची बन गया । इसका व्यवहार व्यापक अर्थ में होता है । "काव्य" शब्द का व्यवहार केवल कवि-कर्म-अर्थ में ही प्रचलित है । सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर "वाङ्‌मय" का अर्थ है श्रुत या मौखिक परम्परा से अर्जित ज्ञान अर्थात् वाणी द्वारा अभिव्यक्त अनुभव-जन्य-ज्ञान । तथा साहित्य का अर्थ है—अनुभवजन्य ज्ञान का लिपिबद्ध क्रमिक रूप ।

काव्य-प्रकार

राजशेखर ने वाङ्‌मय के दो भेद किए हैं—शास्त्र तथा काव्य । "इह हि वाङ्‌मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च । काव्यमीमांसा के द्वितीय-अध्याय में शास्त्रों के वर्गीकरण करने के पश्चात् काव्य का विवेचन किया है । प्राचीन आचार्यों ने वेद, वेदाङ्गोंन और शास्त्रों की गणना चतुर्दश विद्याओं के अन्तर्गत की थी । किन्तु राजशेखर ने सकल विद्याओं का आधार एक मात्र "काव्य" को ही माना है ।

"सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्"[2]

वे काव्य को पन्द्रहवी विद्या मानते हैं । क्योंकि शास्त्र भी काव्यानुगामी होते हैं । काव्य इस कारण भी उत्कृष्ट है कि इसमें गद्य, पद्य तथा उभयात्मक उत्तम कवित्व के दर्शन होते हैं । तथा यह जनहित का उपदेश भी देता है ।

"गद्यपद्यमयत्वात् कविधर्मत्वात् हितोपदेशकत्वाच्च ।
तद्धि शास्त्राण्यनुधावति"[3]

राजशेखर ने आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीतिश्चेति विद्या (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति) को केवल विद्या मानने वालों के लिए कहा है—

---

1. औचित्यविचारचर्चा, श्लोक 7
2. काव्यमीमांसा, अ० 2 ।
3. काव्यमीमांसा, अ० 2 ।

"पञ्चमी साहित्यविद्या" इति यायावरीय: । सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्द: ।' साहित्य विद्या पांचवीं विद्या है तथा यह साहित्य विद्या उक्त चारों विद्याओं का सार (तत्व) है। यह कहकर साहित्य विद्या को गौरवान्वित किया है।

शब्द और अर्थ के यथावत् सहभाव को बताने वाली विद्या 'साहित्य-विद्या' है।

'शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या'

कविराज राजशेखर से पूर्व 'भामह' ने काव्य के गद्यात्मक तथा पद्यात्मक दो रूप प्रकट किए थे।

शब्दार्थौं-सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा'[1]

आचार्य वामन ने भी भामह के समान काव्य के दो ही भेद स्वीकार किए हैं। यथा—काव्यं गद्यं पद्यं च। आगे चलकर दण्डी ने काव्य के तीन भेद स्वीकार किये। गद्यात्मक पद्यात्मक तथा उभयात्मक। यथा—पद्यं गद्यं च मिश्रं च तत्-त्रिधैव व्यवस्थितम् "[2]

राजशेखर भी दण्डी के भेदों को ही मान्यता प्रदान करते प्रतीत होते हैं। राजशेखर ने काव्यों की दो मुख्य श्रेणियों को स्वीकार किया है। ये श्रेणियाँ कथानक पर आधारित हैं। मुक्तक और प्रबन्ध। मुक्तक का तात्पर्य स्वतन्त्र या स्फुट कविता से है। यह 'काव्य' जीवन की किसी एक घटना पर आश्रित होता है या प्रत्येक श्लोक स्वयं में स्वतन्त्र अर्थ वाला होता है। प्रबन्ध का अर्थ है—काव्य या महाकाव्य। अर्थात् जीवन का सर्वाङ्गीण विशद, व्यापक तथा सजीव वर्णन। वास्तव में ये भेद काव्यगत अर्थ के हैं। अर्थ के आधार पर ही मुक्तक तथा प्रबन्ध नामक भेदों का विभाजन राजशेखर को मान्य था।

पद्य—छन्दोबद्ध चमत्कृतिपूर्ण, सरस-रचना पद्य कहलाती है। पद्य-रचना नर्तकी के नृत्य काल में प्रयुक्त अंगों के संचालन के समान कठिन होती है। प्रत्येक पद संगीतात्मक भाव और कल्पना के द्वारा गतिमय होकर पद्य में अपना स्थान ग्रहण करता है। अर्थात् पद्य रचना में प्रत्येक अक्षर अर्थ तथा भावनानुकूल नर्त्तन करता प्रतीत होता है अर्थात् यहाँ नियमों के उल्लंघन के लिए कोई अवसर नहीं है।

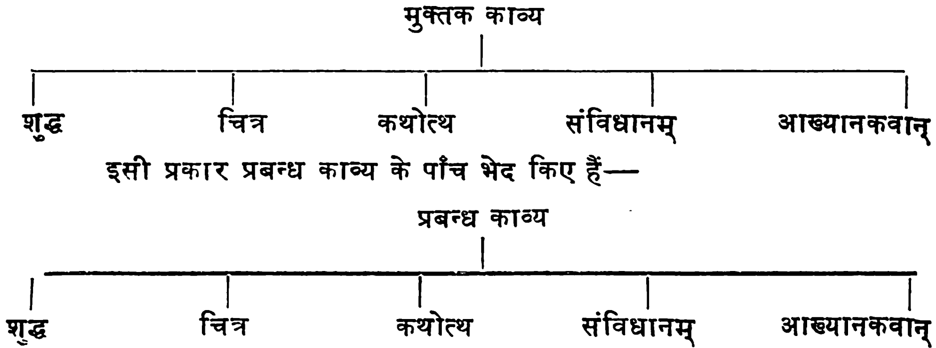
गद्य—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' के अनुसार गद्य कवियों की कसौटी है। गद्य में रचना करने वाले को जहाँ छन्दों के नियमों के लिए छूट मिलती है, वहाँ गद्यकार के लिये आवश्यक है कि उसका 'गद्यगुम्फन' इस प्रकार का हो कि वहाँ भावानुकूल वर्ण-विन्यास हो तथा कोई भी अक्षर महत्वहीन न हो।

---

1. काव्यालंकार 2/16
2. काव्यादर्श 1/11

मिश्र–मिश्र का अर्थ है—'मिश्रण'। जहाँ गद्यात्मक पद्यात्मक उभय रचना पायी जाती हो, उसे मिश्रित काव्य कहते हैं। आजकल ऐसी रचना को 'चम्पू' कहा जाता है। लिखा भी है—"गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।"[1]

मुक्तक तथा प्रबन्ध को राजशेखर ने पांच-पांच भागों में विभाजित किया है—



इसी प्रकार प्रबन्ध काव्य के पाँच भेद किए हैं—

1. **शुद्ध**—इतिवृत्त या इतिहास से रहित रचना 'शुद्ध' है।

2. **चित्र**—इतिहास से रहित किन्तु विस्तारयुक्त रचना 'चित्र' है।

3. **कथोत्थ**—इतिहास से या प्राचीन कथा से युक्त अर्थ 'कथोत्थ' है।

4. **संविधानम्**—जिसमें घटना संभावित हो, उस रचना को 'संविधानम्' कहते हैं।

5. **आख्यानकवान्**—जिसमें इतिहास की कल्पना की जाये, उस रचना को 'आख्यानकवान्' कहते हैं।

वामनाचार्य ने जिसे अनिबद्ध काव्य कहा है, वही राजशेखर के यहाँ मुक्तक काव्य है। तथा वामन ने जिसे निबद्धकाव्य कहा है, उसे राजशेखर ने प्रबन्ध-काव्य की संज्ञा से अभिहित किया है। सत्यता यह है कि लोक में राजशेखर द्वारा प्रदत्त नाम मुक्तक तथा प्रबन्ध ही प्रचलित हुए।

राजशेखर को 'कविराज' नामक उपाधि उनके विभिन्न भाषा मर्मज्ञत्व के कारण मिली थी। इस विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है—

यस्तु यत्र तत्र भाषा विषये हेतुः प्रबन्धेषु।
तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतन्त्रः कविराजः॥"[2]

राजशेखर ने भाषा के आधार पर भी काव्य का वर्गीकरण किया है—(1) संस्कृत, (2) प्राकृत, (3) अपभ्रंश, (4) भूतभाषा, (5) पैशाचीभाषा तथा

---

1. साहित्य-दर्पण, परि० 6
2. काव्यमीमांसा, अ०5 पृ० 19

(6) मिश्र। इन भेदों में राजशेखर का युग प्रतिबिम्बित हुआ है। इनसे पूर्व भामह ने काव्य के (1) संस्कृत, (2) प्राकृत और (3) अपभ्रंश भेद किये हैं।"[1] दण्डी के मतानुसार—भाषागत भेद निम्न प्रकार है"[2]—

1. संस्कृत,
2. प्राकृत,
3. अपभ्रंश, तथा
4. मिश्र।

इस प्रकार राजशेखर ने पूर्ववर्ती आचार्यों के भाषागत काव्य-भेदों को स्वीकार किया है किन्तु अन्यों की अपेक्षा विशद तथा व्यापक रूप में। राजशेखर को इन भाषाओं में विशिष्ट ज्ञान के कारण ही "कविराज" की उपाधि प्राप्त हुई थी।

आचार्य क्षेमेन्द्र—आचार्य क्षेमेन्द्र ने "कविकण्ठाभरण" में पंचविध काव्यों का उल्लेख किया है—

1. गुणों से पूर्ण काव्य।
2. गुणों से रहित काव्य।
3. दोषपूर्ण काव्य।
4. दोषरहित काव्य।
5. गुण तथा दोष दोनों से युक्त काव्य।

क्षेमेन्द्र "कविकण्ठाभरण" की तृतीय सन्धि में कह चुके हैं कि सत्कवि वस्तु की रमणीयता, शब्दों की सुन्दरता तथा अर्थों की मनोज्ञता के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है।

क्षेमेन्द्र की दृष्टि में गुण एवं दोष दोनों का पृथक् अस्तित्व है। वामनाचार्य के विचार से तो गुणविपर्यय का नाम दोष है किन्तु क्षेमेन्द्र को यह पक्ष स्वीकार नहीं है।

आचार्य मम्मट ने काव्य के तीन भेद माने हैं। उत्तमकाव्य, मध्यमकाव्य तथा अधम-काव्य। अधम-काव्य के भी दो भेद किए हैं, शब्दचित्र तथा अर्थचित्र।

1. **उत्तमकाव्य**—उत्तमकाव्य वहाँ होता है, जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ प्रधान होता है।

2. **मध्यमकाव्य**—मध्यम काव्य वहाँ होता है, जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ प्रधान होता है।

3. **अधमकाव्य**—(क) **शब्द चित्र**—गुण तथा अलंकार से युक्त, स्पष्ट

---

1. काव्यालंकार (भामह) 1/1/16
3. काव्यादर्श (दण्डी) 1/32

रूप से अप्रतीयमान व्यङ्ग्यार्थ वाला शब्द-प्रधान-काव्य।

(ख) **अर्थ-चित्र**—अव्यङ्गय, गुण तथा अलंकार से युक्त **अर्थ-प्रधान**-काव्य।

आचार्य क्षेमेन्द्र में पंचविध काव्यों का समावेश, हम मम्मट के तीनों काव्य भेदों में कर सकते हैं।

अङ्ग (गुण) अङ्गी (रस या व्यंग्य) अर्थ-ग्रहण कर लेने पर मम्मट के तीनों काव्य भेदों में क्षेमेन्द्र के पाँचों काव्य भेदों का अन्तर्भाव किया जा सकता है। यथा—

1. उत्तम काव्य की कोटि में हम गुणों से पूर्ण काव्य का अन्तर्भाव कर सकते हैं।

2. मध्यम काव्य की कोटि में हम दोष रहित काव्य का अन्तर्भाव कर सकते हैं।

3. **अधम काव्य**—(क) चित्र-काव्य के अन्तर्गत गुणों से रहित काव्य तथा दोष पूर्ण काव्य को रख सकते हैं।

(ख) अर्थ-चित्र-काव्य की श्रेणी में हम गुण तथा दोष दोनों से युक्त काव्य का अन्तर्भाव कर सकते हैं।

राजशेखर कृत मुक्तक, प्रबन्ध तथा मिश्रित तीनों काव्य भेद विद्वानों द्वारा आज भी मान्य हैं। किन्तु मुक्तक और प्रबन्ध के जो शुद्ध, चित्र, कथोत्थ, संविधानम् तथा आख्यानकवान् नामक पांच भेद हैं। वे केवल कथावस्तु के ही भेद मानने चाहियें। अर्थात् राजशेखर के मतानुसार कथावस्तु पांच भेदों वाली हो सकती है। उसी को आधार मानकर उन्होंने काव्य के भी पांच भेद स्वीकार किये हैं। क्योंकि 'इतिवृत्त' धनञ्जय के अनुसार सर्वप्रथम तीन प्रकार के हैं—प्रख्यात, उत्पाद्य, तथा मिश्र। तदनु यही इतिवृत्त दो भेद वाला होता है—आधिकारिक तथा प्रासङ्गिक। राजशेखर का यह पंचविध काव्य प्रकार, जो कथानक पर आश्रित है। वह भरत के नाट्य-शास्त्रादि से प्रभावित जान पड़ता है।

वस्तुतः राजशेखर तथा क्षेमेन्द्र कृत काव्य के भेद अधिक स्पष्ट नहीं हैं। इसलिये इन दोनों का वर्गीकरण साहित्य जगत् में विश्रुत तथा प्रचलित न हो सका।

कवित्व प्राप्ति—प्रकरण का उद्देश्य है कवि के व्यक्तित्व एवं कर्त्तव्य के विकास तथा संवर्धन के लिए उचित मार्ग प्रशस्त करना।

राजशेखर के मतानुसार—1. कवि को कदापि अपनी अधूरी कविता किसी को नहीं सुनानी चाहिए क्योंकि इससे उसके पूर्ण होने में कठिनाई हो सकती है। यह कवियों का मर्म है।

2. किसी अकेले कवि के सामने भी अपनी नवीन काव्य रचना नहीं सुनानी चाहिए। यदि वह कभी उसे अपनी रचना बताने लगे, तो साक्षी मिलना कठिन है।

3. तीसरे अपनी रचना की अधिक प्रशंसा भी नहीं करनी चाहिये। यह अपयश की कारण है।

4. कवि को अभिमानी नहीं होना चाहिए। क्योंकि अभिमान गुणों का उच्छेद कर देता है।

5. अपनी काव्य रचना की दूसरों से परीक्षा करानी चाहिए। क्योंकि तटस्थ व्यक्ति ही उचित निर्णायक हो सकता है।

6. मूर्ख के सम्मुख अपनी रचना कदापि न सुनाये। क्योंकि मूर्ख को कविता सुनाना अरण्यरोदन के समान है।

7. कवि प्रातः उठकर सन्ध्यावन्दन करे तथा सरस्वती की नित्य आराधना करे।

8. तदनन्तर विद्या-भवन में सानन्द बैठकर काव्य विद्याओं तथा उपविद्याओं का अभ्यास करे। "प्रतिभा" की वृद्धि के लिए अभ्यास से संस्कारों को जागृत करे।

9. द्वितीय प्रहर में "काव्य रचना" का अभ्यास करे।

10. भोजनोपरान्त काव्य-गोष्ठी का आयोजन करे। जिसमें उत्तर, प्रत्युत्तर, चित्रकाव्यादि का अभ्यास करे।

11. चतुर्थ प्रहर में प्रातःकालीन रचित कविताओं का पुनर्निरीक्षण करे तथा संशोधन करें।

12. सायंकाल में पुनः सन्ध्यावन्दन तथा सरस्वती की आराधना करे। तदनन्तर दैनिक कविताओं को सुस्पष्ट वर्णों में लिपिबद्ध करे।

13. कवि को स्थिर चित्त होना चाहिए।

14. सावधान चित्त रहना चाहिये।

15. समय का सदुपयोग कविता द्वारा करे।

अहर्निशाविभागेन य इत्थं कवते कृती।
एकावलीव तत्काव्यं सतां कण्ठेषु लम्बते ॥

अर्थात् "जो कवि" ऊपर कहे हुए ढंग से दिन और रात का विभाग करके कविता की रचना करता है, उसका काव्य मोतियों की लड़ी (माला) के समान विद्वानों के कण्ठ में सुशोभित होता है।

विद्वान् कवि को चाहिये कि वह पहले वैदर्भी आदि रीतियों को एवं ओज आदि गुणों को जानकर, शब्द, अर्थ और उन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को समझकर तथा प्राचीन सूक्तिकारों (कवियों) की शैली का अनुशीलन करने के

पश्चात् कविता विषयक प्रबन्ध लिखने का यत्न करे। ऐसा कौन व्यक्ति है, जो बिना पोतयन्त्र (जहाज) के समुद्र को पार कर सके। अर्थात् ये उक्त कार्य काव्य रचना के साधन हैं—

प्रारम्भिक कवि कविता की रचना सीखने के लिए अन्य कवियों के काव्यों में प्रयुक्त किये गये शब्दों तथा अर्थों को ग्रहण कर सकता है। अन्य के शब्दों का ग्रहण "शब्द-हरण" तथा अन्य कवि के अर्थ को ग्रहण करना "अर्थ-हरण" कहलाता है। शब्द-हरण पाँच प्रकार का होता है—(1) पदहरण, (2) पादहरण, (3) अर्धहरण, (4) वृत्तहरण, तथा (5) प्रबन्धहरण।

नौसिखियों के लिए अर्थहरण भी क्षम्य है। किन्तु श्रेष्ठ कवि जिसकी प्रतिभा दिव्य है, वह निरन्तर नवीन अर्थों की ही उद्भावना किया करते हैं क्योंकि महा-कवियों के बुद्धि-दर्पण में संकल विश्व, प्रतिबिम्बत होता है। उनके सामने शब्द और अर्थ स्पर्धापूर्वक आगे-आगे दौड़ते हैं। जिस वस्तु को 'समाधि-सिद्ध-योगी' दिव्य दृष्टि से देखते हैं, उन विषयों का कवि वाणी द्वारा स्वतः वर्णन किया करते हैं।

शक्ति, प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के समन्वय को प्राप्त कवि श्रेष्ठ काव्य का रचयिता होता है, यह निर्विवाद सत्य वचन है। कविराज राजशेखर कवित्व प्राप्ति के लिए पांच प्रकार के साधनों पर प्रकाश डालते हैं – (1) प्रतिभा, (2) मौलिकता, (3) विषय, (4) हरण, और (5) मनोवृत्ति।

1 प्रतिभा—कारयित्री तथा भावयित्री।

कारयित्री प्रतिभा

सहजा, आहार्या और औपदेशिकी
सहजा (स्वाभाविकी), आहार्या (आभ्यासिकी),
औपदेशिकी (उपदेशजन्या)।

1. सहजा—जन्मान्तरीय संस्कारजन्या है।

2. आहार्या—इहजन्म के अभ्यास से उद्भासित है।

3. औपदेशिकी—मंत्र तंत्रजन्था कवित्व शक्ति है।

कारयित्री प्रतिभा—कवि की उपकारक होती है।
भावयित्री प्रतिभा—भावक या आलोचक का उपकार करती है।

2. मौलिकता—मौलिकता के भी राजशेखर ने चार भेद किये हैं—

(1) उत्पादक, (2) परिवर्त्तक, (3) आच्छादक, (4) संवर्गक।

1. उत्पादक—जो अपनी प्रतिभा से नवीन रचना करता है, उसे उत्पादक कवि कहते हैं।

2. परिवर्त्तक—दूसरे की रचना में कुशलता से परिवर्त्तन करके उसे अपनी बना लेने वाला कवि।

3. आच्छादक—जो अपनी प्रतिभा से दूसरे कवियों की रचना पर इस तरह आवरण डालता है कि वह रचना उसकी बन जाती है।

4. संवर्गक—दूसरे की रचना को निर्भीकतापूर्वक अपनी कहने वाला कवि।

उत्पादक: कवि: कश्चित्कश्चिच्च परिवर्त्तक:
आच्छादकस्तथा चान्यस्तथा संवर्गकोऽपर: ।। का० मी०

राजशेखर "कवि को अन्य कवियों का अनुगामी तथा उनके विचारों का ग्रहीता होने पर भी क्षम्य मानते हैं" इस विषय में उनका कथन युक्तियुक्त प्रतीत होता है—

नास्त्यचौर: कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जन: ।
स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितुम् ।।

अर्थात् कवि और वणिग्जन चौर्यकर्म के बिना रह नहीं सकते, किन्तु जो चोरी को छिपाना जानता है, वह वस्तुत: आनन्द से रहता है। मौलिक रचना करने वाले तो नगण्य (विरले ही) होते हैं।

मौलिकता सरस्वती की आराधना से ही सम्भव है। अत: कवि को सरस्वती का अनन्य आराधक होना चाहिये।

क्षेमेन्द्र द्वारा वर्णित कवित्व प्राप्ति के उपाय

अकवि को किन उपायों के द्वारा कवित्व शक्ति प्राप्त होती है। उसका उपदेश दिया जाता है।

"अथेदानीमकवे: कवित्वशक्तिरुपदिश्यते"[1]

प्रथम दिव्य प्रयत्न। द्वितीय पौरुषाधीन प्रयत्न।

"प्रथमंतावद् दिव्य:, द्वितीय: प्रयत्न:, तत: पौरुष:"

पद्यरचना करने वाले व्यक्ति प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं किन्तु काव्यकार इनेगिने ही होते हैं। क्योंकि काव्यरचना करने की शक्ति दुर्लभतर होती है। अग्नि-पुराणकार ने भी ठीक ही कहा है—

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ।।[2]

आचार्य भामह भी कहते हैं—"काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावत:" अर्थात् काव्य-सृजन साधारण व्यक्ति की सामर्थ्य से बाहर है। सुन्दर काव्य की सृष्टि सामान्य पुरुष नहीं कर सकता, प्रतिभाशाली पुरुष ही सुन्दर काव्य की रचना कर सकता है। भाव यह है कि चिर-स्थायी, सरस-काव्य की रचना किसी ही प्रतिभाशाली की लेखनी कर पाती है।

रुद्रट भी शक्ति को ही काव्य-प्रेरणादायिनी मानते हैं। वह शक्ति सहजा

---

1. कविकण्ठाभरण।
2. अग्निपुराण 337, 3।

तथा उत्पाद्या होती है। लिखा भी है—

मनसि सदा सुसमाधिनी विस्फुरण मनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः"

दिव्य प्रयत्न के विषय में क्षेमेन्द्र बतलाते हैं—

कवि बनने के लिए निर्मल हृदय से, विद्युत्सदृश, हर्ष-निर्भर, स्वर्गीय मार्ग में प्रकट होने वाली, श्रेष्ठ और अमृत की नदी रूप (सरस्वती) का (दो त्रिकोणों के बीच) ध्यान किया जाये। वह सरस्वती, विकार-रहित, आकार शून्य और श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ शक्ति है, उसका (बुद्धि या मन में) ध्यान किया जाये। यह शक्ति बीजत्रयी से (ऊँ ऐं, क्लीं सौः) वाच्य (बीज मन्त्र द्वारा प्रकट होने वाली है। (बीजत्रयी) बीज मन्त्र (वाणी काम एवं मोक्ष को देने वाली है। "वाक्काममुक्तिसूः।" यह बीज मन्त्र ऊँकार रूप स्वस्ति चिन्ह है।

ऊँ स्वस्त्यङ्कं स्तुमः सिद्धमन्तराद्यमितीप्सितम्।
उद्यदूर्जप्रदं देव्या ॠ ॠलॄ लॄ निगूहनम्॥"[1]
श्वेतां सरस्वतीं मूर्ध्नि चन्द्रमण्डलमध्यगाम्।
अक्षराभरणां ध्यायेद् वाङ्मयामृतवर्षिणीम्॥"[2]
त्रिकोणयुगमध्ये तु तडित्तुल्यां प्रमोदिनीम्।
स्वर्गमार्गोद्गतां ध्यायेत् पराम् अमृतवाहिनीम्॥"[3]
निर्विकारां निराकारां शक्तिं ध्यायेत् परात्पराम्।
एषा बीजत्रयी वाच्या त्रयी वाक्काममुक्तिसूः॥"[4]

राजशेखर ने भी सरस्वती प्रदत्त शक्ति के विषय में लिखा है—

सा केवलं काव्ये हेतुः। इति यायावरीयः[5]

क्षेमेन्द्र चाहते हैं—कवि की वाणी, व्यक्तिगत वासना से रहित हो तथा कवि का निर्मल हृदय आह्लादमय हो, तभी वह सुन्दर काव्य की रचना में प्रवृत्त हो सकता है। राजशेखर भी समाहित चित्त द्वारा ही अर्थानुभूति मानते हैं।

पौरुष प्रयत्न के क्षेमेन्द्र ने तीन भेद किये हैं—

1. अल्प-प्रयत्न-साध्य, कृच्छ्रसाध्य, तथा असाध्य।
2. अल्प प्रयत्नों से काव्य क्रिया में सिद्धि प्राप्ति।
3. बहुत प्रयत्नों के पश्चात् काव्य क्रिया में सिद्धि-प्राप्ति।
4. किसी प्रकार भी सिद्धि का न मिलना।

राजशेखर भी नैसर्गिक बुद्धि, आहार्य बुद्धि तथा दुर्बुद्धि तीन भेद ही मानते हैं। इस प्रकार हम क्षेमेन्द्र वर्णित अल्पप्रयत्नसाध्य का समावेश राजशेखर द्वारा

---

1. क०क०प्र०अ० 6
2. क०क०प्र०अ० 1
3. क०क०प्र०अ० 12
4. क०क०प्र०अ० 13
5. काव्यमीमांसा, चतुर्थ अध्याय।

प्रतिपादित नैसर्गिक बुद्धि में, तथा कृच्छ्र साध्य का समावेश आहार्य बुद्धि में तथा असाध्य का दुर्बुद्धि में समावेश कर सकते हैं।

क्षेमेन्द्र आगे लिखते हैं—

"कुर्वीत साहित्यविदः सकाशे श्रुतार्जनं काव्य-समुद्भवाय"

अर्थात् उत्तम काव्य निर्माण के लिए शिष्य को चाहिये कि वह साहित्य शास्त्र को जानने वाले गुरु के समीप बैठकर ज्ञान की प्राप्ति करे।

राजशेखर भी इस विषय में ऐसे ही विचार प्रकट करते हैं—

दुर्बुद्धेस्तु सर्वत्रमतिविपर्यास एव। स हि नीलीमेचकितसिचयकल्पोऽना धेयगुणान्तरत्वात्। तं यदि सारस्वतोऽनुभावः प्रसादयति।"[1]

अर्थात् दुर्बुद्धि को सर्वत्रमतिविपर्यास ही रहता है। वह नीले रंग से रंगी वस्तु के समान होता है और उसमें दूसरे गुण का आधान नहीं हो सकता। यदि उसमें काव्यगुण आ सकता है तो सरस्वती की कृपा से।

"काव्यं" स्फुरति जड़धियां श्रीशारदासाधनेन"[2]

अर्थात् मन्दबुद्धि पुरुषों में कविता का स्फुरण श्री शारदा की साधना के द्वारा ही होता है।

यहाँ दोनों के विचार समान हैं।

इस संदर्भ में भामह कहते हैं—

शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्।"[3]

इस संदर्भ में दण्डी कहते हैं—

श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।"[4]

इस संदर्भ में वामन का कहना है—

काव्योपदेशो गुरुशुश्रूषणं वृद्धसेवा।"[5]

भामह, दण्डी और वामन के विचार भी राजशेखर और क्षेमेन्द्र के समान ही ध्यातव्य हैं।

क्षेमेन्द्र कहते हैं कि कवि होने वाले साधक को पहले शब्द-शास्त्र (व्याकरण) में नाम, धातु आदि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। तथा छन्दो रचना में भी विशेष यत्न करना चाहिये, और माधुर्यादि से रमणीय उत्कृष्ट काव्य का ध्यानपूर्वक श्रवण करना चाहिये।

---

1. का०मी०च०अ०।
2. क्षेमेन्द्र कवि०क०प्र०अ० 24 श्लोक।
3. काव्यालंकार 1–10।
4. काव्यादर्श 1–104।
5. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1/3/14।

विज्ञातशब्दागमनामधातुश्छन्दोविधाने विहितश्रमश्च ।
काव्येषु माधुर्यमनोरमेषु कुर्यादखिन्नः श्रवणाभियोगम् ॥"[1]

भामह के भी विचार क्षेमेन्द्र से मिलते-जुलते हैं—

शब्दश्छन्दोभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः ।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यगैर्ह्यमी ॥"[2]

वामन के विचार इस सन्दर्भ में कुछ विशद हैं—

"शब्दस्मृत्याभिधानकोषच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वा विद्याः"[3]

रुद्रट ने इन तत्वों को व्युत्पत्ति के अन्तर्गत स्वीकार किया है—

छन्दो व्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात् ।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ॥"[4]

मम्मट के विचारों से तुलना कीजिये—

लोकस्य स्थावर जङ्गमात्मकस्य लोकवृत्तस्य, शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादिलक्षण-ग्रन्थानां, काव्यानां च महाकविसम्बन्धिनाम्, आदि ग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः ।"[5]

"क्षेमेन्द्र" कवित्व-प्राप्ति के विषय में "गीत, गाथा, तथा देशी भाषाओं में निबद्ध रस-पूर्ण काव्यों के अध्ययन तथा मनन पर भी जोर देते हैं तथा चमत्कार-पूर्ण सूक्तियों में अभिनव-अर्थ खोजने की राय देते हैं। क्षेमेन्द्र रचित, "कवित्व-निर्माण के विषय में सर्वाधिक महत्वपूर्ण श्लोक अधोलिखित है—

रसे-रसे तन्मयतां गतस्य गुणे-गुणे हर्षवशीकृतस्य ।
विवेकसेकस्वकपाकभिन्नं मनः प्रसूतेऽङ्कुरवत् कवित्वम् ॥"[6]

विविध रसों के आस्वादन में निमग्न और भिन्न-भिन्न हर्षप्रद गुणों से आकृष्ट कवि का मन विवेक के सिंचन से परिपक्व होकर उछलता है तथा भीतर पके हुए अंकुर के समान कवित्व का निर्माण करता है।

क्षेमेन्द्र काव्य-रचना में विविधरसों के ज्ञान के साथ-साथ माधुर्यादि गुणों के प्रति भी काव्य निर्माता को सजग रखना चाहते हैं तथा गुणों और दोषों के प्रति विवेक से काम लेने की सलाह देते हैं। श्रेष्ठ काव्य के निर्माण हेतु कवि को सर्व-

---

1. कविकण्ठाभरण पृ०स० 16
2. काव्यालंकार 1/9।
3. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति : 1–3–3
4. रुद्रटकृत काव्यालंकार 1–18
5. का० प्र० पृ० 30 श्लोक 3
6. कविकण्ठाभरण पृ० सं० 18 श्लोक।

प्रथम सुन्दर विषयवस्तु का चयन करना चाहिये तदनन्तर विषय ज्ञान होने पर उसके विषय में चिन्तन तथा मनन करना चाहिये। भावप्रकटीकरण से पूर्व शब्दों में कल्पनाओं का गुम्फन करना चाहिये। इस प्रक्रिया के तुरन्त बाद काव्य गंगा के स्रोत फूट निकलते हैं। जिसमें मज्जन कर कवि, तथा श्रोता आनन्द-प्रवाह की सुखानुभूति करते हुए कृतकृत्य हो जाते हैं।

अधोलिखित वर्डस्वर्थ के विचार क्षेमेन्द्र के विचारों से तुलनीय हैं—

"पोयट्री इज ए स्पोन्टेनियक ओवरफलो ऑफ पावरफुल फीलिंग्स
टेकिंग इट्स ओरिजिन फ्राम दी इमोशनस् रिकलक्टेड इन
ट्रान्क्वीलिटी"

क्षेमेन्द्र काव्यनिर्माता को इतिहास का अध्येता तथा महाकवि कालिदास आदि की रचनाओं का पाठक तथा चिन्तक होने का परामर्श देते हैं। नूतनकवि, कविता का अभ्यास करने हेतु पद और पाद की पूर्ति प्राचीन कवियों के पद और पादों को ग्रहण कर ले। अभ्यास हेतु वाक्यार्थ से शून्य पदों का सन्निवेश छन्दों में बार-बार करे। कहीं-कहीं, कभी-कभी, प्राचीन कवियों के भावांशों को ग्रहण कर कविता करने का अभ्यास करे।

अन्त में क्षेमेन्द्र कहते हैं—"पाषाणहृदय व्यक्ति को काव्य का स्फुरण नहीं होता है" गदहे को कितना भी पढ़ाया क्यों न जाए किन्तु वह गा नहीं सकता और अन्धे को यदि सूर्य दिखाया जाए तो वह देख नहीं सकता। "सन्दर्शितं पश्यति नार्कमन्ध :"।

दण्डी भी इसी प्रकार लिखते हैं—

देखिये—

किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु[1]

क्षेमेन्द्र आगे कहते हैं—प्राक् जन्म के पुण्यों का फल परिपक्व होकर शुभ-मति-पुरुषों को कवित्व शक्ति मिलती है। तथा बुद्धिमानों के पौरुष प्रयत्नों के द्वारा भी शारदा का अभ्युदय होता है किन्तु पाषाण हृदय और मन्द बुद्धि पुरूषों में श्री शारदा का स्फुरण साधनों के द्वारा ही सम्भव है।

इति तत्सुकृतानां प्राक्तनानां विपाके
भवति शुभमतीनां मन्त्र-सिद्धं कवित्वम्।
तदनु पुरुषयत्नैर्धीमतामभ्युदेति
स्फुरति जडधियां श्रीशारदासाधनेन ॥"[2]

क्षेमेन्द्र ने काव्य निर्माताओं को वैयाकरणों तथा तार्किकों के प्रभाव से दूर रहने का परामर्श दिया है। इससे स्पष्ट है कि उनके विचार से शुष्क वैयाकरण

1. कायादर्श 1/8।
2. कविकण्ठाभरण पृ० सं० 24 श्लोक।

तथा तार्किक काव्य उपवन में विचरण के अधिकारी नहीं हैं। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन के विचार क्षेमेन्द्र से तुलनीय हैं—

शब्दार्थ-शासन-ज्ञान-मात्रेणैव न वेद्यते।
"वेद्यते स तु काव्यार्थतत्वज्ञैरेव केवलम्"[1]
"न तार्किकं केवलशाब्दिकं वा कुर्याद्गुरुं सूक्तिविकासविघ्नम्"[2]

आचार्य क्षेमेन्द्र तथा राजशेखर

साम्य—1. दोनों ही विद्वान् सरस्वती-वन्दना पर बल देते हैं।

2. दोनों ही विद्वान् पौरुष यत्नों के पक्षपाती हैं।
3. दोनों ही विद्वान् महाकवियों की रचना के श्रवण, अध्ययन चिन्तन तथा मनन पर बल देते हैं।
4. दोनों ही विद्वान् जन्मान्तरीय-संस्कार-विशेष का परिणाम कवित्व-शक्ति को मानते हैं।
5. दोनों ही विद्वान् कवि को बहुश्रुत होने के लिए आग्रहवान् हैं।
6. दोनों ही विद्वान् अभ्यास नैरन्तर्य की सलाह देते हैं।
7. दोनों ही विद्वान् नौसिखिये कवि को प्राचीन कवियों की रचना से शब्दार्थ तथा भावहरण आदि तक की छूट देते हैं।
8. दोनों ही विद्वान् काव्यरचना काल में चित्त की एकाग्रता पर बल देते हैं।

वैषम्य—क्षेमेन्द्र और राजशेखर समान रूप से कवित्व-प्राप्ति के उपायों का विवेचन करते हैं किन्तु राजशेखर कवित्व-प्राप्ति के पश्चात् कवि की कविता की सुरक्षा हेतु भी उपाय बतलाते हैं। यही उनका पृथक् वैशिष्ट्य है।

———

1. ध्वन्यालोक 1/7
2. कविकण्ठाभरण प्र० सं० 15 श्लोक।

4

"काव्य में चमत्कार"

भारतीय काव्यशास्त्र में रस, ध्वनि, आनन्दानुभूति आदि काव्य के आत्मा का जहाँ विशद विवेचन हुआ है, वहाँ काव्य में चमत्कार (चमत्कृति) का विशिष्ट महत्व भी अङ्गीकार किया गया है। काव्य में जितना महत्व सत्य को दिया गया है, उतना ही श्रेय, सत्य के मूल में स्थित चारुत्व को प्रदान किया गया है। अर्थात् "काव्य एक सत्यमयी चारु (चमत्कृतिमय) रचनात्मक-ज्ञान-धारा है" काव्य जितना सत्यमय होगा उतना उसमें शिवत्व का उद्रेक होगा। सत्यं और शिवं के संयोग से सुन्दरम् की सृष्टि स्वतः ही उद्भूत होगी।

काव्य, संसार के प्रति कवि की सत्य (भाव) प्रधान हृदय तरङ्गों से कल्पना (बुद्धिजन्यज्ञान) के रूप में अवतरित शिवत्वरूपा प्रभावोत्पादक चारु (चमत्कृतिपूर्ण) अभिव्यक्ति है। अभिप्राय यह है कि—"भावों की कलामयी शब्दार्थ स्वरूपा शोभना संसृष्टि का नाम ही काव्य है।"

व्याकरण दर्शन में— शब्द और अर्थ को क्रमशः कलापक्ष और भावपक्ष का द्योतक माना गया है। वाक्यपदीयकार "भर्तृहरि" लिखते हैं—

"सा सर्वविद्या-शिल्पानां कलानां च निबन्धनी।
तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते॥"[1]

अर्थात् संसार की समस्त विद्या शब्दोद्भवा ही हैं। सम्पूर्ण शिल्प-शास्त्र शब्दों का ही चमत्कार है। सकल कलाएँ भी शब्दोद्भवा ही हैं। शब्द ही एक ऐसा तत्व है, जिसके द्वारा अखिल वस्तुओं का विवेचन और विभाजन होता है। यह प्रमाण इस बात का प्रतीक है कि शब्द कलापक्ष का प्रतीक है। "महर्षि पतञ्जलि" अर्थ को भावपक्ष का प्रतीक मानते हैं—

"सर्वेभावाः स्वेन भावेन भवन्ति स तेषां भावः'[2]

अर्थात् शब्द जिस अपने अर्थ के कारण उत्पन्न होता है, उसके उस अर्थ (भाव) को अर्थ कहते हैं। इस कथन से स्पष्ट है कि अर्थ भावतत्व का प्रतीक है।

---

1. वाक्यपदीय।
2. महाभाष्य 5/1/19

शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध है। अत: भाव और कला में भी नित्य सम्बन्ध है। इसकी विवेचना शब्द और अर्थ की नित्यता सिद्ध करते हुए पतञ्जलि ने इस प्रकार की है "नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्ध:"[1] शब्द का अर्थ से नित्य सम्बन्ध है अर्थात् कलापक्ष का भावपक्ष से नित्य सम्बन्ध है। क्योंकि किसी भी भाव की अभिव्यक्ति शब्द के बिना सम्भव नहीं है और कोई भी शब्द भावविहीन होकर चमत्कृतिपूर्ण नहीं हो सकना। साहित्यिकों ने भी शब्द और अर्थ की नित्यता को स्वीकार किया है। स्वयं साहित्यशिरोमणि, महाकविकुलकमल दिवाकर कालिदास भी—

"वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगत: पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ ॥"[2]

लिखकर शब्द और अर्थ की नित्यता को स्वीकार करते हैं। साहित्यिकों की दृष्टि में–भावपक्ष वस्तुपक्ष है, और कलापक्ष–अभिव्यञ्जना पक्ष है। दोनों में नित्य सम्बन्ध है।

सत्वगुणप्रधान, सहृदय, जागरूक, निपुण, अलौकिक-दृष्टि-सम्पन्न, सुन्दर भावों की उद्भावना करने की क्षमता रखने वाले कवि में और साधारण-व्यक्ति में यही अन्तर होता है कि एक की सूक्ष्म-दृष्टि सकल वस्तुओं के आन्तरिक चमत्कार तक पहुँचकर उस आन्तरिक चमत्कृति की अनुभूति कर, उसका उद्घाटन करने में सक्षम होती है जबकि दूसरे की दृष्टि सकल पदार्थों के आन्तरिक चमत्कार तक प्रथम तो पहुँचती ही नहीं, यदि जैसे तैसे विषय की चमत्कृति का स्पर्श भी कर ले तो उसके उद्घाटन में सक्षम सिद्ध नहीं होती है। काव्य में सौन्दर्य-तत्व का सर्वाधिक महत्व है। सौन्दर्यानुभूतिजन्य आनन्द ही चमत्कारास्वाद है।

"क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया:"[3]

"महाकवि माघ" के अनुसार—जो रूप क्षण-प्रतिक्षण अभिनव सौन्दर्य को धारण करता रहता है, वही वास्तविक रमणीयता है। यह रमणीयता बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार के सौन्दर्य की प्रतिपादिका है।

चमत्कार को काव्य का प्राणतत्व स्वीकार किया गया है। कोई विद्वान् रसगत चमत्कार के पक्ष में है, कोई ध्वनिगत चमत्कार के, कोई रीतिगत चमत्कार के तथा कोई अलंकारगत चमत्कार के पक्ष में है। आचार्य क्षेमेन्द्र—"कलापक्ष तथा भावपक्षगत चमत्कार के पक्षपाती हैं" यह चमत्कार जहाँ हृदय प्रेरित होता है, वहाँ भावपक्ष के अन्तर्गत आता है। जहाँ चमत्कार बुद्धि, ऊहा और कल्पना

---

1. महाभाष्य अ० 7
2. रघुवंश 1 सर्ग 1 श्लोक।
3. शिशुपालवध (4) 17

प्रेरित होता है वहाँ कलापक्ष की कोटि में आता है। समानावस्था में भाव तथा कला में चार चाँद लगा देता है।

चमत्कार शब्द—चमत्करणम्, चमत्कार:, चमत्कृति: तीनों शब्द समानार्थक हैं। जिनका अर्थ है—(1) विस्मय, आश्चर्य, (2) खेल, तथा (3) काव्य-सौन्दर्य (जिससे काव्य-रस की अनुभूति होती है। "काव्यपाक" की भाँति चमत्कार शब्द भी काव्यशास्त्र में पाकशास्त्र से ग्रहण किया गया है। रस और पाक शब्द की धारणा के समान "चमत्कार" की भावना के लिए भारतीय काव्यशास्त्र पाकशास्त्र का ऋणी है। पाकशास्त्र में चमत्कार शब्द आस्वाद जनित आनन्द के लिए प्रयुक्त हुआ है। चमत्कार शब्द पीना, खाना या चाटना अर्थ में प्रयुक्त चम् धातु (चम+अत्—कृ+अण्) से निष्पन्न हुआ होगा। यथा—भट्टिका व्य में—चचाम मधु माध्वीकम्।"[1] पीना अर्थ में। तथा—चाटने के अर्थ में "नाचेमे हिममपि वारि वारणेन"[2] एवं "आचामति स्वेदलवान्मुखे ते"[3]

भाषा विज्ञान की दृष्टि में—मधुर पदार्थ को खाते समय जिह्वा से जो चम्-चम् की ध्वनि ओष्ठों से नि:सृत होती है। उसी के अनुकरण पर चमत्कार शब्द निष्पन्न हुआ है। इसका भावार्थ यह हुआ कि मधुर पदार्थ के खाने से **चित्त** विकसित एवं आनन्दित होता है। चमत्कार शब्द का यही विकसित अर्थ साहित्य-शास्त्र में काव्यानन्द के प्रतिपादक व्यङ्ग्यार्थ में हुआ है। "चमत्कार' शब्द के दो अर्थ साहित्यशास्त्र में प्रसिद्ध हैं—आश्चर्य तथा काव्यानन्द। आश्चर्य को उत्पन्न करने वाले अद्भुत रस को "**नारायण पण्डित**" ने समग्र रसों का जनक या मूलरस माना है। अद्भुत रस चमत्कार पर पूर्णत: आश्रित है। उन्होंने लिखा भी है—

रसे सारश्चमत्कार: सर्वत्राप्यनुभूयते।
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्॥

काव्यानन्द के अर्थ में "भामिनी-विलास" में—देखिये"चेतश्चमत्कृतिपदं कवितेव रम्या।"[4]

संस्कृत काव्यात्मवादी आचार्यों ने चमत्कार को काव्य के अलौकिक रसास्वादनजनित आनन्द के अर्थ में व्यवहृत किया है।

आनन्दवर्धनाचार्य—चमत्कृति का अर्थ काव्यास्वादन बतलाते हुए कहते हैं कि रसानुभूतिकाल में चित्त में चमत्कृति का आविर्भाव होता है। लिखा भी है—"चेतश्चमत्कृतिविधायी" अभिनवगुप्त—चमत्कार को और अधिक व्यापक अर्थ में

---

1. भट्टिकाव्य 14/94
2. किरात 7/34
3. रघुवंश 13/20
4. भामिनी-विलास 3/1

ग्रहण करते हुए लिखते हैं—"आस्वादयितृणां हि चमत्काराविघात:,तदेव रससर्वस्व-स्वादमयत्वात्" अर्थात् जहाँ काव्यास्वादन करने वाले व्यक्तियों को चमत्कार विघात प्रतीत नहीं होते वहाँ वे रस का आस्वादन करते हैं। स्पष्टत: इस प्रसंग में अभिनवगुप्त चमत्कार को काव्याह्लाद का ही दूसरा अभिधान मानते हैं। अन्य स्थल पर वे रस को ही चमत्कार का अभिन्न तत्व स्वीकार करते हैं--

"यद्यपि च रसेनैव सर्वं जीवति काव्यं तथापि तस्य रसस्य
एकधनचमत्कारात्मनोऽपि कुतश्चिद् अंशात् प्रयोजकी-
भूतादधिकोऽसौ चमत्कारोऽपि भवति।"[1]

अर्थात् यद्यपि रस के द्वारा ही सकलकाव्य जीवित हैं तथापि उस रस का एक रूप चमत्कार, आत्मा के भी किसी प्रयोजक भूत अंश से अधिक वह चमत्कार भी होता है।

पण्डितराज जगन्नाथ--पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा—"रमणीयार्थ प्रतिपादक:शब्द: काव्यम्" मानी है। रमणीयता की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं--"रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं चाह्लादगत: चमत्कारापरपर्याय: अनुभवसाक्षिको जाति-विशेष:"[2]

अर्थात् जिसके ज्ञान से लोकोत्तर (अलौकिक) आनन्द उपलब्ध हो, वह अर्थ रमणीय है। लोकोत्तरत्व का तात्पर्य यह है कि आनन्द में रहने वाला एक जाति विशेष तत्व है, चमत्कारित्व जिसका दूसरा नाम है सहृदयों का अनुभव ही इस जाति की सत्ता में प्रमाण है अर्थात् जिस आनन्द में सहृदयों को लोकोत्तर, जैसा अनुभव हो, वही आनन्द लोकोत्तर है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी इस प्रसंग में कहा है--"सचेतसामनुभव: प्रमाणं तत्र केवलम्"

भाव यह है कि रमणीयता में रस का भाव संलग्न है। रमणीय अर्थ में रस के अतिरिक्त चमत्कार अर्थ भी आ जाता है अर्थात् रमणीय का अर्थ चमत्कार पूर्ण आह्लाद है।

पण्डित विश्वेश्वर—"पडिण्तविश्वेश्वर" ने "चमत्कार-चन्द्रिका" में चमत्कार की परिभाषा इस प्रकार दी है--"चमत्कारस्तु विदुषामानन्द-परिवाहकृत्" अर्थात् काव्य के पढ़ने से विद्वज्जनों को जो आनन्द प्राप्त होता है, वही चमत्कार है। चमत्कार को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं--

"गुण-रीतिं, रसं, वृत्तिं, पाकशय्यामलंकृतिम्।
सप्तैतानि चमत्कार-कारणं ब्रुवते बुधा:"[3]

---

1. लोचनटीका का पृष्ठ 65
2. रसगंगाधर।
3. डॉ० राघवन "सम कौनसैप्ट्स ऑफ दी अंलकार शास्त्र" पृ० 270

गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाकशय्या तथा अलंकृति—ये सात कारण चमत्कार के बताये हैं। पण्डितविश्वेश्वर ने चमत्कार के आधार पर काव्य को त्रिविध बताया है—

1. चमत्कारी (शब्दचित्र)।
2. चमत्कारितर (अर्थचित्र और गुणीभूत-व्यंग्य)।
3. चमत्कारितम (व्यंग्यप्रधान)।

आचार्य हरिप्रसाद—आचार्य हरिप्रसाद ने अपने "काव्यालोक" ग्रन्थ में चमत्कार को काव्य का प्राणतत्व सिद्ध किया है—

"विशिष्ट-शब्द-रूपस्य काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः।
उत्पत्तिभूमिः प्रतिभा मनागत्रोपपादितम् ॥

अर्थात्—विशिष्ट शब्द रूप काव्य की आत्मा चमत्कार है, उसकी उत्पत्ति-भूमि प्रतिभा है। इस विषय में यहाँ संक्षेप में कहा गया है—चमत्कार शब्द का प्रथम प्रयोग "अग्निपुराण" में हुआ है। यहाँ इसका अर्थ—आत्मा, चैतन्य, तथा रस आदि किया है—

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम् ॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया ॥

अग्निपुराणकार के मतानुसार—वेदान्तदर्शन के द्वारा जो व्यापक नित्य परब्रह्म प्रतिपादित हुआ है, उसमें सहज आनन्द विद्यमान है। वह आनन्द किसी न किसी समय पर प्रकट होता है, उसी आनन्दाभिव्यक्ति को चैतन्य चमत्कार और रस कहते हैं।

वामन, दण्डी आदि अलंकारवादी आचार्यों ने चमत्कार को संकीर्ण अर्थ में ग्रहण किया है। वामन लिखते हैं—अलंकार रहने के कारण काव्य ग्राह्य है। यथा—"काव्यं ग्राह्यमलंकारात्" और अलंकार कहते हैं—सौन्दर्य को। यथा—सौन्दर्यमलंकारः। इन चमत्कारवादी विद्वानों ने चमत्कार शब्द को पाण्डित्य-प्रदर्शन के रूप में ही ग्रहण किया है। इनके विचार में—काव्य में चमत्कार की योजना उसके बाह्याकार को मनोरम रूप प्रदान करने के लिए की जाती है। दण्डी रस को स्वतन्त्र स्थान न देकर अलंकार का ही एक प्रकार मानते हैं।

भाषागत चमत्कार काव्य के बाह्य रूप को अलंकृत करता है किन्तु भाव-गत चमत्कार भावों को नैसर्गिक एवं सुन्दर रूप प्रदान करता है। काव्य का कला-पक्ष जहाँ बुद्धि या विचार शक्ति पर आश्रित होता है वहाँ भावपक्ष के सौन्दर्य के मूल में हृदय की सात्विकता विद्यमान रहती है।

भामह आदि अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों ने तो अलंकारों को ही काव्य का सर्वस्व माना है।

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ।।[1]

अलंकार का सार चमत्कारी अंश होने से भामह का अतिशयोक्ति पर विशेष आग्रह है। इसे वे समग्र अलंकारों का मूल मानते हैं। रस का उद्‌भव भी वे "रसवत्" नामक अलंकार से ही मानते हैं। **"अलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्"**

"अग्निपुराण" में यद्यपि "वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्" कहकर जहाँ उक्ति वैचित्र्य के साथ रस का महत्व प्रतिपादित किया है वहाँ "अर्थालंकार रहिता विधवेव भारती" कहकर अर्थालंकार का भी महत्व प्रकट किया गया है।

कुछ विद्वान् विभाव को अन्य, अनुभाव को इतर तथा व्यभिचारी भाव को पृथक् रस मानने का जब विचार करने लगे। "भाव्यमानो विभाव एव रसः। अनुभावस्तथा। व्यभिचार्येव तथा परिणमति" तब गवेषणात्मक बुद्धि के विद्वानों ने इस प्रसंग में लिखा—"इन तीनों भावों में जो जहाँ चमत्कारी हो, वहाँ वही रस है और चमत्कार हीन होने पर कोई भी रस नहीं है।

"त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसः, अन्यथा त्रयोऽपि न।"

कलात्मक तथा भावात्मक सौन्दर्य के रूप में

"काव्यप्रकाश" पर "प्रदीप" टीका लिखने वाले "गोविन्द ठक्कुर" काव्यप्रकाशीय "काव्यलक्षण' का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं—

"यद्यपि मम्मट रसहीन और स्पष्ट अलंकार से भी रहित शब्द अर्थ को काव्य मानते हैं, परन्तु उनकी यह मान्यता समुचित नहीं है, क्योंकि रस तथा अलंकार ये दोनों पदार्थ काव्य में चमत्कारजनक है, फिर यदि इन दोनों में से एक भी न रहे, तब चमत्कार कहाँ से आयेगा और जहाँ चमत्कार ही न हो, वहाँ वह काव्य कैसे कहलायेगा ? कारण यह है कि काव्य में चमत्कार ही सार है।"

"नन्वलंकारेऽतिव्याप्तिः, सालंकारत्वविशेषणानुपादानादिति न वाच्यम्, यतः "क्वापि"-इत्यनेनैतदुक्तम्-यत् सर्वत्र सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम्, क्वचित् स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः, नञोल्पार्थकत्वात्, अल्पत्वस्य चात्रास्फुटत्वे एव विश्रामात्। नीरसेऽप्यस्फुटालङ्कारे काव्यत्वमिष्टमेवेति ऋजुः पन्थाः। वयन्तु पश्यामः-नीरसे स्फुटालंकार-विरहिणि न काव्यत्वम्, यतो रसादिरलंकारश्च द्वयं चमत्कार-हेतुः। तथा च यत्र रसादीनामवस्थानं न तत्र स्फुटालंकारापेक्षा।

---

1. चन्द्रालोक 1/8।

नीरसे तु यदि न स्फुटोऽलंकार: स्यात् तत्किंकृतश्चमत्कार: स्यात् । चमत्कारसारञ्च काव्यम्, इत्यवश्यं स्फुटालंकारापेक्षा ।"[1]

आचार्य कुन्तक

आचार्य कुन्तक कलात्मक सौन्दर्य के रूप में चमत्कार को प्रतिष्ठापित करते हुए लिखते हैं—

"लोकोत्तरचमत्कारकारि-वैचित्र्य-सिद्धये ।
काव्यस्यायमलंकार: कोऽप्यपूर्वो विधीयते ।।[2]

अर्थात् लोकोत्तर चमत्कारकारि वैचित्र्यसिद्धि, अर्थात् अलौकिक या असामान्य आह्लाद को उत्पन्न करने वाले वैचित्र्य का वर्णन वक्रोक्ति है, यही काव्य का जीवन है—"वक्रोक्ति: काव्यजीवितम्" कुन्तक वक्रत्व को वैचिभ्यप्रभाव का द्योतक मानते हैं ।

काव्य का उद्देश्य श्रोताओं के हृदय में अलौकिक आह्लाद का उन्मीलन करना है । वैचित्र्य-उत्पादन की क्षमता शब्दों में ही होती है । वैचित्र्यसिद्धि के लिए जहाँ प्रसिद्ध मार्ग का परित्याग कर, वही अर्थ जब दूसरे प्रकार से प्रतिपादित किया जाता है, वही वक्रोक्ति है । इस प्रकार कुन्तक शब्दार्थ में चमत्कारिक वैचित्र्य की स्थापना कर कलात्मक सौन्दर्य के पक्ष पर बल देते हैं । इनके मतानुसार रस उक्ति-वैचित्र्य से ही प्रवाहित होता है । इनका उक्तिवैचित्र्य भाव प्रेरित नहीं अपितु बुद्धि-प्रेरित होता है ।

इस प्रकार काव्यानन्द के विभिन्न स्रोत हैं । मुख्य रूप से तीन धाराओं में "चमत्कार-सरित्" प्रवाहित हुई है—

1. उक्ति-वैचित्र्य के रूप में ।
2. कलात्मक सौन्दर्य तथा भावात्मक सौन्दर्य के रूप में ।
3. केवल काव्यानन्द के रूप में ।

आचार्य शुक्ल

हिन्दी के समृद्ध आलोचक तथा निबन्धकार आचार्य शुक्ल "केवल चमत्कार को सूक्ति मानते हैं" वे काव्य की कोटि में उसी चमत्कार के पक्ष में हैं, जो भाव प्रेरित हो । वे लिखते हैं..............किसी उक्ति की तह में उसके प्रवर्तक के रूप में यदि कोई भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति छिपी है तो चाहे वैचित्र्य हो या न हो काव्य की सरसता बराबर पाई जायेगी ।"

"ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव की मार्मिक भावना (जैसे प्रस्तुत वस्तु का सौन्दर्य आदि) में लीन न होकर एक बारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्ण विन्यास या पद प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं, सूक्ति है ।"

---

1. काव्यप्रकाश, गो. ठ. प्रदीप ।
2. वक्रोक्तिजीवितम् ।

शुक्ल जी भाव जगत् और बाह्य जगत् के सौन्दर्य का सामञ्जस्य चाहते हैं; वे न कोरे चमत्कारवादी हैं और न कोरे भाववादी। वे काव्य को लोकहित से समन्वित चाहते हैं।

संकीर्ण अर्थ में चमत्कार—साधारण व्यक्ति "चमत्कार" शब्द का अर्थ विस्मित करने वाले शब्द तथा अनूठे अर्थ से लेता है। अतः सामान्य व्यक्ति कौतूहल की पिपासा की शन्ति हेतु काव्य में चमत्कार का अन्वेषण किया करते हैं और साधारण कवि अपने काव्य में इसी अनूठेपन को बलात् लाने के लिए शब्दाडम्बर की भित्ति निर्मित किया करते हैं। ऐसा काव्य, अबोध व्यक्तियों को भले ही अल्पानन्द प्रदान कर दे किन्तु निष्णात बुद्धि वाले सहृदयों के हृदयों का अनुरंजन नहीं कर सकता है। जिस वाक्य में ऐसा अनूठापन पाया जाता है वह "सूक्ति" कहलाती है। "आचार्य बलदेव उपाध्याय" ने सूक्ति को "शाब्दिक तमाशा" कहा है उनका यह कथन वास्तव में सच है। "सूक्ति" कौतुकप्रेमियों के चित्त विनोद का हेतु है और सच्चा काव्य, सहृदयों के आनन्दानुभूति का। सूक्ति उक्ति वैचित्र्य में कोरा चमत्कार झलकता है किन्तु काव्य में उक्ति-वैचित्र्य के द्वारा स्पष्ट अभिव्यञ्जित भावों की अभिव्यक्ति के साथ रसानुभूति ही प्रधान रहती है।

सूक्तियों के कतिपय उदाहरण देखिये—

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषित निःशेषपरिजनं देव।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति समभावयोः सदनम्॥

कोई निर्धन—कवि किसी राजा से अपनी दीन दशा का वर्णन करते हुये कहता है कि हे राजन्, इस समय मेरी और आपकी दशा बिल्कुल एक समान है। आपके भवन में पृथु=बड़े बड़े, कार्त्तस्वरपात्र=सुवर्ण निर्मित पात्र हैं और मेरा भवन भी पृथुक=बालकों के, आर्त्तस्वरपात्र=रोदन का स्थान है। आपके सकल सेवक भूषित=आभूषणों से अलंकृत हैं और मेरा सम्पूर्ण परिवार भू=पृथ्वी पर, उषित=सोता है। आपके द्वार पर करेणुगहनं=हाथियों का समूह विलसत् शोभित होता है और मेरा घर बिलसत्क=चूहों की रेणु=धूल से भरपूर है। इस प्रकार कवि ने यहाँ अपनी दीनता की समता श्लेष द्वारा राजा के वैभव से की है। यहाँ शब्दों के कथन में अनूठापन कवि ने प्रदर्शित किया है। जिसे सुनकर कौतुक प्रेमी लोग अपने चित्त का मनोविनोद करते हुए वाह वाह किया करते हैं। अर्थ चमत्कारी सूक्ति देखिये—

आदातुं सकृदीक्षितेऽपि कुसुमे हस्ताग्रमालोहितम्,
लाक्षारञ्जन वार्तयाऽपि सहसा रक्तं तलं पादयोः।
अङ्गानामनुलेपनस्मरणमप्यत्यन्तखेदावहं,
हन्ताधीर दृशः किमन्यदलकामोदोऽपि भारायते॥

कोई चमत्कारी कवि किसी सुन्दरी की कोमलता का वर्णन कर रहा है—

उस सुन्दरी के मन में इच्छा उत्पन्न हुई कि पुष्प तोड़ूँ। उसने पुष्प को देखा, वह भी एक बार। बस क्या था ? उंगलियाँ लाल हो उठी हैं। यदि वास्तव में उसने अपने कोमलकरों से पुष्प तोड़ा होता तो भगवान् ही जाने उंगलियों की कैसी दुरवस्था हो गई होती। उधर पैर में महावर लगाने की चर्चा हुई और इधर पैर के तलवे लाल हो गये। बेचारों में महावर लगाने के भार को सहन करने की सामर्थ्य कहाँ ? यहाँ तो केवल महावर लगाने की चर्चा मात्र से ही तलवे लाल हो जाते हैं। अनुलेपन का स्मरण भी अंगों में अत्यन्त खेद पैदा कर रहा है। उसके केशों की सुगन्ध है, वह भी भार बन गई है। नायिका केशों के आमोद (सूक्ष्म) भार से भी झुकी जा रही है। यहाँ विचित्र स्थिति का बोध उक्ति के अर्थ द्वारा हो रहा है। किन्तु इसमें सरसता कहाँ है। यहाँ तो केवल उक्ति वैचित्र्य पर ही बल है।

चमत्कार जहाँ शब्द अथवा अर्थ या उभयनिष्ठ होकर भाव की अनुभूति को तीव्र करता है वहाँ सरसता का अभिव्यञ्जक होता है और जहाँ भावानुभूति से रहित चमत्कार होता है, वह केवल उक्तिवैचित्र्य का ही प्रतिपादक होता है। उक्तिवैचित्र्य से सरस-काव्य में भी भावों की चमत्कृति में श्री वृद्धि होती है किन्तु जहाँ उक्तिवैचित्र्य केवल शब्दार्थ तक ही सीमित रहता है वहाँ वह "सूक्ति" का ही बोधक होता है।

आचार्य क्षेमेन्द्र और चमत्कार—यद्यपि "चमत्कार" शब्द पर विभिन्न रूप से विचार किया गया है किन्तु "चमत्कार" शब्द की सर्वाङ्गीण उपादेयता पर व्यापक रूप से विचार करने वाले सर्वप्रथम आचार्य क्षेमेन्द्र ही हैं। अभिनवगुप्त के प्रसिद्ध शिष्य आचार्य क्षेमेन्द्र ने "चमत्कार" को काव्य के उपादेय तत्व के रूप में स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि से काव्य में चमत्कार अतिव्यापक तत्व है, जिसके बिना न तो कवि में कवित्व ही सम्भव है और न काव्य में काव्यत्व।

सर्वप्रथम क्षेमेन्द्र वाणी की चमत्कृति के आकर्षण विषयक महत्व का निरूपण इस प्रकार करते हैं—

जिस प्रकार वसन्त ऋतु में अभी अभी विकसित, विशिष्ट, पुष्पों की सुगन्ध के आस्वाद के लिए पर्युत्सुक भ्रमर फूलों से रमणीय बने पुष्पों के वन की ओर दौड़ता है, उसी प्रकार काव्य में सौन्दर्यातिशय के निर्माण की इच्छा रखने वाला सत्कवि वाणी की चमत्कृति (रमणीयता की हृधता) के लोभ से आकर्षक विषय (वस्तु), मनोहर शब्द तथा रमणीय अर्थ वाले काव्य का अनुसरण करता है।

अथ शिक्षितस्य कवेः सूक्ति-चमत्कारमाह—

"सुकविरतिशयार्थी वाक्चमत्कार लोभा,
दभिसरति मनोज्ञे वस्तुशब्दार्थ सारे।
भ्रमर इव वसन्ते पुष्पकान्ते वनान्ते,
नवकुसुमविशेषामोदमास्वादलोल: ॥[1]

इससे आगे क्षेमेन्द्र लिखते हैं कि—चमत्कार-निर्माण में अक्षम कवि में कवित्व का अभाव होता है अथवा यह सुमान्य उक्ति है कि चमत्कार से रहित काव्य, काव्यत्व से हीन होता है। भाव यह है कि सुन्दर पद विन्यास जहाँ चमत्कृतिपूर्ण हो वहाँ मणिकाञ्चन योग के समान सर्वदा मनोहरता विद्यमान रहती है। इस प्रकार क्षेमेन्द्र "चमत्कार को काव्य का सर्वस्व मानते हैं"।

एकेन केनचिदनर्घमणिप्रभेण,
काव्यं चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम्।
निर्दोषलेशमपि रोहति कस्य चित्ते
लावण्यहीनमिव यौवनमङ्गनानाम् ॥[2]

युवतियों का तारुण्य लावण्यहीन होने से क्या किसी के चित्त को आकृष्ट करता है। अर्थात् नहीं। वैसे ही दोष के लेश से भी रहित वर्णों से निबद्ध काव्य क्या चमत्कार हीन होने पर किसी सहृदय रसिक के मन को आकृष्ट करता है? कभी नहीं

अतः चमत्कार ही काव्य में वह विशिष्ट तत्व है, जिसके कारण सहृदयपाठक काव्योन्मुख होकर आनन्दानुभूति की चर्वणा करता है।

भामहादि शास्त्रकारों ने चमत्कार के समानार्थक हृद्यता, चारुता, सौन्दर्य आदि शब्दों के प्रयोग अपने ग्रन्थों में किये हैं। तथा रसगंगाधरकार, वक्रोक्तिकार एवं ध्वन्यालोककारादि विद्वानों ने "चमत्कार" के काव्य में महत्वादि पर विचार किया है किन्तु क्षेमेन्द्र से पूर्ववर्त्ती किसी भी शास्त्रकार ने चमत्कार (काव्यानन्द) का इस प्रकार वर्गीकरण नहीं किया था। अत: क्षेमेन्द्र ही "चमत्कार" के विषय में सूक्ष्म ज्ञाता, विशिष्ट व्याख्याता तथा आदि शास्त्रज्ञ हैं।

औचित्य चमत्कार का जनक है।[3] यह चमत्कार काव्यक्षेत्र में दश प्रकार का होता है—

1. अविचारित रमणीय: (बिना विचार किये प्रतीत होने वाला)
2. विचार्यमाण रमणीय: (विचार करने पर प्रतीत होने वाला)

---

1. कविकण्ठाभरण 3/1
2. कविकण्ठाभरण 3/2
3. औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारूचर्वणे। औचित्यविचारचर्चा कारिका 3

3. समस्तसूक्तव्यापी (समस्त सूक्ति में व्याप्त रहने वाला)
4. सूक्तैकदेशदृश्य: (सूक्ति के किसी एक भाग में रहना वाला)
5. शब्दगत: (शब्द में रहने वाला)
6. अर्थगत: (अर्थ में रहने वाला)
7. शब्दार्थगत: (शब्द और अर्थ दोनों में रहने वाला)
8. अलंकारगत: (अलंकार में रहने वाला)
9. रसगत: (रस में रहने वाला)
10. प्रख्यातवृत्तिगतश्च (प्रसिद्ध नायक के चरित्र पर आधृत कथा वस्तु में रहने वाला)

क्षेमेन्द्र ने जहाँ चमत्कार के दश भेद बतलायें हैं, वहीं उन्हें उदाहरण देकर स्पष्ट भी किया है---

1. अविचारितरमणीय चमत्कार—

शूरा: सन्ति सहस्रश: सुचरितै: पूर्ण जगत् पण्डितै:,
संख्या नास्ति कलावतां बहुतरै: शान्तैर्वनान्ता: श्रिता: ।
त्युक्तु ं य: किल वित्तमुत्तममति: शक्नोति जीवाधिकं,
सोऽस्मिन् भूमिविभूषण: शुभनिधिर्भव्यो भवे दुर्लभ:।।[1]

हजारों वीर पुरुष हैं, चारित्र्य सम्पन्न विद्वानों से संसारपूर्ण हैं, कलावन्त अगणित हैं, अनेक यतियों ने अरण्यों का आश्रय लिया है, पर अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय धन का जो त्याग कर सकता है ऐसा उत्तम बुद्धि—-वाला, पृथ्वी का भूषण एवं पुण्यों का संचय रूप, धन्य पुरुष इस संसार में दुष्प्राप्य है ।

यहाँ "दानवीर" का सुन्दर चित्रण हुआ है । इस श्लोक में स्थित भाव सौन्दर्य बिना विचार किये ही प्रतीत हो रहा है ।

2. विचार्यमाण रमणीय चमत्कार—-

अङ्गेऽनङ्ग ज्वरहुतवहश्चक्षुषि ध्यानमुद्रा,
कण्ठे जीव: करकिसलये दीर्घशायी कपोल: ।
अंसे वीणा कुचपरिसरे चन्दनं वाचि मौनं,
तस्या: सर्व स्थितिमिति न तु त्वां बिना क्वापि चेत: ।।[2]

उसके अंगों में कामज्वररूप अग्नि है, नेत्रों में ध्यान की मुद्रा है, कण्ठ में जीव है, कन्धे पर वीणा है, स्तनभाग पर चन्दन का लेप है और वाणी में मौन है । इस प्रकार उसका सब कुछ स्थिर (निश्चल) है लेकिन उसका मन तेरे बिना (वियोग में) कहीं भी नहीं (अर्थात् स्थिर नहीं है ।

---

1. कविकण्ठाभरण 3/14
2. कविकण्ठाभरण 3/15

यहाँ तेरे वियोग में उसका मन अस्थिर (आकुल) है इस रमणीय कल्पना की प्रतीति विचार करने पर होती है ।

3. समस्त सूक्तव्यापी चमत्कार—

माधुर्यानुभवेऽपि ते सुवदने तीक्ष्णाः कटाक्षाः परं,
पर्यन्तस्थिततारका अपि नृणां रागानुबन्धोद्यताः ।
नैवोज्झन्ति विवेकिनश्चपलतामुत्सेकसंवादिनी
माश्चर्यं श्रवणौ स्पृशन्ति च पुनर्मारं च कुर्वन्त्यमी ॥ [1]

हे सुन्दरि, तेरे कटाक्षों में यद्यपि माधुर्य का अनुभव होता है तथापि वे अत्यन्त तीक्ष्ण हैं, आँखों की पुतलियाँ यद्यपि कोने में स्थिर होती हैं तथापि वे पुरुषों को अनुराग से बद्ध करने में सचेष्ट हैं, वे (तेरे कटाक्ष) विवेकी (होते हुए भी) अपने स्वाभिमान के अनुरूप चंचलता का त्याग नहीं करते हैं और क्या आश्चर्य है (देखिये) वे कानों का स्पर्श करते हैं और पुनः पुनः प्रणय निवेदनकरते हैं ।

यह समस्त सूक्ति भाव चमत्कार से अनुप्राणित है । भाव सौन्दर्य बलात् पाठक को आकृष्ट करने में सक्षम हैं ।

4. सूक्तैक देश दृश्य—

"नित्यार्चा हृदयस्थितस्य भवतः पद्मोत्पलैश्चन्दनै,
स्त्वद्भक्तिस्त्वदनुस्मृतिश्च मनसि त्वन्नाममन्त्रे जपः ।
सर्वत्रैव घनानुबन्धकलना त्वद्भावना सुभ्रुव,
स्तस्याजीवविमुक्तिरेव दिवसैर्दैव, त्वदाराधनात् ॥[2]

हृदय में स्थित आपका रक्तकमल, नीलकमल, चन्दन आदि के द्वारा नित्य पूजन, आपकी भक्ति, आपका स्मरण और तुम्हारे नाम का निरन्तर जाप, इस प्रकार सर्वत्र आपके प्रति प्रगाढ़ भक्ति एवं श्रद्धा की भावना है । ईश्वर, उस सुन्दरी के द्वारा की जा रही आपकी आराधना से कुछ ही दिनों में, उसको (जीव विभुक्ति) मोक्ष की प्राप्ति होगी ।

इस पद्य की चतुर्थ पंक्ति में आपकी आराधना से उसे कुछ ही दिनों में अर्थात् इसी जन्म में जीव विमुक्ति (मोक्ष प्राप्ति) हो जायेगी" । इस अंश में, काव्य सौन्दर्य निहित है ।

5. शब्दगतचमत्कार—

"इतश्चञ्चच्चूतच्युतमधुचया वान्ति चतुराः,
समीराः सन्तोषं दिशि' दिशि दिशन्तो मधुलिहाम् ।
निशान्ते कान्तानां स्मर समरकेलिश्रममुषो,
विजृम्भन्ते जृम्भाकलितकमलामोदसुहृदः ।[3]

---

1. वही 3/16
2. कविकण्ठाभरण 3/17
3. कविकण्ठाभरण 3/20

रसपूर्ण आम्रफलों से विगलित होने वाले मधु से युक्त सुन्दर वायु भ्रमरों को सन्तोष प्रदान करते हुए प्रत्येक दिशा में यहाँ से बहते हैं। विकसित कमलों की सुगन्ध के रसिक पवन रात्रि के अन्त में प्रेमियों की कामक्रीड़ाओं के श्रम को दूर कर परिपुष्ट होते हैं।

यहाँ भाव-सौन्दर्य की अपेक्षा प्रत्येक पंक्तिस्थ अनुप्रास-जन्य शब्दगत चमत्कार ध्वन्य नुकारी होने से अधिक सुन्दर है।

6. अर्थगत चमत्कार—

"सदासक्तं शैत्यं विमलजलधारापरिचितं,
घनोल्लास: क्ष्माभत्पृथुकटकपाती वहति य:।
विधत्ते शौर्य-श्री.श्रवण-नवनीलोत्पलरूचि:
स चित्रं शत्रूणां ज्वलदनलतापं भवदसि: ।।[1]

निरतिशय चमकने वाली, शत्रु राजाओं की प्रचण्ड सेनाओं का दमन करने वाली और शौर्य श्री के कानों में नवनील कमलों का वर्ण धारण करने वाली जो तुम्हारी तलवार निर्मल जल धाराओं से बढ़े शैत्य को हमेशा धारण किया करती है वही शत्रुओं को जलती हुई अग्नि का ताप देती है, यह बड़ा आश्चर्य है।

यह अर्थ की दृष्टि से अतीव रमणीय है।

7. शब्दार्थगत चमत्कार—

"किञ्चित्कुञ्चितकामकार्मुकलतामैत्री विचित्रा भ्रुवो–
र्नर्मोक्ति: स्मितकान्तिभि: कुसुमिता प्रागल्भ्यगर्भा गिर:।
रागोत्सङ्ग निषङ्गिभि: सरसतासंवादिभिर्विभ्रमै—
रायुष्यं परमं तया रतिपते: प्राप्तं मृगाक्ष्या वय: ।।[2]

जिसकी भौंहे किञ्चित् वक्र और कामदेव की धनुषलता से मैत्री रखने वाली एवं सुन्दर हैं, जिसकी मञ्जुल उक्ति, स्मित (मुस्कुराहट) की कान्ति से विकसित हैं, जिसकी वाणी प्रगल्भतापूर्ण है और जिसके उत्कट स्नेहानुकुल हावभाव अनुरागमय हैं। ऐसी उस मृगनयनी ने कामदेव से दीर्घायु प्राप्त कर ली है।

इस श्लोक में अनुप्रास के कारण शब्द-जन्य-चमत्कार है तथा अर्थ भी शृंगार भाव का पोषक होने के कारण चमत्कृतिपूर्ण है।

8. अलंकारगत चमत्कार—

स्तनी स्तब्धौ तीक्ष्णं नयनयुगलं निम्नमुदरं
भ्रुवोर्वक्रा वृत्तिर्विहितमुनिमारोऽधरमणि:।

---

1. वही 3/19
2. कविकण्ठाभरण 3/20

यथासन्ने दैवादियति विषये दुर्जनगणे
गुणी मध्ये हारः स्पृशति तव दोलातरलताम् ।।[1]

स्तनयुगल निश्चल है, नेत्रद्वय निष्ठुर है, उदर (नाभि) गहरा है, भौंहों की तिरछी गति है और अधररत्न मुनियों को भी मारने वाला (परास्त करने वाला) है। दुर्भाग्य से इतने विषय दुर्जनों के गण में उस स्थिति में रहने वाली एवं डोरे (सूत्र) में गुम्फित यह माला तुम्हारे झूले की चंचलता को स्पर्श करती है।

माला दुर्जनों के मध्य रहने पर भी दुर्जनता को ग्रहण नहीं कर रही हैं। अतः अतद्गुण अलंकार है। गुणी शब्द में श्लेषालंकार है। विचार करने पर उत्प्रेक्षा तथा विरोधालंकार भी गम्य है। इसलिये यहाँ अलंकारगत चमत्कृति है।

9. रसगत चमत्कार—

"अत्रार्यः खरदूषणत्रिशिरसां नादानुबन्धोद्यमे
रुन्धाने भुवनं त्वया चकितया योद्धा निरुद्धः क्षणम्।
सस्नेहाः सरसाः सहासरभसाः सभ्रूभ्रमाः सस्पृहाः
सोत्साहास्त्वयि तद्बले च निदधे दोलायमाना दृशः ।।[2]

यहाँ जब खर, दूषण तथा त्रिशिरस इन राक्षसों के गर्जनापूर्ण युद्ध सम्बन्धी शोर से जगत् व्याप्त हो गया, तब विस्मित हुई तुमने युद्ध करते हुए आर्य राम को क्षण भर युद्ध से रुक जाने को कहा। उस समय आर्य राम ने तुम पर तथा उस सेना पर एक साथ स्नेहपूर्ण, सरस, हास्य से उज्ज्वल, भौंहों के विभ्रमों से युक्त, सस्पृह, सोत्साह चंचल दृष्टि डाली।

यह अद्भुत-रस-गत चमत्कार है।

10. प्रख्यात वृत्तिगत चमत्कार

"अग्रं गच्छत, यच्छत स्वपृतनां व्यूहक्षितिं रक्षत
क्षोणीं पश्यत, नश्यत द्रुततरं, मा मा स्थितिं मुञ्चत।
यत्नात्तिष्ठित, पृष्ठतस्तनुभिदामुग्रा गतिः पत्रिणा'
मित्यासीज्जनभञ्जने रथपथे पार्थस्य पृथ्वी श्रुतिः" ।।[3]

आगे बढ़ो, अपनी सेना का नियन्त्रण करो, व्यूहभूमि की रक्षा करो, सेना की गतिविधि पर ध्यान दो, जल्दी दौड़ो, अपने-अपने स्थान पर अडिग रहो, यत्न-पूर्वक ठहरो, पीछे से आने वाले और शरीर को छिन्न-भिन्न कर देने वाले बाणों की गति तीव्रतर है, इस प्रकार का कोलाहल रथ पर स्थित अर्जुन ने शत्रुपक्ष का संहार करते समय सुना।

---

1. कविकण्ठाभरण 3/21
2. वही 3/22
3. कविकण्ठाभरण 3/23

यहाँ प्रख्यात पुरुष अर्जुन के चरित्र पर आधृत कथांश में चमत्कार है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि आचार्य क्षेमेन्द्र ने चमत्कार के दश भेदों के स्पष्टीकरण के लिए स्वरचित श्लोकों का चयन किया है जिससे प्रतीत होता है कि क्षेमेन्द्र ने अपने काव्यों की रचना स्वप्रतिपादित साहित्य-सिद्धान्तों को सम्मुख रखकर की है।

"औचित्यविचारचर्चा" में भी क्षेमेन्द्र "औचित्यतत्व" के निरूपण के अवसर पर लिखते हैं कि "औचित्य वह तत्व है जो काव्य में चमत्कार को उत्पन्न करता है" और जो रमणीय आस्वादावस्था में जाकर रस का भी जीवातुभूत सिद्ध होता है।

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे ।
रसजीवित-भूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥[1]

कविराज राजशेखर ने यद्यपि क्षेमेन्द्र के समान "चमत्कार" का पृथक् अध्याय रखकर विशेष रूप से निरूपण नहीं किया है पुनरपि वे काव्य में चमत्कार (चारुता) के पक्षपाती रहे हैं। काव्य-लक्षण के अवसर पर वे शक्ति, प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के लक्षण समझाने के पश्चात् लिखते हैं—काव्यरचना में, प्रतिभा और व्युत्पत्ति—दोनों संयुक्त रूप से उपकारिणी होती हैं—"प्रतिभा व्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ" इति यायावरीयः।[2] आगे चलकर वे लिखते हैं—प्रतिभा और व्युत्पत्ति से सम्पन्न कवि ही कवि हैं—

"प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्चकविः कविरित्युच्यते"[3] इसी सन्दर्भ में वे लिखते हैं—

"न खलु लावण्यलाभादृते रूपसम्पदृते रूपसम्पदो वा लावण्यलब्धिर्महते सौन्दर्याय।"[4]

अर्थात्—जैसे, लावण्य के बिना सुन्दर रूप फीका प्रतीत होता है और रूप सम्पत्ति के बिना लावण्य भी अधिक आकर्षक नहीं होता है। वैसे ही प्रतिभा और व्युत्पत्ति के अभाव में काव्य में चमत्कार (सौन्दर्य) प्रकट नहीं होता है।

यहाँ राजशेखर ने तीन शब्दों का प्रयोग किया है। जिन तीनों के बिना चमत्कार सम्भव नहीं होता है—वे शब्द हैं—लावण्य, रूप और सौन्दर्य। इन्हें जान लेना आवश्यक है—

1. **लावण्य**—सच्चे रत्न में जैसे झलक होती है, वैसे ही काव्य में भी चमत्कृति रूप की झलक पायी जाती है।

---

1. औचित्यविचारचर्चा 3 कारिका
2. काव्यमीमांसा
3. वही
4. वही

2. रूप—जैसे शरीर की आकृति में एक स्वाभाविक आकर्षण होता है, वैसे ही काव्य में भी सुन्दर शब्दार्थ-विन्यास-रूप पदावली में आकर्षण पाया जाता है।

3. सौन्दर्य—जैसे शरीर के प्रत्येक अंग का सम्यक् प्रकार से सुगठन "सौन्दर्य" कहलाता है। वैसे ही काव्य का प्रत्येक दृष्टि से सुन्दर रचा जाना "काव्यसौन्दर्य" कहलाता है।

राजशेखर का अभिप्राय: यह है कि लावण्य के बिना सुन्दर रूप भी मनोहर नहीं प्रतीत होता और रूप-वैभव के बिना केवल लावण्य से भी सौन्दर्य में आकर्षण नहीं आता। अत: जैसे सौन्दर्य की पूर्णता के लिए रूप और लावण्य दोनों आवश्यक हैं, उसी प्रकार काव्य-सौन्दर्य के लिए प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों ही आवश्यक हैं। इस व्युत्पत्ति और प्रतिभा को "शक्ति" उत्पन्न करती है। "समाधि" (मन की एकाग्रता) मानस और "अभ्यास" बाह्य प्रयास हैं, ये दोनों ही मिलकर शक्ति को प्रकट करते हैं और इन दोनों से आविर्भूत शक्ति ही काव्य की जननी है। शक्ति सम्पन्न (कवि) को ही कुछ भासित होता है और शक्ति सम्पन्न (कवि) ही व्युत्पन्न होता है। कवित्वापेक्षित शब्द समूह, अर्थ समूह, अलंकार तन्त्र, उक्ति अन्य रसादि विषयों की चारुता की झलक (चमत्कृति) जो हृदय में उत्पन्न कर दे, वह प्रतिभा है।

समाधिरान्तर: प्रयत्नो बाह्यस्त्वभ्यास:। तावुभावपि शक्तिमुद्भासयत:। "सा केवलं काव्ये हेतु:" इति यायावरीय:। शक्तश्च प्रति भाति, शक्तश्च व्युत्पद्यते। या शब्दग्राममर्थ सार्थमलंकार-तन्त्रमुक्तिमार्ग-मन्यदपि तथा विधमभिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा।[1]

"काव्य-पाक" के प्रसङ्ग में राजशेखर मंगल का मत प्रस्तुत करते हैं—"सौशब्दयमेतत्" सुन्दर शब्दों का प्रयोग ही काव्य-पाक है। "अवन्ति सुन्दरी" का मत है कि "रसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबन्धन: पाक:" रस के अनुकूल और अनुगुण शब्द अर्थ एवं सूक्तियों का निबन्धन करना पाक है। जैसा कि कहा गया है—

"गुणालंकार रीत्युक्ति शब्दार्थ ग्रथनक्रम:
स्वदते सुधियां येन वाक्यपाक: स मां प्रति ॥"

तदुक्तम्—

"सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ् मधु ॥"

---

1. काव्यमीमांसा

गुण, अलंकार, रीति और उक्ति के अनुसार शब्दों और अर्थों का जो गुम्फन क्रम है, वह सहृदयों, श्रोताओं और भावकों को आकर्षक और स्वादु प्रतीत होता है—वही वाक्यपाक है। इस सम्बन्ध में कहा भी है—

कवि, अर्थ और शब्द इन सभी के रहने पर भी जिसके बिना वाङ्मधु का परिस्रवण नहीं होता, वही अनिर्वचनीय वस्तु "पाक" है। जो सहृदयजनों द्वारा आस्वाद्य और काव्य का "प्रधान-जीवन" है।

काव्यपाक के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों के मतों का प्रदर्शन कर यायावरीय राजशेखर अपना मत प्रस्तुत करते हैं कि "जहाँ पदों के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है, वह शब्द पाक वाला काव्य है। जहाँ रस, गुण, और अलंकारों का सुन्दर क्रम है, वह वाक्य-पाक है। इसका समुचित निर्णय सहृदय समालोचकों की आलोचना द्वारा ही हो सकता है। अर्थात् केवल अर्थ से अनुमित होने वाला, जैसी रचना वैसा पाक कहा जाने वाला केवल सहृदय आलोचकों के द्वारा ही इसका निर्णय होता है।

इस प्रकार राजशेखर ने चमत्कार के स्थान पर पाक शब्द का प्रयोग किया है। यथा "सुन्दर शब्द विन्यास पाक है। अनिर्वचनीय वस्तु पाक है। रस के अनुकूल शब्द अर्थ एवं सूक्तियों का निबन्धन काव्य पाक है। गुणालंकार, रीति, और उक्ति के अनुसार शब्द और अर्थ का जो गुम्फन क्रम है, वह सहृदयों, श्रोताओं और भावकों को आकर्षक और स्वाद प्रतीत होता है—यही वाक्य पाक है। एवं जहाँ रस, गुण और अलंकारों का सुन्दर क्रम है, वही वाक्य पाक है।"

भाव यह है कि रस और पाक शब्द पाक-शास्त्र से ग्रहण कर आलोचना-शास्त्र में व्यवहृत हुए हैं। चमत्कार शब्द भी काव्य में काव्यस्वाद के लिए ही विशेष रूप से प्रचलित है। कविराज राजशेखर ने "काव्यस्वाद" के स्थान पर "काव्यपाक" शब्द का प्रयोग किया है। अतः कविराज राजशेखर भी काव्य में "चमत्कार" के पक्षपाती रहे हैं। राजशेखर ने भी क्षेमेन्द्र के समान शब्दगत, अर्थ-गत, गुणगत, अलंकारगत, रीतिगत, उक्तिगत आदि काव्यपाक (काव्यास्वाद= चमत्कार) का प्रयोग किया है। जिस प्रकार क्षेमेन्द्र लिखते हैं कि चमत्कार के बिना काव्य, काव्य नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार राजशेखर भी लिखते हैं कि काव्यपाक के बिना काव्य, काव्य नहीं कहला सकता है। दोनों के विचारों की तुलना कीजिए।

राजशेखर—

"गुणालंकार रीत्युक्तिशब्दार्थ–ग्रथनक्रमः।
स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति ॥
सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥"

आचार्य क्षेमेन्द्र—

"एकेन केनचिदनर्घमणि प्रभेण,
काव्यं चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम् ।
निर्दोषलेशमपि रोहति कस्य चित्ते,
लावण्यहीनमिव यौवनमङ्गनानाम् ।।"
सुकविरतिशयार्थी वाक्चमत्कारलोभा—
दभिसरति मनोज्ञे वस्तु शब्दार्थसार्थे ।
भ्रमर इव वसन्ते पुष्पकान्ते वनान्ते,
नवकुसुमविशेषामोदमास्वादलोल: ।।"

—:o:—

5

"औचित्य-विचार"

किसी वस्तु के सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व उस वस्तु के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। जिस औचित्य पर हम विचार करना चाहते हैं, आवश्यक है कि हम उसके स्वरूप को समझ लें। वस्तु के स्वरूप को समझे बिना उसका विचार किया ही कैसे जा सकता है? यही कारण है कि हमारे आचार्यों ने काव्य के सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व काव्य के स्वरूप (लक्षण) को सर्वप्रथम उपस्थित किया है, यही बात व्याकरण आदि शास्त्रों के विषय में भी है।

औचित्य के स्वरूप को जानने के लिये आवश्यक है कि हम काव्य में "औचित्य-सिद्धान्त" के प्रतिष्ठापक आचार्य क्षेमेन्द्र का अभिमत औचित्य अपने सम्मुख रख उसके स्वरूप को पहचानें। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को स्पष्ट करने के लिये जो कारिका लिखी है, वह इस प्रकार है :—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥[1]

अर्थात् जो वस्तु जिसके अनुरूप है, उसे उचित कहते हैं, और उचित का भाव औचित्य कहा जाता है। क्षेमेन्द्र द्वारा प्रतिपादित औचित्य के इस स्वरूप में हमें आकांक्षा के अनुरूप कोई अपूर्व बात दिखाई नहीं देती है। "जो जिसके योग्य है, उसे उचित कहते हैं और उचित का भाव औचित्य है" इतनी सी बात कौन नहीं जानता? उचित किसे कहते हैं? यह बात सामान्य बुद्धिवाला प्रत्येक व्यक्ति जानता है और संस्कृत का सामान्य विद्यार्थी भी औचित्य के "उचितस्य भाव औचित्यम्" इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से परिचित है। निश्चय ही क्षेमेन्द्र ने एक साधारण बुद्धिवेद्य तत्व को असाधारण रूप प्रदान करने के लिये अपनी कारिका में "आचार्याः प्राहुः" और "आचार्याः प्रचक्षते" शब्दों का निवेश किया है। वास्तव में यहाँ कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसे आचार्य के उपदेश के बिना न जाना जा सकता हो। जो जिसके सदृश है, उसे सामान्य वनवासी भी जानता है, इसीलिये "अभिज्ञान-शाकुन्तलम्" में तपस्वियों के द्वारा "राजन्, आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः" कहने पर जब दुष्यन्त बाण को प्रत्यंचा से उतार लेता है, तब तुरन्त वैखानस कह उठता है—"सदृशमेतत् पुरुवंशप्रदीपस्य भवतः" क्या यहीं से सदृश शब्द और षष्ठी

1. औचित्यविचारचर्चा 7

विभक्ति का हरण कर क्षेमेन्द्र ने अपनी कारिका में "सदृशं किल यस्य यत्" कहा है ?

जो भी हो, आचार्य क्षेमेन्द्र ने इस ही औचित्य को काव्य का स्थिर-जीवित माना है। वे कहते हैं—

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणा: सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।[1]

अलंकार उपमा अनुप्रास आदि अलंकार ही हैं, अर्थात् जिस प्रकार कटक कुण्डल आदि आभूषण शरीर शोभा के हेतु होने के कारण मानव की आत्मा के पर्याय नहीं हो सकते हैं उसी प्रकार उपमा अनुप्रास आदि भी काव्य की बाह्य-शोभा को ही बढ़ाने वाले हैं, आन्तरिक तत्व नहीं है, गुण यद्यपि आत्मा के उपकारक हैं तथापि स्वयम् आत्मा नहीं है। अत: रस सिद्ध काव्य का स्थिर जीवित औचित्य ही है।

प्रकृत कारिका में "काव्यस्य" का "रससिद्धस्य" और "जीवितम्" का "स्थिरम्" विशेषण प्रयुक्त करने में आचार्य का निश्चित रूप से विशेष अभिप्राय प्रतीत होता है, जिस पर ध्यान देना उनके आशय को समझने के लिये नितान्त आवश्यक है।

हमारे मन में रह रहकर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि आचार्य क्षेमेन्द्र को अपने सिद्धान्त के स्थापन में यदि यह कहना अभीष्ट था कि "काव्य की आत्मा औचित्य है" तब उन्होंने साफ-साफ "औचित्यम् आत्मा काव्यस्य" अथवा "औचित्यं काव्य-जीवितम्" क्यों नहीं कहा ? उन्हें काव्य और जीवित का क्रमश: रस सिद्ध और स्थिर विशेषण देने की आवश्यकता क्यों हुई ?

उक्त कारिका के पूर्वार्द्ध पर ध्यान देने से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि क्षेमेन्द्र को अलंकार और गुणों का जीवितत्व स्वीकार्य नहीं है। उनके "अलंकारास्त्वलंकारा:" कहने का यही अर्थ है कि अलंकार अलंकार है, अलंकार्य नहीं। इसी प्रकार गुण गुण ही है—गुणी नहीं। तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि अलंकार्य कौन है ? और गुणी कौन है ? यदि औचित्य को अलंकार्य और गुणी माना जाय तब औचित्य के जो पद वाक्य आदि 27 आश्रय आचार्य क्षेमेन्द्र ने बताये हैं, वह कथन विरुद्ध हो जायगा, क्योंकि उसके अनुसार तो गुण और अलंकार औचित्य के आश्रय हैं न कि "औचित्य" गुण और अलंकार का आश्रय। अर्थात् गुण और अलंकार में औचित्य रहता है, औचित्य में गुण और अलंकार नहीं रहते। जब औचित्य में गुण और अलंकार रहते ही नहीं, तब औचित्य अलकार्य या गुणी कैसे हो सकता है ? अलंकार का आश्रय ही अलंकार्य और गुण का आश्रय ही तो गुणी होता है।

अलंकारों के दो भेद होते हैं—(1) शब्दालंकार, (2) अर्थालंकार।

---

1. औचित्यविचारचर्चा 5.

इसी प्रकार गुण के भी दो प्रकार हैं—(1) "शब्द गुण, (2) अर्थ गुण" इस दृष्टि से शब्द और अर्थ ही अलंकारों और गुणों का आश्रय होने से अलंकार्य और गुणी माने जाने चाहियें। क्या शब्द और अर्थ को अलंकार्य और गुणी माना जाना ठीक है? "नहीं" ऐसा किसी को भी अभीष्ट नहीं है। समस्त आलंकारिक शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर ही मानते हैं, आत्मा नहीं। गुण और अलंकार शब्द और अर्थ को नहीं, अपितु शब्द और अर्थ के द्वारा काव्य की आत्मा को उपकृत करते हैं, अन्तर इतना है कि अलंकार अंगों द्वारा अंगी के उपकारक हैं और गुण साक्षात् अंगी के उपकारक हैं। तब अंगी कौन वस्तु है? क्या क्षेमेन्द्र औचित्य को काव्य में अंगी मानते हैं? यदि औचित्य अंगी है तो वही प्रश्न फिर उपस्थित होगा कि औचित्य यदि अंगी है तो उसमें ही गुणालंकारादि रहने चाहियें, न कि गुणालंकारादि में औचित्य। ऐसी स्थिति में हमें औचित्य से भिन्न कोई अलंकार्य और गुणी तथा अंगी तत्व काव्य में मानना पड़ेगा और वह रस के अतिरिक्त अन्य कुछ हो ही नहीं सकता। इसीलिये आचार्य क्षेमेन्द्र को "काव्यस्य" का "रससिद्धस्य" यह विशेषण देना पड़ा है। स्पष्ट है कि क्षेमेन्द्र काव्यत्व की सिद्धि में रस को प्रधान कारण स्वीकार करते हैं क्योंकि जो काव्य "रसेन श्रृंगारादिना सिद्धः" अर्थात् श्रृंगारादि के रहने से ही "काव्यत्व रूप प्रसिद्धिः" को प्राप्त है, रस के बिना काव्यसंज्ञा जिसमें सिद्ध ही नहीं होती, उस काव्य का आत्मभूततत्व रस ही है।

अब प्रश्न यह होता है कि यदि रस काव्यत्व का साधक अर्थात् काव्य का जीवातुभूत तत्व है तब "औचित्यं काव्यस्य जीवितम्" की स्थापना कैसे हो सकती है? ठीक है, इसीलिये आचार्य ने "जीवितम्" का "स्थिरम्" विशेषण दिया है, उनका अभिप्राय है कि रस काव्य का जीवातुभूत है सही, परन्तु औचित्य के अभाव में वह भी स्थिर नहीं रह सकता। अस्थिर ही रहता है। अतः औचित्य ही काव्य का स्थिर जीवित (आत्मा) है। तात्पर्य यह है कि औचित्य तो स्थिर रूप से अर्थात् त्रिकालावच्छेदेन काव्य का जीवित है, और रस औचित्य होने पर ही काव्य का आत्मा होता है, औचित्य न होने पर नहीं। इस प्रकार रस अस्थिर तथा औचित्य स्थिर तत्व है। इसीलिये "जीवितम्" का "स्थिरम्" विशेषण दिया गया है। स्पष्ट है कि क्षेमेन्द्र की दृष्टि में रस में रहने वाला औचित्य ही रस के आत्मत्व में नियामक है, औचित्य न रहने पर अर्थात् रस में अनौचित्य होने पर वह (रस) आत्मत्व से च्युत हो जाता है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपनी कारिका की वृत्ति में "रससिद्धस्य" इस पद के विवक्षितार्थ को स्पष्ट करने के लिए "धातुवादरससिद्धस्येव" यह उपमान वाक्य उपस्थित किया है। क्षेमेन्द्र की अपनी एक शैली है, जिसमें वे विवक्षित अर्थ को उपमानवाक्य के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। उन्होंने पद, वाक्य आदि जो सत्ताईस औचित्य स्थान अपनी "औचित्यविचारचर्चा" में निर्दिष्ट किये हैं—

उनकी निर्दशिका प्रत्येक कारिका में अपने विवक्षितार्थ को उपमान वाक्य की सहायता से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिये पदगत औचित्य की निर्दशिका प्रथम कारिका को लीजिये :

तिलकं बिभ्रती सूक्ति र्भात्येकमुचितं पदम् ।
चन्द्राननेव कस्तूरीकृतं श्यामेव चान्दनम् ॥[1]

यहाँ उत्तरार्द्ध में उपात्त दो उपमानवाक्यों द्वारा पूर्वार्द्धोपात्त विवक्षितार्थ को स्पष्ट किया गया है। यह स्थिति सत्ताईस कारिकाओं में विद्यमान है। यद्यपि "औचित्यं रससिद्धस्य" इत्यादि मुख्य कारिका में यह बात स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होती है, तथापि आचार्य ने वृत्तिग्रन्थ में "धातुवादरससिद्धस्येव" इस उपमान-वाक्य के निर्देश द्वारा यह संकेत कर दिया है कि कारिका में उपात्त रसशब्द काव्यगत शृंगारादि रस के साथ-साथ आयुर्वेद में प्रसिद्ध पारद द्वारा धातु से निष्पन्न रस का भी श्लेष द्वारा वाचक है।

वृत्ति में निर्दिष्ट "धातुवादरससिद्धस्येव" इस उपमान वाक्य से आचार्य क्षेमेन्द्र ने जो विवक्षितार्थ स्पष्ट करना चाहा है, वह इतना अस्पष्ट रह गया है कि कोई भी व्याख्याकार उसे समझने में समर्थ हुआ दिखाई नहीं देता। ऊपर हम "स्थिरम्" विशेषण की सार्थकता का विचार करते हुए रस को काव्य का अस्थिर तथा औचित्य को स्थिर जीवनतत्व निर्धारित करना आचार्य का विवक्षितार्थ प्रतिपादित कर आये हैं। इस ही विवक्षितार्थ को उपमानवाक्य द्वारा स्पष्ट करना आचार्य को अभीष्ट होना चाहिये। ऐसी स्थिति में उपमेयवाक्य और उपमानवाक्य की एक वाक्यता हमें इस प्रकार करनी चाहिये, जिससे दोनों अर्थों में उपमानोपमेय भाव स्पष्ट प्रतीत हो। यदि "धातुवादरससिद्धय" इस वृत्तिग्रन्थ में "शरीरस्य" विशेष्य विवक्षित होता—जैसा कि प्रायः सभी व्याख्याकारों को अभीष्ट है—तब तो वह निरर्थक ही होता। क्योंकि उसके बिना भी शरीर का अनात्मत्व स्वयं सिद्ध है ही, साथ ही "जीवितम्" का "स्थिरम्" विशेषण भी व्यर्थ ही होता, क्योंकि उसके बिना भी आत्मा का स्थिरत्व स्वतः सिद्ध है ही। किसी भी प्रमाण से शरीर का अस्थिरत्व और आत्मा का स्थिरत्व व्याहत नहीं है, तब पारदरस से सिद्ध शरीर को अस्थिर और आत्मा को स्थिर बताकर उसी के समान शृङ्गारादि से प्रसिद्ध काव्य को अस्थिर और औचित्य को स्थिर बताने का क्या प्रयोजन ? "जीवितम्" का "स्थिरम्" विशेषण ही यह सिद्ध करता है कि आचार्य को "स्थिर और अस्थिर" दो प्रकार का काव्यजीवित अभीष्ट है क्योंकि सम्भव और व्यभिचार होने पर ही विशेषण अर्थवत् होता है। कोई भी मान्य आचार्य व्यभिचार की स्थिति के बिना विशेषण का उपादान नहीं किया करता। स्थिर विशेषण की सार्थकता ही तब है, जब उसका कोई अस्थिर जीवित भी यहाँ आचार्य को अवश्य अभीष्ट हो, जिसकी व्यावृत्ति के

1. औ०वि०च० कारिका ॥

लिये "स्थिरम्" विशेषण प्रयुक्त हुआ है। "धातुवादरससिद्धस्येव" इस उपमान वाक्य द्वारा उसी अस्थिर जीवित को समझाने का प्रयत्न किया गया है। आचार्य का तात्पर्य वस्तुतः यह है कि धातुवाद में प्रसिद्ध रस (मकरध्वज आदि) के द्वारा भी प्राणी के शरीर में जीवन संचारित किया जाता है, किन्तु वह कुछ समय के लिये ही रहता है, अतः अस्थिर है। जीवन जो प्राणी के शरीर में स्थिर रूप से रहने वाला है, वह तो आत्मा ही है। आशय यह है कि पारद (पारा) के द्वारा जो रस मुक्ता, सुवर्ण, रजत, ताम्र आदि धातुओं से तैयार किया जाता है, उससे प्राणी में संचरित चैतन्य किंचित्कालावच्छिन्न होने से अस्थिर ही है, स्थिर चैतन्य तो उसमें आत्मचैतन्य ही है। इसी प्रकार श्रृङ्गारादि रसों द्वारा काव्य में संचारित आस्वादरूप चैतन्य तभी तक है, जब तक रसों में औचित्य रहता है, औचित्य न रहने पर रसादि के रहते हुए भी काव्य अनास्वादरूप हो जाता है, अतः श्रृंगारादि रसों के द्वारा काव्य में सिद्ध चैतन्य अस्थिर और औचित्य सिद्ध चैतन्य स्थिर होता है।

क्षेमेन्द्र का यह सिद्धान्त पूर्वाचार्यों की मान्यताओं से परिपुष्ट है। भरतमुनि से लेकर आनन्दवर्धनाचार्य तक की आचार्य परम्परा औचित्य के महत्व को स्वीकार करती आ रही है। इन पूर्वाचार्यों ने औचित्य को काव्यात्मा के रूप में भले ही स्वीकार न किया हो परन्तु उसकी अनिवार्यता को दृढ़ता से स्वीकार किया है। भारतीय वाङ्मय में नाट्यशास्त्र के रचयिता भरतमुनि रस के आद्य सूत्रकार माने जाते हैं, रस सम्बन्धी समस्त सिद्धान्तों का आधार "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः"[1] यह भरतसूत्र ही है। अतः रस के आदि आचार्य भरतमुनि के विचार में रस तथा औचित्य का परस्पर क्या सम्बन्ध है? यह जान लेना परमावश्यक है।

भरतमुनि का औचित्य-विचार—भरतमुनि नाट्यशास्त्र के प्रणेता हैं। उनके अनुसार दर्शकों के हृदय में रस की अनुभूति कराना ही अभिनय-प्रधान-नाट्य का मुख्य प्रयोजन है। राम, दुष्यन्त और सीता, शकुन्तला आदि पात्रों की नाना प्रकारक सुख–दुःखात्मक अवस्थाओं का नटों द्वारा अनुकरण ही अभिनय कहलाता है। अभिनय, वही समर्थ और सार्थक है, जो अभिनेता का दुष्यन्तादि के साथ अभेद स्थापित कर सकता है। अनुकार्य राम दुष्यन्तादि के साथ अनुकर्त्ता नट की तद्रूपता होने के कारण ही नाट्य को रूपक कहा जाता है, यह तद्रूपता ही दर्शक का राम दुष्यन्तादि के साथ साधारणीकरण करने में समर्थ होती है, जिससे सहृदय दर्शक राम दुष्यन्तादि के सुख-दुःख को अपना सुख दुःख मानकर सुख-दुःखात्मक-रसानुभूति में मग्न हो जाता है, स्पष्ट है कि अभेद सम्बन्ध से नट की राम दुष्यान्तादि के रूप में उपस्थिति साधारणीकरण में हेतु है और साधारणीकरण रसानुभूति में हेतु है। अतः यदि राम दुष्यन्तादि की अवस्था के अनुरूप नट की अवस्था न हुई तो नट में रामादि की

---

1. नाट्यशास्त्रम्।

तद्रूपता नहीं हो सकती, इसलिये नट की वही उम्र, वही वेष, वही क्रिया, वही वाग्व्यापार होना चाहिये जो रामादि की अवस्था विशेष में रहा होगा। अभिनय की भरतमुनि के अनुसार आङ्गिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य नाम की जो चार अवस्थायें हैं, उनमें से किसी में भी यदि वास्तविकता न होगी तो नट में रामादि की तद्रूपता न हो सकेगी, तद्रूपता न होने पर नट का सम्पूर्ण अभिनय उपहसनीय होकर रसानुभूति में असमर्थ हो जायेगा। अतः यह परमावश्यक है कि रामादि की वेशभूषा आदि के अनुरूप ही नट की वेशभूषा आदि होनी चाहिये, अभिनय के इस मार्मिक रहस्य को भरतमुनि ने निम्न श्लोक में उद्घाटित किया है—

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो
वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गति प्रचारानुगतं च पाठ्यं
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ॥[1]

अर्थात् पात्र की आयु के अनुरूप उसका वेष होना चाहिये, वेष के अनुरूप उसका बैठना, उठना, चलना, घूमना, फिरना आदि क्रियायें होनी चाहियें, क्रियाओं के अनुरूप उसका कथनोपकथन और कथनोपकथन के अनुरूप उसकी हाथ पैर आदि की चेष्टायें होनी चाहियें। तात्पर्य यह है कि देशकाल, वय आदि की दृष्टि से रामादि की जैसी स्थिति रही हो, उसका उसी रूप में अनुकरण किया जाना उचित है। वेष के विषय में एक उक्ति लोक में प्रसिद्ध है—जैसा देश वैसा भेष। इस लोकोक्ति का मूल हमें भरतमुनि के इस श्लोक में प्राप्त होता है—

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसिबन्धे च हास्यायैवोपजायते ॥ ना० शा० 23/69

अर्थात् देश के विपरीत वेष हास्य का कारण होता है। जो वेष जिस देश के योग्य, है, उसी देश में अर्थात् उसी स्थान में उसका होना उचित है, विपरीत स्थान में रहने पर वह सुशोभित नहीं होता है, प्रत्युत इसी प्रकार हास्य का कारण होता है जिस प्रकार कटी प्रदेश में धारण करने योग्य मेखला, यदि हार के स्थान पर छाती पर पहन ली जाय तो वह हास्य का ही कारण होती है। छाती पर मेखला धारण करने वाली रमणी को देख कर कौन उसके फूहड़पन पर नहीं हँसेगा ?

भरतमुनि के "मेखलोरसिबन्धे च हास्यायैव" इस सूत्र को पढ़कर ही आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचार पर भाष्य के रूप में निम्न श्लोक लिखा है—

कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया, नायान्ति के हास्यता—
मौचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणाः ॥[2]

---

1. नाट्यशास्त्र-(भरतमुनिः)।
2. औ० वि० च० 6.

उक्त श्लोक में प्रारम्भ के तीन चरण भरतमुनि के "मेखलोरसिबन्धे च हास्यायैवोपजायते" सूत्र का भाष्य मात्र है, यह बात किस सहृदय समीक्षक की दृष्टि से छिपी रह सकती है, "औचित्य के बिना, अलंकार अलंकारता को और गुण गुणता को प्राप्त नहीं कर सकते हैं, यह निष्कर्ष, जो कि औचित्य सिद्धान्त का सर्वस्व है, जिसका उल्लेख क्षेमेन्द्र ने उक्त श्लोक के चतुर्थ चरण में—

"औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालङ्कृति र्नो गुणा:"

इन शब्दों में किया है, उसका आधार भरतमुनि का "मेखलोरसिबन्धेच" इत्यादि कथन ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। स्पष्ट है कि भरतमुनि औचित्य तत्व के प्रथम उद्भावक हैं। उन्हीं के सूत्र को ग्रहण कर परवर्ती आलङ्कारिकों ने औचित्य को काव्य और नाट्य का अनिवार्य तत्व निरूपित किया है।

महाकवि माघ का औचित्यविचार—वास्तव में औचित्य की प्रतिष्ठा सम्पूर्ण लोक व्यवहार में आदि काल से निरूढ़ है, वेदादि शास्त्र तो मानो औचित्य-विधान के लिये ही उद्भूत हुए हैं। विहिताचरण के औचित्य तथा निषिद्धाचरण के अनौचित्य की व्यवस्था ही तो समस्त श्रौत स्मार्त्त विधियों का प्रयोजन है। लोक और शास्त्र की समन्वित अनुकृति ही काव्य और नाट्य का एक मात्र कर्म है। इसीलिये महाकवि माघ ने राजनीति और कवि कर्म का एक साथ निदर्शन करते हुए शिशुपालवध में कहा है--

तेज: क्षमा वा नैकान्तं कालज्ञस्य महीपते: ।
नैकमोज: प्रसादो वा रसभावविद: कवे: ।।[1]

राजा को उचित है न तो वह सर्वदा कठोर ही बना रहे और न मृदु ही, उसे समय को देखकर तेज और क्षमा का, पराक्रम और दया का, अवलम्बन करना चाहिये। राजा का व्यवहार रसों और भावों के मर्मज्ञ उस कवि के समान होना चाहिये जो न तो सदा अकेले ओज गुण का ही अपने काव्य में आश्रयण करता है और न प्रसाद का ही।

माघ के इस श्लोक में प्रसाद शब्द कोमल-पद-विन्यास का और ओजस् शब्द कठोर प्रगाढ़ पद-विन्यास का उपलक्षक है। महाकवि का तात्पर्य है कि कवि को रस और भाव के औचित्य पर दृष्टि रखकर वीर, भयानक, रौद्र आदि रसों की अभिव्यंजना के लिये प्रगाढ़ पद-विन्यास का तथा शृंगार, करुण आदि रसों की पुष्टि के लिये कोमल-पदबन्ध का आश्रयण करना चाहिये। स्पष्ट ही महाकवि माघ की इस उक्ति में औचित्य-सिद्धान्त का वह बीज अन्तर्निहित है, जिसे उनके उत्तरवर्त्ती समीक्षकों ने विस्तार के साथ पल्लवित किया है।

भामह और दण्डी—संस्कृतसाहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य भामह दण्डी की स्थिति बहुत प्राचीन एवं महत्वपूर्ण है। भरतमुनि के पश्चात् भामह

1. शिशुपालवध 2/85.

और दण्डी ही काव्य-सम्बन्धी-सिद्धान्तों के व्यवस्थापक माने जाते हैं। ये दोनों ही काव्य में अलंकारों की प्रधानता के प्रतिपादक हैं, परन्तु ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य, आनन्दवर्धन ने काव्यदोषों की जिस नित्यानित्यता को अपने "ध्वन्यालोक" में प्रबल युक्तियों द्वारा प्रतिपादित किया है, उसका सूत्रपात हमें भामह और दण्डी के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

भामह ने अपने "काव्यालंकार" के प्रथम परिच्छेद के अन्त में कई दोषों के विषय में सन्निवेश-विशेष के कारण दोषत्व से मुक्ति की बात कही है। उनके कथनानुसार दुष्ट उक्ति भी सन्निवेश विशेष के कारण उसी प्रकार सुशोभित होने लगती है जिस प्रकार सुन्दर पुष्पमाला के मध्य गुम्फित होने पर नीलवर्ण का पल्लव सुशोभित हो उठता है। वे लिखते हैं—

सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते ।
नीलं पलाशम् आबद्धम् अन्तराले स्रजामिव ॥[1]

आगे चलकर भामह ने यह भी कहा है कि कोई-कोई असाधु वस्तु भी आश्रय के सौन्दर्य से इसी प्रकार सुन्दर दिखाई देने लगती है, जिस प्रकार काला काजल सुन्दरी स्त्री के नेत्रों का आश्रय पाकर सुन्दर लगने लगता है। निश्चय ही काजल यदि हमारे हाथ पैर आदि अंगों में या वस्त्रों में लग जाता है, तो हम उसे तुरन्त धो डालते हैं, क्योंकि वह हमारे अंगों या वस्त्रों पर ऐसा असुन्दर धब्बा है, जिसे हम एक क्षण के लिये भी देखना नहीं चाहते, परन्तु वही काला काजल जब किसी सुन्दरी के नेत्रों में स्थित होता है तो हम उसकी शोभा को देखते हुए नहीं अघाते—

किंचिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि ।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवांजनम् ॥[2]

आचार्य दण्डी ने भी दोषों के परिहार की बात को अपने ग्रन्थ "काव्यादर्श" में विस्तार के साथ लिखा है। काव्यादर्श के चतुर्थ परिच्छेद में समुदायार्थ शून्य अपार्थ दोष को पागलों, बालकों तथा अस्वस्थ चित्त वालों की उक्ति में दोषत्व से मुक्त होने की बात कही गयी है।[3]

चित्तासक्ति की विशेष अवस्था में विरुद्ध अर्थ का कथन दण्डी की सम्मति में न केवल दोषत्व से हीन हो जाता हैं अपितु ऐसी स्थिति में वही सहृदयों का

---

1. काव्यालंकार 1/54
2. वही 1/55
3. समुदायार्थशून्यं यत् तदपार्थमितीष्यते ।
   उन्मत्त-मत्त-बालानाम् उक्तेरेन्यत्र दुष्यति ॥
   इदमस्वस्थचित्तानामभिधानमनिन्दितम् ॥ (काव्यादर्श 4, 5, 6)

अभिमत होने से गुण बन जाता है।[1] काल-विरुद्ध, देश-विरुद्ध, लोक तथा शास्त्र-विरुद्ध आदि अनेक प्रकार का विरुद्धत्व भी दण्डी की दृष्टि में कभी-कभी कवि कौशल से गुण पदवी को प्राप्त कर लेता है।[2]

भामह और दण्डी के इस दोषविषयक-विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्हें औचित्य का तत्व भली-भाँति विदित था। उनके उक्त विवेचन में यह तथ्य स्पष्ट भासित है कि उचित स्थान में सन्निवेश न होने पर ही दोषों का दोषत्व मान्य है, अन्यथा नहीं। सारांशतः औचित्य का विचार करके ही कवि को गुणों एवं दोषों का निर्णय करना चाहिये। गुणों और दोषों के ग्रहण और त्याग में केवल औचित्य ही नियामक है। भामह और दण्डी का यही मन्तव्य है। हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि जिस औचित्य-सिद्धान्त को आगे चलकर आनन्दवर्धन ने अंकुरित एवं क्षेमेन्द्र ने विस्तृत तथा व्यवस्थापित किया उसके वास्तविक तत्व से भामह और दण्डी भली-भाति परिचित थे।

भामह और दण्डी के पश्चात् औचित्य के इतिहास में रुद्रट के काव्यालंकार का विशेष महत्व है। परन्तु रुद्रट और दण्डी के मध्य भी दो ऐसे विद्वान् लेखक दिखाई देते हैं। जिन्होंने औचित्य-सिद्धान्त पर थोड़ा बहुत प्रकाश डाला है, ये दोनों विद्वान् हैं—(1) कन्नौज के राजा यशोवर्मा, और (2) भरत के रस-सूत्र के प्रसिद्ध व्याख्याकार आचार्य लोल्लट।

(1) **यशोवर्मा**—कन्नोज के राजा यशोवर्मा केवल लक्ष्मीपति ही नहीं, सरस्वती के भी अनन्य उपासक थे, वे महाकवि भवभूति तथा वाक्पतिराज जैसे प्रसिद्ध कवियों के आश्रयदाता थे। उन्हीं के यश तथा पराक्रम का गुणगान वाक्-पतिराज ने अपने "गरुड़वहो" नामक प्राकृत महाकाव्य में किया है। इनके द्वारा रचित "रामाभ्युदय" नाटक का उल्लेख तथा उद्धरण अनेक साहित्यिक ग्रन्थों में मिलते हैं परन्तु अभी तक उनका यह नाटक उपलब्ध नहीं हुआ है। इसी नाटक की प्रस्तावना से भोजराज ने अपने श्रृंगारप्रकाश में निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है[3]—

---

1. अस्ति काचिदवस्था सा, साभिषड्.गस्य चेतसः।
   यस्यां भवेदभिमता विरुद्धार्थापि भारती॥ काव्यादर्श 4/10
2. विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात्।
   उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते॥ वहीं 4/5

3. इस पद्य का यशोवर्मा द्वारा रचित "रामाभ्युदयनाटक" की प्रस्तावना का अंग होना "ध्वन्यालोक" पर अभिनवगुप्त की लोचन टीका से प्रमाणित है। ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में आनन्दवर्धन ने इस पद्य के "कथामार्गे न चातिक्रमः" अंश को उद्धधृत किया है, जिसे अभिनवगुप्त ने अपनी लोचनटीका में यशोवर्मा द्वारा रचित "रामाभ्युदय" नाटक का अंश कहा है। ध्वन्यालोक, उद्योत 3 पृ० 148

औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं, सर्वत्र पात्रोचिता,
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च कथामार्गे न चातिक्रमः ।
शुद्धिः प्रस्तुत संविधानकविधौ प्रौढिश्च शब्दार्थयोः
विद्वद्भिः परिभाव्यतामवहितैः, एतावदेवास्तु नः ।।[1]

इस पद्य में यशोवर्मा ने नाटक के आवश्यक गुणों का उल्लेख किया है। इन गुणों में सर्वप्रथम नाटक में जो आवश्यक गुण है। वह "वचसाम् औचित्यम्" अर्थात् वचन का औचित्य है। यह वचनौचित्य नाटक के पात्रों की प्रकृति के अनुरूप होने पर सम्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि नाटक के पात्र जिस कोटि के हों, उसी कोटि के, उनके संवादों का होना आवश्यक है। इसके साथ ही रस की पुष्टि भी अपने अवसर पर ही होनी उचित है, अनुचित अवसर पर की गई रस की पुष्टि विरसता को ही जन्म देती है, जिसके कारण नाटक अपने उद्देश्य से भ्रष्ट हो जाता है। यशोवर्मा द्वारा वचनौचित्य और रसौचित्य का यह निर्देश साहित्य में औचित्य शब्द का प्रथम अवतरण है।

भट्ट-लोल्लट—भट्ट-लोल्लट नाट्य शास्त्र के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। इनका रस-विषयक सिद्धान्त साहित्यशास्त्र में "उत्पत्तिवाद" के नाम से विख्यात है। राजशेखर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "काव्यमीमांसा" में इनके तीन पद्यों को उद्धृत किया है। इन तीनों पद्यों द्वारा रसयुक्त निबन्ध की अनिवार्यता प्रतिपादित करते हुए राजशेखर ने इसे "आपराजिति" का मत बतलाया है।[2]

हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में इन तीनों पद्यों में से अन्तिम दो को भट्ट-लोल्लट कृत कहा है।[3] जिससे प्रमाणित है कि भट्ट-लोल्लट का ही दूसरा नाम आपराजिति है। सम्भवतः इनके पिता का नाम अपराजित था। अपराजित का पुत्र होने से राजशेखर ने उन्हें आपराजिति लिखा है।

---

1. शृंगारप्रकाश भाग 2, पृ० 41।

2. अस्तु नाम निस्सीमा अर्थसार्थः। किन्तु रसवत एवं निबन्धो युक्तः न तु नीरसस्य" इति आपराजितिः। यदाह—

मज्जन-पुष्पावचय-सन्ध्या-चन्द्रोदयादिवाक्यमिह ।
सरसमपि नातिबहुलं प्रकृतरसान्वितं रचयेत् ।।
यस्तु सरिदाद्रिसागर-पुर-तुरग-रथादिवर्णने यत्नः ।
कविशक्ति ख्यातिफलो विततधियां नो मतः स इह ।।
यमकानुलोम तदितर चक्रादिभिदोऽतिरसविरोधिन्यः ।
अभिमानमात्रमेतत् गड्डलिकादिप्रवाहो वा ।।
काव्यमीमांसा अध्याय–9, पृ० 452

3. हेमचन्द काव्यानुशासन पृ० 215

भट्ट-लोल्लट के इन तीनों पद्यों में रसानुरोध से वर्ण्यावर्ण्य का जो मार्मिक विचार उपस्थित किया गया है, वह औचित्य-विचार की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। भट्ट-लोल्लट का कहना है कि काव्य में कहने योग्य अर्थ की कोई सीमा नहीं है, किन्तु रसवान् का ही निबन्धन उचित है, नीरस का नहीं। मज्जन-पुष्पावचय, संध्या, चन्द्रोदय आदि का वर्णन स्वयं में सरस भी हो, तब भी प्रकृतरस के अनुकूल होने पर भी बहुत बढ़ा-चढ़ाकर नहीं करना चाहिये। नदी, पर्वत, समुद्र, रथ, घोड़े, हाथी, नगर, वन, उपवन आदि के वर्णन में कवि का यत्नशील होना, उसकी शक्ति प्रदर्शित करने में भले ही समर्थ हो, सहृदय जन के हृदय को रसार्द्र करने में समर्थ नहीं होता है।

भट्ट-लोल्लट का यह विवेचन वह मूल आधार है, जिस पर आगे चलकर औचित्य-सिद्धान्त का भवन खड़ा हुआ।

रुद्रट—आचार्य रुद्रट के काव्यालंकार का भी औचित्य के इतिहास में विशेष महत्व है। औचित्य-सिद्धान्त के जिन तथ्यों का उन्मीलन आनन्दवर्धनार्य ने अपने ध्वन्यालोक में किया है, उनमें से अनेक तथ्यों का संकेत हमें रुद्रट के "काव्यालंकार में पहले ही उपलब्ध होता है। रुद्रट अधिक न सही तथापि आनन्द-वर्धन से पूर्ववर्ती थे। उनके समय तक काव्य में अलंकार की महत्ता प्रतिष्ठित थी, इसीलिये उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम काव्यालंकार रखा था। तथापि वे रससिद्धान्त के महत्व से परिचित थे। उनके अनुसार अलंकारों की सत्ता रस के परिपोष के लिये ही है। आनन्दवर्धन ने इस विषय का प्रतिपादन ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में किया है, परन्तु उनसे पूर्व रस-सम्बन्धी औचित्य की बड़ी मार्मिक विवेचना हमें रुद्रट के काव्यालंकार में उपलब्ध होती है।

रुद्रट के अनुसार काव्य-वृत्तियों का निवेश औचित्य के अनुसार ही उचित है। अनुप्रास का प्रयोग कविता में सर्वत्र उपादेय नहीं है। आवश्यकतानुसार ही काव्य में अनुप्रास का प्रयोग ग्राह्य और त्याज्य होता है। वे कहते हैं—

एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य यथार्थसंस्थम्।
मिश्राः कवीन्द्रै रचनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः ॥[1]

यहाँ जिसके औचित्य की ठीक-ठीक आलोचना करके वृत्तियों और अनुप्रासों के ग्रहण और त्याग की बात कही गई है, वह प्रकरण प्राप्त रस ही है। इस प्रकार रुद्रट ने रसौचित्य के सिद्धान्त का स्पष्ट उन्मीलन किया है। आनन्दवर्धनाचार्य ने इसी पद्य से "गृहीतमुक्ताः" अंश को लेकर अपने ग्रन्थ में "काले च ग्रहणत्यागौ"[2] निर्देश किया है।

1, काव्यालंकार 2/12
2. ध्वन्यालोक 2/19

रुद्रट ने काव्य में यमक के निवेश को भी कविकौशल का कार्य नहीं माना है। उनके अनुसार रमणीय, सुलभपदभंग यमक का निवेश वही कवि यथार्थतः कर सकता है, जिसे औचित्य की ठीक-ठीक पहचान और परख है। औचित्य के ऐसे पारखी कवियों को ही सर्गबन्ध काव्यों में यमक के निवेश की छूट देते हुए आचार्य रुद्रट ने कहा है कि—

इति यमकविशेषं सम्यगालोचयद्भिः,
सुकविभिरभियुक्तैर्वस्तु चौचित्यविद्भिः।
सुविहितपदभंगं, सुप्रसिद्धाभिधानं,
तदनुविरचनीयं सर्गबन्धेषु भूम्ना ॥[1]

इस प्रकार यमक के निवेश में भी आचार्य रुद्रट औचित्य को ही मुख्य नियामक मानते हैं। दोषों के सम्बन्ध में भी उनकी यही दृष्टि है। भामह और दण्डी के समान उन्होंने भी दोषों की नित्यस्थिति को स्वीकार नहीं किया है। पुनरुक्तत्वादि दोष वहीं पर दोष होते हैं, जहाँ उनके रहने से अनौचित्य दृष्टिगोचर होता है, परन्तु जहाँ पुनरुक्ति ही वस्तुस्थिति की प्रकाशक हो वहाँ उसका औचित्य होने के कारण वह दोष न होकर गुण बन जाती है। जब कोई वक्ता, भय-आदि भावों के अतिरेक से प्रेरित होकर स्तुति या निन्दा के लिये किसी पद को बार-बार प्रयुक्त करता है तो वह पुनरुक्ति हर्षादि को व्यक्त करने वाली होने से दोष न होकर गुण ही होती है, क्योंकि उस स्थिति में पुनरुक्ति का औचित्य स्वभावसिद्ध होता है— उदाहरण के लिये—

वद वद हतः स शत्रुः
न हतो जल्पँश्च तव तवास्मीति
चित्रं चित्रमरोदीद्
हा हेति पराहते पुत्रे[2]

उक्त पद्य में "वह वद" "तव तव" चित्रं चित्रम् "हा हा" ये चार पुनरुक्ति स्थल हैं। कहो कहो वह शत्रु मार दिया गया क्या? इस प्रश्न में वक्ता (प्रश्नकर्ता) शत्रुवध की सम्भावना से हर्षित है। वह भी शीघ्राति-शीघ्र शत्रुवध के विषय में सुनने को उत्सुक है। अतः वह वक्ता के कथन में त्वरा लाने के उद्देश्य से "वद वद" कहता हुआ एक ही अर्थ वाले क्रिया पद का दो बार प्रयोग करता है। यह पुनरुक्ति है। परन्तु इसी से प्रश्नकर्ता की औत्सुक्यमिश्रित त्वरा का पता चलता है, जो शत्रु-वधजन्य हर्ष की व्यंजक है। इसी प्रकार "तव तव" में "तव" पुनरुक्त है, परन्तु उसी से वक्ता का दैन्य प्रकट होता है, जो भय का व्यंजक है। "चित्रम् चित्रम्" में विस्मय की और "हा हा" में शोक की व्यंजना भी "चित्रम् और हा" पदों की

1. काव्यालंकार 3/59
2. वहीं 6/30

पुनरुक्ति से ही हो रही है। इस प्रकार उक्त चारों पुनरुक्तियाँ दोष न होकर गुण बन गई हैं, क्योंकि ऐसे हर्ष, भय आदि भावों के अवसर पर पुनरुक्तता ही उनके प्रकाशन का समुचित उपाय है।

दोष प्रकरण का उपसंहार करते हुए आचार्य रुद्रट ने अनुकरण की स्थिति में सभी दोषों के दोषत्व से मुक्त होने की बड़ी मार्मिक बात कही है। दोष का अनुकरण करना हो तो उसके यथास्थित स्वरूप की आवृत्ति करनी ही होगी। ऐसे अवसर पर वक्ता मूर्ख आदि व्यक्ति के द्वारा प्रयुक्त असभ्य, असम्बद्ध, असमर्थ, अवाचकपदों का प्रयोग कर रहा होता है, जो किसी मूर्ख द्वारा प्रयुक्त हैं, तथापि उसके सिवा वह अनुकरण कर ही कैसे सकता है? स्पष्ट है कि अनुकरण में दोष को दोष के रूप में ही कहना उचित है। सिद्ध है कि अनौचित्य ही दोष का मूल है, औचित्य होने पर दोष भी गुण बन जाता है।[1] ग्राम्यत्व दोष के निरूपण में तो रुद्रट ने देश, कुल, जाति आदि के विषय में व्यवहार, आकार, वेष और वचन के अनौचित्य को ही स्पष्ट दोष कहा है।[2] आचार्य रुद्रट ने अन्य अनेक दोषों के गुणभाव का उल्लेख औचित्य के आधार पर ही किया है।[3] रुद्रट के इस विवेचन की समीक्षा से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि काव्य में सर्वाधिक अवधेय तत्व औचित्य ही है। औचित्य की सत्ता में दोष भी गुण बन जाते हैं। सभी काव्यदोषों का एकमात्र आधार अनौचित्य है।

रुद्रट के परवर्त्ती सभी आचार्यों ने गुणदोष विवेचन में रूद्रट के मत का अनुकरण किया है। रुद्रट अलंकार-सम्प्रदाय और रस-सम्प्रदाय के मध्य की कड़ी हैं। उन्होंने काव्य में अलंकार के महत्व का प्रतिपादन करते हुए भी रस की पूर्ण-सत्ता को स्वीकारा है। यह बात हम पहले कह आये हैं। इस सम्प्रदाय के मूर्धन्य आचार्य आनन्दवर्धन ने रस दोषों पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित रखी है। परन्तु उनके अनुयायी मम्मट, विश्वनाथ आदि ने गुण-दोष विवेचन में सर्वथा रुद्रट का अनुकरण किया है और रुद्रट की भाँति ही औचित्य के कारण, दोषों का गुणत्व मान्य किया है।[4] विश्वनाथ ने तो कुछेक रसदोष-जिनका उल्लेख आनन्द के द्वारा पहले किया जा चुका था—गिनाने के पश्चात् तज्जातीय अन्य अनौचित्य को रसदोष कहकर

---

1. अनुकरणभावम् अविकलम् असमर्थादि स्वरूपनो गच्छन्।
न भवति दुष्टम् अतादृशम् विपरीतं क्लिष्टवर्णं च॥

—काव्यालंकार 5/47

2. ग्राम्यत्वम् अनौचित्यं व्यवहारकार्यवेषवचनानाम्।
देश-कुल-जाति-विद्या-वित्त-वयः-स्थान-पात्रेषु ॥

—काव्यालंकार 11/9

3. काव्यालंकार 11/18-23

4. वक्त्राद्यौचित्यवशाद् दोषोऽपि गुणः क्वचित्। —काव्यप्रकाश 7/59

आनन्दवर्धन द्वारा स्वीकृत "अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्" पर प्रामाणिकता की मोहर ही मानों लगा दी है।[1]

अनुकरण में दोषों का गुणत्व तो मम्मट और विश्वनाथ ने सर्वथा रुद्रट के सिद्धान्त से प्रेरित होकर ही किया है।[2] इस प्रकार गुणदोष समीक्षा में औचित्य को मूलकारण स्वीकार कर आचार्य रुद्रट ने औचित्य-सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना बहुत पहले कर दी थी, इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं है।

आनन्दवर्धनाचार्य—औचित्यसिद्धान्त के विकास में आचार्य आनन्दवर्धन और उनके आकर ग्रन्थ ध्वन्यालोक का सर्वाधिक महत्व है। औचित्य को "काव्यात्मा" होने की मान्यता सिद्धान्ततः प्रदान करने वाले क्षेमेन्द्र के साहित्यिक गुरु आचार्य अभिनवगुप्तपाद ध्वन्यालोक के प्रसिद्ध भाष्यकार हैं। सन्देह नहीं कि क्षेमेन्द्र को औचित्य सिद्धान्त का सूत्र ध्वन्यालोक से ही प्राप्त हुआ हो। आनन्दवर्धन ने ध्वनि किं वा रस को काव्य की आत्मा प्रतिष्ठापित करने के लिए औचित्य का इतना अधिक आधार ग्रहण किया है कि रस की अपेक्षा औचित्य को ही काव्य का सर्वाधिक जीवन तत्व मानने की भावना स्वभावतः अंकुरित हो उठती है। अतः औचित्य विचार के मूल स्रोत को जानने के लिए ध्वन्यालोक और उस पर अभिनवगुप्त की लोचनटीका को पढ़ना और समझना नितान्त आवश्यक है।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है, इसीलिए वे ध्वनिकार के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्होंने ध्वनि को तीन रूपों में विभाजित किया है—(1) रस-ध्वनि, (2) वस्तुध्वनि, (3) अलंकारध्वनि। इनमें वस्तु और अलंकार का ध्वनित्व ऐकान्तिक नहीं है, वे साधारणतया वाच्य ही होते हैं। जब किसी कुशल कवि की वाणी में वे ध्वनित होते हैं, तब वे रस के इतने निकट आ जाते हैं कि उनकी ध्वनि रसरूप में ही प्रतीत होने लगती है। परन्तु रस ऐसा पदार्थ है, जो सदा ध्वनित ही हुआ करता है, वह कभी वाच्य नहीं होता। अतः वास्तव में रस ही काव्य की आत्मा है। इसीलिए कविराज विश्वनाथ ने रस को ही काव्य की आत्मा मानकर रसात्मक वाक्य को काव्य कहा है।[3] आनन्दवर्धन ने भी रस को ही काव्य का सारभूत तत्व माना है, इसीलिए रस के प्रवाह में स्वयम् आक्षिप्त अलंकारों के निवेश को ही काव्य में उचित ठहराया है।[4] माधुर्यादि गुण और उसके आश्रित रहने

---

1. रसस्योक्तिः स्वशब्देन..........
   अथ अनौचित्यम् अन्यच्च
   दोषा रसगता मता।—(साहित्यदर्पण 5/77)
2. (क) अनुकरणे तु सर्वेषाम् (काव्यप्रकाश 7/59)
   (ख) अनुकारे च सर्वेषाम् दोषाणां नैव दोषता (साहित्यदर्पण 7/602)
3. वाक्यं रसात्मकं काव्यम् (साहित्यदर्पणम् 1/3)
4. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
   अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥ (ध्वन्यालोक 2/17)

वाली वर्ण रचना— जिसे वृत्ति या रीति कहा जाता है—वह भी ऐसी होनी चाहिये जो रस की अभिव्यक्ति में हेतु हो तथा जिसमें वक्ता और वाच्य का औचित्य विद्यमान हो।[1] आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य और विशेष रूप से नाटक में दीर्घ समासवाली रचना उचित नहीं है। क्योंकि समासों में अनेक प्रकार की सम्भावना होने के कारण वह रस की प्रतीति में व्यवधान डालने वाली होती है।[2] आनन्द का यह विचार भरतमुनि के विचार से सर्वथा मिलता हुआ है। भरतमुनि ने स्पष्ट किया है कि नाटक में लोकभावों के औचित्य को भली-भाँति समझकर कवि को मृदु और सरलता से अर्थ के समर्थक शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिये। कठोर और कठिनता से अर्थ के प्रकाशक शब्दों का प्रयोग इसी प्रकार नाटक में अनुचित है, जिस प्रकार वेश्या के घर में दण्डकमण्डलुधारी ब्रह्मचारी ब्राह्मणों का होना।[3]

आनन्दवर्धन ने प्रबन्धध्वनि के विवेचन के अवसर पर काव्य तथा नाटक के कथानक के विषय में भी विस्तार से औचित्य की चर्चा की है, उनका स्पष्ट मत है कि काव्य या नाटक के कथानक में कवि को उन्हीं घटनाओं को स्थान देना चाहिये जो सर्वथा औचित्यपूर्ण हों और रस के आविर्भाव में सर्वथा समर्थ हों। यदि किसी प्रसिद्ध कथानक में कोई ऐसी घटना विद्यमान हो, जिससे प्रकृतरस में हीनता उत्पन्न होती हो उसे त्याग कर या बदलकर रसोचित घटना का निवेश करना चाहिए।[4] महाकवि कालिदास द्वारा "अभिज्ञानशाकुन्तल" में दुष्यन्त द्वारा किये गये शकुन्तला परित्याग में दुर्वासाशाप की कल्पना इसी औचित्य की रक्षा के लिए की गई है। इसी प्रकार "वीरचरितनाटक" में राम के द्वारा छल से "बाली-वध" की घटना को बाली द्वारा स्वयम् राम के साथ युद्ध के लिये आगमन के रूप में परिवर्तित किया गया।

प्रबन्ध सम्बन्धी औचित्य की रक्षा के लिए आनन्दवर्धन ने अनेक तथ्यों की ओर कवि का ध्यान आकृष्ट किया है जिसके अनुसार कवि को काव्यांगभूत तत्वों और घटनाओं के अनुसंधान या अननुसंधान के विषय में बहुत सावधान रहना

---

1. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
   रसांस्तन्नियमे हेतुः औचित्यं वक्तृवाच्ययोः॥ (ध्वन्यालोक 3/6)
2. दीर्घ समासा संघटना समासानामनेकप्रकारसम्भावनया रसप्रतीतिं-व्यवदधातीति तस्याँ नात्यन्तमभिनिवेशः शोभते। विशेषतोऽभिनेयार्थे।
   (ध्वन्यालोक पृ० 139)
3. तदेवं लोकभावानां समीक्ष्य बलाबलम्। मृदुशब्दं सुखार्थं च कविः कुर्यात्तु-नाटकान्। चेत्क्रीडिताद्यैः शब्दस्तु काव्यबन्धा भवन्ति ये। वेश्या इव न शोभन्ते कमण्डलुधरैर्द्विजैः। (नाट्यशास्त्र 21/111/32)
4. इतिवृत्तवशायात्तां त्यक्त्वानुगुणां स्थितिम्। उत्प्रेक्ष्योप्यन्तराभीष्ट रसोचित कथोनयः। (ध्वन्यालोक 3/11)

चाहिये। उसे काव्य के अंगों का अननुसंधान (उपेक्षा) अथवा अतिविस्तार नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार अनंग का कथन भी काव्यार्थ में नहीं किया जाना चाहिए। प्रबन्ध सम्बन्धी इस औचित्य का भरतमुनि से लेकर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ तक सभी समीक्षकों ने प्रायः एक ही रूप में अपने-अपने ग्रन्थों में उल्लेख किया है। भरत और आनन्द द्वारा निर्दिष्ट इस रस सम्बन्धी औचित्य की अवहेलना को मम्मट और विश्वनाथ ने रसदोषों के मध्य परिगणित किया है।[1] प्रबन्ध सम्बन्धी औचित्य का विचार करते हुए भरतमुनि और आनन्दवर्धन ने काव्य अथवा नाटक के मुख्य पात्र के चरित्र पर ध्यान देने की ओर बहुत जोर दिया है। उन्होंने इस दिशा में कवि को विशेष सावधानी बरतने के लिए कहा है कि काव्य या नाटक में वर्णित प्रत्येक घटना नायक के स्वभाव, देश, काल आदि के सर्वथा उचित ही होनी चाहिए। प्रधान नायक के स्वभाव आदि के विपरीत घटना का निवेश नितान्त अनुचित एवम् विरसता उत्पन्न करने वाला होता है, जिससे कथानक की असत्यता प्रमाणित होती है। और कवि का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। आनन्दवर्धन ने प्रकृति अर्थात् नायक के स्वभाव आदि के औचित्य पर विशेष जोर देते हुए अपने ध्वन्यालोक ग्रन्थ के तृतीय के उद्योत में प्रकृति के औचित्य तथा अनौचित्य के विचार को बड़े मार्मिक ढंग से प्रदर्शित किया है। इस प्रसंग में उन्होंने अपने उस महत्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जो औचित्य तत्व का मूलमन्त्र है, जिसके आधार पर ही वास्तव में औचित्य सिद्धान्त का विशाल प्रासाद खड़ा हो सका है—

अनौचित्याद ऋते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥[1]

अर्थात् "अनौचिय ही रस के नाश का सबसे बड़ा कारण है और औचित्य का सम्यक् निर्वाह ही रस का मार्मिक रहस्य है।

आनन्दवर्धन की यह कारिका ही वह सारसूत्र है जिसके भाष्य स्वरूप ही बाद के समस्त आलंकारिकों की औचित्यसम्बन्धी व्याख्यायें प्रादुर्भूत हुई हैं। आनन्दवर्धन ने रस को काव्य का सर्वाधिक सारभूततत्व प्रतिपादित करते हुए भी औचित्य को रस की स्थिति में इतना अधिक अवधेयतत्व प्रतिपादित किया है कि रस की अपेक्षा औचित्य ही काव्य का प्राण या आत्मा प्रतीत होने लगा है। वे काव्य में प्रयुक्त प्रत्येक कारण सामग्री में औचित्य को सर्वाधिक अवधेय एवम् अनुपेक्षणीय तत्व मानते हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि औचित्य को काव्यजीवित मानने की प्रेरणा क्षेमेन्द्र को आनन्द के इसी औचित्य-प्रतिपादन से प्राप्त हुई है। आनन्दवर्धन ने क्रिया, कारक, वचन, लिंग, समास आदि को भी रस के अभिव्यंजक

1. साहित्यदर्पण सप्तमपरिच्छेद श्लोककारिका नं० 577
2. ध्वन्यालोक 3/9

होने पर ही काव्य में उचित अन्यथा अनुचित बतलाया है ।[1] क्षेमेन्द्र ने इसी के आधार पर क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन आदि के औचित्य की कल्पना अपने ग्रन्थ में की है । आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में रीति तथा वृत्ति के औचित्य पर भी दृष्टिपात किया है । उनके अनुसार रीतियां और वृत्तियां भी यदि अनुचित रूप से काव्य में निबद्ध की गई हों तो वे भी रसभङ्ग का कारण बनती है ।[2] रस सम्बन्धी दोषों में आनन्दवर्धन ने वृत्तियों के अनौचित्य का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है । भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में कैशिकी, सात्वती, भारती तथा आरभटी नामक जिन चार वृत्तियों और उनके विधानों का विशेष रूप से प्रतिपादन किया है, वह तभी चमत्कारजनक हो सकती हैं जबकि औचित्य की परिधि के भीतर निबद्ध हों । इस विषय में आनन्दवर्धन का यह कथन नितान्त युक्तियुक्त है कि—

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः ।
औचित्यवान् यस्ता एव वृत्तयो द्विविधा स्मृताः ।।[3]

अर्थात् काव्य के शब्द और अर्थ का व्यवहार रसादि का पोषक होने पर ही औचित्य सम्पन्न कहा जा सकता है । शृङ्गारादि कोमलरसों में कोमल शब्द और अर्थ का तथा रौद्र, भयानक आदि कठोर रसों में कठोर शब्दों एवम् अर्थों का व्यवहार ही रसानुकूल होने से औचित्य सम्पन्न अतएव चमत्कारी होता है । तात्पर्य यह है कि रस के अनुकूल शब्दार्थ के व्यवहार का नाम ही वृत्ति है, अतः वृत्तियों के रसानुकूलविन्यास में ही औचित्य है, विपरीत में नहीं ।

इसके अतिरिक्त रस-सम्बन्धी औचित्य का आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में बहुत ही विस्तृत विवेचन किया है, रस सम्बन्धी औचित्य ही वास्तव में ध्वन्यालोक का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । उन्होंने रस के अनौचित्य से उत्पन्न अनेक रस-दोषों का विवेचन ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में किया है, उनके द्वारा निर्दिष्ट इन्हीं रसदोषों का वर्णन मम्मट ने "काव्य-प्रकाश" के सप्तम उल्लास में, और विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के सप्तम परिच्छेद में विस्तार से किया है । जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं । आनन्दवर्धन के अनुसार औचित्य ही रस का परमगूढ़ रहस्य है और अनौचित्य ही काव्य का सर्वप्रथम दोष है ।

---

1. सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः ।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्यो लक्ष्यक्रमः क्वचित् ।। (ध्वन्यालोक 3/16)

2. यदि वा वृत्तीनां भरत-प्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालङ्कारान्तर-प्रसिद्धानाम् उपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यं तदपि रसभङ्गहेतुः ।
—ध्वन्यालोक उद्योत 3 पृ० 163

3. ध्वन्यालोक 3/33

आनन्दवर्धनकृत ध्वन्यालोक में निर्दिष्ट औचित्य एवम् अनौचित्य की समीक्षा से हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँच जाते हैं कि औचित्य को व्यापक काव्यतत्व के रूप में प्रतिष्ठित करने का सर्वाधिक श्रेय आनन्दवर्धन को ही जाता है, क्षेमेन्द्र ने एक प्रकार से उन्हीं की आलोचना का सार ग्रहण कर केवल उसे (औचित्य को) एक स्वतन्त्र सिद्धान्त का नाम देने का ही प्रयत्न किया है । वास्तविकता यह है कि आचार्य आनन्दवर्धन ने ही अपनी—

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ।।[1]

इस कारिका द्वारा औचित्य के सिद्धान्त पक्ष का, तथा

वाच्यानां वाचकानाञ्च यद् औचित्येन योजनम् ।
रसादिविषयेणैतत् मुख्यं कर्म महाकवेः ।।[2]

इस कारिका द्वारा उसके व्यवहार पक्ष का स्पष्ट निदर्शन कर दिया था । क्षेमेन्द्र ने उसी का सिद्धान्त रूप में अर्थात् काव्यात्मत्व के रूप में व्यवस्थापन का ही प्रयत्न किया है, उसे औचित्यतत्व का अन्वेषण हम नहीं कह सकते । औचित्य का काव्यात्मत्व भी वस्तुतः विचारमात्र ही है । सिद्धान्ततः नहीं । अर्थात् क्षेमेन्द्र ने औचित्य का विचार ही प्रस्तुत किया है, सिद्धान्त नहीं । यही कारण है कि उन्होंने अपने एतद्विषयक ग्रन्थ का नाम "औचित्यविचारचर्चा" रखा है, "औचित्यसिद्धान्तचन्द्रिका" या "औचित्यसिद्धान्तकौमुदी" नहीं । औचित्य-सम्बन्धी जो विचार, उन्हें आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक से प्राप्त हुआ उसकी विस्तृत चर्चा करना ही उनका (क्षेमेन्द्र का) उद्देश्य था । किसी विषय की चर्चा को हम सिद्धान्त व्यवस्थापन कैसे कह सकते हैं ?

यह ठीक है कि क्षेमेन्द्र ने स्पष्ट शब्दों में "औचित्यं काव्यस्य जीवितम्" कहा है, परन्तु हम यह नहीं भूल सकते कि जिस काव्य का जीवित क्षेमेन्द्र द्वारा कहा गया है, वह रससिद्ध होना चाहिये । रसरूप आत्मा से युक्त काव्य में ही तो गुण, अलङ्कार, रीति आदि के निवेश का औचित्य अथवा अनौचित्य विचारणीय है । रसहीन मुर्दा काव्यशरीर में तो गुण, अलङ्कार आदि के निवेश का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता । जिसे गुणान्वित और अलङ्कृत किया जाता है, वह वस्तु रस ही तो है, उसके प्रति ही गुणों और अलङ्कारों को उचित या अनुचित कहा जा सकता है । स्पष्ट है कि औचित्य या अनौचित्य एक सम्बन्ध है, जो किसी सम्बन्धी के ही आश्रित रहता है, वह सम्बन्धी जैसा कि हम पहले कह चुके हैं—रस के अतिरिक्त अन्य कुछ हो ही नहीं सकता । रस की सिद्धि के लिये अर्थात् काव्य पुरुष की रसरूप

1. ध्वन्यालोक 3/9
2. वही 3/32

आत्मा के उत्कर्ष के लिए जो उचित है, उस का भाव ही तो औचित्य है न ? औचित्य के इस सम्बन्धात्मक स्वरूप को समझने के लिये हमें ध्वन्यालोक के भाष्यकार और क्षेमेन्द्र के साहित्यगुरु, आचार्य, अभिनवगुप्त के औचित्य-सम्बन्धी-विवेचन को जानना आवश्यक है।

अभिनवगुप्त का औचित्यविचार—आचार्य अभिनवगुप्त ने अलङ्कार और अलङ्कार्य का बड़ा मार्मिक विवेचन किया है। उनके अनुसार काव्य में अलङ्कार्य की दो अवस्थायें होती हैं। प्रथम अवस्था वह है, जब काव्य में किसी अलङ्कार्य की सत्ता विद्यमान है। अर्थात् काव्य में अलङ्कार्य के रहने पर ही अलङ्कार उसे अलंकृत करता है, अन्यथा नहीं। किसी मृत शरीर को तो कटक कुण्डलादि अलङ्कार अलङ्कृत नहीं करते। शरीर में यदि आत्मा ही नहीं है तब "मैं अलङ्कृत हूँ" यह अनुभूति किसे होने वाली है ? शवशरीर को तो अलङ्कृत होने की इच्छा या अनुभूति हुआ ही नहीं करती। अलङ्कार की दूसरी अवस्था वह है, जब अलङ्कार्य की सत्ता होने पर भी अर्थात् शरीर में चैतन्य होने पर भी चेतन प्राणी को अलङ्कार की कामना हो और अलङ्कारों मे उसकी वस्तुतः शोभा होती हो। एक विरक्त सन्यासी की न तो अलङ्कारों में रुचि ही होती है और न अलङ्कार उसके वेष के अनुरूप ही हैं। स्पष्ट है कि अलङ्कार न तो शव की शोभा का वर्धक है और न सन्यासी की। इस प्रकार अभिनवगुप्त की सम्मति में काव्य के आत्मभूत रस के अभाव में अलङ्कार की अलङ्कारता कथमपि सिद्ध नहीं होती। साथ ही रस के रहने पर भी उसके स्वरूप (कोमल या कठोर) के विपरीत अलंकार का संविधान भी अलङ्कारता का साधक नहीं है। तात्पर्य यह है कि रस ही काव्य में अलङ्कार्य तत्व है, उसके अभाव में अलङ्कार निष्प्रयोजन है और रस को भी अलङ्कार तभी अलङ्कृत करता है, जब उसके स्वरूप के अनुकूल होता है शृंङ्गारादि। कोमलरस को ओजोगुण व्यञ्जक कठोर शब्दों का अनुप्रास और रौद्र आदि कठोर रस को मृदु शब्दानुप्रास कभी भी अलंकृत नहीं कर सकता।

अभिनवगुप्त के इस विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि काव्य में रस ही आत्मभूत तत्व है, वही अलङ्कार्य है, रस के अभाव में अथवा उसके विपरीत कोई औचित्य नहीं है।[1] जो लोग औचित्य को ही पुनः पुनः आनन्दवर्धन द्वारा रसादि में प्रमुख हेतु प्रतिपादित किये जाने के फलस्वरूप उसे ही काव्य की आत्मा समझने और मानने लगे थे। उनका प्रतिवाद करते हुए अभिनवगुप्त ने औचित्य की बहुत ही समीचीन समीक्षा की है। उनका कथन है कि मूल आधार को समझे बिना

---

1. तथाहि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलङ्कार्यस्य अभावात्। यतिशरीरं कटाकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलङ्कार्यस्य अनौचित्यात्। लोचन पृ० 75 (निर्णयसागर प्रकाशन)

केवल औचित्य का उल्लेख नितान्त अनुचित है। औचित्य तो एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध मात्र है जो उस सम्बन्धी ज्ञान के लिये सापेक्ष है, जिसके साथ उसे जोड़ा जा सके। वह सम्बन्धी रस ही तो है, जिसके प्रति उचित होने के भाव को हम औचित्य कह सकते हैं। स्पष्ट है कि रस और भावादि के अतिरिक्त औचित्य का अन्य कोई निबन्धन नहीं है, अतः वही (रसादि ही) काव्य का प्रधान तत्व है और वही उसका जीवित है।[1] हाँ, औचित्य के बिना रस भी स्थिरता को प्राप्त नहीं कर सकता है, अतः रस के साथ औचित्य का सम्बन्ध बहुत प्रगाढ़ है, इसमें सन्देह नहीं।

आचार्य आनन्दवर्धन का—"औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा" यह कथन रस और औचित्य के इसी प्रगाढ़ सम्बन्ध का अभिलेख है। इस प्रकार रस और औचित्य के संबंध को व्यवस्थापित कर दोनों की यथार्थ स्थिति का ज्ञान कराने में अभिनवगुप्त का महत्व साहित्यशास्त्र में सदा अक्षुण्ण रहेगा। यही कारण है कि क्षेमेन्द्र का औचित्य-सम्बन्धी-आत्मवाद क्षेमेन्द्र से आगे नहीं बढ़ सका। मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज आदि अर्वाचीन बहुमान्य आचार्यों ने अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित औचित्यसम्बन्ध को ही अपने ग्रन्थों में मान्य किया है, आत्मत्व की चर्चा तक उन्होंने नहीं की। प्रतिवाद क्यों नहीं ?

जहाँ तक औचित्य-सम्बन्धी-विचार की बात है, उसकी चर्चा तो हमें भरतमुनि से लेकर काव्यशास्त्र के अन्तिम समीक्षक पण्डितराज जगन्नाथ तक सर्वत्र मिलती है। क्षेमेन्द्र से पूर्व के मान्य आचार्यों का उल्लेख हम पर्याप्त कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त भोज, कुन्तक और महिमभट्ट ने भी अपने ग्रन्थों में औचित्य की पर्याप्त चर्चा की है और उसे काव्य में नितान्त अवधेय तत्व प्रतिपादित किया है। परन्तु क्षेमेन्द्र के पूर्व और पश्चात् भावी किसी भी मान्य आचार्य ने न तो "औचित्यं काव्यजीवितम्" सिद्धान्त का मण्डन ही किया और न खण्डन ही किया है। यह बड़ी विचित्र स्थिति है। संस्कृत-साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में एक भी आचार्य हम ऐसा नहीं देखते, जो काव्य-सम्बन्धी औचित्य से परिचित न हो। साथ ही कोई भी सिद्धान्त हमें काव्य के सम्बन्ध में ऐसा नहीं मिलता जिसका खण्डन मण्डन पर्याप्त मात्रा में न हुआ हो। तब क्या कारण है कि क्षेमेन्द्र के औचित्य-सम्बन्धी काव्यात्मवाद पर आचार्यों की लेखनी खण्डनमण्डन से सर्वथा दूर रही। आचार्य अभिनवगुप्त ने औचित्य के सम्बन्ध-निर्धारण पर जो कुछ लिखा है, उसे हम औचित्य सिद्धान्त का खण्डन नहीं कह सकते। वह तो काश्मीरी विद्वानों में बहुचर्चित औचित्यतत्व का स्वरूप निर्धारण मात्र है। जब अभिनव से पूर्व औचित्य की काव्यात्मता प्रतिष्ठापित ही नहीं थी, तब उनके द्वारा खण्डन का

---

1. औचित्यनिबन्धनं रसभावादिमुक्त्वा नान्यत् किञ्चिदस्ति, इति तदेवान्तर्भाति मुख्यं जीवितम् इत्यभ्युपगन्तव्यम्। लोचन पृ० 208

अवसर ही कहाँ था ? परन्तु क्षेमेन्द्र के पश्चाद् भावी आचार्यों का इस दिशा में मौनावलम्बन क्यों ? यह एक विचारणीय विषय है।

औचित्य-सिद्धान्त-समीक्षा—जब हम औचित्य-सिद्धान्त की बात करते हैं, तब हमारा उद्देश्य औचित्य को काव्य की आत्मा मानने के सिद्धान्त से सम्बद्ध होता है। हमने अब तक इस सम्बन्ध में जो भी विचार किया है, उसका निष्कर्ष यहीं निकलता है कि संस्कृत-समीक्षा के आदि आचार्य भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक की लम्बी आचार्य परम्परा में एक भी आचार्य ऐसा नहीं दिखाई देता, जिसने काव्य में औचित्य की अवधेयता को न स्वीकारा हो। परन्तु सर्वाधिक व्यापक और अवधेय–तत्व होने पर भी उसे (औचित्य को) काव्य की आत्मा क्षेमेन्द्र के अतिरिक्त किसी ने भी नहीं माना। यह ठीक है कि मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज ने ध्वनिमार्ग के प्रवर्तक आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वन्यात्मवाद या रसात्मवाद को अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य और तार्किकता पर आधारित सूक्ष्म विवेचन द्वारा इतने संरम्भ के साथ प्रतिष्ठापित कर दिया कि उसके पश्चात् अन्य कोई भी काव्यात्मवाद साहित्य-क्षेत्र में स्थिर नहीं रह सका, परन्तु यह देखकर आश्चर्य होता है कि संस्कृत-साहित्य के इन तीन सर्वमान्य आचार्यों ने अलंकार, रीति और वक्रोक्ति के काव्यजीवित होने का तो खण्डन किया, परन्तु औचित्य विषयक काव्यात्मवाद के खण्डन में एक वाक्य भी लिखने की कहीं आवश्यकता नहीं समझी। मम्मट आदि जिन तीन आचार्यों का हमने यहाँ उल्लेख किया है, ये संस्कृत साहित्य के वे समीक्षक हैं, जिनके पश्चात् समीक्षा या आलोचना का मार्ग सर्वथा स्थिर हो गया और फिर कोई अन्य वाद उत्पन्न ही नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि संस्कृत समीक्षा के परमाचार्य, काव्य-सम्बन्धी तत्वों की इतिरूपता के निर्णायकों ने औचित्य-विषयक आत्मवाद के खण्डन अथवा मण्डन का प्रयत्न क्यों नहीं किया ?

इस अध्याय के आरम्भ में हम आचार्य क्षेमेन्द्र के काव्यजीवित-तत्व की व्यवस्थापक कारिका के अंशों का विचार करते हुए यह देख चुके हैं कि क्षेमेन्द्र की भावना काव्य में रसात्मकता का अस्वीकार और उसके स्थान पर औचित्य का स्वीकार कदापि नहीं है। वे काव्य को रस के द्वारा ही सिद्ध स्वीकार करते हैं। उनका आशय यही है कि काव्य में रस अवश्य ही जीवित भूत तत्व है। परन्तु वह भी औचित्य के बिना स्थिर नहीं रह सकता है। स्पष्ट है कि उन्होंने औचित्य को "स्थिरं काव्यस्य जीवितम्" जो कहा है, उससे उन्हें औचित्य द्वारा काव्यात्मभूत रस की स्थिरता ही अभीष्ट है। औचित्य का आत्मत्व नहीं। उन्हें यदि औचित्य का आत्मत्व अभीष्ट होता तो आत्मा के स्वतः निर्विवाद रूप से अविनश्वर होने पर भी उसकी स्थिरता के लिये वे "जीवितम्" का "स्थिरम्" विशेषण न जोड़ते।

यही कारण है कि औचित्य को काव्य का जीवित कहकर भी उन्होंने औचित्य-सम्बन्धी-विचार के उपक्रम में ही औचित्य को रस का जीवित कह दिया है—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे ।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥[1]

एक ही औचित्यरूपतत्व को प्रथम काव्य का जीवित कहना और अगले ही क्षण उसे रस का जीवातुभूत बताना यही प्रमाणित करता है कि क्षेमेन्द्र रस की सिद्धि में औचित्य को अत्यन्त महत्वपूर्ण और उपादेय गुण ही केवल मानते हैं, काव्य की या रस की आत्मा नहीं। उनका "जीवितम्" या "जीवातुभूतस्य" यदि "आत्मा" समानार्थक होता तो यह कभी सम्भव नहीं था कि वे एक स्थान पर उसे काव्य की आत्मा कहकर दूसरे स्थान पर रस की आत्मा कहने लगते। भला एक का जीवन दूसरे का जीवन कैसे हो सकता है ? एक ही जीवात्मा दो शरीरों का चैतन्य कैसे बन सकता है ? स्पष्ट है कि जीवातु या जीवित शब्द से तत्सदृश में लक्षणा ही क्षेमेन्द्र को अभीष्ट है, अर्थात् वे औचित्य को जीवित (आत्म या प्राण) के समान काव्य का अनिवार्य गुण मानते हैं। जिसमें किसी की भी असहमति नहीं हो सकती, अतः उसके प्रतिवाद का प्रश्न ही नहीं उठता।

औचित्य के सत्ताईस स्थान

क्षेमेन्द्र ने "औचित्यविचार चर्चा" में 27 औचित्य स्थान गिनायें हैं। ये हैं—

1—पद,	2—वाक्य,	3—प्रबन्धार्थ,
4—गुण,	5—अलंकार,	6—रस,
7—क्रिया,	8—कारक,	9—लिंग,
10—वचन,	11—विशेषण,	12—उपसर्ग,
13—निपात,	14—काल,	15—देश,
16—कुल,	17—व्रत,	18—तत्व,
19—सत्व,	20—अभिप्राय,	21—स्वभाव,
22—सारसंग्रह,	23—प्रतिभा,	24—अवस्था,
25—विचार,	26—नाम,	27—आशीर्वाद ।[2]

यद्यपि काव्य में इनके अतिरिक्त भी औचित्य स्थान हो सकते हैं, परन्तु क्षेमेन्द्र द्वारा निर्दिष्ट उक्त सत्ताईस (27) स्थान काव्य के शरीर में मर्म स्थान के सदृश हैं, जिनमें अनौचित्य होने से काव्य-शरीर उसी प्रकार निर्जीव प्रतीत होने लगता है, जिस प्रकार मानव शरीर मर्म स्थानों में आघात पाकर विकल हो उठता है और तब उसका जीव उसे छोड़ देता है, वह निर्जीव हो जाता है।

---

1. औचित्य विचार चर्चा 3
2. देखिये "औचित्यविचारचर्चा कारिका" 8, 9, 10

उक्त सत्ताईस (27) मर्म स्थानों को उद्धृत कर उन्हें सोदाहरण उपस्थित करना तो हमारा लक्ष्य नहीं, उसके लिये तो "औचित्य-विचार-चर्चा" का अवलोकन करना उचित है, तथापि दो चार प्रमुख औचित्य स्थानों को दिखाकर औचित्य के स्वरूप से पाठकों को परिचित कराना आवश्यक है। उसके बिना औचित्य के क्षेमेन्द्र कृत स्वरूप का आभास पाठकों को मिलना कठिन है।

ऊपर जो सत्ताईस (27) औचित्य स्थान गिनाये गये हैं, उन्हें हम पाँच वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। जैसे—

(1) मीमान्सा दर्शन के विषय—
1–पद, 2–वाक्य, 3–प्रबन्ध। =3

(2) काव्यशास्त्र के विषय—
1–गुण, 2–अलंकार, 3–रस। =3

(3) व्याकरण शास्त्र के विषय—
1–क्रिया, 2–कारक, 3–लिंग,
4–वचन, 5–विशेषण, 6–उपसर्ग,
7–निपात, 8–काल। =8

(4) लोक विषय—
1–देश, 2–कुल, 3–व्रत। =3

(5) कवि सम्बन्धी विषय—
1–सत्व, 2–तत्व, 3–अभिप्राय,
4–स्वभाव, 5–सारसंग्रह, 6–प्रतिभा,
7–अवस्था, 8–विचार, 9–नाम,
10–आशीर्वाद। =10

उपर्युक्त 27 औचित्य स्थानों को हम चाहे किसी भी वर्ग में स्थान दें परन्तु ये सब समष्टि रूप से काव्य शरीर के निर्वाहक हैं। पद और वाक्य तो काव्य के साक्षात् शरीर ही हैं, दण्डी, पीयूषवर्ष, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने तो पद या वाक्य को ही काव्य के रूप में लक्षित किया है, अतः पद और वाक्य सम्बन्धी औचित्य को ही क्षेमेन्द्र के अनुसार हम सर्वप्रथम उपस्थित करते हैं।

पदौचित्य—कहाँ किस प्रसंग और अवस्था में किस पद का प्रयोग उचित और उसके विपरीतार्थक पद का प्रयोग अनुचित होता है, यही दिखाना पदौचित्य के निदर्शन का उद्देश्य है। नीचे के उदाहरणों में हम उसे स्पष्ट देख सकते हैं।

मग्नानि द्विषतां कुलानि समरे त्वत्खड्गधाराकुले,
नाथाऽस्मिन्निति वन्दिवाचि बहुशो देव श्रुतायां पुरा।
मुग्धा गुर्जरभूमिपालमहिषी प्रत्याशया पायसः,
कान्तारे चकिता विमुञ्चति मुहुः पत्युः कृपाणे दृशौ॥[1]

---

1. औचित्यविचारचर्चा

"गुर्जर देश के वीर राजा को दुर्भाग्य से वन में भटकना पड़ गया, उसकी रानी प्यास से विकल हो गई, वन में कहीं पानी नहीं था, परन्तु रानी ने वन्दी जनों द्वारा अपने पति की वीरता के वर्णन में यह सुन रखा था कि उनकी कृपाण की धारा में शत्रुओं के अनेक कुल डूब गये, अत: भोली भाली रानी पानी प्राप्त करने की इच्छा से उस कृपाण की धारा की ओर बार-बार देख रही है", यह परिमल नामक कवि की कल्पना है।

यहाँ चतुर कवि ने रानी का जो "मुग्धा" विशेषण दिया है, वही इस पद्य की समस्त चमत्कारचारुता का पोषक है, यदि वह यहाँ न होता तो यह उक्ति पागलपन के अतिरिक्त अन्य कुछ न समझी जाती। इसी को पद-सम्बन्धी औचित्य कहते हैं। एक "मुग्धा" पद के प्रयोग से ही सम्पूर्ण उक्ति सहृदयावर्जक हो गई है।

कविवर, धर्मकीर्ति के निम्न पद में यह पदौचित्य नहीं है—

पदानौचित्य—

लावण्यद्रविणव्ययो न गणित: क्लेशो महान् स्वीकृत:,
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्ताज्वरो निर्मित:।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद् वराकी हता,
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहतस्तन्व्यास्तनुं तन्वता ।।[1]

"विधाता ने इस सुन्दरी के निर्माण में लावण्य धन भी खर्च किया, अत्यन्त क्लेश भी उठाया, बेचारे आराम से जीवन बिता रहे लोगों के हृदयों में चिन्तन का ज्वर भी उत्पन्न किया, इसके योग्य सुन्दर पुरुष कोई न निर्माण कर स्वयम् इस बेचारी को भी हताश ही किया, पता नहीं विधाता ने इस बेजोड़ सुन्दरी के शरीर का (व्यर्थ) निर्माण करते हुए क्या बात अपने मन में सोची होगी ?"

धर्मकीर्ति की यह सूक्ति परिमल की उपर्युक्त कविता की अपेक्षा कहीं अधिक रमणीय है, किसी रमणी के अलौकिक सौन्दर्य की इससे अधिक क्या कल्पना हो सकती है ? परन्तु कवि ने यहाँ सुन्दरी को "तन्वी" कहकर उक्ति का सम्पूर्ण वैभव नष्ट कर दिया है। तन्वी तो किसी विरह विधुरा नायिका के ही लिये कहा जाता है, यदि इसके स्थान पर कोई सुन्दरी का वाचक पद निविष्ट किया गया होता तो यह उक्ति सहृदय मर्मज्ञों के लिये अत्यन्त हृदयावर्जक होती। केवल एक "तन्वी" पद के अनुचित प्रयोग ने समस्त चमत्कार को नष्ट कर दिया। यह है पद का अनौचित्य। इन उदाहरणों और प्रत्युदाहरणों से सहृदय पाठक क्षेमेन्द्र के पदौचित्य की महिमा से भली-भांति परिचित हो गये होंगे।

नीचे वाक्य-सम्बन्धी-औचित्य और अनौचित्य के उदाहरण देखिये—

वाक्यौचित्य—सम्बन्धी पुरुभूभुजां मनसिजव्यापारदीक्षागुरु-
गौराङ्गीवदनोपमापरिचितस्तारावधूवल्लभ:।

---

1. औचित्यविचारचर्चा

सद्यो मार्जित दाक्षिणात्य तरुणी दन्तावदातद्युति–
श्चन्द्रः सुन्दरि दृश्यतामयमितश्चण्डीशचूडामणिः ।।[1]

अपनी प्रेयसी को अनुकूल करने के लिये नायक जैसे सुन्दरी शब्द से सम्बोधन करता हुआ उगते चन्द्रमा को देखने के लिये कह रहा है। यहाँ चन्द्रमा के जो विशेषण दिये गये हैं, वे सब शृंगार रस के अन्तरङ्ग उद्दीपन हैं, जिनसे समस्त वाक्यार्थ प्रकृतार्थ का पोषक बन गया है।

उक्त पद्य महाकवि राजशेखर का है। इन्हीं महाकवि के अधोनिर्दिष्ट पद्य में यह औचित्य नहीं है—

वाक्यानौचित्य

नाले शौर्यमहोत्पलस्य विपुले सेतौ समिद्वारिधेः,
शश्वत्खड्गभुजङ्ग चन्दनतरौ क्रीडोपधाने श्रियः।
आलाने जयकुञ्जरस्य सुदृशां कन्दर्पदर्पे परं,
श्रीदुर्योधनदोष्णि विक्रमपरे लीनं जगन्नन्दतु ।।[2]

इस पद्य में दुर्योधन की भुजा का वर्णन किया गया है, उसके लिये जो विशेषण दिये गये हैं, उनसे उसका जहाँ एक महान् वीर योद्धा की भुजा होना व्यक्त किया गया है, वहीं उसमें कोमल कमलनाल का आरोप होने के कारण उसकी वीररसोचित कठोरता का आभास भी स्पष्ट प्रतीत नहीं होता है, जो सहृदय रसिकों के लिये नितान्त उपहसनीय हैं। इसीलिये यहाँ सम्पूर्ण वाक्यार्थ वीर रस सम्बन्धी औचित्य से हीन हो गया है।

प्रबन्धौचित्य—समुचित उद्भावना से कोई प्रबन्धकाव्य कितना हृदयहारी हो जाता है। इसका उदाहरण कालिदासकृत मेघदूत के निम्न पद में देखिये—

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां,
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद् दूरबन्धुर्गतोऽहं,
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ।।[3]

मेघदूत के उक्त पद्य में महाकवि कालिदास ने अचेतन मेघ में चेतन का आरोप करते हुए उसमें दूत की योग्यता का आधान करने के लिये मेघ को प्रसिद्ध पुष्करावर्तक मेघों का वंशज होना आदि जिन गुणों का आश्रय कहा है, उनसे समस्त प्रबन्धकल्पित होने पर भी यथार्थ सत्य के रूप में प्रतीत होने लगा है। यही है प्रबन्धौचित्य। इसके विपरीत राजशेखर द्वारा वर्णित सीता स्वयंवर के प्रबन्ध का निम्न उदाहरण देखिये—

---

1. औचित्यविचारचर्चा
2. औचित्यविचारचर्चा
3. मेघदूतम् (पूर्वमेघः) श्लोक 6

प्रबन्धानौचित्य :

रावण—

यत्पार्वतीहठकचग्रहणप्रवीणे
पाणौ स्थितं पुरभिदः शरदां सहस्रम् ।
गीर्वाणसारकणनिर्मितगात्रमत्र
तन्मैथिलीक्रयधनंधनुराविरस्तु ।।[1]

जनक—

आविरस्तु सममगर्भसम्भवया सीतया ।

रावण और जनक का यह संवाद जानकी स्वयंवर सम्बन्धी प्रबन्ध का अङ्ग है। यहाँ रावण शिव धनुष को अपने सम्मुख प्रकट करने के लिए कह रहा है। जनक आज्ञा दे रहे हैं कि सीता सहित वह धनुष प्रकट किया जाय। जनक के इस कथन से प्रतीत होता है कि उन्हें अपनी कुसुमसदृश कोमलाङ्गी कन्या का राक्षस के लिये दान अभीष्ट है, जो कि सहृदयजनों की दृष्टि में कदापि उचित नहीं है।

गुणौचित्य—काव्य में वर्णनीय विषय के योग्य ओज, माधुर्य आदि गुणों का होना कवि की उक्ति को आनन्दमय बना देता है। वीरों की उक्ति में ओज और रसिकों की उक्ति में माधुर्य होना ही गुण सम्बन्धी औचित्य है। भट्टनारायण के वेणीसंहार नाटक में अश्वत्थामा की अधोऽङ्कित उक्ति में यह औचित्य विद्यमान है—

महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्तक-
प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरवानुकारी मुहुः ।
रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः
कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः ।।[2] वेणीसंहारनाटकम् ।

यहाँ वीर शिरोमणि अश्वत्थामा प्रलयमेघ के गर्जन जैसे प्रचण्ड युद्धघोष का उल्लेख कर रहा है, जो ओजोमयी रचना के कारण वीरोक्ति को सहस्रगुणा गौरवान्वित बना रहा है। यही है गुणौचित्य।

गुण का अनौचित्य :

युद्धेषु भाग्यचपलेषु न मे प्रतिज्ञा
दैवं नियच्छति जयञ्च पराजयञ्च ।
एषैव मे रणगतस्य सदा प्रतिज्ञा
पश्यन्ति यत्र रिपवो जघनं हयानाम् ।।[3] कवेश्चन्द्रकस्य पद्यम् ।

कवि चन्द्रक की यह रचना भी किसी वीर शिरोमणि की ही उक्ति है, जो

---

1. औचित्यविचारचर्चा
2. औचित्यविचारचर्चा
3. वहीं

युद्ध में विजय का दावा तो नहीं करता परन्तु यह दावा अवश्य करता है कि युद्ध-भूमि में शत्रु लोग उसके घोड़ों की गरदन ही सदा देखेंगे, जघन (पुठ्ठे) नहीं देखेंगे। यहाँ जो बात कही गई है वह निःसन्देह वीरोचित है, परन्तु इस वीरोक्ति में वह ओज नहीं है, जो एक युद्धवीर की वाणी में होना चाहिए। शब्द रचना इतनी शिथिल है कि वह किसी वीर की उक्ति प्रतीत नहीं होती। यह है गुण का अनौचित्य।

अलङ्कारौचित्य :

विश्रान्तविग्रहकथो, रतिमान्, जनस्य
चित्ते वसन् प्रियवसन्तक एव साक्षात्।
पर्युत्सुको निजमहोत्सवदर्शनाय
वत्सेश्वरः कुसुमचाप इवाभ्युपैति ।।[1] रत्नावली नाटिका।

यह पद्य महाकवि श्री हर्ष की "रत्नावली" नामक नाटिका से उद्धृत है। मन्मथमहोत्सव को देखने के लिये आते हुए वत्सराज उदयन को यहाँ कवि ने साक्षात् कामदेव के समान कहा है। परमशृङ्गारी नायक की कामदेव से की गई यह उपमा अलङ्कार सम्बन्धी औचित्य के कारण कितनी सहृदयहृदयावर्जक है और कितनी चमत्कारिणी है, यह बात सहृदय जन स्वयम् समझ सकते हैं। इसे ही अलङ्कारौचित्य कहते हैं।

अलङ्कार का अनौचित्य :

खगोत्क्षिप्तैरन्त्रैस्तरुशिरसि दोलेव रचिता
शिवा तृप्ताहारा स्वपिति रतिखिन्नेव वनिता।
तृषार्त्तो गोमायुः सरुधिरमसिं लेढि बहुशो
विलान्वेषी सर्पो हतगजकराग्रं प्रविशति ।।[2]

कवेश्चन्द्रकस्य पद्यम्।

कवि चन्द्रक के इस पद्य में लाशों से पटी हुई युद्धभूमि का चित्र उपस्थित किया गया है, जहाँ कौओं और चीलों ने शवों की आँते खींच कर वृक्षों पर फैला दी हैं, प्यासा गीदड़ रक्त से सनी तलवार को बार बार चाट रहा है, और बिल को खोजता हुआ सर्प मरे हुए हाथी की सूंड में घुस रहा है। बीभत्स रस से सम्बद्ध इस पद्य के दूसरे चरण में गीदड़ की मादा को भरपेट मांस खाकर रतिखिन्न वनिता के समान सोई हुई कहा गया है। नरमांस से तृप्त गीदड़गेहिनी की सुरत-केलि से क्लान्त कामिनी के साथ की गई यह समता कितनी अनुचित है, यह सहृदय रसिक स्वयम् समझ सकते हैं। स्थान और कर्म की दृष्टि से दोनों—उपमान और उपमेय

---

1. औचित्यविचारचर्चा
2. औचित्यविचारचर्चा

में महान् अन्तर है। कहाँ तो रमणीय केलिमन्दिर में श्रान्त सोई हुई कामिनी और कहाँ भयङ्कर रणभूमि में सोई जम्बुकी। इसी प्रकार कहाँ तो पुरुष को लोकोत्तर आनन्द प्रदान कर स्वयम् आनन्दमग्न सोई हुई कामिनी और कहाँ पुरुषों का भक्षण कर तृप्त हो, सोने वाली शृगाली। यह है अलङ्कार का अनौचित्य।

रसौचित्य—उचित कथा के द्वारा सुशोभित श्रृङ्गारादि रस सहृदयों के चित्त में परमानन्द को अङ्कुरित कर देता है। महाकवि कालिदास के निम्नाङ्कित पद्य में रस का औचित्य दर्शनीय है—

बालेन्दु वक्राण्यविकासभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥ कुमारसम्भवम्।

कुमारसम्भव में महाकवि कालिदास जगत्पिता महादेव के मन में जगदम्बा पार्वती विषयक अभिलाषश्रृङ्गार के वर्णन की भूमिका के रूप में वसन्तऋतु का उद्दीपनविभाव के नाते वर्णन करते हुए वनस्थली में चारों ओर ईषद् विकसित पलाश कुसुम दोयज (द्वितीया) के चन्द्रमा के समान वक्राकार एवम् प्रगाढ़ लालिमा से भरे हुए ऐसे सुशोभित हो रहे हैं, मानो वनस्थलियों के स्तनादि अङ्गों पर वसन्त ने समागम के समय नखक्षत चिन्हित कर दिये हों। यहाँ वसन्त और वनस्थली के समागम में नायक नायिका समागम का आरोप कर कवि ने पलाश की कलियों में जो नखक्षतों की सम्भावना की है। वह वक्ष्यमाण अभिलाष शृंगार के उद्दीपन की चारुता की अतिशय पोषक है। यही रस का औचित्य है। कालिदास के ही निम्नाङ्कित पद्य में यह बात नहीं है—

रसानौचित्य :

वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोतिनिर्गन्धतया स्म चेतः।
प्रायेण सामाग्न्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः॥[1]

कालिदास का यह पद्य भी प्रसङ्ग से सम्बद्ध है। इसमें कहा गया है कि "कनियर का फूल रङ्ग रूप में तो बहुत सुन्दर है परन्तु गन्धहीन होने से चित्त को खिन्न ही बनाता है, प्रमुदित नहीं करता। प्रायः गुणों की समग्रता में विधाता की प्रवृत्ति पराङ्मुखी ही दिखाई देती है। अर्थात् विधाता इतना कन्जूस है कि किसी को भी सम्पूर्ण गुणों से भूषित नहीं करता"।

यहाँ कनियर के पुष्प का वर्णन कवल विधाता की निन्दा के लिए ही किया गया प्रतीत होता है। प्रस्तुत शृङ्गार रस के उद्दीपन में उसका लेशमात्र भी उपयोग नही है। यही है रस का अनौचित्य।

पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण, अलङ्कार और रस सम्बन्धी उपर्युक्त उदाहरणों द्वारा औचित्य एवम् अनौचित्य की दिशा का बोध यद्यपि क्षेमेन्द्र के औचित्य-सिद्धांत को समझने के लिये पर्याप्त है, तथापि कवि सम्बन्धी विषयों वाले पञ्चमवर्ग से एक दो उदाहरण देखिये—

---

1. औचित्यविचारचर्चा।

सत्वौचित्य—किसी पदार्थ के सामर्थ्य का निदर्शन करने में जो औचित्य प्रदर्शित किया जाता है, उसे ही सत्वौचित्य कहा गया है। क्षेमेन्द्र इस के निदर्शन में अपने "चित्रभारत" नाटक का एक उदाहरण उपस्थित करते हैं, जो निम्नलिखित है—

नदीवृन्दोद्दामप्रसरसलिलापूरिततनुः
स्फुरत्स्फीतज्वालानिविडवडवाग्निक्षतजलः।
न दर्पं नो दैन्यं स्पृशति बहुसत्वः पतिरपा-
मवस्थानां भेदाद्भवति विकृतिर्नैव महताम् ॥[1] चित्रभारतनाटकम्।

"नदियों के उद्दाम जल प्रवाह द्वारा परिपूर्ण शरीर वाला समुद्र अपनी अथाह जलसमृद्धि पर कभी गर्व नहीं करता और न वह बड़वानल की प्रचण्ड ज्वालाओं द्वारा शोषित होने पर दीनता ही प्रकट करता है। इससे सिद्ध है कि महापुरुषों के हृदय पर अवस्थाओं के भेद से कोई विकार उत्पन्न नहीं होता है, वे प्रत्येक स्थिति में एक जैसे बने रहते हैं।"

यहाँ अप्रस्तुत समुद्र के दृष्टान्त द्वारा प्रस्तुत युधिष्ठिर के महान् सत्व के उत्कर्ष का कथन किया गया है, जिससे युधिष्ठिर के धीर गम्भीर सत्व का प्रकाशन उचित रीति से हो सका है। इसे ही सत्वौचित्य कहते हैं।

सत्वानौचित्य

आश्चर्यं वड़वानलः स भगवान्, आश्चर्यमम्भोनिधिः,
यत्कर्मातिशयं विचिन्त्य मनसः कम्पः समुत्पद्यते।
एकस्याशय घस्मरस्य पिबतस्तृप्तिर्न जाता जलैः,
अन्यस्यापि महात्मनो न वपुषि स्वल्पोऽपि जातः श्रमः ॥[2]

भट्टेन्दुराजस्य पद्यमिदम्

"एक ओर बड़वानल का महान् सत्व आश्चर्यजनक है दूसरी ओर समुद्र का भी महान् सत्व आश्चर्य का विषय है। इन दोनों के आश्चर्यजनक कार्य को सोचकर मन में एक विचित्र थिरकन उत्पन्न होती है। देखो न, एक ओर बड़वानल है, जो अनन्त काल से समुद्र के जल को पीये जा रहा है, परन्तु तृप्त ही नहीं होता है, दूसरी ओर एक समुद्र है जो इतना शोषण सहकर भी कभी किञ्चिन्मात्र सन्तप्त नहीं होता है।"

कविवर महेन्द्रराज के इस पद्य में भी अप्रस्तुत बड़वानल और समुद्र के दृष्टान्त द्वारा प्रस्तुत शोषक और शोष्य के आश्चर्यजनक निरन्तर कर्म का निदर्शन किया गया है। एक ओर शोषक है, जो निरन्तर शोषण में लगा हुआ है, दूसरी ओर शोष्य है। जो प्रतिक्षण शोषित होने पर भी किञ्चिन् मात्र सन्तप्त नहीं होता

1. औचित्यविचारचर्चा।
2. औचित्यविचारचर्चा

है । शोषक और शोषित दोनों का ही कर्म वास्तव में आश्चर्य का विषय है, जो दोनों के सत्व (सामर्थ्य) की अक्षुण्णता को प्रकट करने के लिये कहा गया है । परन्तु वास्तविकता यह है कि इस कथन में दोनों का "सत्व" प्रशंसा का पात्र न होकर असत्व के समान निन्दा का पात्र प्रतीत होता है । सहृदय श्रोता या पाठक का हृदय इस उक्ति को सुनकर या पढ़कर यही कहता है कि कैसी निर्लज्ज तृष्णा है, नीच बड़वाग्नि की, अनन्त काल से समुद्र के जल को पिये ही जा रहा है फिर भी तृप्त नहीं होता है । दूसरी ओर समुद्र के विषय में भी यही निन्दनीय धारणा उत्पन्न होती है कि कैसा निर्लज्ज है, यह समुद्र जो अखण्ड अथाह जलराशि का स्वामी होकर भी अपने एकमात्र याचक प्यासे बड़वानल की प्यास नहीं बुझा पाया । इस प्रकार महेन्द्रराज द्वारा किया गया यह सत्वकीर्तन असत्वकीर्तन बनकर रह गया है । यही है सत्व का अनौचित्य ।

नामौचित्य—एक व्यक्ति के अनेक नाम कोशादि में प्रसिद्ध हैं, किस स्थल पर किस नाम का प्रयोग उचित है, यह देखकर नाम का प्रयोग करना ही नामौचित्य है—

इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारः ।
प्रथममपि मनो मे पञ्चवाणः क्षिणोति ।।
किमुत मलयवातान्दोलितापाण्डुपत्रै—
रुपवनसहकारैर्दर्शितेष्वंकुरेषु महाकवि कालिदास ।।"[1]

यह पञ्चबाण पहले ही मेरे हृदय को काट रहा है, फिर उपवन में आम की मञ्जरियों को प्रगटा कर न जाने इससे अधिक और क्या करना चाहता है, इस उक्ति में काटने की क्रिया करने वाले कामदेव का पञ्चबाण नाम लेना उचित ही है । इन्हीं महाकवि के कुमारसम्भव में—

नामानौचित्य—"क्रोधं प्रभो संहर संहरेति ········, इत्यादि प्रसिद्ध पद्य में संहार के अवसर पर रुद्र का भव नाम प्रयोग करना अनुचित है ।"

उपर्युक्त कुछ उदाहरणों से ही क्षेमेन्द्र प्रतिपादित औचित्य का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है । इतना ही हमें अभीष्ट है । इससे अधिक के लिये औचित्यविचार चर्चा को ही पढ़ना चाहिये ।

———

1. कुमारसम्भवम् ।

6
"काव्य में रस और अलङ्कार"

1. रस

रस शब्द और रस पदार्थ से कौन परिचित न होगा ? आबाल-वृद्ध सभी रस शब्द का प्रयोग करते और रस का पान करते दिखाई देते हैं । स्त्री पुरुष, बाल-वृद्ध, सभी अंगूर, सन्तरा, नींबू आदि के साररूप द्रव से और उसके आस्वाद से परिचित हैं । साधारण ग्रामीण बालक भी कम से कम गन्ने के रस से अवश्य परिचित हैं । नींबू, गन्ना आदि के भीतर रहने वाला और किसी प्रकार दबा कर निकाला जाने वाला रस सर्वत्र एक द्रव पदार्थ के रूप में विदित है । इस द्रव रूप रस के अतिरिक्त स्वाद रूप रस भी मीठा, खट्टा, नमकीन, कड़ुआ, कसैला, चरपरा, इन छः प्रकार के रसों को सभी जानते हैं । नागर जन आनन्द रूप रस से भी भली-भाँति परिचित हैं । ग्रामीण जन भी नृत्य गीत आदि में रस लेते दिखाई देते हैं । किसी वस्तु के सार तत्व को भी प्रायः सर्वसाधारण लोग रस जानते और कहते हैं । थोड़ा पढ़ा-लिखा किसान आधुनिक स्वादों की चर्चा करता हुआ, उन्हें जमीन का रस खींच लेने वाला जब कहता है, तब वह सार के अर्थ में रस शब्द का प्रयोग कर रहा होता है । स्वास्थ्य सम्बन्धी किञ्चित् जानकारी रखने वाले लोग बसन्तमालती, मकरध्वज आदि आयुर्वेदिक रसों से भी पर्याप्त परिचित हैं । इन रसों की प्रक्रिया से परिचित लोग पारद (पारा) की रस संज्ञा से भी पूर्ण परिचित होते हैं । इनके अतिरिक्त भी रस शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है । अमरकोश के नानार्थ वर्ग में रस शब्द के छः[1] और हेमचन्द्र-कोश में तेरह[2] वाच्यार्थ बताए गए हैं । इन सभी अर्थों में रस शब्द का प्रयोग भारतीय समाज में और वाङ्मय में चिरकाल से होता आ रहा है ।

ऋग्वेद में रस शब्द—विश्व के पुस्तकालय की सर्वप्रथम पुस्तक ऋग्वेद में हम अनेक अर्थों में रस शब्द का प्रयोग देखते हैं । ऋग्वेद के "रसेन समगस्महि—1–23–23" इस मन्त्रखण्ड में रस शब्द जल के सारभूत अर्थ में प्रयुक्त है । "परि-

1. शृङ्गारादौ, विषे, वीर्ये, गुणे, रागे, द्रवे रसः (अमर० नानार्थवर्ग श्लोक 227)
2. रसः स्वादे, जले, वीर्ये, श्रृंगारादौ, विषे, द्रवे ।
   बले, रागे, गृहे, धातौ, तिक्तादौ, पारदेऽपि च ।। (हेमचन्द्र कोश)

दाय रस दुहे–1–105–2" । इस मन्त्रखण्ड में रस शब्द पुरुष के सार अंश (वीर्य) के अर्थ में प्रयुक्त है । "रसा रजांस्यनुविष्ठिताः 1–187–4, 5" में प्रयुक्त रस शब्द लोक में प्रसिद्ध मधुर, आम्ल आदि षड् रसों का बोधक है । "मध्वो रसो सुगमस्ति–5–43–4" मन्त्रांश में रस शब्द सोमरस का वाचक है । "स्वादु रसो मधु पेयो वराय" यह मन्त्रांश ऋग्वेद में पाँच बार आवृत्त हुआ है ।[1] यहाँ इन्द्र से कहा गया है कि हे इन्द्र, आप जैसे परमवरणीय देव के लिए यह स्वाद और मधुर सोम रस पीने योग्य है । इस स्थल में प्रतिपादित रस की आस्वादरूपता का हमें काव्य-रस में स्पष्ट दर्शन होता है । रस की यह आस्वादरूपता रसनेन्द्रिय का ही विषय है । श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा आस्वाद्य रस के अर्थ में भी रस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अनेक बार प्रयुक्त मिलता है । "ऋषिभिः संभृतं रसम्"[2] "अध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम्" इन मन्त्रांशों में वैदिक सूक्तों को रस कहने का अर्थ श्रोत्रेन्द्रिय के लिए आनन्ददायक है, जिसे काव्य-रस का वेदोक्त आधार कहा जा सकता है । इसके अतिरिक्त—

"धनञ्जयः पवते कृत्व्यो रसो विप्रः कविः काव्येन"[4]

इस मन्त्र में कवि और काव्य के साथ रस शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से काव्यगत रस का प्रत्यायक है । यहाँ कवि एवम् रस रूप सोम को काव्य के द्वारा पवित्र होने वाला कहने से कवि, काव्य और रस का जो पारस्परिक सम्बन्ध बोधित होता है, वही वेद के बाहर विद्यमान काव्य और रस के सम्बन्ध का बीज है । इसके अतिरिक्त "यो वः शिवतमो रसः"[5] इस मार्जन विषयक मन्त्रभाग में जल को जो अतिशय कल्याण कर तथा आनन्द रूप कहा है—वही काव्य-सम्बन्धी रस की आनन्दात्मकता का आदि कारण है ।

ऋग्वेद के अतिरिक्त यजुष्, सामन् और अर्थवन् में भी रस शब्द का प्रयोग इन पूर्वोक्त अर्थों में शतशः विद्यमान है । उदाहरण के लिये "नमो वः पितरो रसाय"[6] "या रसरूपहरणाय"[7] "तां रसेनाभिवर्धताम्" आदि अनेक मन्त्र उपस्थित किये जा सकते हैं ।

नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने लिखा है कि ऋग्वेद से पाठ्य और सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस को ग्रहण कर प्रजापति ने पञ्चम

1. ऋग्वेद 6-44-22/3-48-1/6-6-38/6-47-1/8-1-27
2. वही 9-67-3/सामवेद 5-8-1
3. ऋग्वेद 9-67-32/सामवेद 5-8-2
4. ऋग्वेद 9-84-5
5. ऋग्वेद 10-9-2/शु. य. वे. 11-51/36-15/अथर्व. 1-5-2
6. यजुर्वेद 2-32
7. अथर्व० 1-28-3/4-17-3 (6) अथर्व० 6-67-1

नाट्यवेद का निर्माण किया।[1] रस सम्प्रदाय के आद्य, आचार्य भरतमुनि के इस वचन से नाट्य रस—जो आगे चलकर सामान्यतः काव्यरस बन गया—का मूल आधार वेद ही है, यह बात स्वतः प्रमाणित हो जाती है।

शतपथ ब्राह्मण में रस—शतपथ ब्राह्मण में बतलाया गया है कि प्रजापति ने मनुष्य लोक को अमृतरस का पान कराने के लिए छन्दों में रस का आधान किया। यह रस अब छन्दों से उत्कृष्ट समझा गया। सरस छन्दों से ही इष्ट अर्थ की सिद्धि मानी गई। इन्हीं से यज्ञ का विस्तार हुआ।[2] यहाँ स्पष्ट ही श्रोत्रग्राह्य छन्द रस का प्रतिपादन होने से काव्यरस का संकेत मिलता है। इसी स्थल पर ब्रह्मा को यज्ञ का भिषक् बतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार वैद्य का सम्बन्ध पारद रस से होता है, उसी प्रकार ब्रह्मा का छन्द रस से सम्बन्ध है। लगता है क्षेमेन्द्र ने धातुवाद रससिद्ध शरीर के स्थिर जीवन की तरह ही शृंगारादि रससिद्ध काव्य के औचित्य को जो स्थिर जीवित माना है, उसकी प्रेरणा उन्हें यहीं से मिली है। शतपथ में यह भी कहा गया है कि ऋक् तथा साम में स्थित रस का छन्दों में आधान करने पर देवों को अलौकिक आनन्द प्राप्त हुआ।[3] इससे सिद्ध है कि ऋक् और साम का रस छन्दों के माध्यम से काव्य और नाट्य में आया है। शतपथ ब्राह्मण में "जितने रस उतने ही आत्मा"[4] का उल्लेख करके रस और आत्मा का जो सम्बन्ध बतलाया गया है, वही काव्य-शास्त्रियों द्वारा रस को काव्य की आत्मा मानने में मूल कारण प्रतीत होता है। साथ ही "रसो वै सः" कह कर जो आत्मा के अज्ञेय, अपरिमित होने का उल्लेख किया गया है, वह स्पष्ट ही काव्यरस के अवाच्यत्व और अलौकिकत्व की स्थापना है।[5] इस प्रकार मन्त्रब्राह्मणात्मक सम्पूर्ण वेद में हमें काव्यरस के मूल तत्व सन्निहित दिखाई देते हैं।

रस के विविध रूप—यद्यपि ऋग्वेद में हमें शृंगारादि शब्दों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता तथापि शृंगशब्द—जिसे हम शृंगार शब्द की नामधातु कह सकते हैं—सर्वोच्च, सर्वश्रेष्ठ, उज्ज्वल अर्थों में प्रयुक्त उपलब्ध होता है।[6] ऋग्वेद के अश्वसूक्त

1. जग्राह पाठ्यम् ऋग्वेदात्, सामभ्यो गीतमेव च।
   यजुर्वेदात् अभिनयान्, रसान् आथर्वणादपि ।। (ना. शा. 1,17)
2. ··· पुनः छन्दः सु रसमादधात्। सरसैहि—अस्य छन्दोभिरिष्टं भवति। सरसैश्छन्दोभिर्यज्ञं तनुते। (शत. ब्रा. 1-2-41-8)
3. छन्दोभिर्हि देवाः स्वर्गं लोकं समाश्नुवत ········ तच्छन्दः स्वेतद् रसं दधाति ····" (शत ब्रा. 4-3-2-5)
4. यावानु वै रसस्तावानात्मा। (शत. ब्रा. 7-2-3-4)
5. ऋग्वेद 1-163-9
6. बह्वृच. 1

में अश्व को "हिरण्य शृंग" कहा गया है। यहाँ शृंग शब्द उज्ज्वल चमकीले अर्थ का ही वाचक है, क्योंकि सींग तो अश्व के होते ही नहीं हैं। "बह्वृचोपनिषद्" में शृंगार शब्द का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है—शृंगारकलेति विज्ञायते"। शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों अथवा उनके स्थायी भावों का पर्याप्त उल्लेख ऋग्वेद में उपलब्ध होता है। "नावाजिनं वाजिना हासयन्ति 3-53-23" इस मन्त्र में कहा गया है कि विद्वान् लोग मूर्खों की हँसी के प्रेरक नहीं होते। यहाँ हमें हास्य रस का पूर्ण संकेत मिलता है। "भयेचित् सुक्षितिं दधे 1-40-8" में भयानक रस के स्थायी भाव भय का स्पष्ट उल्लेख है। इसी प्रकार अद्‌भुत शब्द का भी ऋग्वेद में अनेक बार आश्चर्य के अर्थ में प्रयोग उपलब्ध होता है।[1] वीर, रौद्र आदि शब्दों का भी प्रयोग वैदिक वाङ्मय में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। इससे स्पष्ट है कि काव्य-शास्त्रीय रसों का उद्‌गम वेद अथवा वैदिक वाङ्मय से ही हुआ है।

काव्य-शास्त्रीय-रस—हमारा काव्यशास्त्रीय रस शब्द "रस्यते आस्वाद्यते" इस अर्थ में चौरादिक "रस आस्वादन स्नेहनयोः" धातु से "एरच्—पा. सू. 3/3:56" मे अच्—प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। निश्चय ही यह शृंगारादि-रसों की आस्वाद्यमानता का बोधक है। "रसनं रसः" इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न भावसाधन रस शब्द का भी "राहोः शिरः" के समान अभेद सम्बन्ध में अथवा कर्मकर्तृभाव में "रसः स्वाद्यते" प्रयोग समझना चाहिये। इस प्रकार काव्य में आस्वाद का विषय होने वाले शृंगारादि को रस कहा जाता है।

रस का आस्वाद प्रकार—कविराज आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण में रस के हेतु, स्वरूप, आश्रय, आदि के साथ उसके आस्वाद प्रकार को स्पष्ट निर्दिष्ट करते हुए कहा है[2] कि रस सत्वोद्रेक से सहृदय मानस में अपने स्वरूप को प्रकट करता है। इसका आस्वाद अखण्ड, स्वप्रकाश, आनन्दमय और चिन्मय है। इसके आस्वादकाल में अन्य किसी वेदनीय तत्व का स्पर्श नहीं हुआ करता। इसका आस्वाद ब्रह्मास्वाद के समान है। यह सहृदय मानस में लोकोत्तरचमत्कार को उत्पन्न करने वाला है और अपने आकार की भाँति अभिन्न रूप से अनुभव किया जाता है और कोई-कोई प्राक्तन पुण्यशाली सहृदय जन ही अलौकिक रस का अनुभव करते हैं।

रस का स्वरूप—विश्वनाथ द्वारा रस को "ब्रह्मास्वादसहोदरः" कहने से यह

---

1. ऋग्वेद 1-18-6/1-94-12/1-25-11
2. सत्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
   वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
   लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
   स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥ (सा. द. 3-2,3)

"तथ्य स्पष्ट रूप से प्रतीति का विषय होता है कि रस के स्वरूप का निर्धारण उतना ही कष्टसाध्य है जितना कि ब्रह्म के स्वरूप का । दृश्य जगत् में अदृश्यरूप प्रत्यगात्मा ब्रह्म जिस प्रकार अनिर्वचनीय है । उसी प्रकार दृश्य एवम् श्रव्य काव्य का रस भी आदि काल से आज तक अनिर्वनीय, अतएव अज्ञेय, बना हुआ है । वास्तव में रस के आदि आचार्य भरतमुनि ने रस का जो स्वरूप प्रतिपादित किया है, वह स्वयम् इतना अस्पष्ट है कि उससे किसी निश्चित मत या सिद्धान्त तक पहुंचना असम्भव है । यही कारण है कि संस्कृत के सभी आचार्यों ने अपनी मान्यता और धारणा के अनुसार रस के स्वरूप निर्धारण का बहुत प्रचण्ड प्रयत्न किया है, परन्तु रस का कोई एक रूप आज भी निश्चित नहीं है ।

भरतमुनि ने "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः" कह कर जो रस की निष्पत्ति का प्रतिपादन किया है, उसमें निर्दिष्ट विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव को तो हमारे सभी आचार्य निश्चित रूप से पहचान सके हैं और बता सके हैं । परन्तु इनके संयोग से रस की निष्पत्ति को कोई निश्चित नहीं कर पाया है । यथार्थ तो यह है कि स्वयम् भरतमुनि भी इस विषय में असन्दिग्ध नहीं है । अन्यथा वे "संयोगाद् रसनिष्पत्तिः" कह कर जिस रस की निष्पत्ति बताने लग पड़े वह रस क्या है ? और विभावादि के साथ उसका संयोग किस प्रकार का है ? यही उन्हें सर्वप्रथम बताना चाहिए था । तात्पर्य यह है कि जब रस का स्वरूप विवक्षित था तब रस की प्रतिपाद्यावस्था में रस को विधेय रखना उचित था । "रसनिष्पत्तिः" पद में "रसस्य निष्पत्तिः" यह षष्ठीतत्पुरुष समास रस की विधेयता में सहायक नहीं हो सकता । वह तो "इत्थम्भूतो रसः" कहने से ही हो सकता है । उक्त वाक्य में स्पष्ट रूप से निष्पत्ति विधेय है, रस विधेय नहीं है । जिस रस की निष्पत्ति बतायी जा रही है, वह रस है क्या ? यह जिज्ञासा "रसनिष्पत्तिः" कथन में बनी ही रहती है । "संयोग और निष्पत्ति" ये दोनों शब्द भी किसी स्पष्ट अर्थ के प्रत्यायक नहीं है । संयोग शब्द जिस सम्बन्धार्थ का वाचक है, वह सम्बन्ध अनेक प्रकार का होने से अपने स्वरूप को स्पष्ट नहीं कहता । यही हालत निष्पत्ति की भी है । निष्पत्ति का अर्थ-उत्पत्ति, अनुमिति, भुक्ति, व्यक्ति आदि कुछ भी किया जा सकता है । इसी के अनुसार संयोग अर्थात् सम्बन्ध भी जन्यजनक, गम्यगमक, भोज्य-भोजक, व्यंग्य-व्यञ्जक आदि रूप से अनेक प्रकार का माना जा सकता है । विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी का संयोग पारस्परिक है अथवा इनका संयोगी कोई अन्य पदार्थ है, यह बात भी यहाँ स्पष्ट निर्दिष्ट नहीं है । इस प्रकार भरत मुनि का उक्त रससूत्र सर्वथा अप्रमेय वस्तु बनकर रह गया है । ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार प्रत्यगात्मा ब्रह्म आज तक अप्रमेय बना हुआ है । अतः आचार्य विश्वनाथ का रस को "ब्रह्मास्वाद सहोदरः" कहना सर्वथा संगत प्रतीत होता है । सहृदयों द्वारा किया गया आस्वाद ही रस की सत्ता में एक मात्र प्रमाण है, जिसके कारण हम रस की सत्ता से इन्कार नहीं कर

सकते । उपर्युक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि काव्य नाटक में आत्मस्थानीय रस के स्वरूप का निर्धारण बहुत ही कठिन है परन्तु उसकी सत्ता से हम इन्कार नहीं कर सकते । काव्य और नाटक को पढ़ने एवम् सुनने पर एक अलौकिक आनन्द का जो हम अनुभव करते हें निश्चय ही उसके "हेतुभूत-तत्व" काव्य, नाटक में विद्यमान हैं । रस के आदि आचार्य भरतमुनि ने रस के इन्हीं हेतुओं का अपने "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः" इस सूत्र में नामोल्लेख किया है । काव्य, नाटक में रस निश्चित है और रस के हेतु विभावादि भी निश्चित हैं । अर्थात् यह सर्वथा निश्चित है कि काव्य के द्वारा रसानुभूति होती है । यदि रस की अनुभूति सहृदय पाठकों दर्शकों को न होती तो काव्य नाटकों में उनकी साभि निवेश प्रवृत्ति क्यों होती ? इस प्रकार काव्य नाटकों मेंरस के हेतुभूत तत्व न होते तो उनसे रस की अनुभूति क्यों होती ? इसी तर्क से जब काव्य नाटकों में रस और रस के हेतुभूत तत्वों का होना प्रमाणित है, तब तो यही जानना शेष रह जाता है कि उन हेतुओं को विभाव आदि नामों से मुनि द्वारा सम्बोधन करने का क्या कारण है ? क्योंकि ये विभावादि संज्ञाएँ लोक में तो कहीं देखी नहीं जाती हैं । निश्चय ही ये रस के अलौकिक हेतु हैं । अलौकिक हेतुओं द्वारा बोधित वस्तु को और उसकी निष्पत्ति रूप अनुभूति को तथा विभावादि के सयोग को भी अलौकिक होना ही चाहिये । यही कारण है कि किसी लौकिक साधन से अलौकिक रस के स्वरूप को नहीं जाना जा सकता । अतः लौकिक पद्धति से भरतसूत्र की जितनी व्याख्याएँ हुई हैं, वे मान्य नहीं हो सकीं ।

भरतसूत्र की विभिन्न व्याख्याएँ—जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं—भरत सूत्र में उल्लिखित संयोग और निष्पत्ति के अनेक अर्थ विद्वानों ने अपनी मान्यता के अनुसार किये हैं । वे कहाँ तक मान्य और समीचीन हैं ? यह जानने से पूर्व विभावादि के स्वरूप को जान लेना आवश्यक है । क्योंकि हेतु के ज्ञान के बिना हेतुमान् का ज्ञान सम्भव नहीं है । विभावादि क्या हैं ? इस विषय में आचार्य मम्मट का कथन सर्वाधिक स्पष्ट और निर्विवाद है । वे कहते हैं कि "रति आदि स्थायी भावों के जो कारण, कार्य और सहकारी कारण लोक में हुआ करते हैं । वे ही जब काव्य नाटक में निहित होते हैं तब क्रम से विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी कहे जाते हैं ।[1] अर्थात् लौकिक कारणों को विभाव और कार्यों को अनुभाव तथा सहकारी कारणों को व्यभिचारी या सञ्चारीभाव कहा जाता है । स्पष्ट है कि लौकिक कारण-कार्य-

---

1. कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ।
विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः । (का. प्र. 4,27-28)
(व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः)

सहकारी की ही अलौकिक संज्ञा विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी भाव है। आचार्य मम्मट द्वारा किये गये विभावादि के निर्धारण से हम न केवल विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के लौकिक और शास्त्रीय स्वरूप से भली-भाँति परिचित हो जाते हैं, अपितु यह भी स्पष्ट रूप से जान लेते हैं कि विभावादि के जिस संयोग से रस की निष्पत्ति भरतसूत्र में प्रतिपादित हुई है वह संयोग क्या है ? और वह पारस्परिक न होकर उत्तरापेक्षी है। भरतसूत्र में विभावादि के संयोग का अनुयोगी अर्थात् संयोगी कौन है ? यह स्पष्ट नहीं था। मम्मट ने रत्यादि स्थायी भाव का उल्लेख कर उसे स्पष्ट कर दिया है। मम्मट की कारणान्यथ कार्याणि· · · · · ·" आदि कारिका जहाँ विभावादि के स्वरूप का परिज्ञान कराती हैं, वहीं रस और निष्पत्ति का भी स्पष्टीकरण कर देती है, जो भरतसूत्र में स्पष्ट नहीं था। इस प्रकार मम्मट ने तीन कार्य किये हैं।

1. विभावादि का स्वरूप स्पष्ट किया है,
2. रत्यादि स्थायी को विभावादि का संयोगी स्थिर किया है,
3. विभावादि के द्वारा स्थायी भाव की व्यक्ति ही रस है।

यह बताकर रस-निष्पत्ति को स्पष्ट कर दिया है।

मम्मट का यह स्पष्टीकरण उनकी अपनी उपज्ञा है अर्थात् वही इसके प्रथम व्याख्याता हैं, ऐसा नहीं है। उनसे पूर्व अनेक आचार्यों ने अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार भरतसूत्र की व्याख्या की थी। उन सब व्याख्याओं का निष्कृष्टार्थ ही मम्मट ने अपने शब्दों में निबद्ध कर दिया है। साथ ही उन्होंने भरतसूत्र के सर्वमान्य व्याख्याकार आचार्य अभिनवगुप्त के निष्कर्षों को युक्ति और प्रमाण द्वारा इतने संरम्भ के साथ पुष्ट किया कि उसके पश्चात् कोई विरुद्ध मत स्थिर नहीं रह सका और मम्मट ध्वनि-संस्थापक परमाचार्य के विरुद से विभूषित किये जाने लगे। इसीलिये हमने मम्मट को ऊपर उद्धृत किया है।

भरतसूत्र के अन्य व्याख्याकारों के विचार से परिचय प्राप्त कराने को आवश्यक मानकर हम उनका भी यथोचित परिचय कराना अनिवार्य समझते हैं। भरतसूत्र के कई अंशों की अस्पष्टता की जो बात हम ऊपर कह आये हैं, उसके लिये भी विभिन्न मतों को उदधृत करना यहाँ आवश्यक है।

भट्ट लोल्लट का मत—भट्ट लोल्लट मीमांसक थे। मीमांसादर्शन कर्म से जगत् की उत्पत्ति मानता है, अतः यह उत्पत्तिवादी दर्शन कहा जाता है। भट्ट लोल्लट ने अपनी इसी दृष्टि के सहारे रस की उत्पत्ति का विचार किया है। उनके अनुसार भरतसूत्र में अभिहित "रस-निष्पत्ति" का वाच्यार्थ रस की उत्पत्ति है। निष्पत्ति का उत्पत्ति अर्थ समझने पर विभावादि को उत्पादक और रस को उत्पाद्य तथा दोनों

के संयोग को उत्पाद्योत्पादकभाव–सम्बन्ध मानना सहज सिद्ध हो जाता है। भरतसूत्र को सम्मुख रख रस की उत्पत्ति का विचार करते हुए भट्ट-लोल्लट की रसोत्पत्ति का क्षेत्र नाट्य के अतिरिक्त अन्य कुछ हो ही क्या सकता था, अतः भट्ट लोल्लट ने अनुकार्य और अनुकर्त्ता को ही रसोत्पत्ति का आश्रय कहा है। क्योंकि विभावादि के आश्रय वे ही तो हैं। इस प्रकार ललना आदि आलम्बनविभावों और उद्यान आदि उद्दीपनविभावों द्वारा जनित तथा कटाक्ष—भुजाक्षेप आदि अनुभाव जो कि विभावों के कार्य हैं—उनके द्वारा प्रतीतियोग्य किया गया, एवं निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव जो कि सहकारी कारण हैं, उनके द्वारा पुष्टि को प्राप्त हुआ रति आदि भाव रस कहलाता है। यह रस साक्षात् सम्बन्ध से तो राम आदि अनुकार्य में ही रहता है परन्तु अभिनयकाल में नर्तक में ही रामत्व का आरोप दर्शक जन करते हुए होते हैं अथवा नर्तक को ही भ्रमवश राम आदि माने रहते हैं। अतः वह रति आदि भाव नर्तक (अभिनेता) में भी प्रतीत होता है। इस प्रकार अनुकार्य राम आदि में साक्षात् सम्बन्ध से और अनुकर्त्ता में आरोप अथवा भ्रम के वश से दर्शक को रस की प्रतीति होती है। यह है भट्टलोल्लट और उनके अनुयायी विद्वानों की रससूत्र की व्याख्या।

इस व्याख्या में रस का साक्षात् आश्रय अनुकार्य रामादि को और सारोपाश्रय अनुकर्त्ता नट को माना गया है। सहृदय सामाजिक को तो उससे सर्वथा असम्बद्ध ही छोड़ दिया गया है। जबकि रस की अनुभूति वास्तव में सामाजिक ही करते दिखाई देते हैं। यदि सामाजिक का रस से किसी प्रकार का सम्बन्ध न हो तो फिर उसकी प्रवृत्ति नाट्यादि दर्शन में किस हेतु से हो। सामाजिक जो काव्य नाट्य में साभिनिवेश प्रवृत्त देखा जाता है, उससे सिद्ध है कि रस की वास्तविक अनुभूति उसे ही होती है, अनुकार्य या अनुकर्त्ता को नहीं। अनुकार्य राम आदि तो वस्तुतः वहाँ विद्यमान ही नहीं हैं, उनका तो नट के द्वारा अनुकरण मात्र किया जाता है। नट-जोकि अनुकरण कर रहा होता है! वह रसानुभूति के कारण अश्रुपात, भुजाक्षेप आदि चेष्टाएँ नहीं करता। उसे तो वैसा करने के लिये शिक्षा दी जाती है और बार-बार अभ्यास कराया जाता है। यदि वह स्वयम् ही रस का आस्वादक है, तो फिर नाट्य दर्शन के लिए दर्शकों को क्यों आमन्त्रित किया जाता है? सिद्ध है कि नाट्य का निर्माण और प्रदर्शन नाट्य के पात्रों अथवा नटों के लिए नहीं अपितु सहृदय सामाजिकों के लिए ही किया जाता है; यदि सामाजिक रस का ग्रहीता ही नहीं है—जैसा कि भट्ट लोल्लट ने माना है—तब तो नाट्य की उत्पत्ति ही निष्प्रयोजन होगी। अतः भट्ट लोल्लट का मत मान्य नहीं हो सकता।

---

1. काव्यप्रकाश—4 उल्लास पृष्ठ 87

शङ्कुक का मत—शङ्कुक नैयायिक थे। उन्होंने भरतसूत्र की व्याख्या न्याय-दर्शन के अनुसार की है। न्यायदर्शन प्रमाणवादी दर्शन है। इसी से नैयायिक लोग प्रामाणिक भी कहे जाते हैं। न्यायदर्शन किसी भी प्रमेय पदार्थ की सिद्धि, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, इन चार प्रमाणों की कसौटी पर कस कर ही करता है। प्रत्यक्ष केवल—इन्द्रियों द्वारा ही होता है, अतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण मानी जाती हैं। उपमान सादृश्य ज्ञान को कहते हैं, सादृश्य ज्ञान का मूल भी प्रत्यक्ष ही होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष वस्तु के साथ ही अप्रत्यक्ष वस्तु का सादृश्य गृहीत होता है। शब्द प्रमाण द्वारा उसी वस्तु की सिद्धि की जाती है जिसकी सिद्धि में आप्त वाक्य के अतिरिक्त अन्य प्रमाण न हो, जैसे धर्म-अधर्म आदि। रस का कभी प्रत्यक्ष तो होता ही नहीं। प्रत्यक्ष न होने से वह सादृश्य ज्ञानगम्य भी नहीं हो सकता। प्राप्त वाक्य जोकि शब्द प्रमाण माना जाता है, उसका अन्वेषण तभी किया जाता है, जब कोई प्रमेय किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध ही न हो। आचार्य शङ्कुक के मत में रस की सिद्धि अनुमान प्रमाण से हो सकती है। अतः उन्होंने रस को अनुमेय माना है। उनकी दृष्टि में विभावादि साधनों के द्वारा रस का अनुमान होता है। जैसा कि हम पहले कह आये हैं रस का विचार नाट्य को सम्मुख रख कर ही किया गया है! शङ्कुक के विचार से नाट्य मञ्च पर राम-दुष्यन्त आदि का अभिनय करते हुए जिस नट को हम देखते हैं उसमे राम, दुष्यन्त आदि की प्रतीति हमें "चित्रतुरगन्याय" से हुआ करती है, अर्थात् चित्र का तुरग वास्तव में तुरग नहीं है, फिर भी तुरग का आकार होने से हम उसे तुरग ही जानते और कहते हैं। ठीक इसी प्रकार नट भी राम, दुष्यन्त आदि नहीं हैं फिर भी हम उसे वैसा ही जानते और कहते हैं। नटरूप रामादि की चेष्टाएँ यद्यपि वास्तविक रामादि की चेष्टाएँ नहीं हैं तथापि शिक्षा और अभ्यास के बल पर नट ऐसी चेष्टाएँ करता है कि हम उसकी चेष्टाओं को रामादि की चेष्टायें ही समझते हैं। नट और नट की ये चेष्टाएँ ही विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव होती हैं, जिनसे हम नट के भीतर स्थित रति आदि का ज्ञान कर लेते हैं। नट के भीतर स्थित रति, आदि का ज्ञान विभावादि साधनों के द्वारा ही होता है। साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान अनुमितिज्ञान कहलाता है। अतः विभावादि साधनों द्वारा होने वाला रत्यादि ज्ञान अनुमितिज्ञान ही है। इस प्रकार विभावादि को अनुमापक और रस को अनुमेय मानकर भरतसूत्र की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिए कि "विभावानुभावव्यभिचारिभिः साधनैः संयोगाद् =गम्य-गमकभावसम्बन्धाद् रसस्य निष्पत्तिः =अनुमितिः"

इस व्याख्या के अनुसार रस को अनुमान का विषय मान लेने पर अनुमान का रूप यह होगा कि—

"यह दुष्यन्त शकुन्तला विषयक रति से युक्त है। शकुन्तला विषयक-कटाक्षादिव्यापारवान् होने से, यदि रति से युक्त न होता तो शकुन्तला-विषयक कटाक्षादिव्यापारवान् न होता, जो रत्यादि से युक्त नहीं है, वह तज्जन्य व्यापारवान् भी नहीं है, जैसा मैं। इस अनुमान् से दुष्यन्त आदि रूपधारी नट में अनुमित भी रति अन्य अनुमेय वस्तुओं से भिन्न अर्थात् विलक्षण होती है। इसी विलक्षणता के कारण नट में वस्तुतः न होने पर भी सामाजिक को वह वस्तुतः प्रतीत होने लगती है। नट में अनुमित यह रति ही अपने सौन्दर्य के बल से सामाजिक में आस्वाद्यमान होकर चमत्कार उत्पन्न करती हुई रसत्व को प्राप्त करती है। यह रसानुमिति ही रस-निष्पत्ति है। यह हुआ रस विषयक शङ्कुक का मत।[1] शङ्कुक की इस व्याख्या में प्रमुख दोष यह है कि इसमें रस को अनुमानगम्य माना गया है। अनुमानगम्य वस्तु साक्षात् प्रतीति का विषय नहीं हुआ करती, जबकि रस का प्रत्यक्ष अनुभव रसिक जनों को प्रमाण सिद्ध है। इसके अतिरिक्त जिस दुष्यन्त को उक्त अनुमान में पक्ष माना गया है, वह वास्तविक है ही नहीं। कल्पित दुष्यन्त की चेष्टाएँ भी कल्पित ही हैं, कल्पित चेष्टाओं को साधन बनाकर जिस रत्यादि साध्य की सिद्धि की गई है, वह भी कल्पित ही है, वास्तविक नहीं। इन सबसे बड़ा दोष इस अनुमान में यह है कि इसमें अनुमापक सामाजिक को—जो वस्तुतः रस का साक्षात्कार करने वाला है—उसे विपक्ष माना गया है। "यन्नैवं तन्नैवं यथाऽहम्" इस व्यतिरेकी दृष्टान्त में अहम्पदवाच्य सामाजिक जब स्वयम् को विपक्ष मान रहा है, तब उसमें रत्यादि साध्य का अभाव निश्चित है, क्योंकि "निश्चित-साध्याभाववान् विपक्षः" के अनुसार विपक्ष में साध्य का अभाव निश्चित हुआ करता है। इस प्रकार रस को अनुमेय मानने में रस का साक्षात्कर्त्ता सामाजिक ही जब विपक्ष बन जाने के कारण निश्चित रूप से रस का अनाश्रय, अभोक्ता बना दिया गया, तब रस का सामाजिक से सम्बन्ध ही न होने पर; वह किस हेतु से रस का अनुमान मात्र करने के लिए प्रेक्षागृह में जाकर नाट्याभिनय देखने में प्रवृत्त होगा। अतः शङ्कुक का रसानुमितिवाद भी मान्य नहीं हो सकता।

भट्टनायक का भुक्तिवाद—भट्टनायक के मतानुसार काव्य के शब्द अन्य शब्दों से विलक्षण होते हैं, उनमें अभिधाव्यापार के अतिरिक्त एक भावकत्व व्यापार विशेष होता है, जो विभावादि का साधारणीकरण कर देता है, उसके प्रभाव से शकुन्तलादि विभाव दुष्यन्तादि नायक विशेष के न होकर सर्वसाधारण के अर्थात् साधारणतया सभी सहृदयजन के बन जाते हैं, इस भावकत्व व्यापार से भावित हुआ स्थायी रत्यादि सामाजिक के द्वारा भुक्त अर्थात् भोग का विषय बन जाता है। सामाजिक का यह रसभोग उसके सत्व के उद्रेक से प्रकाशित होने वाली आनन्दानुभूति की सततविश्रान्ति

1. काव्य प्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ० 90, वामन झलकीकर।

का धाम ही है, उससे भिन्न नहीं। इस आनन्दात्मक भोगवृत्ति के द्वारा सामाजिक रस का भोग करता है। फलतः रस न तो उत्पन्न होने वाला है, न ही व्यक्त होने वाला है। किसी तटस्थ नायकादि या नट आदि में अथवा स्वयम् सामाजिक में उसकी अनुमेय प्रतीति का तो कोई प्रश्न ही रस के साक्षात् भोग में उत्पन्न नहीं होता। यह है भुक्तिवादी भट्टनायक का मत।[1] इस मत में भरतसूत्र की व्याख्या इस प्रकार होगी—

"विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयोगाद् = भोज्य-भोजकभाव-सम्बन्धात् रसस्य निष्पत्तिः = भुक्तिः

भट्टनायक का यह भुक्तिवाद उत्तरवर्ती रसवादी आचार्यों को बहुत मान्य हुआ है। उत्तरवर्ती व्यक्तिवादी आचार्य भट्टनायक की इस भुक्ति को व्यक्ति से भिन्न नहीं समझते। रस का भोग वास्तव में रस का व्यक्तिभाव ही है। अभुक्त का भुक्त होने लगना भोग है और अव्यक्त का व्यक्त हो उठना व्यञ्जन है। दोनों वास्तव में एक ही वस्तु हैं, दोनों में नाम का ही भेद है। भट्टनायक ने साधारणीकरण के लिए काव्य शब्दों में अभिधा से भिन्न भावकत्व व्यापार को जो स्वीकार किया है वह उत्तरवर्ती आचार्यों को मान्य नहीं है। वास्तव में काव्य के शब्दों को जब अन्य शब्दों की अपेक्षा विलक्षण स्वीकार कर लिया गया तो उनकी अभिधा भी अन्य शब्दों की अभिधा की अपेक्षा विलक्षण व्यापार वाली क्यों न मानी जाए? और उसी के द्वारा साधारणीकरण क्यों न स्वीकार कर लिया जाये? इस प्रकार काव्यशब्दों में अभिधा से भिन्न भावकत्व व्यापार के स्वीकार का गौरव जो भट्टनायक ने वहन किया है, वह अनावश्यक है। इसके अतिरिक्त भट्टनायक के रससम्बन्धी भुक्तिवाद में कोई दोष नहीं है।

आचार्य अभिनवगुप्त का मत— साहित्यशास्त्र अथवा अलंकारशास्त्र में आचार्य अभिनवगुप्त का वही स्थान है, जो व्याकरण शास्त्र में महामुनि पतञ्जलि का है। पजञ्जलि यद्यपि पाणिनि के सूत्रों और कात्यायन के वार्तिकों के भाष्यकार ही हैं, तथापि उनका भाष्य पाणिनि के सूत्रों और कात्यायन के वार्तिकों की अपेक्षा भी अधिक प्रामाणिक माना जाता है। इसी प्रकार आचार्य अभिनव भी भरतमुनि कृत नाट्य-शास्त्र के तथा आनन्दवर्धनकृत ध्वन्यालोक के भाष्यकार हैं परन्तु नाट्यशास्त्र पर उनका अभिनवभारती नामक तथा ध्वन्यालोक पर लोचन नामक भाष्य मूलग्रन्थों की अपेक्षा भी अधिक प्रमाणभूत माना जाता है। कहने को तो उनकी "अभिनव-भारती" और "लोचन" टीका ग्रन्थ ही हैं, परन्तु वास्तव में वे व्याख्येय साहित्य-विषयों का इतना गहन और सूक्ष्म विवेचन करती हैं कि उनकी टीका के सम्मुख मूल ग्रन्थ एकदम स्थूल प्रतीत होने लगते हैं। यही कारण है कि उनके द्वारा की गई

1. काव्यप्रकाश, पृ० 90 वामनझलकीकर

भरतमुनि के रससूत्र की व्याख्या के पश्चात उनके द्वारा उपस्थापित रस सिद्धान्त ही साहित्य-शास्त्र में सर्वमान्य हो गया। उसका प्रतिवाद करने का फिर किसी में प्रथम तो साहस ही न हुआ, यदि किसी ने साहस किया भी तो वह विद्वानों को मान्य नहीं हुआ। आज यह स्थिति है कि आचार्य मम्मट से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सभी उत्तरवर्ती आचार्य अभिनव के रस सिद्धान्त को ही प्रमाण मानकर अपने-अपने ढंग से उसी का समर्थन करते आ रहे हैं। मम्मट के काव्यप्रकाश और विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में रससम्बन्धी तत्वों की जो व्याख्या हमें खण्डशः उपलब्ध होती है, वह अभिनवगुप्त के समुदित व्याख्यान का ही विश्लेषण मात्र है। पण्डितराज ने अपने रस-गंगाधर में रससम्बन्धी पूर्वपक्ष को तो बहुत विस्तार से उपस्थित किया है, परन्तु सिद्धान्त पक्ष वही है जो अभिनवगुप्त द्वारा स्थिर कर दिया गया था। अतः रस-सिद्धान्त को यथार्थरूप में समझने के लिए अभिनवगुप्त की रस सम्बन्धी व्याख्या और उनके द्वारा विवेचित रस के स्वरूप को उपस्थित करना और उसे समझना अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार भरत के रससूत्र में जो सम्बन्ध-वाचक "संयोग" शब्द है, वह व्यंग्यव्यञ्जक-भाव सम्बन्ध का बोधक है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी वे ही हैं जिन्हें मम्मट ने कारण, कार्य और सहकारी कारण कहकर स्पष्ट किया है। सामाजिक के हृदय में वासना रूप से विद्यमान रत्यादि स्थायी के उद्बोधक जो कारण लोक में दिखाई देते हैं, वे ही काव्य नाट्य में विभाव कहे जाते हैं। इस प्रकार लौकिक कारणों का ही अलौकिक नाम विभाव है। इन कारणरूप विभावों के जो कार्य हैं वे ही काव्य नाट्य में अनुभाव और सहकारी कारण ही संचारी या व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। इन विभावों अनुभावों और व्यभिचारियों के संयोग से व्यक्त होने वाला स्थायीभाव ही रस है। इस आधार पर "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः" इस भरतसूत्र की व्याख्या इस रूप में करनी चाहिये कि "विभावानुभावव्यभिचारिभि-र्व्यंग्यव्यञ्जकभावसम्बन्धाद् रसस्याभिव्यक्तिर्भवति" अर्थात् ललनादि आलम्बनकारणों और उद्यानादि उद्दीपन कारणों तथा भुजक्षेपादि कार्यों एवम् निर्वेदादिसहकारी कारणों द्वारा क्रम से विभावित, अनुभावित और संचारित हुआ सहृदय सामाजिक का रत्यादि भाव शृंगार आदि रस के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार सामाजिक में वासना रूप से स्थित रत्यादि ही शृंगारादि रस का बीज है, सामाजिक में रत्यादि की वासना प्राक्तनी और इदानीन्तनी अर्थात् पूर्वजन्मोपार्जित और वर्तमानजन्मोपार्जित दोनों प्रकार की होती है।[2] दोनों ही प्रकार की वासना

1. साहित्यदर्पण, 3/39
सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
2. निर्वासनास्तु रंगांन्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः ॥ (वहीं-धर्मदत्त का श्लोक)

रसानुभूति में कारण है । श्रोत्रियों और पुराने मीमांसकों में जो रसानुभूति नहीं देखी जाती, उसका कारण उन लोगों में इदानीन्तनी वासना का अभाव है । बहुत से रागी पुरुषों को भी जो काव्यरस की अनुभूति नहीं होती उसका कारण उन रागियों में पूर्वजन्म की वासना का न होना है ।[1] इस प्रकार दोनों तरह की वासना रसानुभूति के लिए आवश्यक है । वासनाहीन लोग इसी प्रकार रस का अनुभव नहीं कर पाते जिस प्रकार प्रेक्षागृह की दीवारों और खम्बों को रस का अनुभव नहीं होता ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है---लौकिक कारण आदि की ही अलौकिक संज्ञा विभाव आदि है । अतः अलौकिक विभावादि के संयोग से अभिव्यक्त रस भी अलौकिक ही है ।

रस का अलौकिकत्व–आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा समुदितरूप से प्रतिपादित रस का अलौकिकत्व कविराज विश्वनाथ ने खण्डशः ऐसी सरल रीति से सद्ध किया है कि उसके सहारे अभिनवगुप्त का अभिप्राय हमें झटिति स्पष्ट हो जाता है, 'विश्वनाथ' ने रस सम्बन्धी समस्त लौकिक सम्भावनाओं को एक-एक कर पृथक्-पृथक् निरस्त करते हुए बड़े सुन्दर और सरल ढंग से रस के अलौकिकत्व को सिद्ध किया है । उन्होंने सर्वप्रथम रस के ज्ञाप्य, कार्य और नित्य होने को निरस्त किया है, क्योंकि समस्त लौकिक पदार्थ या तो ज्ञाप्य, या कार्य या फिर नित्य होते हैं, रस इनमें से किसी भी विधा के भीतर नहीं रखा जा सकता है, अतः अलौकिक है ।

रस ज्ञाप्य नहीं है—ज्ञाप्य वह वस्तु होती है जो होती हुई भी किसी कारण-वश प्रतीत नहीं होती है, जैसे घट कुटीर में विद्यमान तो है परन्तु अन्धकार से ढका रहने के कारण प्रतीत नहीं होता है । उसकी प्रतीति के लिए जब हम दीपक आदि किसी प्रकाशक को लेकर घट को देखते हैं तो उसके प्रकाश से घट के आवरक अन्धकार की निवृत्ति हो जाती है, तब पहले से स्थित घट दिखाई देने लगता है । ऐसे स्थल में घट ज्ञाप्य है और दीपक उसका ज्ञापक है । रस भी यदि घट की भाँति ज्ञाप्य हो और विभावादि दीपक के समान उसके ज्ञापक हों तो स्पष्ट है कि दीपकस्थानीय विभावादि की उपस्थिति से पूर्व घटस्थानीय रस अप्रतीत अर्थात् आवृत दशा में कहीं विद्यमान होना चाहिए और पीछे दीपकस्थानीय विभावादि के उपस्थित होने पर वह प्रतीत होना चाहिए । संक्षेप में ज्ञाप्य घटादि का ज्ञापक दीपकादि से पूर्व ही विद्यमान रहना अनिवार्य है । परन्तु क्या रस विभावादि की उपस्थिति से पूर्व विद्य-मान होता है और विभावादि के द्वारा वह प्रतीति का विषय हो जाता है ? नहीं, ऐसा कदापि नहीं होता । विभावादि की उपस्थिति से पूर्व रस की कहीं सत्ता नहीं होती और यदि रस की सत्ता होती है तो वह अवश्य प्रतीत होता है, क्योंकि उसकी

---

1. नायं ज्ञाप्यः स्वसत्तायां प्रतीत्यव्यभिचारतः । (सा० द० 3/51)

सत्ता प्रतीतिरूप ही तो होती है। रस हो और प्रतीत न हो यह कभी सम्भव नहीं है। अतः रस विभावादि का ज्ञाप्य नहीं है।

रस कार्य भी नहीं है—रस के ज्ञाप्यत्व का प्रतिवाद करते हुए हम देख चुके हैं कि विभावादि की प्रतीति से पूर्व रस की प्रतीति नहीं होती है। इस स्थिति में यही सम्भव है कि विभावादि की प्रतीति के पश्चात् रस की प्रतीति होती है। यदि ऐसा है तब तो विभावादि की प्रतीति रस की प्रतीति का कारण और रस प्रतीति उसका कार्य ठहरती है। इस प्रकार रस कार्य हुआ। यदि कार्य है तो अन्य कार्य वस्तुओं के समान रस भी लौकिक पदार्थ ही हुआ, अलौकिक कैसे ? इस प्रश्न के समाधान में विश्वनाथ का कथन है कि रस कार्य नहीं है, क्योंकि यदि रस कार्य होता तो विभावादि उसके कारण होंगे और तब रस की प्रतीति के काल में विभावादि की प्रतीति नहीं होगी। कारण ज्ञान और कार्य ज्ञान युगपत् नहीं हुआ करते, चन्दन के स्पर्श का ज्ञान और उससे होने वाले सुख का ज्ञान कभी युगपत् नहीं होता। रस की प्रतीति के काल में विभावादि की प्रतीति नियमेन होती है। अतः विभावादि की प्रतीति रस प्रतीति का कारण नहीं कही जा सकती। तात्पर्य यह है कि विभावादि के समूह को आलम्बन बनाकर होने वाली तत्समूहात्मक रस-प्रतीति विभावादि–प्रतीति का कार्य नहीं हो सकती। अतः रस कार्य भी नहीं।[1]

रस नित्य भी नहीं है—जबकि रस न तो ज्ञाप्य है, न कार्य, तब तो रस नित्य पदार्थ हुआ। जो पदार्थ न तो ज्ञाप्य होते हैं और न कार्य, वे नित्य ही हुआ करते हैं, जैसे आकाश-आकाश न ज्ञाप्य है और न कार्य अतएव नित्य है। इसी प्रकार रस भी नित्य ही होना चाहिये। यदि रस आकाश के समान नित्य है तब भी वह आकाशवत् लौकिक ही हुआ, अलौकिक कैसे ? इस प्रश्न के समाधान में विश्वनाथ कहते हैं—[2]

रस नित्य पदार्थ नहीं है। क्योंकि जो नित्य होता है उसकी सत्ता अपनी प्रतीति से पूर्व भी हुआ करती है, जैसे आकाश जब अन्धकार आदि के कारण प्रतीत नहीं होता तब भी उसकी सत्ता रहती है, परन्तु रस ऐसा नहीं है। प्रतीति से पूर्व उसकी सत्ता नहीं होती। विभावादि के संयोग से जब वह प्रतीत होता है तब उस प्रतीति काल में ही उसकी सत्ता होती है, उससे पूर्व नहीं। अतः रस नित्य भी नहीं है।

रस भविष्यन् भी नहीं है—जब रस नित्य नहीं है, क्योंकि विभावादि की

1. यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मकः, तस्मान्न कार्यः (सा० द० 3/52)

2. नो नित्य; पूर्व संवेदनोज्झितः।
असंवेदन काले हि न भावोऽप्यस्यविद्यते। सा० द० 3/53

प्रतीति से पूर्व उसकी सत्ता नहीं है । तब निश्चित ही रस की सत्ता विभावादि की प्रतीति के पश्चात् होती है, यही सिद्ध होता है । यदि रस विभावादि की प्रतीति के उत्तरकाल में होने वाली वस्तु है, तब तो वह भविष्यन् हुआ । अर्थात् रस ऐसी वस्तु है जो भविष्यत्कालभावी है । यदि ऐसा है, तब भी रस लौकिक ही है, क्योंकि सभी लौकिक पदार्थ अपने ज्ञापक या कारक कारणों के उत्तरकालभावी होते हैं । इसका समाधान विश्वनाथ इस युक्ति से करते हैं कि जिस काल में विभावादि प्रतीत होते हैं, सर्वथा उस ही काल में रस भी प्रतीत होता है । विभावादि की प्रतीति पूर्वकाल-भावी और रस की प्रतीति उसके उत्तरकालभावी हो, सो बात नहीं है । ये दोनों–विभावादि और रस–सर्वथा समकालभावी हैं । विभावादि–प्रतीति के युगपत् ही–एक क्षण बाद भी नहीं–रस की साक्षात् प्रतीति होती है । अतः उसे उत्तरकाल भावी समझकर भविष्यत् कहना ठीक नहीं । यदि रस भविष्यत् होगा, तब तो ज्ञाप्य या कार्य ही होगा । परन्तु वह ज्ञाप्य या कार्य नहीं है, यह पहले ही कहा जा चुका है । अतः रस भविष्यत् नहीं है ।[1]

रस वर्तमान भी नहीं है---यदि रस विभावादि के काल में ही अर्थात् उनकी प्रतीति की वर्तमानता में ही विद्यमान रहता है, तब तो वह भी वर्तमान ही हुआ इसको निरस्त करते हुए विश्वनाथ कहते हैं कि यदि रस वर्तमान वस्तु होगा तब तो अवश्य ही वह कार्य या ज्ञाप्य के भेद के अन्तर्गत आ जायेगा । रस के कार्य या ज्ञाप्य होने का पहले ही खण्डन किया जा चुका है । अतः वह वर्तमान भी नहीं है ।[2]

रस निर्विकल्पकज्ञान संवेद्य भी नहीं—उपर्युक्त युक्तियों से ज्ञाप्य, कार्य, नित्य, भविष्यत्, वर्तमान आदि किसी भी विकल्प से रहित होने के कारण रस को निर्वि-कल्पक ज्ञान द्वारा संवेद्य कहा जाना चाहिये । अर्थात् जब यह रस ऐसा पदार्थ है, जो ज्ञाप्य, कार्य, आदि किसी भी विकल्प (विशिष्ट कल्पना) के भीतर नहीं आता, तब तो इसे निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा विदित होने वाला नाम जात्यादि विशिष्ट योजनाहीन पदार्थ ही कहा जाना चाहिए । यदि ऐसा ही है, अर्थात् क्या है ? कैसा है ? इत्यादि कुछ भी, जिसके विषय में न कहा जा सके, केवल "कुछ है"[3] ऐसी निर्विकल्पक ज्ञान संवेद्य वस्तु भी लौकिक ही होती है, लोक में जितने पदार्थ पाये जाते हैं, वे निर्वि-कल्पक या सविकल्पक ज्ञान द्वारा ज्ञेय ही होते हैं । उदाहरण के लिए महाकवि माघ द्वारा आकाश से नीचे उतरते हुए परम तेजस्वी देवर्षि नारद को ऐसे ही निर्विकल्पक पदार्थ के रूप में चित्रित किया गया है । वहाँ उन्हें देखते हुए भी कोई यह नहीं जान

---

1. नापि भविष्यत् । साक्षादानन्दमयस्वप्रकाशरूपत्वात् । सा० द० 3/53
2. कार्य-ज्ञाप्य-विलक्षणभावात् नो वर्तमानोऽपि । सा० द० 3/23
3. गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः, प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः ।
   पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः ।।
   (शि० व० 1/2)

पा रहा है कि यह क्या है ? रस के विषय में भी यही स्थिति है, नारद के उदाहरण में जिस प्रकार द्रष्टा उतना तो समझ रहे हैं कि यह एक चारों ओर फैलता हुआ तेज है, परन्तु क्या है ? किन विकल्पों वाला है ? यह नहीं समझ रहे हैं, उसी प्रकार सहृदय जन यह तो जानते और अनुभव करते हैं कि—रस है, परन्तु यह नही कह सकते हैं कि यह कैसा है, अतः स्पष्ट है कि रस निर्विकल्पकज्ञानज्ञेय वस्तु है ।[1] यदि ऐसा ही है तब भी रस लौकिक ही है, अलौकिक नहीं । क्योंकि निर्विकल्पकज्ञानज्ञेय वस्तु भी लौकिक ही होती है, जैसे नारद ।

इस तर्क का उत्तर देते हुए आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि रस भले ही कार्य, ज्ञाप्य आदि भेदों में नहीं आता है तथापि सहृदयजन इसमें रहने वाले विभाव आदि को स्पष्ट रूप से देखते और समझते हैं ।[2] वे यह भी अनुभव करते हैं कि यह परम आनन्द रूप है । इस प्रकार विभाव आदि जो रस के ही साक्षात् अवयव हैं—उनका प्रत्यक्ष परामर्श होने और रस की आनन्दात्मक अनुभूति होने से रस को निर्विकल्पक ज्ञान संवेद्य नहीं कहा जा सकता । अतः रस का अलौकिकत्व खण्डित नहीं होता, वह अलौकिक ही है ।

इसी आधार पर नारद के उदाहरण में नारद भी एक "सर्वतः विसारि धाम" के रूप में स्पष्ट अनुभव का विषय होने के कारण यदि निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं ठहरते हैं तो न सही ।

वह सविकल्पक संवेद्य भी नहीं—उक्त रीति से रस का निर्विकल्पक ज्ञान संवेद्य होना निरस्त हो जाने पर परिशेष न्याय से रस का जो सविकल्पक संवेद्य होन प्राप्त होता है वह भी सम्भव नहीं है । क्योंकि सविकल्पक ज्ञान गम्य पदार्थ वचनों का विषय हुआ करता है अर्थात् उसे हम स्पष्ट शब्दों में कह सकते हैं, परन्तु रस का कथन शब्दों में हो ही नहीं सकता, अतः रस सविकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं है ।[3] इस प्रकार ज्ञाप्य, कार्य, नित्य भविष्यत्, वर्तमान, निर्विकल्प संवेद्य और सविकल्पक संवेद्य आदि भेदों के अन्तर्गत न होने से रस को परोक्ष ज्ञान का विषय कहा जाये, यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि परोक्ष का साक्षात्कार नहीं हुआ करता, जबकि रस का साक्षात्कार सकलसहृदयों के अनुभव से सिद्ध है ।[4] अतः वह परोक्ष भी नहीं है । [5] परोक्ष के अभाव में उसे प्रत्यक्ष समझ लेना भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष

---

1. विभावादिपरामर्शविषयत्वात् सचेतसाम् ।
परानन्दमयत्वेन संवेद्यत्वादपि स्फुटम् ।
न निर्विकल्पकं ज्ञानं तस्य ग्राहकमिष्यते । (सा० द० 3/54)
2. तथाभिलापसंसर्ग योग्यत्वविरहान्न च, सविकल्पकसंवेद्यः (वही)
3. साक्षात्कारतया न च परोक्षस्तत्प्रकाशः । (वही 3/55)
4. नापरोक्षः शब्दसम्भवात् । सा० द० 3/55
5. तस्मादलौकिकः सत्यं, वेद्यः सहृदयैरयम् (सा० द० 3/56)

वस्तु स्पष्ट रूप से इन्द्रियग्राह्य हुआ करती है और रस कभी इन्द्रिय ग्राह्य होता नहीं, वह तो शब्दों से ही जाना जाता है, अर्थात् केवल शब्दप्रमाण से वेद्य है। शब्द प्रमाण से वेद्य धर्माधर्मादि की भाँति रस भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं है।[1]

इस तरह लौकिक पदार्थ के जितने भी स्वरूप, प्रकार और साधन हो सकते हैं, उनसे भिन्न होने के कारण रस एक सर्वथा अलौकिक वस्तु सिद्ध होता है। ऐसे अलौकिक रस के होने में क्या प्रमाण है ? यह तो सहृदयजन ही बता सकते हैं, जो रस का अनुभव करते हैं। काव्य जगत् में ऐसे सहृदयरसिकों की कमी नहीं है, जो रस का अनुभव करते हैं और उसके आनन्द-सन्दोह में मग्न होते दिखाई देते हैं। सहृदयरसिकों का आनन्दानुभव ही रस की सत्ता का पुष्ट प्रमाण है।[1]

रस की निष्पत्ति—रस अलौकिक है और वह व्यक्त होता है अर्थात् व्यञ्जना वृत्ति से जाना जाता है, काव्यशब्दों की अभिधा या लक्षणा और काव्य में प्रयुक्त वाक्यों की तात्पर्यवृत्ति से रस को नहीं जाना जा सकता। ऐसी स्पष्ट स्थिति में भी भरतमुनि—जो रस मन्त्र के द्रष्टा ऋषि माने जाते हैं—उन्होंने अपने रससूत्र में रस की निष्पत्ति कहकर रस को निष्पन्न होने वाला क्यों कहा ? निष्पन्न होना तो शब्दशक्ति के अनुसार कृति का विषय होना ही है। रस कृति, ज्ञप्ति आदि भेदों से परे है, यह हम ऊपर देख चुके हैं। ऐसी स्थिति में निष्पत्ति किसकी होती है ? यह प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, जिसका समाधान अभिनवगुप्त ने जो सूत्र शैली में किया है, उसी को भाषित करते हुए विश्वनाथ कहते हैं कि भरतमुनि ने जो रस की निष्पत्ति कही है, वह वस्तुतः रस के आस्वाद की निष्पत्ति है, रस की नहीं। आस्वाद की निष्पत्ति को ही भरतमुनि ने रस की निष्पत्ति कहा है। तात्पर्य यह है कि रस का आस्वाद किया जाता है, यह तो अनुभवसिद्ध है ही। अतएव भरतमुनि ने आस्वाद में ही रस को उपचरित (आरोपित) कर आस्वाद की निष्पत्ति को ही रस की निष्पत्ति कह दिया है। यद्यपि आस्वाद भी कोई रस से भिन्न वस्तु नहीं है, रस आस्वाद स्वरूप ही है, तथापि आस्वाद सर्वदा नहीं होता, कभी-कभी होता है, आस्वाद का कदाचित् होना ही आस्वाद की निष्पत्ति है, आस्वाद की निष्पत्ति को ही मुनि ने रस की निष्पत्ति (कृति) कहा है। इस दृष्टि से हम भी रस की निष्पत्ति को रस की कृति कह सकते हैं।[3]

रस स्वप्रकाश और अखण्ड कैसे ? पहले हम रस को प्रकाश और अखण्ड कह आये हैं। इस विषय में भी यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव, स्थायी भाव (रत्यादि) से संयुक्त होते हैं, तभी रस निष्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ रही है कि विभावादि के द्वारा रस प्रकाशित होता है, स्वयम् नहीं। तब उसे स्वप्रकाश (स्वयम् प्रकाशित होने वाला) क्यों कहा

---

1. नापरोध : शब्दसम्भावात् (सा० द० 3/55)
2. तस्माद्लौकिक : सत्ययं, वेद्य : सहृदयैश्यम सा० द० 3/56)
3. निष्पत्या चर्वणस्यास्य निष्पत्तिरुपचारतः (सा० द० 3/58)

जाता है ? और जब विभावादि चार अवयवों के संयोग से रस निष्पन्न होता है, तब ये चार अवयव रस के चार खण्ड ही होते हैं, तब उसे अखण्ड भी कैसे कहा जाएगा ?

यह बड़ा सूक्ष्म प्रश्न है, इसे सुलझाते हुए आचार्य विश्वनाथ कहते हैं, कि यह समझना ठीक नहीं है कि विभावादि का सम्मिलन रस को उत्पन्न करता है, अपितु, विभावादि का सम्मिलन ही रस है और ये विभावादि जिनका सम्मिलन रस है--सब ज्ञान रूप है, वस्तुरूप या क्रियारूप नहीं है। विभावादि ज्ञान से संवलित रत्यादि ज्ञान ही रस है। वेदान्तदर्शन के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश ही होता है। ज्ञानधारा को कोई हाथ से ढकेलकर हृदय में प्रविष्ट नहीं कराया करता, वह ज्ञाता के हृदय में स्वयं प्रकाशित हुआ करती है। ज्ञानधारा के टुकड़े भी नहीं किए जा सकते हैं, वह स्वभावतः अखण्ड होती है। अतः आनन्दसंवलित रत्यादि-ज्ञानधारा-स्वरूप रस को स्वप्रकाश और अखण्ड रूप ही समझना युक्ति-युक्त है[1] इसी युक्ति से वेदान्त मत में आत्मज्ञान को स्वप्रकाश और अखण्ड माना गया है।[2]

रस का आश्रय—आचार्य अभिनवगुप्त के रससम्बन्धी जिस अभिमत का हम आचार्य विश्वनाथ की व्याख्या के आधार पर विश्लेषण ऊपर कर आये हैं, उसमें रस के आश्रय अर्थात् रस का अनुभव करने वाले सामाजिक का भी उल्लेख करते हुए सब के अन्त में आचार्य अभिनवगुप्त के मत का सादर उल्लेख किया है और उसी के आधार पर अपना अभिमत स्थापित किया है। परन्तु उन्होंने "लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववताम्"········से आरम्भ कर "इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः" तक अभिनवगुप्त के सिद्धान्त का उपन्यास मात्र करके ही सन्तोष कर लिया। उसके भिन्न-भिन्न अवयवों का खुलासा करने की आवश्यकता नहीं समझी। आचार्य अभिनव के सिद्धान्तोपन्यास के आरम्भ में ही प्रमदा आदि के द्वारा स्थायी के अनुमान में अभ्यास और पटुता रखने वाले जिन सामाजिकों क उल्लेख किया गया है, और उन्हीं में वासना के रूप में स्थित रत्यादि को रस कहा गया है।[3] रस के आश्रयभूत उन सामाजिकों का थोड़ा भी स्पष्टीकरण अपने शब्दों में नहीं किया। यहाँ तक कि रस की जो परिभाषा उन्होंने" "कारणान्यथ कार्याणि ······" आदि कारिका के द्वारा की है उसमें भी "व्यक्तः स तै–विभावाद्यैः" कहकर पूर्वोक्त विभावादि का पुनः स्मरण तो कराया है परन्तु "कुत्र कस्मिन् आश्रये व्यक्तः" इस

---

1. रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद् रसो भवेत्।
अतोऽस्य स्वप्रकाशत्वम् अखण्डत्वञ्च सिद्धयति ।। (सा० द० 3/60)

2. ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वमनङ्गीकुर्वतामुपरिवेदान्तिभिरेव
पातनीयो दण्डः। (वहीं)

3. सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितो रत्यादि. . . . (का० प्र० 4/27)

आकांक्षा की पूर्ति को आवश्यक नहीं समझा। आचार्य विश्वनाथ ने अपने रससामान्य के लक्षण में "रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्" कहकर यह स्पष्ट कर दिया कि जो रत्यादि स्थायीभाव रसता को प्राप्त करता है, वह सहृदय सामाजिक का है न कि राम आदि अनुकार्य अथवा नट आदि अनुकर्त्ता का। आचार्य विश्वनाथ स्वयम् एक रससिद्ध कवि थे। वे रस के उपभोक्ता सहृदय के महत्व को खूब समझते थे। इसीलिए उन्होंने रस के आस्वादक का सचेता, प्रमाता, सहृदय आदि शब्दों द्वारा अनेक बार उल्लेख कर अपने पाठकों को पुनः-पुनः स्मरण कराया है कि रस का आश्रय सहृदय सामाजिक के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है।[1]

कविराज आचार्य विश्वनाथ का योगदान--इस प्रकार रस के आश्रय को स्पष्ट करने में आचार्य विश्वनाथ का सर्वाधिक योगदान है। मम्मट ने जिन चार रसवादी आचार्यों के मत का उल्लेख किया है, उनकी अपनी ओर से स्वीकारात्मक या अस्वीकारात्मक व्याख्या नहीं की है। इस कारण रस का आश्रय अनिर्णीत था। यद्यपि अभिनवगुप्तपाद द्वारा स्वीकृत आश्रय का ही विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादन किया है, क्योंकि अभिनवगुप्त ने सामाजिक के हृदय में वासनारूप से स्थित रत्यादि को ही रस कहा है। तथापि अभिनव के जिस रस-सिद्धान्त का उल्लेख मम्मट ने काव्यप्रकाश में "इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः" कहकर किया है उसकी शब्दावली से यह बात स्पष्ट और असन्दिग्ध रूप से प्रतीत नहीं होती कि रस का प्रमाता सामाजिक ही है। उसके शब्दों से यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि जो रत्यादि स्थायी भाव रस पदवी को प्राप्त करता है, वह सामाजिक का है, परन्तु उसका आस्वादक वह स्वयम् ही है, यह स्पष्ट नहीं होता। यदि यह कहें कि सामाजिक में वासना रूप से स्थित रत्यादि का अनुभावक सामाजिक से भिन्न अन्य कौन हो सकता है? तब इस पर यह प्रतिप्रश्न उपस्थित होता है कि "सामाजिक" किसी एक व्यक्ति का नाम है या अनेकों का? यदि एक व्यक्ति ही सामाजिक है तो "सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी" कहकर अभिनव ने बहुवचन का प्रयोग किसके लिए किया? यदि सभी सामाजिकों का स्थायी भाव रस होता है, और वे सभी उसके आस्वादक हैं, तो "प्रमात्रा प्रमाणकरसन्यायेन चर्व्यमाणः" कह कर अभिनव ने किसी एक प्रमाता को रसास्वाद करने वाला क्यों कहा? तात्पर्य यह है कि अभिनव के "सामाजिकानां

---

1. क–रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् (सा० द० 3/33)
ख–कैश्चित् प्रमातृभिः स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः (वही)
ग–प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते (सा० द० 3/40)
घ– ....विभावादिः सचेतसां, प्रपानकरसन्यायात्
चर्व्यमाणो रसो भवेत्। (सा० द० 3/46)
ङ–विभावादिपरामर्शविषयत्वात् सचेतसाम्......(सा० द० 3/54)
च–तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम्......(सा० द० 3/56)

वासनात्मतया स्थितः स्थायीरत्यादिः—प्रमात्रा चर्व्यमाणः श्रृंङ्गारादिको रसः"[1] अर्थात् "सामाजिकों का स्थायी–जो उनमें वासनात्मतया पहले से स्थित है, वह प्रमाता द्वारा चर्व्यमाण होता हुआ रस कहाता है" इस एक ही वाक्य में रत्यादि की स्थिति सामाजिकों में और उसकी चर्वणा करने वाला प्रमाता को कहा गया है। यदि सामाजिक और प्रमाता एक ही है, तब दोनों में वचन और विभक्ति भेद क्यों किया गया ? यदि भिन्न है, तब तो रत्यादि स्थायी के आश्रय अनेक सामाजिक और रस का आश्रय एक प्रमाता होने से "स्थायी ही रस है" यह मूल सिद्धान्त ही भ्रष्ट हो जाता है। अतः यह स्पष्ट होना आवश्यक है कि जो स्थायीभाव का आश्रय है, वही रस का आश्रय है, उसे सामाजिक कहें यह प्रमाता ? आचार्य विश्वनाथ का समस्त संरम्भ इसी दिशा में है। अतः आश्रय के निर्धारण में हम उनका बहुत बड़ा योगदान मानते हैं।

साधारणीकरण—अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि काव्य नाटकों में स्थित शकुन्तलादि विभावों द्वारा विभावित तथा दुष्यन्तादि की आन्तरिक एवम् वाह्य, दैहिक एवम् वाचिक विकृतियों द्वारा अनुभावित तथा चिन्ता, विषाद, वितर्क आदि द्वारा संचारित हुआ सामाजिकों का रत्यादि स्थायीभाव रस बन जाता है। यही बात आचार्य अभिनवगुप्त ने और उनके अनुयायी मम्मट, विश्वनाथ पण्डितराज आदि आचार्यों ने कही है। रसस्वरूप के इस प्रतिपादन में एक बात बड़ी विचित्र दिखाई देती है। वह यह है कि जो शकुन्तलादि विभाव दुष्यन्तादि की रति के उद्‌बोध के कारण हैं, उन्हीं से सामाजिक की रति का उद्‌बोध स्वीकार किया गया है। यह कैसे सम्भव है ? एक दुष्यन्तादि की रति के उद्‌बोध का प्रत्यक्ष अनुभूत कारण शकुन्तलादि, अनेक असम्बद्ध सामाजिकों की रति के उद्‌बोध का कारण क्यों हो जाता है ? इसका उत्तर अभिनवगुप्त और उनके अनुयायी आचार्यों ने यह कहकर दिया है कि यह काव्य शब्दों में विद्यमान साधारणीकरण व्यापार की महिमा है, जो अन्य के रत्यादि के उद्‌बोधक कारणों से अन्य अनेकों की रत्यादि का उद्‌बोध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि काव्य के शब्दों में एक ऐसी विलक्षण शक्ति है, जिससे विभावन के साथ विभावों का साधारणीकरण भी हो जाता है। उसी साधारणीकरण के प्रभाव से सहृदय सामाजिक दुष्यन्तादि के साथ अभेदरूपता स्थापित कर लेता है, अर्थात् वह यह अनुभव करने लगता है कि मैं ही दुष्यन्त हूं और शकुन्तला मेरी ही है, इस प्रकार काव्य के शकुन्तलादि विभाव अकेले दुष्यन्तादि के न रहकर साधारणतया सब सहृदय सामाजिकों के बन जाते हैं। इसी का नाम साधारणीकरण है।

यह साधारणीकरण भी यदि काव्य के शब्दों का व्यापार है, तो काव्य के शब्दों

1. काव्यप्रकाश, 4 उल्लास, पृष्ठ 92,
भाण्डारकर.……पूना।

में तीन प्रकार का व्यापार स्वीकार करना होगा--1. अभिधान, 2. विभावन, 3. साधारणीकरण। क्या यह स्वीकार्य है ? क्या इतना बड़ा गौरव स्वीकार करने के सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं है ?

इसका उत्तर भट्टनायक तो यही देते हैं कि ये तीनों व्यापार स्वीकार करना आवश्यक है। परन्तु अभिनवगुप्त के अनुसार काव्य के शब्द जो अभिधान करते हैं वह विभावन ही है। लोक के शब्द तो अभिधान ही किया करते हैं परन्तु काव्य के शब्द अभिधान के स्थान पर विभावन ही किया करते हैं । जिस प्रकार लोक के कारण, कार्य, सहकारी का ही अलौकिक नाम विभाव, अनुभाव, संचारी है, उसी प्रकार के अभिधान (अभिधाव्यापार) का ही अलौकिक नाम विभावन व्यापार है। अथवा काव्य के शब्दों की अभिधा ही विभावन करने वाली होती है। उसके लिए विभावन नाम पृथक् व्यापार स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। उपर्युक्त साधारणीकरण व्यापार इन विभावों का ही व्यापार है। इस प्रकार काव्य शब्दों की अभिधा द्वारा विभावन और विभावों द्वारा साधारणीकरण मानना ही पर्याप्त है। यह समझ कर आचार्य विश्वनाथ ने स्पष्ट रूप मे साधारणीकरण को विभावों का व्यापार कहा है।[1]

भट्टनायक ने "अभिधातो द्वितीयेन" कहकर जिस भावकत्व व्यापार की आवश्यकता को अङ्गीकार किया था, उसे व्यर्थ का गौरव मानकर अभिनवगुप्त और उनके अनुयायियों ने स्वीकार नहीं किया। तब साधारणीकरण का हेतु अभिधा ही को माना जाय या व्यञ्जना को ? क्योंकि इन्हीं दोनों में से किसी के द्वारा साधारणीकरण न माना गया, तो भट्टनायक के समान किसी भिन्न व्यापार को मानना ही पड़ेगा। यदि इनसे भिन्न कोई व्यापार मानना ही है, तो भट्टनायक का मान्य भावकत्व व्यापार ही क्यों न स्वीकार कर लिया जाय ? स्पष्ट है कि भावकत्व नामक भिन्न व्यापार की अस्वीकृति की दशा में अभिधा या व्यञ्जना से ही हमें साधारणीकरण मानना होगा। यदि वह अभिधा से किया गया तो अभिधा का दो बार उत्थान करना होगा, एक तो वाच्यार्थ के अभिधान के लिए और दूसरा साधारणीकरण के लिए। इसी प्रकार यदि यह काम व्यञ्जना से लिया गया तो व्यञ्जना का दो बार उत्थान कर्त्तव्य होगा, एक साधारणीकरण के निमित्त और दूसरा रसाभिव्यक्ति के निमित्त। अभिधा और व्यञ्जना दोनों शब्द के ही व्यापार हैं और कोई

---

1. व्यापारोऽस्ति विभावादेनम्नि साधारणीकृतिः ।
तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः ।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ।।

(सा० द० 3/40)

2. शब्द-बुद्धि-कर्मणां विरम्य व्यापाराभावः ।

(मीमांसा सूत्र, सा० द० 2)

भी शब्द व्यापार एक बार विरत होकर पुनः उत्थानवान् नहीं होता है । अतः दोनों ही शब्दवृत्तियों से साधारणीकरण मानना अनुचित है । आचार्य विश्वनाथ ने उपर्युक्त प्रकार से साधारणीकरण को विभावादि का व्यापार मानकर इस समस्या को सुलझा दिया है । हमारा मत है कि जो लोग अभिधा या व्यञ्जना से ही साधारणीकरण मानते हैं, वे ठीक नहीं हैं ।

आचार्य अभिनवगुप्त व्यञ्जना द्वारा साधारणीकरण स्वीकार करते हैं, ऐसा अनेक लोगों का कथन भी ठीक नहीं है । क्योंकि मम्मट के द्वारा भट्टनायक के मत को पूर्वपक्ष में रखते हुए उत्तर पक्ष के रूप में अभिनवगुप्त के मत का स्थापन करने से यह स्पष्ट है कि अभिनव को अभिधा से द्वितीय कोई व्यापार साधारणीकरण के हित अभीष्ट नहीं है, भट्टनायक के "अभिधातो द्वितीयेन" शब्दों का प्रतिवाद यही संकेत करता है कि अभिनव की दृष्टि में अभिधा द्वारा विभावन और विभावन द्वारा साधारणीकरण अभीष्ट है । अतः आचार्य विश्वनाथ का विभावों द्वारा साधारणीकरण स्वीकार करना हम अभिनवगुप्त के मन्तव्य को स्पष्ट करना ही समझते हैं । क्योंकि विश्वनाथ उन्हीं के अनुयायी माने जाते हैं और हैं भी । उनके विभावों द्वारा साधारणीकरण के कथन को अपूर्व भी कहा जाय, तब भी अभिनवगुप्त से उनका कहीं विभेद सिद्ध नहीं किया जा सकता । हमारी सम्मति में अभिनवगुप्त के मत में जो बात स्पष्ट दिखाई नहीं देती थी विश्वनाथ ने उसे स्पष्ट मात्र किया है ।

राजशेखर और क्षेमेन्द्र—आचार्य राजशेखर और क्षेमेन्द्र दोनों ही कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा के धनी थे । ये दोनों कवि भी थे और आचार्य भी । परन्तु रस के विषय में दोनों ने किसी विशिष्ट सिद्धान्त का व्यवस्थापन किया हो ऐसा नहीं दिखाई देता । दोनों ही रस को यथास्थितरूप में ही स्वीकार किये दिखई देते हैं । हाँ काव्य की आत्मा सम्बन्धी विचार में अवश्य दोनों में मौलिक भेद हैं । राजशेखर जहाँ रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार करते है[2] वहाँ क्षेमेन्द्र काव्य का रससिद्ध होना मानते हुए भी रस को उसकी आत्म न मानकर औचित्य को काव्य की आत्मा मानते हैं । क्षेमेन्द्र के औचित्य विषयक काव्यात्मवाद का विवेचन हम पंचम अध्याय में विस्तार से कर चुके हैं ।

रसों की संख्या—यद्यपि रस सामान्य का विवेचन कर चुकने के पश्चात् रसविशेषों का विवेचन कर्त्तव्य है, तथापि शृंङ्गारादि रसों के स्वरूप, लक्षण और उदाहरणों के विषय में किसी प्रकार का मतभेद आचार्यों में नहीं दिखाई देता है, सभी आचार्य भिन्न-भिन्न रसों के भिन्न-भिन्न विभावादि के द्वारा रस-निष्पत्ति में एक मत हैं । विभावादियों के संयोग से रस की निष्पत्ति का निर्णय ही वास्तव में मतभेद

---

1. शब्दार्थौ ते शरीरं······रस आत्मा ·······।

(काव्यमीमांसा अ० 3, पृ० 16)

का क्षेत्र है, विभावादि तो भिन्न-भिन्न स्थायी के प्रति सर्वविदित ही होते हैं। अतः श्रृंङ्गारादि रसविशेषों का विवेचन आकर ग्रन्थों में सर्वत्र प्रसिद्ध होने से उनका विवेचन अनावश्यक है। हाँ, रसों की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद विद्यमान है, अतः उसका संक्षिप्त विवरण यहाँ आवश्यक है।

रस सिद्धान्त के आद्य आचार्य भरतमुनि ने सर्वप्रथम रसों की संख्या आठ ही स्वीकार की है। उन्होंने शान्त को रसों की संख्या में परिगणित नहीं किया। वास्तव में भरतमुनि का समस्त रसविचार नाट्य पर केन्द्रित है, नाट्य में वे शान्त की स्थिति को सम्भव नहीं मानते। जिस शान्त का स्थायीभाव वैराग्य ही सर्वोपरमरूप है, उसका सम्भव अभिनय प्रधान नाट्य में हो ही नहीं सकता। अभिनय सर्वथा नटाश्रित क्रिया है और नट में सर्वोपरमरूप शम अर्थात् वैराग्य रह नहीं सकता। अतः भरतमुनि ने नाट्य में श्रृंङ्गारादि आठ रसों की ही सत्ता स्वीकार की है। नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में स्थित रससंख्याविषयक भरतमुनि की कारिका को आचार्य मम्मट ने भी अपने काव्य-प्रकाश में अविकल उद्धृत कर "श्रृंङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत" इन आठ रसों की स्थिति ही नाट्य में स्वीकार की है।[1]

पीछे श्रव्य को दृष्टि में रखकर उन्होंने शान्त को भी नवम् रस माना है।[2]

आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण में वत्सल नामक रस को जोड़कर रसों की संख्या दस तक पहुंचा दी है। इसका स्थायी वत्सलता-स्नेह अर्थात् अपत्य प्रेम है। पुत्रादि आलम्बन है उनकी चेष्टा, विद्या और शौर्य आदि गुणों का उदय उद्दीपन है। आलिङ्गन, अङ्गसंस्पर्श, मस्तक चूमना, देखना, रोमाञ्चित होना आदि अनुभाव हैं। अनिष्ट की शङ्का, हर्ष, गर्व आदि संचारी भाव हैं। पद्मम के गर्भ की छवि जैसा इसका वर्णन है और लोकमाताएँ इसकी देवता हैं।[3]

चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी प्रसिद्ध सन्त एवम् आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती ने अपने "भक्तिरसायन" नामक ग्रन्थ में भक्तिरस का बड़े पुष्ट प्रमाणों और युक्तियों से प्रतिपादन किया है, जिससे रसों की संख्या दस से भी आगे बढ़कर ग्यारह हो जाती है। इसमें केवल भगवान् श्रीकृष्ण को आलम्बन और उनकी ही अद्भुत छवि तथा मुरलीवादन आदि को उद्दीपन स्वीकार किया गया है।[4] इसका क्षेत्र सीमित होने से यह रस रसिकों का मान्य होकर भी सर्वमान्य नहीं हो सका है। यद्यपि

---

1. श्रृंङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः।
वीभत्स-अद्भुत-संज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः। (काव्यप्रकाश 4/29)
2. निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः (का० प्र० सूत्र० 4/47)
3. साहित्यदर्पण तृ० परिच्छेद कारिका 239-242।
4. भक्तिरसायनम्।

सरस्वती जी का स्वरचित ''गोपालविलास'' महाकाव्य भक्तिरस का उज्जवल उदाहरण है तथापि वह अभी-अभी प्रकाश में आने के कारण विद्वानों के उहापोह का विषय नहीं बन पाया है। मेरठ के श्री चन्द्रदत्त वत्स ने गत वर्ष ही इस महाकाव्य को शोध विषय बनाकर उसे मधुसूदन सरस्वती रचित भक्तिरस का महाकाव्य सिद्ध किया है। इतने पर भी भक्ति की भाँति भक्ति रस को व्यापकता मिलना कठिन ही प्रतीत होता है।

सारांश यह है कि जैसे शरीर में जब तक जीवन शक्ति रहती है तभी तक शक्तिमान् आत्मा का अस्तित्व प्रतीत होता है वैसे ही काव्य में जब तक औचित्य है, तभी तक रसध्वनि रूप आत्मा की सत्ता अवगत होती है। अतः शक्ति और शक्तिमान में जिस प्रकार शक्तिमान् का प्राधान्य निर्विवाद है वैसे ही औचित्य और रसध्वनि का प्राधान्य असन्दिग्ध है। इसलिए रसध्वनि ही सिद्धान्ततः काव्य की आत्मा है, औचित्य तो उसकी सिद्धि में साधनभूत होने के कारण काव्य का अङ्ग ही है, आत्मा नहीं। अभिनव-गुप्त ने बहुत ही ठीक कहा है कि जिस उचित का भाव औचित्य है, वह उचित वस्तु रसविषयक ही तो है अतः स्वयम् उचित शब्द ही रसध्वनि के जीवितत्व का सूचक है, अन्यथा किसके उद्देश्य से औचित्य का उद्घोष किया जाएगा ?[1]

2. अलङ्कार

''अलङ्करोतीत्यलङ्कारः'' इस कर्तृप्रधान व्युत्पत्ति के अनुसार अलम् उपपद कृ धातु से ''कर्मण्यण्'' से अण् प्रत्यय करने पर निष्पन्न अलङ्कार शब्द अंलकृत-भूषित करने वाले धर्म विशेष का वाचक सिद्ध होता है। अंलकृत करने वाला धर्म किसी अलङ्कार्य धर्मी की अपेक्षा रखने वाला होता है। स्पष्ट है कि अलङ्कार का अस्तित्व अलङ्कार्य सापेक्ष है।

''अलङ्करणम् अलङ्कारः'' इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न भाव घञन्त अलङ्कार शब्द अलङ्करण क्रिया मात्र का बोधक है। कोई भी क्रिया क्रियावान् के बिना हो ही नहीं सकती। दोनों का समवाय सम्बन्ध है। क्रिया यदि हो रही है तो उसका कोई कर्त्ता अवश्य है। इस प्रकार भी अलङ्करण क्रिया का कर्त्ता अनायास उपस्थित हो जाता है, जो अपनी क्रिया के आश्रय-भूत अलङ्कार्य की पूर्वोपस्थिति का परिचायक है। स्पष्ट है कि अलङ्कार अलङ्कार के लिये नहीं, किसी अलङ्कार्य के लिए होता है।

अलङ्कार हमें दो प्रकार के उपलब्ध होते हैं। एक तो वे लोक प्रसिद्ध हारादि अलङ्कार हैं जो सुन्दर स्त्री पुरुषों के कण्ठादि अङ्गों को अंलकृत करने के काम आते

---

1. उचित शब्देन रसविषयम् औचित्यं भवतीति दर्शयद् रसध्वने-र्जीवितत्वं सूचयति। तदभावे हि किमपेक्षया इदम् औचित्यं नाम सर्वत्र उद्घोष्यते। (ध्वन्यालोक। उद्योत, का० 2 पर लोचन पृ० 16)

हैं। एक वे उपमा, अनुप्रास आदि हैं जो काव्य के अङ्ग, शब्द और अर्थ-को अंलकृत करने के लिए कवियों द्वारा प्रयुक्त किये जाते हैं। एक शरीर के अलङ्कार हैं, दूसरे वाणी के। शरीर और वाणी दोनों ही चिरन्तन हैं। जब से संसार है, तब से शरीर और वाणी हैं। शरीर और वाणी जितने चिरन्तन हैं, उतनी ही चिरन्तन है शरीर और वाणी को अंलकृत करने की शरीरी और वक्ता की प्रवृत्ति। प्रत्येक शरीरधारी संसारी अपने शरीर को सुन्दर और दर्शनीय देखना एवम् दिखाना चाहता है। यह उसने प्रकृति से सीखा है। अपने पुराने पत्ते गिराकर नव पल्लव धारण करती एवम् पुराने फूलों को झाड़कर नित्य नये कुसुम विकसित करती हुई प्रकृति आदि काल से मनुष्य को शरीर शोभा के संवर्धन की प्रेरणा देती आ रही है। भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के शृङ्गार साधन जुटाती कभी भ्रमरों की गुञ्जन तो कभी कोकिलों की स्वरलहरी, कभी मयूरों की मधुर केका तो कभी हन्सों का मधुर कूजन सुनाकर वाणी को अलंकृत करने की प्रेरणा भी मनुष्य को प्रकृति ही प्रदान करती है। इस प्रकार शारीरिक और वाचिक दोनों प्रकार की आलङ्कारिक अभिरुचि मानव में नैसर्गिक है, चिरन्तन है।

इसमें भी सन्देह नहीं है कि अलङ्कार प्रवर्तन लोक में पहले हुआ है, काव्य में पीछे। लोक विधाता की कृति है ओर काव्य नाट्य मानव की निर्मिति है। मानव ने जो कुछ ग्रहण किया है, वह लोक ही से ग्रहण किया है। अतः लौकिक अलङ्कार हारादि का अनुकरण ही काव्य नाटकीय उपमा अनुप्रासादि अलङ्कार है, यह भी निश्चित है। हम देखते हैं कि जिस प्रकार मनुष्य में अपने शरीर को अलंकृत करने की प्रवृत्ति नैसर्गिक है, उसी प्रकार वाणी को अलंकृत करना भी मनुष्य का निसर्ग है। उसी निसर्ग से प्रेरित होकर एक गँडेरी बेचने वाला "गँडेरियाँ गुलाब पेड़े" और शहतूत बेचने वाला कूंजड़ा अपने शहतूतों को "रेशम के लच्छे" या "जलेबियाँ" कहकर क्रयकर्त्ताओं को लुभाता दिखाई देता है। इस प्रकार शरीर और वाणी को अलंकृत करना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

जिस प्रकार शरीर के अलङ्कार हारादि शरीर की शोभा के अतिशय के लिए हैं, उसी प्रकार वाणी की शोभा बढ़ाने वाले उपमा अनुप्रासादि भी शब्द और अर्थ के ही लिए हैं, अपने लिए नहीं। तात्पर्य यह है कि अलङ्कार की सत्ता अलङ्कार्य के लिए है, स्वयम् अपने लिए उसका कोई उपयोग नहीं।

काव्य में अलङ्कार्य—ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि अलङ्कार उपकारक धर्म और अलङ्कार्य उसका उपकार्य धर्मी है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार हारादि अलङ्कार शरीर के उपकारक उसके द्वारा शरीरी (आत्मा) के उपकारक होते हैं, उसी प्रकार उपमा अनुप्रासादि भी शब्द और अर्थ के शोभादायक होने के द्वारा काव्य की आत्मा के उपकारक हैं। अतः उपमा

अनुप्रासादि अलङ्कार हैं और काव्यात्मा उनका अलङ्कार्य है। यहाँ यद्यपि यह तथ्य अलङ्कार की अलङ्कारता द्वारा ही स्पष्ट प्रमाणित है कि अलङ्कार स्वयम् अलङ्कार्य नहीं है, परन्तु अलङ्कार्य क्या है ? यह बात चिरकाल तक विवाद का विषय बनी रही। काव्य-शास्त्र के आदि आचार्य भरतमुनि ने "न हि रसाद ऋते तत्र कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते। (ना० शा० अध्याय 6") कहकर रस को ही नाट्य का सर्वस्व अर्थात् आत्मरूप प्रतिपादित किया था। परन्तु भामह, दण्डी आदि आलङ्कारिकों ने भरतमुनि के सिद्धान्त को नाट्य के क्षेत्र में सीमित कर काव्य में अलङ्कार को ही अङ्गी तत्व स्वीकार कर उसे ही काव्य की आत्मा बना दिया। उन्होंने "अलङ्करण-मलङ्कारः" इस भावसाधन व्युत्पत्ति के अनुसार जो भी तत्व काव्य को सुशोभित करने वाले हैं उन सभी को अलङ्कार की परिधि में समेटकर रस, भाव आदि को भी अलङ्कार माना है।[1] उनके अनुसार रसवत् काव्य को रसवदलङ्कार से अलंकृत ही कहा जाना चाहिये। इस प्रकार भामह ने भरतमुनि को "न हि रसाद ऋते..." इत्यादि मान्यता को नाट्य तक सीमित कर काव्य में "न हि अलङ्काराद् ऋते काव्ये कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते" बना देने का अपूर्व प्रयत्न किया। भामह के पश्चात् दण्डी, उद्भट, रूद्रट, आदि अनेक आचार्य भी उन्हीं का अनुगमन कर अलङ्कार को ही काव्य में प्रधान तत्व अर्थात् आत्मस्थानीय ठहराते रहे। इस प्रकार चिरकाल तक संस्कृत साहित्य में अलङ्कार ही स्वयम् अलङ्कार्य माना जाता रहा। आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए भी सौन्दर्यरूप अलङ्कार के द्वारा ही काव्य की उपादेयता सिद्ध की है।[2] आचार्य उद्भट ने भी अलङ्कार का ही अङ्गित्व प्रकारान्तर सिद्ध किया है। उन्होंने रसवत्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वित् और समाहित अलङ्कारों में समस्त रसप्रपञ्च का अन्तर्भाव करते हुए काव्य में अलङ्कार का ही अङ्गित्व या आत्मत्व सिद्ध किया है।[3] आचार्य रूद्रट ने भी इसी मार्ग का अनुकरण कर अलङ्कार का ही अङ्गित्व काव्य में प्रतिपादित किया है। उन्होंने इसी उद्देश्य से अपने ग्रन्थ का नाम "काव्यालङ्कार" रखा है।[4] उन्होंने रस, भाव आदि का रसवत् आदि अलङ्कारों में अन्तर्भाव न करके भी "भाव" नामक नवीन अलङ्कार की कल्पना कर[5] उसी में समस्त प्रतीयमान अर्थ को ग्रहण करते हुए अलङ्कार का

---

1. प्रेयो रसवदूर्जस्वि...निजगुरलंकारं सुमेधसः।
—भामह...3, 1, 5–7

2. काव्य ग्राह्यमलङ्करात्। सौन्दर्यमलङ्ककारः
—काव्या. सू० वृ० 1, 1, 1, 2

3. रसवत् दर्शितस्पष्ट शृङ्गारादि रसोदयम्। स्वशब्द-स्थायि-सञ्चारि-विभावाभिनयास्पदम्।
—काव्या. सा० सं० 4, 3

4. काव्यालङ्कारोऽयं ग्रन्थः क्रियते यथायुक्ति रूद्रटालं० 1, 2

5. यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिवन्धेन हेतुना येन। गमयति....भावोऽसौ।
—वहीं 7, 38, 40

अङ्गित्व माना है। आचार्य कुन्तक ने यद्यपि वक्रोक्ति को काव्यजीवित कहा है, तथापि उनकी वक्रोक्ति अलङ्कार रूप ही है। अतएव उन्होंने भी सालङ्कार को ही काव्यत्व प्रदान किया है।[1] इसी प्रकार भोजराज ने भी अपने "सरस्वतीकण्ठाभरण" और 'शृङ्गार-प्रकाश' नामक ग्रन्थों में दण्डी के मत की पुष्टि करते हुए उनके "काव्य-शोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारन् प्रचक्षते" को उद्धृत कर काव्यशोभाकर होने के कारण गुणों तथा रस, भाव और तदाभासों एवं भावशक्ति आदि को अलङ्काररूप से ही परिगृहीत किया है।[2]

सारांश यह है कि दण्डी, भोजराज आदि के अनुसार रस, गुण आदि जितने भी काव्य शोभा के सम्पादक धर्म हैं, वे सब अलङ्कार ही हैं। इसलिए काव्य-सौन्दर्य का सम्पादक अलङ्कार ही काव्य का परमतत्व होने से आत्मस्थानीय है। अतः उनके अनुसार अलङ्कार से भिन्न अलङ्कार्य कोई तत्व यदि है तो वह स्वयम् काव्य ही है। अर्थात् काव्य शरीर है और अलङ्कार उसकी आत्मा है। रस, भाव, गुण ये सब काव्य के अलङ्कार ही हैं। ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक आनन्दवर्धन से पूर्व संस्कृत काव्यशास्त्र में यही मान्यता चिरकाल तक प्रवर्तमान रही। आचार्य आनन्दवर्धन ने अत्यन्त सहज सम्भवी युक्तियों और प्रमाणों द्वारा इस अलङ्कार विषयक आत्मवाद का ऐसा प्रवल प्रतिवाद किया कि फिर यह मत सर्वदा के लिए अस्वीकार्य हो गया। तब से आज तक ध्वनि को और विशेषतः रसध्वनि को ही काव्य में आत्म स्थानीय माना जा रहा है। जिसके अनुसार रसादि ही काव्य की आत्मा है। अलङ्कार उसको अलङ्कृत करने वाला धर्म है, वह भी गुण के समान रसादि का नित्य धर्म न होकर अनित्य धर्म मात्र है। रसादि से युक्त काव्य अलङ्कार के बिना भी केवल रस और रसाश्रित गुणों के रहने से ही रसादृत और उपादेय है। रसाश्रित काव्य को अलङ्कार की इसी प्रकार आवश्यकता या अनिवार्यता नहीं है जिस प्रकार एक निसर्गतः सुन्दर एवम् शौर्य आदि सम्पन्न शरीर को अलङ्कार की आवश्यकता या अनिवार्यता नहीं होती। अलङ्कार यदि रस का दास बनकर काव्य में रहना चाहता है तो रहे परन्तु यदि वह अपना पृथक् अस्तित्व या उत्कर्ष स्थापित करना चाहता है तो उसके लिये उत्तम काव्य में कोई स्थान नहीं है। आनन्दवर्धन के अनुसार अलङ्कार को रसाक्षिप्त ही होना चाहिये, उसके लिये पृथक् यत्न की आवश्यकता नहीं है।[3] उनके अनुसार रसादि ही काव्य की आत्मा है, अतः वही अलङ्कार केवल कटक

---

1. वक्रोक्तिः काव्यजीवितम् सालङ्कारस्य काव्यता। —व० जी० 61,
2. तेषामपि हि काव्यशोभाकरत्वेन अलङ्कारत्वात्
—स० कं० पृ० 758
3. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथक्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः। —ध्वन्या 2, 17

कुण्डल आदि के समान काव्य की शोभा का जनक नहीं। इस प्रकार भामह, दण्डी आदि अलङ्कारवादियों के मत में जो अलङ्कार काव्य में शोभा के जनक थे, वे ध्वनिसम्प्रदाय के प्रवर्तक आनन्द और उनके अनुयायी मम्मट आदि आचार्यों के मत से केवल रसादि के उपकारक मात्र रह गये। आचार्य मम्मट ने जोकि आनन्दवर्धन द्वारा प्रवर्तित एवम् अभिनवगुप्त द्वारा समर्थित ध्वनि मार्ग के प्रतिष्ठापक परमाचार्य माने जाते हैं—अलङ्कार का लक्षण करते हुये उसे रसादि का उपकारक मात्र लक्षित किया है, वह भी नियमित नहीं अपितु कदाचित् ही।[1] बाद के सभी आचार्यों ने आनन्दवर्धन और मम्मट का ही अनुगमन किया है। साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में सर्वाधिक मान्य विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ अलङ्कार मार्ग में इसी मत के समर्थक हैं।

अलङ्कारसर्वस्वकार आचार्य रूय्यक ने अपने "साहित्यमीमांसा" नामक ग्रन्थ में "काव्ये शोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते" कहकर केवल शब्द मात्र से दण्डी का अनुसरण किया है, वास्तव में उन्होंने भी अलङ्कार को आगन्तुक धर्म ही माना है और उसे गुणवत् काव्य की शोभा को बढ़ाने वाला ही स्वीकार किया है।[2]

चन्द्रालोककार जयदेव ने यद्यपि मम्मटकृत काव्यलक्षण के "अनलङ्कृती पुनः क्वापि" का प्रतिवाद किया है[3] तथापि उन्होंने काव्य में अलङ्कार सन्निवेश को हारादिवत्[4] स्वीकार करते हुए मम्मट का ही अनुसरण किया है। एक स्थान पर शब्द और अर्थ के अनलङ्कृत होने को अस्वीकार करना और दूसरे स्थान पर अलङ्कार के सन्निवेश को हारादि के सन्निवेश के समान स्वीकार करना यही प्रमाणित करता है कि जयदेव सर्वथा अलङ्कारहीनता की स्थिति को काव्य में मनोहारी नहीं मानते। उनकी सम्मति में मनोहारिता के लिए काव्य में अलङ्कार का होना इसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार मनोहारिता के लिए कामिनी के स्तनों पर हार का होना। निसर्ग सुन्दर कामिनी भी हारादि के द्वारा मनोहारी होती ही है, इसी प्रकार रसादि युक्त काव्य भी अनुप्रासोपमादि के द्वारा मनोहारी होता है, अतः काव्य को सर्वथा अलङ्कारहीन नहीं होना चाहिए। अलङ्कार मनोहारिता उत्पन्न करने में नैसर्गिक रूप से सहायक है, यही जयदेव का अभिप्राय प्रतीत होता है।

---

1. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्ग द्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः। —काव्यप्रकाश 8/67
2. आमुञ्चन्ति शरीरेषु गुणवस्सुनिसर्गतः अलङ्कारान् जनाः शोभामाकांक्षन्तोऽतिशायिनीम् —सा० मी० पृ० 32
3. अङ्गी करोति यः काव्यं शब्दार्थवनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलंकृती॥ —चन्द्रा० 1, 8
4. हारादिवदलङ्कारसन्निवेशो मनोहरः। —वहीं 5, 1

अलङ्कार का मूल स्रोत—हम पहले कह आये हैं कि वाणी को अलङ्कृत करने की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक है। अतः जिस प्रकार रस का मूल स्रोत हम वेदों में प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार अलङ्कार का मूल भी हमें वेदों में उपलब्ध होता है। वास्तव में वाङ्मय का कोई भी परिनिष्ठित रूप ऐसा नहीं है जो आलङ्कारिक चमत्कार से रहित हो। यही कारण है कि न केवल ऋग्वेद में अपितु समस्त वैदिक वाङ्मय में तथा प्राचीन से प्राचीन लौकिक आर्ष और अनार्ष सभी ग्रन्थों में सर्वत्र आलङ्कारिक अभिरुचि के न केवल हमें दर्शन होते हैं, अपितु विशिष्ट अलङ्कारों का परिनिष्ठित रूप भी स्पष्ट देखने को मिलता है। ऋग्वेद में यमक, उपमा, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा आदि सभी शब्दालङ्कारों एवम् अर्थालङ्कारों के सुन्दर उदाहरण हमें उपलब्ध होते हैं। देखिये—

यमक—

"कङ्कतो न कङ्कतोऽयो.........। (ऋ० वे० 1,191,1)
"शरासः कुशरासः.........(वहीं 1, 191, 315, 76, 2)

उपमा—

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची
गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा
उषा हस्रेव निरीणणीते अप्सः। (ऋ० वे० 1, 124, 7, 10, 71, 4)
"सक्तुमिव तितउना पुनन्तः" (वहीं 10, 71, 2)

अतिशयोक्ति—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति
अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥ (ऋ० वे० 1, 164, 20)
"चत्वारिश्शृङ्गास्त्रयो अस्य पादाः
द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य
त्रिधा वद्धो वृषभो शेरवीति
महोदेवो मर्त्यां आविवेश" (वहीं 4, 58–3)

उत्प्रेक्षा—

"अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यति।
कथा ग्रामं न पश्यसि, न त्वाभीरिव विन्दतीह (ऋ० वे० 10, 146, 1)

वेदों में अलङ्कार होने का स्पष्ट समर्थन करते हुए आचार्य राजशेखर ने अलङ्कारज्ञान को वेदार्थ ज्ञान में कारण माना है और अपने कथन की पुष्टि में "द्वा

सुपर्णा......" इत्यादि ऋग्वेद के मन्त्र को उद्धृत किया है।[1] पण्डितराज जगन्नाथ ने भी ऋग्वेद के उपर्युक्त "द्वा सुपर्णा........." इत्यादि मन्त्र में अतिशयोक्ति अलङ्कार की सत्ता को प्रमाणित किया है।[2] शुक्ल यजुर्वेद में पुनरूक्तवदाभास का भी स्पष्ट उदाहरण मिलता है। देखिये—

"यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमाराव्विशिखा इव" (यजु० 1, 48)

यहाँ साम्यबोधक इव शब्द का प्रयोग रहते हुए भी "बाणः" और "विशिखा में पुनरुक्ति का आभास स्पष्ट है।

अथर्ववेद में लाटानुप्रास का भी उदाहरण विद्यमान है—

"शन्नो देवीरभिष्टये शन्नोभवन्तु पीतये" अथ० वे० पै० सं०।

यहाँ "अभिष्टये और पीतये" दो भिन्न अभिप्रायों से प्रयुक्त "शन्नो" पद की पुनरुक्ति लाटानुप्रास की जनक है।

शतपथ ब्राह्मण में हित शब्द के आहित और हितकर[3] वर्ष शब्द के वृष्टि और संवत्[4] तथा महिषी शब्द के रानी और भैंस।[5] अर्थों में प्रयोग होने से श्लेषालङ्कार का भी स्पष्ट उदाहरण प्राप्त होता है।

उपनिषदों में भी सर्वत्र अलङ्कारों के दर्शन होते हैं। कठोपनिषद में "सार" का एक एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था, अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धि बुद्धिरात्मा महान् परः॥ (कठो० 1, 3, 10, 1212, 3, 7)

यहाँ उत्तरोत्तर उत्कर्ष का कथन होने से स्पष्ट ही सार अलङ्कार है।

वेदों के अतिरिक्त वेदाङ्ग साहित्य में भी सर्वत्र अलङ्कारों के हमें दर्शन होते हैं। पाणिनीय शिक्षा के—

"व्याघ्री यथा हरेत् पुत्रान्........." पा० शि० 25
"यथा सौराष्ट्रिका नारी.........." पा० शि० 26
"प्रातः पठेन्नित्यमुरः स्थितेन स्वरेण शार्दूलरूतोपमेन

---

1. "उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तमम् अङ्गम्" इति यायावरीयः। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानात् वेदार्थानवगतिः। यथा "द्वासुपर्णा.........अभिचाकशीति"। —काव्यमीमांसा पृ० 6, 7
2. इयञ्चातिशयोक्तिर्वेदेऽपि दृश्यते। यथा "द्वा सुपर्णेत्यादि" रसगं० —पृ० 499
3. शतपथ ब्रा० 1, 3, 1, 25
4. ,, ,, 2, 2, 3, 7
5. ,, ,, 4, 5, 3, 1

मध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वसङ्कूजित सन्निभेन ॥''

(पा० शि० 36)

इन उदाहरणों में उदाहरण और उपमा स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इसी प्रकार—

''छन्दःपादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम् । (वहीं० 41, 42)

में रूपक अलङ्कार का गुम्फन स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। पाणिनीय शिक्षा के अन्त में पाणिनी-प्रशंसा-परक 58, 59 श्लोकों में प्रयुक्त रूपक तो बहुत ही सुन्दर और चमत्कारी दिखाई देता है।[1] यहाँ शब्द में वारिका और ज्ञान में अञ्जन शलाका का स्पष्ट रूप से आरोप किया गया है जो रूपक की प्रकृति है।

पाणिनीय व्याकरण में सूत्रकार, वार्तिककार और भाष्यकार तीनों मुनियों ने अलङ्कार ज्ञान का पूर्ण संविधान अपने-अपने ग्रन्थ में उपस्थित किया है। सूत्रकार पाणिनी ने—

''उपमानानि सामान्यवचनैः'' (2/1/55)
''उपमानाच्च'' (5/4/137)
''उपमानादाचारे'' (3/1/10)
''उपमानादप्राणिषु'' (5/4/97)

इन सूत्रों में उपमान और साधारणधर्म तथा उसके वाचक ''इव आदि'' शब्दों का प्रयोग कर श्रौती उपमा की सामग्री उपस्थित कर दी है। ''उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे'' 2/1/56 में उपमेय तथा साधारण धर्म के वाचक इवादि का लोप निर्दिष्ट कर लुप्तोपमा का तथा ''तेन तुल्यं क्रियाचेदवतिः'' 5/1/115 सूत्र द्वारा आर्थी उपमा का स्वरूप उपस्थित कर दिया है। इसी प्रकार ''मयूरव्यंसकाद्यश्च'', 2/1/72 सूत्र द्वारा रूपक अलङ्कार के बीज रूपक समास का विधान किया है।

वार्तिककार कात्यायन ने उपमा के वाचक इव शब्द के साथ नित्य समास का विधान किया है।[2] महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ''उपमानानि-सामान्यवचनैः'' सूत्र के भाष्य में उपमान, उपमेय, सामान्य वचन आदि का सुन्दर और विस्तृत विवेचन किया है।

यास्क मुनि ने निरुक्त में गार्ग्य की अभिमत उपमा के लक्षण एवं उसके कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा, लुप्तोपमा आदि अर्थोपमाओं के भेदों का

---

1. येनधौता गिर पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः'' —पा० शि० 58
''अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया'' —पा० शि० 59
2. ''इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च'' कात्या० वार्तिक, 2/4/71 सूत्र पर

उल्लेख किया है।[1] यहाँ यह भी स्पष्ट निर्देश किया गया है कि उपमा ज्येष्ठ के साथ कनिष्ठ की और प्रख्यात के साथ अप्रख्यात की उपमा की जाया करती है। कभी-कभी कनिष्ठ के साथ ज्येष्ठ की भी उपमा की जाती है, जो उपमा का प्रतीपरूप[2] है। उन्होंने "यथा" शब्द के प्रयोग में कर्मोपमा, भूतोपमा और रूपोपमा का तथा "वत्" के प्रयोग में सिद्धोपमा का होना निर्दिष्ट किया है।[3] इसके साथ ही लुप्तोपमा और अर्थोपमा (आर्थी उपमा) का भी नाम निर्देश किया है।

इस प्रकार शिक्षा, व्याकरण और निरुक्त नामक तीन प्रधान वेदाङ्गों में हमें अलङ्कार के सम्पूर्ण तत्व उपलब्ध होते हैं। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रस की भाँति अलङ्कार का मूल स्रोत भी वेद और वेदाङ्ग ही है।

यद्यपि राजशेखर ने काव्यमीमाँसा में प्रचेता द्वारा अनुप्रास, यम द्वारा यमक, चित्राङ्गद द्वारा चित्रकाव्य, शेष द्वारा शब्दश्लेष, पुलस्त्य द्वारा स्वभावोक्ति, औपकायन द्वारा उपमा, पराशर द्वारा अतिशयोक्ति, उतथ्य द्वारा अर्थश्लेष और कुवेर द्वारा शब्दार्थोभयालङ्कार के उद्गम का उल्लेख किया है।[4] परन्तु उनके तत्तद्विषयक ग्रन्थों के अप्राप्त होने के कारण उक्त अलङ्कारों का विकास वेद एवं वेदाङ्गों के द्वारा हुआ ही मानना युक्तिसङ्गत है। वैसे भी राजशेखर ने "यमो यमकानि, चित्रं चित्राङ्गदः" इत्यादि रूप से जो उल्लेख किया है, वह नाम साम्य के कारण की गई राजशेखर की कल्पना ही प्रतीत होती है, अन्यथा उक्त आचार्यों के ग्रन्थ का नामोल्लेख भी राजशेखर द्वारा किया गया होता। यदि इसमें सत्यांश होता तो किसी न किसी आचार्य के उक्त विषयक ग्रन्थ का कुछ न कुछ भाग तो कहीं न कहीं उपलब्ध अवश्य होता। राजशेखर द्वारा गिनाये गये सभी आचार्यों के ग्रन्थों का सर्वांश में लोप हो जाना सम्भव नहीं है। कम से कम बाद के किसी आचार्य द्वारा अपने आलङ्कारिक ग्रन्थ में इनका नामोल्लेख तो अवश्य मिलता। राजशेखर के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं इन आचार्यों के ग्रन्थ का नाम भी उपलब्ध न होने से यह भी राजशेखर की ऐसी ही कल्पना जान पड़ती है, जैसी उन्होंने काव्यपुरुष की उत्पत्ति और उसके विवाह आदि की कल्पना की है।

---

1. "अथात उपमाः। यद एतत् तत् सदृशम् इतिगार्ग्यः —3/3/14
2. "ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांस वा अप्रख्यातं वा उपमिमीते। अथापि कनीयसा ज्यायांसम्—वही
3. यथेति कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, वदिति सिद्धोपमा। अथ लुप्तोपमान्यर्थोपमानीन्याचक्षते। निरुक्त 3, 4, 18
4. आनुप्रासिकं प्रचेताः यमो यमकानि, चित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यम् औपकायनः, अतिशयं पराशरः, अर्थलेषम् उतथ्यः, उभयालङ्कारिकम् कुबेर......... काव्यमीमांसा —पृ० 3, 4

वैदिक वाङ्मय के पश्चात् भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में ही हमें सर्वप्रथम अलङ्कारों का परिनिष्ठित रूप दिखाई देता है, भरतमुनि ने अलङ्कारों के छत्तीस लक्षणों का नाट्यशास्त्र में निर्देश करने के पश्चात् उपमा, रूपक, दीपक और यमक का प्रतिपादन किया है ।[1] ये ही भरतमुनि द्वारा निर्दिष्ट हेतु, संशय, दृष्टान्त आदि 36 लक्षण आगे चलकर अलङ्काररूप में परिगृहीत हुए हैं जो क्रम से बढ़ते हुए अप्पय दीक्षित के समय तक लगभग एक सौ बहत्तर की संख्या तक पहुँच गये हैं ।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने "कविकण्ठाभरण" में चमत्कार योजना सम्बन्धी शिक्षा के प्रसङ्ग में अक्षङ्कार द्वारा काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है और "औचित्यविचारचर्चा" में अलङ्कार सम्बन्धी औचित्य का सोदाहरण निर्देश किया है । इसके सिवा उन्होंने अलङ्कार के विषय में कोई मौलिक विचार उपस्थित नहीं किया है ।

---

1. **भूषणाक्षरसंघातौ शोभावाहरणे तथा ।**
षत्त्रिंशलक्षणान्येवं काव्यवन्धेषु निर्दिशेत् ।
उपमा रूपकं चैव दीपकं तथा ।। —(ना० शा० 17, 1–51)

———

7
काव्यगत गुण एवं दोष

---

3 कविगतगुणवैभव

भारतीय-वाङ्मय-क्षेत्र में सर्वप्रथम काव्याङ्कुर प्रस्फुटित हुआ है, यह निर्विवाद सत्य है, क्योंकि विश्व-साहित्य का आदि ग्रन्थ "ऋग्वेद" (छन्दोबद्ध काव्य) भी आर्यों द्वारा प्रणीत अमूल्य निधि के रूप में समादृत है, इसमें काव्यात्मक गुणों के बीज परिलक्षित होते हैं तथा लौकिक संस्कृत की आदि रचना महर्षि बाल्मीकि द्वारा प्रणीत 'रामायण' तथा वेदव्यास द्वारा लिखित विशालकाय "महाभारत" (वृत्त-मय काव्य) भी इसी धरातल के पुनीत काव्य प्रसून हैं। काव्य-रचना-जगत् में विश्वविश्रुत, लब्धप्रतिष्ठ, परमलोकप्रिय, महाकवि-मूर्धन्य, कालिदास का अद्वितीय स्थान है। भास, अश्वघोष, सुबन्धु, दण्डी, बाण, माघ, भारवि, भट्टि, श्रीहर्ष, भव-भूति, भर्तृहरि, जयदेव, पण्डितराजजगन्नाथ, क्षेमेन्द्र एवं राजशेखर आदि अनेक सरस्वती के वरद पुत्रों ने विविध काव्य-प्रसूनों से काव्यलोक को विलक्षण सौरभ से सुरभित तथा अभिमण्डित किया है। उनके काव्य-मकरन्द का आस्वादन कर काव्य-शास्त्रियों ने कवियों के गुण-वैशिष्ट्य तथा काव्यगत-गुणों का विशद विवेचन किया है।

जिस कवि के काव्य में सरसता, रमणीयता, प्रभविष्णुता, यथार्थता, आदर्श-वादिता, स्पष्टता, सजीवता, गेयता, प्रकृति की मनोरमता, नैतिकता, उपदेशात्मकता, सत्यता, शिवत्व, सुन्दरता, मौलिकता, चमत्कृति, जीवन की अनुभूति, अलंकृति, रहस्योन्मुख आत्मचिन्तन की प्रवृत्ति, विषयाभिव्यक्ति, श्रेय-प्रेयात्मक सत्य-निरूपण-शक्ति, तथ्यों की अभिव्यञ्जना, प्रकृष्टकल्पना, ऐतिहासिक-गवेषणा एवं शैली की विविधता आदि उत्कृष्ट-गुणों का जैसा, जितना मर्यादित, हृदयावर्जक, लावण्य-व्यतिरेक पाया जायेगा, उस कवि का काव्य उतना ही लोकप्रिय एवं समादृत होगा।

जहाँ "शास्त्र" केवल श्रेय रूप सत्य के प्रतिपादक माने जाते हैं, वहाँ "काव्य" श्रेय और प्रेय दोनों रूपों से समन्वित सत्य के उद्भावक रूप में प्रतिष्ठित हैं। गुणों का सम्बन्ध, कवि की सूक्ष्म-दृष्टि, ज्ञान-वैभव, लोकशास्त्रीय-निपुणता,

प्रखर-प्रतिभा, अभ्यासनैरन्तर्य, बुद्धि की विलक्षणता, स्वतन्त्र-भावाभि-व्यञ्जना, उल्लास, रस-प्रवाह, शब्द भण्डार, अर्थगरिमा, पद-सौष्ठव, प्रतिपादन-पटुता, जागरूकता, स्वाभाविकता, निर्मल-अभिरुचि, नीरक्षीर-ग्राह्याग्राह्य-विवेक आदि से जुड़ा हुआ है। जिस कवि में इन तत्वों का जितना विकास पाया जायेगा, उस कवि की कविता उतनी ही मनोहारिणी, स्थायी, प्रभावोत्पादिका, हृदयाह्लादकारिणी, सुन्दर, आकर्षक एवं समादरणीया होगी, तथा काव्यशास्त्रियों की कसौटी पर विशुद्ध सिद्ध होगी।

काव्य में गुण और दोष—सामान्यतया वस्तु के उपकारक हेतुओं को गुण और अपकारक हेतुओं को दोष कहा जाता है—गुणों का उपकारकत्व और दोषों का अपकारकत्व सामान्य होते हुए भी भिन्न-भिन्न शास्त्रों में गुण और दोष का भिन्न-भिन्न स्वरूप अभिहित हुआ है। सांख्य-दर्शन में सृष्टि के मूल कारण सत्व, रजस् और तमस् को गुण कहा गया है। तर्कशास्त्र में द्रव्याश्रित रूप, रस आदि चतुर्विंशति तत्वों को गुण स्वीकार किया गया है। वैशेषिक-दर्शन परमाणुओं को भी गुणों में परिगणित करता है, उसकी दृष्टि में वस्तु से होने वाला प्रत्येक परिणाम चाहे वह वृद्धि रूप है या क्षयरूप, लाभरूप है या हानिरूप, वस्तु का गुण ही है। साथ ही वह प्रत्येक वस्तु को दोषों का जनक भी मानता है। वहाँ प्रत्येक खाद्य, पेय, लेह्य और चोष्य वस्तु वात, पित्त या कफ नामक दोषों को उत्पन्न करता है। इस प्रकार गुण और दोष का स्वरूप और संख्या भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न उपलब्ध होती हैं।

समस्त जड़चेतनात्मक जगत् का शाब्दिक रूप ही तो काव्य है। जब सम्पूर्ण जगत् गुणों और दोषों की लीला भूमि है, तब काव्य ही गुणों और दोषों से हीन कैसे हो सकता है? निश्चित ही काव्य में भी गुण और दोष अवश्य हैं। वे क्या हैं? और कितने हैं? यह जानने के लिये हमें काव्यशास्त्र के आदि आचार्य भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की ही शरण लेनी पड़ती है।

काव्यगुण—भरतमुनि ने काव्य के गुणों को दोषों का विपर्यय माना है, उनकी दृष्टि दोषों पर पहले और गुणों पर पीछे पड़ी है, उन्होंने काव्य के दोषों, को पहले गिनाकर उनके विपर्यय को काव्य का गुण प्रतिपादित किया है।[1] भरत के के अनुसार काव्य में दस गुण हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति।[2] आचार्य दण्डी ने भी भरत का

1. एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभि-र्नाटकाश्रयाः।
त एव च विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः॥

—नाट्यशास्त्र, 16/95

2. श्लेषः प्रसादः समता, समाधिर्माधुर्यमोजः, पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते॥

—वहीं, 16/96

अनुसरण कर भरतोक्त दस गुणों को ही काव्य के गुण माना है। रीतिवादी आचार्य वामन भी इस दिशा में भरत के ही अनुयायी हैं। परन्तु उन्होंने भरत के उक्त गुणों को शब्दगत और अर्थगत भेदों में विभक्त कर इनकी संख्या दस के स्थान पर बीस कर दी है, वे जिन श्लेष प्रसाद आदि दस गुणों को शब्द का गुण कहते हैं, उन्हीं को अर्थ का गुण भी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार वामन के दस शब्दगुणों और दस अर्थगुणों का स्वरूप भिन्न होते हुए भी नाम एक ही है। वामन ने गुण के सामान्य स्वरूप का विचार करते हुए काव्य के शोभाकारक धर्म को गुण कहा है।[1] जो उनके उत्तरवर्ती आचार्यों को भी अमान्य नहीं है। "अग्निपुराण" तो "वामन" के "शोभाकर्त्तार:" को ही "छायानुगृहीतार:" कहकर वामन का ही शब्दान्तरण करता प्रतीत होता है।[2] अन्य आचार्यों की भी गुणों के शोभाकारक धर्म होने में विमति नहीं है, परन्तु उन्होंने भरत, दण्डी और वामन द्वारा स्वीकृत दस काव्य गुणों को स्वीकार नहीं किया है। ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आनन्दवर्धनाचार्य के अनुयायी सभी आचार्यों ने जिस प्रकार काव्य के आत्मभूत तत्व का गहराई से विवेचन किया है, उसी प्रकार उन्होंने काव्यगुणों की भी बारीकी से विवेचना की है। आनन्दवर्धन और उनके भाष्यकार आचार्य अभिनवगुप्त के ध्वनि-मार्ग को परम प्रतिष्ठा प्राप्त कराने वाले आचार्य मम्मट ने गुणों के स्वरूप और संख्या का जो अपने "काव्यप्रकाश" में निर्धारण किया, वही संस्कृत तथा संस्कृतेतर भारतीय-साहित्य में चिरप्रतिष्ठित हुआ दिखाई देता है। उत्तरवर्ती विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्य मम्मट के ही गुण-सम्बन्धी-सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। "मम्मट" ने आनन्दवर्धन का अनुसरण करते हुए गुणों को रसाश्रित धर्म स्वीकार कर उनकी संख्या तीन सीमित कर दी है और वामन के दस शब्दगुणों एवम् दस अर्थगुणों का उन्हीं तीनों में या तो अन्तर्भाव कर दिया है या अस्वीकार कर दिया है। यहाँ हम मम्मट द्वारा प्रतिपादित गुण का स्वरूप गुणों की संख्या और उनके द्वारा स्वीकृत तीन गुणों में दस गुणों का अन्तर्भाव स्पष्ट कर काव्यगुणों की दिशा स्पष्ट कर देना उचित और आवश्यक समझते हैं। मम्मट-कृत गुण-विवेक ही साहित्य के क्षेत्र में सर्वमान्य है। अत: उसके विवरण को हम गुण-सम्बन्धी-विवरण का सर्वस्व मानते हैं। वास्तव में उसका स्पष्ट विवेचन ही गुण सम्बन्धी वस्तुविवेक है।

ध्वनि मार्ग के परम प्रतिष्ठापक आचार्य मम्मट ने रस को काव्य में अङ्गी मानकर रसोत्कर्ष के हेतुभूत धर्मों को गुण कहा है और काव्य में उनकी स्थिति को

---

1. "काव्यशोभाया: कर्त्तारो धर्मा गुणा:" काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति:।

—3–1–1

2. य: काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुण:।

—अग्निपुराण 346–3–1

अनिवार्य माना है ।[1] इस प्रकार मम्मट ने गुणों को रस का धर्म मानकर वामन की उस मान्यता को ठुकरा दिया है, जिसके अनुसार गुणों को वर्णों का धर्म स्वीकार किया गया है । उन्होंने गुणों को उत्कर्ष का हेतु कहकर वामनोक्त गुणों के शोभा-कर्तृत्व को भी निरस्त कर दिया है तथा गुणों की अचला स्थिति बताकर अलङ्कारों से गुणों का पार्थक्य प्रतिपादित किया है । मम्मटोक्त गुण लक्षण के तीन अंश हैं—

1. रसोत्कर्ष का हेतु होना,
2. रस में नियतरूप से अवस्थित रहना,
3. रस में रहकर रस का नियतरूप से उपकारक होना ।

मम्मट के अनुसार गुण रस का उत्कर्ष बढ़ाने वाले धर्म हैं, शब्दार्थरूप काव्य की शोभामात्र बढ़ाने वाले नहीं है । वे नियमेन रस में स्थित रहते हैं और नियत रूप से रस के उपकारक होते हैं । अलङ्कारों के समान अनियत स्थिति वाले तथा अनियत उपकारक नहीं हैं । इस प्रकार मम्मट ने गुणों का स्वरूप लक्षित करने के साथ-साथ गुणों और अलङ्कारों का विषय भी विविक्त कर दिया है । वास्तव में मम्मट ने गुणों और अलङ्कारों का विवेचन दोनों के भेद को स्पष्ट करने की दृष्टि से ही किया । इसीलिए काव्यप्रकाश के गुण और अलङ्कारविवेचनसम्बन्धी अष्टम उल्लास का आरम्भ करते हुए उन्होंने दोनों के लक्षण ही नहीं अपितु दोनों के विवेक की प्रतिज्ञा की है ।[2] जिससे गुणों और अलङ्कारों के पार्थक्य को स्पष्ट करना ही उनके लक्षण कारण का मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है । इसीलिये हम मम्मट-कृत गुणों के स्वरूप और उनके भेद को प्रदर्शित करना यहाँ आवश्यक समझते हैं ।

आचार्य मम्मट ने गुण के तीन ही प्रकार स्वीकार किये हैं, वे हैं—

1. माधुर्य,
2. ओज, व
3. प्रसाद ।

ये तीन गुण वामन से पूर्व भामह ने और वामन के पश्चात् आनन्दवर्धन एवम् अभिनवगुप्त ने भी निर्दिष्ट किये हैं । परन्तु इनका साङ्गोपाङ्ग और स्पष्ट स्वरूप मम्मट ने ही निर्धारित किया है । मम्मट के पश्चात् तो गुणों की दिशा सर्वथा सुनिश्चित हो गई । उनके उत्तरवर्ती विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ ने मम्मट के ही गुणत्रयवाद का प्रबल समर्थन कर वामन के दस-गुणत्ववाद की चर्चा ही सदा के लिए समाप्त कर दी । पण्डितराज के पश्चात् संस्कृत-साहित्य में माधुर्य, ओज,

---

1. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता अचलस्थितयो गुणाः ॥

—का० प्र० 8 उल्लास, 87 सूत्र

1. एवं दोषानुक्त्वा गुणालङ्कारविवेकमाह ।

—का० प्र० 8 उल्लास, आरम्भवाक्य

प्रसाद, ये तीन ही काव्यगुण आज तक स्वीकार किये जा रहे हैं। वामन का रीत्यात्मवाद जिस प्रकार ध्वन्यात्मक या रसात्मवाद की धारा में सर्वथा विलीन हो गया, उसी प्रकार उनका दसगुणतावाद भी गुणत्रयवाद में पूर्णतया अन्तर्लीन हो गया। विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण और पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में वामन के दस गुणों का माधुर्य आदि तीन गुणों में अन्तर्भाव बड़ी विशदता से किया है, तथापि वह मम्मटकृत अन्तर्भाव का ही विशदीकरण है। अतः हम वामन के श्लेष आदि दस गुणों और माधुर्यादि में उनके मम्मटोक्त अन्तर्भाव प्रकार को प्रदर्शित कर जिज्ञाशुओं की गुण सम्बन्धी प्राचीन और अर्वाचीन जिज्ञासा को शान्त करना इस स्थान पर आवश्यक समझते हैं।

वामनोक्त दसकाव्यगुण और उनका माधुर्यादि में अन्तर्भाव—हम ऊपर कह आये हैं कि वामन ने अपने काव्यालङ्कारसूत्र में जिन दस काव्यगुणों को प्रतिष्ठापित किया, वे भरत और दण्डी के द्वारा पहले ही स्वीकृत हो चुके थे परन्तु उनके साथ वामन का नाम इसलिये विशेष रूप से जोड़ा जाता है क्योंकि वामन ने बड़े संरम्भ और विस्तार से उन्हें विवृत किया तथा शब्दगत और अर्थगत भेद से उनके बीस प्रकार प्रतिपादित किए। वामन ने अपने बीस गुणों को जिस प्रकार स्पष्ट और विशदरूप से लक्षित तथा उदाहृत किया, उस प्रकार भरत और दण्डी ने नहीं किया था। यही बात मम्मट के विषय में भी देखी जाती है। मम्मट ने जिन माधुर्यादि तीन गुणों का निर्धारण काव्यप्रकाश में किया है वे आनन्दवर्धनाचार्य और अभिनवगुप्त द्वारा पहले ही स्वीकृत हो चुके थे। परन्तु मम्मट ने जिस प्रकार वामन के बीस गुणों का स्वरूप उपस्थित कर उनका माधुर्यादि तीन गुणों में अन्तर्भाव स्पष्ट प्रदर्शित किया वह कभी पहले नहीं किया गया था। यही कारण है कि जिस प्रकार दस गुणों के साथ वामन का नाम जोड़ा जाता है, उसी प्रकार तीन गुणों के साथ मम्मट का नाम जुड़ा दिखाई देता है।

वामन के दस काव्यगुण—वामन के प्रतिपादित दस काव्यगुण ये हैं—

1. श्लेष,
2. प्रसाद,
3. समता,
4. समाधि,
5. माधुर्य,
6. ओज,
7. सौकुमार्य,
8. अर्थव्यक्ति,
9. उदारता,

10. कान्ति ।

इन दस गुणों और इनमें शब्दगत एवम् अर्थगत भेदों का स्वरूप आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास में यथावत् उदधृत कर उनका माधुर्यादि तीन गुणों में जिस प्रकार अन्तर्भाव किया है, वह इस प्रकार है—

1. श्लेष—वामन के अनुसार बहुत सारे पद जहाँ एक दूसरे से चिपके हुए (परस्पर सटे हुए) होकर एक पद की तरह प्रतीत होने लगते हैं, वहाँ श्लेष नामक गुण होता है। वामन के शब्दों में मसृणता का नाम श्लेष है, और यह मसृणता बहुत पदों को भी एक पद के समान प्रतीत कराती है। अर्थात् इस गुण के कारण एक दूसरे से पृथक् स्थित भी अनेक पद परस्पर चिपके हुए, एक दूसरे के साथ सटे हुए प्रतीत होने लगते हैं। पदों में रहने वाली यह मसृणता (चिपकन) ही श्लेष नामक शब्दगुण है।[1]

भरत से लेकर वामन तक आलङ्कारिकों ने इस गुण को इसी कारण श्लेष नाम दिया है, क्योंकि इसमें वाक्य स्थित अनेक पद भी परस्पर इस रूप में श्लिष्ट रहते हैं कि सम्पूर्ण वाक्य एक पद सा प्रतीत होने लगता है। वास्तव में इन आचार्यों ने पदों के स्वाभाविक अन्वय सम्बन्ध को श्लेष नाम दिया है। यह बात वामन द्वारा निर्दिष्ट श्लेष गुण के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है। वामन ने कालिदासकृत कुमारसम्भव के "अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः" वाक्य को उद्धृत कर उसमें श्लेष गुण की सत्ता स्वीकृत की है। कोई भी सहृदय मर्मज्ञ कालिदास के उक्त पदार्थ में यह बात स्पष्ट अनुभव कर सकता है कि यहाँ "अस्ति" का सम्बन्ध 'उत्तरस्याँ' से और "उत्तरस्याँ" का सम्बन्ध "दिशि" से निर्बाध जुड़ा हुआ है। इस प्रकार "अस्त्युत्तरस्यां दिशि" ये तीन पद अपने स्वाभाविक सन्निकर्ष के कारण··· 'एक पद जैसे प्रतीत होने लगे हैं 'अस्त्युत्तरस्याँ दिशि' इस एक पदाभास को सुनते ही श्रोता के मन में जो जिज्ञासा उत्पन्न होती है वह "कः" से भिन्न हो ही नहीं सकती। उसकी पूर्ति में अग्रिम "देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः" पद स्वयम् खिंचकर चले आते प्रतीत होते हैं। इस प्रकार सात पृथक पदों से ग्रथित वाक्य एक पद के समान प्रतीत होने लगा है। इस प्रकार के स्वाभाविक सन्निकर्ष को ही काव्यमर्मज्ञों ने श्लेष गुण की संज्ञा दी है। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन आचार्यों ने अन्वय की स्वाभाविक सन्निकटता को अर्थात् दूरान्वय के अभाव को श्लेष नाम दिया है। आचार्य वामन ने श्लेष गुण का जो दूसरा अन्वय-व्यतिरेकि उदाहरण दिया है, उससे हमारे इस कथन की सत्यता सिद्ध हो रही है, उन्होंने "सूत्रं ब्राह्ममुरः स्थले" में श्लेष गुण का

---

1. मसृणत्वं श्लेष : —काव्यालङ्कारसूत्र 1/11

मसृणत्वं नाम यस्मिन् सति बहून्यपि पदानि एकपदवद्भासन्ते ।

—वही सूत्र 11 की वृत्ति

अभाव और "ब्राह्मं सूत्रमुरः स्थले ' में श्लेष की सत्ता प्रतिपादित की है ।[1] स्पष्ट है कि उरः स्थल के साथ सूत्र का ही आधाराधेय-सम्बन्ध है, ब्राह्म का नहीं, ब्राह्म तो सूत्र का विशेषण मात्र है, जिसे अपने विशेष्य के पूर्व ही होना चाहिए । विशेष्य के पूर्ववृत्ति होने पर ही 'विशेषण विशेष्ययोरभेदः सम्बन्धः' के अनुसार विशेषण का विशेष्य के साथ स्वाभाविक अन्वय सिद्ध होता है, "ब्राह्मं सूत्रमुरः स्थले" में "ब्राह्मम्" का सूत्र के साथ विशेषण-विशेष्य-भाव के कारण और "सूत्रम्" का "उरः स्थले" के साथ आधाराधेय-भाव के कारण स्वाभाविक अन्वय हो जाता है, जो "सूत्रं ब्राह्ममुरः स्थले" में वैसा सम्बन्ध न होने के कारण सम्भव नहीं है ।

इस प्रकार जान पड़ता है कि पदजन्य पदार्थ की स्वाभाविक सन्निकटता को उक्त आचार्यों ने काव्य का आवश्यक गुण माना है और उसे श्लेष नाम दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह काव्य का आवश्यक गुण है । स्थूल दृष्टि से हम भले ही इसे नजर अन्दाज कर दें परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इस गुण का काव्य में बहुत बड़ा महत्व है । इसी गुण के कारण — बाल्मीकि, व्यास और कालिदास का काव्य सर्वाधिक समादृत है । मेरे विचार से यह काव्य का बहुत महत्वपूर्ण गुण है । परन्तु उक्त प्रकार की सन्निकटता ही वस्तुतः वामन की अभीष्ट मसृणता है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता । वामन ने मृसणता को श्लेष कहा है, परन्तु वह मसृणता क्या है ? इसे वामन स्पष्ट नहीं कर सके हैं । उनके यह कहने मात्र से कि "जिसके रहते बहुत से पद एक पद जैसे प्रतीत होने लगते हैं, वह मसृणता है" मसृणता का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है । हम नहीं समझते कि बहुत से पदों को एक पद की तरह प्रतीत कराने वाली यह मसृणता कौनसा स्नेहन है जो अनेकपदों को चिपका कर एकत्र जोड़ देता है । अभिनवगुप्तपाद ने नाट्यशास्त्र पर जो "अभिनवभारती" नामक विवृत्ति लिखी है, उसमें उन्होंने दो वस्त्रखण्डों को सींकर एक कर देने वाले धागे के समान दो पदों को परस्पर जोड़ने वाली यणादि सन्धिको मसृणता माना है । उन्होंने मसृणता का उदाहरण वही दिया है, जो वामन ने अपने काव्यालङ्कार सूत्र में दिया था । कालिदासकृत कुमारसम्भव के प्रथम श्लोक "अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा" में अभिवनगुप्त के अनुसार "अस्ति" और "उत्तरस्याम्" इन दो पदों में यण् सन्धि होने से दो तकारों का साजात्य हो गया है । इसी प्रकार "स्याम्" और "दिशि" पदों में पर-सवर्ण होने से नकार और दकार का सावर्ण्य निष्पन्न हो गया है । दिशि और देवता पदों में सन्निधि होने से दोनों पदों के आदिवर्ण दो दकारों का परस्पर साजात्य हो गया है । इन्हीं दोनों में स्थित "इ" और "ए" स्वरों में जो स्थानसाम्य है (इ) का तालु और "ए" का कण्ठतालु उसके कारण दोनों पदों में स्थित स्वरों का सादृश्य भी बन

---

1. न पुनः सूत्रं ब्राहममुरः स्थले·········। एवं तु श्लेषो भवति ।
ब्राहमं सूत्रमुरः स्थले.······। —का० अ० सू० 1/11 की वृत्ति ।

गया है । इसी प्रकार "देवतात्मा" पद में दो तकारों (पूरा "त" और आधा "त्") का भी स्थान साम्य है । इस प्रकार उक्त उदाहरण में सन्धीयमान दो पदों में सन्धि हो जाने से उनमें परस्पर सावर्ण्य और साजात्य सम्पन्न हो गया है । यही श्लेष है ।[1]

इस विवृत्ति में अभिनवगुप्त ने "साजात्य" और "सावर्ण्य" दो पदों का प्रयोग किया है और इन्हें सन्धि के द्वारा सम्पन्न हुआ कहा है । अभिनवगुप्त का यह कथन उसी प्रकार अस्पष्ट और भ्रामक है, जिस प्रकार वामन का मसृणत्व । जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं—"अस्ति" और "उत्तरस्यां" इन दो पदों में तथा "स्याम्" और "दिशि" इनमें ही सन्धि हुई है । प्रथम दो पदों में सन्धि (यण्) होने से दो तकारों का साजात्य (तुल्यजातीयता) तथा दूसरे दो पदों में सन्धि (परसवर्ण) होने से "न्" और 'द्" का सावर्ण्य (तुल्यस्थानीयता) हुआ है । शेष "दिशि और देवता" में तथा "इ" और "ए" में जो सादृश्य सम्पन्न हुआ है, वह तो बिना सन्धि के ही हुआ है । उसमें तो सन्निधि को ही अभिनवगुप्त ने कारण माना है । जब सन्धि से होने वाली सजातीयता या सवर्णता ही मसृणता है, तब वह बिना सन्धि के अर्थात् सन्निधिमात्र से क्यों हो गई ? जब सन्निधि अर्थात् सन्निकटता से होने वाला साजात्य और सावर्ण्य भी मसृणता है, तब उसे ही (सन्निकटता को ही) मसृणता क्यों न माना जाए ? वह सन्निकटता सन्धि के द्वारा भी हो सकती है और पूर्वापरभाव के द्वारा भी । अत: हमारी सम्मति में सन्निकटता ही वह मसृणता है, जिसे वामन ने श्लेष गुण कहा है । परन्तु जैसा कि हम पहले कह चुके हैं—यह सन्निकटता सम्बन्ध सापेक्ष होनी चाहिये । अर्थात् पदों में ऐसा स्वाभाविक सन्निकर्ष होना चाहिये, जिसके कारण अनेक पद परस्पर संयुक्त होकर, एक पद के समान प्रतीत होने लगें । उसी मसृणता को वामन ने श्लेष गुण कहा है, ऐसा हम समझते हैं ।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है । वामन ने और अभिनवगुप्त ने पदगत श्लेष का जो उदाहरण कालिदासीय पद्य "अस्त्युत्तरस्याम्......आदि दिया है, उसमें एक ऐसा अन्तर है जो बरबस अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करता है । वह यह है कि वामन ने तो कालिदासीय पद्य का सम्पूर्ण पूर्वार्द्ध "अस्ति से नगाधिराज: तक" उदाहरण के रूप में उपन्यस्त किया है, परन्तु अभिनवगुप्त ने श्लोक का केवल प्रथम चरण "अस्ति से देवतात्मा तक" ही उदाहृत किया है । अभिनवगुप्ताचार्य नाट्यशास्त्र के श्लेष गुण की विवृति लिखते हुए जब वामन की काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति का ही सर्वथा आश्रय ग्रहण करने बैठे थे, तब उन्हें वामन द्वारा उदाहृत कुमारसम्भव के प्रथम श्लोक का सम्पूर्ण पूर्वार्द्ध उदाहरण के रूप में ग्रहण करना चाहिये था । उन्होंने

---

1. सन्धीयमानयो: तथासन्धे: साजात्यं सावर्ण्यञ्च सम्पद्यते वस्त्रखण्डयोरिव सूत्रस्येव इत्यादि । —अभि० भा० 16/98 ना० शा०

ऐसा न कर केवल श्लोक का प्रथम चरण ही क्यों उदाहृत किया है ? द्वितीय चरण को उन्होंने क्यों नजर अन्दाज कर दिया ? स्पष्ट है कि श्लोक के द्वितीय चरण में अभिनवगुप्त द्वारा मान्य सन्धिजन्य साजात्य आदि का सर्वथा अभाव था, अतः उन्होंने उसे छोड़ दिया। परन्तु वामन की दृष्टि में पदों की सम्बन्ध-सापेक्षता के कारण रहने वाली सन्निकृष्टता वहाँ उसी प्रकार विद्यमान है, जिस प्रकार प्रथम चरण में। अतः सन्धिजन्य साजात्य या सावर्ण्य रूप मृसणता के स्थान पर अन्वयाभिमुख सम्बन्धसापेक्ष को ही वामनसम्मत मसृणता माना जाना चाहिये। अभिनवगुप्त द्वारा सन्धि को साजात्य और सावर्ण्य का सम्पादक हेतु मानने के बाद भी सन्निधि द्वारा सादृश्य को उदाहृत करना हमारी उक्त मान्यता को ही दृढ़ करता है। वामनोदाहृत कालिदासीय पद्य के आधे अंश को छोड़कर शेष प्रथमचरण मात्र को अभिनवगुप्त द्वारा उदाहृत करना इसी कारण सङ्गत हो सकता है क्योंकि शेष अंश "हिमालयो नाम नगाधिराजः" में अभिनवसम्मत सन्धिजन्य सावर्ण्य या साजात्य दृष्टिगोचर नहीं है। दूसरी ओर वामन द्वारा सम्पूर्ण पूर्वार्द्ध को उदाहृत करना इसीलिए सङ्गत है क्योंकि उसमें अन्वयाभिमुख सन्निकृष्टता अन्त तक विद्यमान है।

इसके अतिरिक्त यदि वामन को सन्धिकृत साजात्य या सावर्ण्य ही अभीष्ट होता तो वे "सूत्रं ब्राह्मं" में श्लेष का अभाव और "ब्राह्मं सूत्रं" में श्लेष की सत्ता कैसे स्वीकार करते। क्योंकि सूत्रं को ब्राह्मं से पूर्व रखने में तो परसवर्ण रूप सन्धि होना सम्भव है जबकि "ब्राह्मं सूत्रं" इस प्रकार के पद विपर्यय में सन्धि सम्भव ही नहीं है। जिस प्रकार के विन्यास में सन्धि सम्भव ही नहीं, उसमें वामन द्वारा श्लेष स्वीकार करना और जहाँ सन्धि सम्भव है वहाँ श्लेष न स्वीकार करना यही प्रमाणित करता है कि सन्धिकृत साजात्य या सावर्ण्य रूप मासृण्य वामन को अभिमत नहीं है। कुछ टीकाकारों का यह कथन सर्वथा तुच्छ और उपहसनीय है कि "सूत्रं ब्राह्मम्" में परसवर्ण होने पर "सूत्रम् ब्राह्मम्" इस स्थिति में परुषाक्षरता आ जाती, अतः वामन ने इसे श्लेष स्वीकार नहीं किया। यदि वामन की सम्मति में परुषाक्षरता हेय होती तो वे "तडित्कलिलम्" के स्थान पर "तडिज्जटिलम्" में श्लेष स्वीकार न करते। ऐसा कौन सहृदय होगा जो "तडिज्जटिलं" की अपेक्षा "तडित्कलिलं में परुषाक्षरता का दर्शन करेगा ? फिर "सूत्रं" के अनुस्वार को परसवर्ण द्वारा "म्" बना देने में परुषता इन टीकाकारों को कहाँ से अनुभव होने लगी, हम नहीं समझते। क्या "म्" और "ब" इन दो समान स्थानीय सवर्णों का संयोग भी परुष होता है ? यदि हाँ तो अभिनव द्वारा सन्धिकृत सावर्ण्य को मसृणता मानना कैसे सङ्गत होगा ? दूसरी बात, यहाँ जो सन्धि होगी उसका तो नाम ही परसर्वण अर्थात् पर का सवर्ण है। क्या सवर्ण में भी सावर्ण्य का अभाव हो सकता है ? यदि यहाँ परसर्वण होने से सावर्ण्यरूप

मासृण्य विद्यमान है। तब श्लेष गुण को यहाँ कौन रोक सकता है ? ऐसी स्थिति में वामन का ''ब्राह्मं सूत्रं'' में श्लेष को स्वीकार और ''सूत्रं ब्राहमं'' में श्लेष को अस्वीकार करना अभिनव की दृष्टि से कैसे सङ्गत होगा ? फलतः हमें अन्वयाभिमुख सम्बन्ध सापेक्षता को ही मसृणत्व मानना पड़ेगा।

एक बात और भी है, जो हम ''सूत्रं ब्राह्मं'' में सन्धि होने पर परुषाक्षरता मानने वालों के समक्ष रखना चाहते हैं। यह स्पष्ट होना ही चाहिये कि परुषाक्षरता क्या है ? क्या यह दुश्श्रवत्व या श्रुतिकटुत्व से भिन्न कोई दोष है या दुश्श्रवत्व को ही आप परुषाक्षरता कहते हैं ? यदि भिन्न है तो कृपया बतायें कि इस परुषाक्षरता की ग्राहक इन्द्रिय श्रोत्र है या चक्षु ? यदि श्रोत्र ही अक्षर की परुषता का ग्राहक है तब ''सूत्रं ब्राह्मं'' में सन्धि होने या न होने पर दोनों अवस्थाओं की श्रुति में क्या अन्तर है ? दोनों का उच्चारण और श्रुति जब एक है; तब एक की स्थिति में परुषता और दूसरी में मसृणता का नियामक हेतु क्या है ?

स्पष्ट है कि वामन द्वारा ''सूत्रं ब्राह्मं'' में श्लेष गुण न मानने और ''ब्राह्मं सूत्रं'' में श्लेष गुण मानने का कारण सन्धि का सद्भाव या असद्भाव नहीं अपितु अन्वयाभिमुख सम्बन्धसापेक्षता ही है, जो ऊपर प्रदर्शित रीति से ''ब्राह्मं सूत्रं'' में विद्यमान है, ''सूत्रं ब्राह्मं'' में नहीं। वामन ने दूसरे उदाहरण ''तडित्कलिलम्'' में जो श्लेष का अभाव और उसके स्थान पर ''तडिज्जटिलम्' में श्लेष का सद्भाव प्रतिपादित किया है, क्या उसमें साजात्य या सावर्ण्य मासृण्य का नियामक है ? यदि ऐसा है तो ''तडित्'' में विद्यमान दो तकार (एक पूर्ण और अर्द्ध) ''कलिलम्'' में विद्यमान दो लकारों में सवर्णता नहीं है क्या ? इसके विपरीत ''कलिलम्'' के स्थान पर पठित ''जटिलम्'' में सन्धि होने पर कौन सा साजात्य उद्भूत हो जाता है ? वहाँ तो साजात्य उद्भूत होने के स्थान पर प्रत्युत लुप्त हो जाता है, साथ ही परुषाक्षरता के कारण मासृण्य सर्वथा नष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में ''तडित्कलिलमाकाशम्'' में श्लेष का अभाव और ''तडिज्जटिलमाकाशम्'' में वामनसम्मत श्लेष कैसे मान्य होगा ? सम्बन्धसापेक्षता को कारण मान लेने पर तो वह सङ्गत होता दिखाई देता है क्योंकि तडित जैसी चमकीली सुनहरी कान्ति द्वारा आकाश का कलिल होना सर्वथा असम्बद्ध है। कलिल शब्द का सामान्यार्थ सर्वदा कलुष, गदला, मैला आदि अशोभन रूप में ही गृहीत है। भर्तृहरि ने वैराग्य शतक में हृदय को क्लेश से कलिल कहा है।[1] जो ठीक ही है। क्लेश हृदय को कलुषित करते ही हैं। श्रीमद्भगवदगीता में कलिल शब्द का प्रयोग मोह के साथ कलिल का तादात्म्य करते हुए किया गया है। वहाँ भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि ''जब तुम्हारी बुद्धि मोह

---

1. विशसि हृदय क्लेशकलिलम्। —भर्तृ 3/34

के कलिल से निकलकर बाहर हो जायेगी, तब तुम श्रुत और श्रोतव्य से निरपेक्ष हो जाओगे।[1] यहाँ मोह में कलिल का आरोप कलिल को कीचड़ जैसी मलिन-वस्तु प्रतीत करा रहा है। ऐसी स्थिति में तडित् जैसी उज्ज्वल दीप्ति द्वारा आकाश का कलुषित होना किस सहृदय को अनन्वित और असम्बद्ध प्रतीत न होगा। कलिल के स्थान पर जटिल का प्रयोग इसीलिए तडित् के साथ मिलकर एक पदता की प्रतीति कराने वाला समझा गया है क्योंकि तडित् जटा के समान फैलकर आकाश को व्याप्त कर लेती है और उस समय जबकि बिजली चमक रही हो आकाश की ओर देखना एक बड़ी जटिल समस्या है। जटाधारण करने वाले को भी जटिल कहा जाता है। वास्तव में वही उसका अभिधेय है, क्योंकि जटा शब्द से इलच् प्रत्यय होकर ही जटिल शब्द निष्पन्न होता है, अतः जटा और जटाधारी में जिस प्रकार एकत्व सम्बन्ध होता हैं, उसी प्रकार बिजली के चमकने पर बिजली और आकाश में एकरूपता निष्पन्न करने में जटिल शब्द पूर्णरूप से समर्थ है, जिससे "तडिज्जटिलमाकाशम्" में तीन पृथक्-पृथक् पद परस्पर सॅट कर एकपदवत् भासित होने लगते हैं। यह एकपदवत् भासन ही श्लेष है, जो उपर्युक्त रीति के अनुसार सन्धिसापेक्ष नहीं अपितु सम्बन्ध सापेक्ष हैं। हाँ संहिता को उसके प्रति कारण कहना तो ठीक है, क्योंकि संहिता हमारे द्वारा ऊपर कही हुई अतिशय सन्निकटता का ही नाम है, उसे सन्धि का पर्याय नहीं समझ लेना चाहिए।[2] पण्डितराज जगन्नाथ ने संहिता द्वारा एकत्व को प्राप्त वर्णों के विन्यास को ही प्राचीन-सम्मत श्लेष-गुण बताया है।[3] उन्होंने वामन के "मसृणत्वं श्लेष" को छोड़कर दण्डी के "श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यम्—का. आ. 1, 43" लक्षण को उद्धृत कर गाढत्व को प्रचीनसम्मत श्लेष माना है, ममृणत्व को नहीं। पण्डितराज के अनुसार यह गाढत्व समासजन्य है, सन्धिजन्य नहीं। उन्होंने श्लेष का जो स्वनिर्मित उदाहरण उपन्यस्त किया है, उसमें समासजन्य गाढत्व का ही दर्शन होता है, सन्धिजन्य मासृण्य का नहीं। पण्डितराज के "अनवरत-विद्वद्द्रुमद्रोहिदारिद्रयमाद्यद्द्विपोद्दामदर्पविद्रावणप्रौढ़पञ्चाननः"[4] इस श्लेषोदाहरण में सन्धिकृत एकपदत्वाभास नहीं के समान है, वस्तुतः समासकृत एकपदत्वरूप गाढत्व ही प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। समास द्वारा उत्पादित इस गाढत्व में संहिता तो स्पष्ट ही है क्योंकि "नित्यासमासे" इस शब्दानुशासन के अनुसार समास में संहिता अर्थात् अतिशय सन्निकटता नित्य ही रहती है, परन्तु सन्धिकृत एकपदता यहाँ किञ्चित् भी चमत्कारी नहीं है। केवल "माद्यद्द्विपोद्दाम" इस अंश में स्थित

---

1. यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति······। —भ० गी० 2/52
2. परः सन्निकर्षः संहिता" पाणिनि 1/4/109
3. संहितयैकजातीयवर्णविन्यासविशेषः......श्लेषः। रसगं० 1/209
4. रसगङ्गाधर —1/210/4 गुम्फ उद्धन ओजसि का० प्र० 8/75

सन्धि (जश्त्व और गुण) शेष सम्पूर्णपदसमूह में एकपदता की आभासक कैसे कही जा सकती है ? हमारी सम्मति में मम्मट को भी इसी प्रकार का गाढत्व-प्रयुक्त श्लेष गुण अभीष्ट है। अतएव उन्होंने श्लेष का उद्धतगुम्फनस्वरूप ओज में[1] अन्तर्भाव किया है। "अस्त्युत्तरस्यां दिशि......देवतात्मा जैसी अनुद्धत रचना मम्मट के उद्धत ओजस में कैसे अन्तर्भूत हो सकती है ? अतः संहिता अर्थात् अतिशय सन्निकृष्टता ही एकपदत्वाभास के प्रति हेतु है, सन्धि नहीं। संहिता में सन्धि भी होती है, यह अन्य बात है। वामन के द्वारा उदाहृत कालिदासीय पद्य में भी जो एकपदत्वाभास है, वह सन्धिजन्य की अपेक्षा समासजन्य अधिक है। वहाँ जो स्वतन्त्ररूप से सन्धि के दर्शन होते हैं, वे "अस्ति + उत्तर" इन दो पदों में (यण्सन्धि के रूप में) ही होते हैं। शेष "देवतात्मा, हिमालय, नगाधिराजः" इन तीन पदों में समासकृत गाढत्व ही दृष्टिगोचर होता है। इनमें जो दीर्घसन्धि दिखाई देती है, वह समासनिष्ठ संहिता के कारण है। सन्धि सर्वदा संहिता के आश्रित होती है, संहिता सन्धि के आश्रित नहीं होती। अतः जब समास होता है तो सन्धि होती ही है। इसलिए देवतात्मा आदि पदों में समास ही गाढत्व का प्रयोजक है, सन्धि नहीं।

हमारा अनुमान है कि वामन का मसृणत्व गाढत्व का ही पर्याय है क्योंकि गाढत्व में मसृणत्व होता ही है। वह गाढत्व सन्धिजन्य साजात्य या सावर्ण्यकृत हो यह बात न तो वामन को अभीष्ट है, न उनके पूर्ववर्ती दश गुणवादी दण्डी को, और न ही दोनों के उपजीव्य भरतमुनि को ही अभीष्ट है। दण्डी ने श्लेष गुण का जो "श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यम्" लक्षण किया है, उससे स्पष्ट प्रकट है कि वे शैथिल्य के स्पर्श से हीन वर्ण विन्यास को श्लेष गुण मानते हैं। शैथिल्य के स्पर्श का अभाव गाढत्व ही है अन्य कुछ नहीं। दण्डी ने शैथिल्य का परिचय देते हुए उसे उत्तरोत्तर अल्पप्राण अक्षरों से युक्त कहा है और "मालतीमाला लोलालिकलिला" उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। दण्डी का अभिमत शैथिल्य अल्पप्राण अक्षरों पर निर्भर है। स्पष्ट ही उसका अभाव महाप्राण अक्षरों वाला होगा। महाप्राण अक्षरों का यह विन्यास गाढत्व ही है, जिसे वामन ने मसृणत्व नाम दिया है। कुछ भी हो, दण्डी का शैथिल्याभाव या वामन का मसृणत्व अथवा पण्डितराज का गाढत्व सन्धिसापेक्ष न होकर सम्बन्ध सापेक्ष है, यह बात ऊपर दिये लक्षणों और उदाहरणों से स्पष्ट हो चुकी है।

दण्डी और वामन के दशगुणवाद का उपजीव्य नाट्यशास्त्र है, नाट्य शास्त्र में भरतमुनि ने ही दश गुणों का प्रथम उल्लेख किया है और उनके श्लेष, प्रसाद, समता आदि नाम गिनाये हैं, जिनका उल्लेख हम अध्याय के आरम्भ में कर आये हैं। देखना यह है कि भरतमुनि ने श्लेष गुण का स्वरूप जिन शब्दों में निर्धारित

---

1. गुम्फ उद्धत ओजसि —का० प्र० 8/75

किया है उसे भिन्न-भिन्न आचार्य पृथक्-पृथक् रूप में क्यों ग्रहण कर रहे हैं, ? भरत-मुनि ने श्लेष का स्वरूप बताने के लिये दो श्लोक लिखे हैं। प्रथमश्लोक में उन्होंने कवि के अभीष्ट अर्थ के अनुसार परस्पर सम्बद्ध पदों की श्लिष्टता को श्लेष कहा है।[1] दूसरे में उन्होंने पूर्व श्लोक में निर्दिष्ट श्लिष्टता को विवृत करने के लिये श्लिष्ट के स्वरूप को समझाते हुए कहा है कि "जो विचार करने पर गहन हो किन्तु स्वभावत: स्फुट हो और स्वत: सुप्रतिबद्ध हो, उसे श्लिष्ट कहते हैं"।[2] दोनों श्लोकों में निबद्ध शब्दावली पर ध्यान देने से स्पष्ट भासित हो जाता है कि भरत ने पूर्व श्लोक में पदों की जिस श्लिष्टता को श्लेष कहा है, उस श्लिष्टता को स्पष्ट करने के लिए ही दूसरे श्लोक में श्लिष्ट के स्वरूप को—जिसका भाव श्लिष्टता कहा गया है—स्पष्ट किया है। आचार्य दण्डी ने दोनों श्लोकों की एकवाक्यता समझ कर पदों की सुप्रतिबद्धता को श्लेष गुण निर्धारित किया। उन्होंने श्लेष के शब्दगत और अर्थगत भेद को गृहीत नहीं किया। परन्तु वामन ने प्रथम श्लोक तथा द्वितीय श्लोक में "श्लेष इत्यभिधीयते" और "श्लिष्टं तत् परिकीर्त्यते" इन दो तिङन्तों द्वारा विभक्त दो वाक्यों को स्वतन्त्र रूप में ग्रहण कर तथा प्रथम वाक्य में "ईप्सितेनार्थ-जातेन" में निर्दिष्ट अर्थ शब्द पर दृष्टि को केन्द्रित कर प्रथम वाक्य से अर्थश्लेष और द्वितीय वाक्य से—जिसमें अर्थ शब्द का उल्लेख नहीं है—शब्दश्लेष को गृहीत कर श्लेष के दो भेद कर दिये। नाट्यशास्त्र के व्याख्याता अभिनवगुप्तपाद ने वामन द्वारा उदाहृत श्लेष के उभय रूपों पर ध्यान केन्द्रित कर वामन का ही अनुकरण किया। अभिनव ने शब्दगत और अर्थगत श्लेष के वे ही उदाहरण अभिनवभारती में दिये हैं, जो वामन ने अपने काव्यालङ्कारसूत्र में दिये थे। अभिनव को प्रमाण मानने वाले मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज आदि ध्वनिमार्गी आचार्यों ने श्लेष आदि गुणों के वामनोक्त शब्दगत और अर्थगत भेदों को ही सम्मुख रखकर उन पर विचार किया है, भरत के श्लेष-लक्षण में श्लेष का शब्दगत या अर्थगत भेद स्पष्ट अभिहित नहीं है, उन्होंने प्रथम वाक्य से पदों की श्लिष्टता को श्लेष कहकर द्वितीय वाक्य से श्लिष्टता के प्रतियोगी श्लिष्ट को ही विवृत किया है। दण्डी ने श्लिष्ट शब्द की निष्ठा (क्त प्रत्यय) को भवार्थक मानकर "श्लिष्टं श्लेष:" इस व्युत्पत्ति के आधार पर श्लिष्ट को श्लेष का पर्याय ही समझा और अर्थ को दृष्टि में रखकर स्वत: सुप्रतिबद्ध पद-विन्यासको श्लेष-गुण लक्षित किया। परन्तु वामन ने भरत के "अर्थजातेन परस्पर-सम्बद्धानाम्" इस वाक्य में स्थित अर्थकृतसम्बद्धता को ग्रहण कर उसे अर्थ-

---

1. ईप्सितेनार्थजातेन सम्बद्धानां परस्परं।
श्लिष्टता या पदानां हि श्लेष इत्यभिधीयते। —ना० शा० 16/97
2. विचारगहनं यत् स्यात् स्फुटं चैव स्वभावत:।
स्वत: सुप्रतिबद्धञ्च श्लिष्टं तत्.........॥ —ना० शा० 16/98

श्लेष और "स्वत:—सुप्रतिबद्धञ्च" इस द्वितीय वाक्य में स्थित "स्वत:" शब्द का अर्थनिरपेक्ष अर्थ ग्रहण कर उसे शब्दश्लेष माना। स्पष्ट है कि वामन ने भी दण्डी के अनुकरण पर "श्लिष्टं तत् परिकीर्त्यते" में स्थित श्लिष्ट शब्द को श्लेष का पर्याय ही माना है। यद्यपि भरत ने श्लेष को अर्थगत और शब्दगत भेदों में विभक्त नहीं किया, परन्तु उससे अव्यवहित पूर्व गुणों का परिगणन करते हुए उन्होंने श्लेष आदि दश गुणों को काव्य के गुण कहा है–"काव्यस्य गुणा दशैते–16/96"। विश्वनाथ से पूर्व भामह आदि सभी आचार्य शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर मानते आये हैं। अत: काव्य के गुण बताकर भरत ने श्लेष आदि दश गुणों का शब्दगत और अर्थगत होना प्राय: कह ही दिया है। यही कारण है कि वामन ने श्लेष आदि सभी गुणों को शब्द और अर्थ भेद से दो-दो प्रकार का निर्दिष्ट किया। यद्यपि वामन से पूर्व अग्नि-पुराण के द्वारा गुणों के न केवल शब्दगत और अर्थगत ही अपितु उभयगत भेद भी निर्दिष्ट किये गये थे। परन्तु चिरकाल तक वामन का मत ही मान्यता प्राप्त किये रहा। अत: आनन्दवर्धन और उनके अनुगामी मम्मट आदि आचार्यों ने वामन के गुणवाद का खण्डन करना ही प्राचीन मत का खण्डन माना है, और उसके विरुद्ध अपने गुणत्रयवाद को प्रतिष्ठित किया है।

आचार्य मम्मट ने वामन के सूत्र 'मसृणत्वं श्लेष:' की वृत्ति यस्मिन् सति बहून्यपि पदानि एकपदवद् भासन्ते" के अनुसार पदों की शैथिल्य-हीन गाढ़ता को ही श्लेष मानकर उसका ओजस् में अन्तर्भाव किया है। उन्होंने आरोह और अवरोह के क्रमरूप समाधि, विकटत्व-रूप उदारता तथा ओज से मिश्रित शैथिल्यरूप प्रसाद का भी ओज में अन्तर्भाव इसीलिये किया है क्योंकि इन सभी में पदबन्ध की गाढ़ता रहती है। इस प्रकार वामन के श्लेष, समाधि, उदारता, प्रसाद और ओज—ये पाँचों शब्दगुण ओजस् स्वरूप होने से एकमात्र ओजस् में ही समा जाते हैं। वामन का पृथक्-पदत्वरूपमाधुर्य तो मम्मट द्वारा शब्दान्तर से साक्षात् स्वीकृत है ही। मम्मट द्वारा स्वीकृत माधुर्य में वृत्ति (समास) का अभाव वामन द्वारा स्वीकृत पृथक् पदत्व ही तो है।[1] वामन ने अपनी सूत्र-वृत्ति में पृथक् पदत्व को दीर्घसमास की निवृत्ति का हेतु कहा ही है।[2] इस प्रकार मम्मट का अवृत्तिरूप और वामन का पृथक्पदत्वरूप माधुर्य एक ही है। इसी प्रकार मम्मट का प्रसाद और वामन की अर्थव्यक्ति भी शब्दान्तर से एक ही गुण हैं।[3] वामन की मार्गभेदरूपा समता तो कहीं दोष भी हो

1. "अवृत्तिर्मध्यवृत्ति र्वा माधुर्ये घटना तथा। —का० प्र० 8/74
पृथकपदत्वं माधुर्यम्"—का० ल० सू० 3/1/21
2. दीर्घसमासनिवृत्तिपरमेतत्"—उसी सूत्र की वृत्ति
3. शुष्केन्धाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव य:। व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ।
—का० प्र० 8/70
यत्र झटित्यर्थव्यक्तिहेतुत्वं स गुणोऽर्थव्यक्ति:
—का० लं० सू० वृ० 3/1/24

जाती है, अत: उसे नियतरूप से गुण नहीं माना जा सकता । यह बात "मातङ्गाः किमुवल्गितैः" इत्यादि पद्य में सिंह सम्बन्धी कथन के अवसर पर पूर्वार्द्ध में स्थित मसृणमार्ग को त्यागकर "कोपाटोपसमुद्भटोत्कट..." इत्यादि उत्कटबन्ध को सभी सदयों द्वारा गुण के रूप में समाहृत होने से प्रमाणित है । वामन का अपारुष्यरूप सौकुमार्य ।[1] और उज्जवलता रूप कान्ति ।[2] भी दोषाभाव स्वरूप ही है, उन्हें गुण नहीं कहा जा सकता । कठोरता और गँवारूपन को कौन दोष न कहेगा ? जब ये दोषत्व के कारण त्याज्य हैं ही, तब उसी से सौकुमार्य और कान्ति स्वयम् स्वीकृत हो जायेंगे, उन्हें अलग से गुण मानना व्यर्थ है । भरतमुनि ने भी असभ्य या ग्राम्य को दोषों में गिना है ।[3] दूरसम्बन्ध होने से अर्थग्रहण में व्यवधान होने को भरत ने भिन्नार्थ दोष कहा है, ।[4] जो वस्तुत: कष्टत्व ही है, दोष तो त्याज्य होते ही हैं, दोष के त्याग से ही जो अनायास गृहीत हो जाये उसे स्वतन्त्र गुणमानकर व्यर्थ का गौरव कैसे उचित कहा जा सकता है ?

इस प्रकार वामन के दशगुणों का अन्तर्भाव माधुर्यादि तीन गुणों में करने के उपरान्त मम्मट ने उन दस अर्थगुणों—जिनके नाम वे ही परन्तु स्वरूप भिन्न हैं—का भी युक्तिपूर्वक खण्डन कर दिया है । वामन के दस अर्थगुणों का स्वरूप निम्न प्रकार है—

1. ओजस्—वचन की प्रौढ़ि का नाम ओजस् गुण है । अर्थ को विचित्र शैली में व्यक्त करना प्रौढ़ि कही जाती है । यह पाँच प्रकार की है—

"क" "पदार्थे वाक्यरचनम्" जिस बात को एक पद द्वारा प्रकट किया जा सकता है, उसके लिये वाक्य की रचना करना । जैसे "चन्द्रः" कहने के स्थान पर "अत्रिनयनसमुत्थं ज्योतिः "रघु० 2/27 कहना । यह प्रथम प्रकार की प्रौढ़ि है ।

"ख" वाक्यार्थे च पदाभिधा" जिस अर्थ को वाक्य द्वारा कहा जाता है, उसे एक पद के द्वारा कह देना । जैसे—प्रिय से मिलने के लिए सङ्केत स्थान पर चुपचुप छिप कर जाने वाली के स्थान पर अभिसारिका कह देना ।

"ग" "व्यास" किसी एक बात को अनेक वाक्यों में विस्तार से कहना । जैसे—दूसरे का धन नहीं "हरना चाहिए" इस एक बात को फैलाकर इस रूप में कहना कि "दूसरे का अन्न नहीं हरना, दूसरे का वस्त्र नहीं हरना, दूसरे का आभूषण नहीं हरना चाहिए ।

---

1. "अजरठत्वंसौकुमार्यम्" —का० सू० 3/1/22
2. औज्ज्वल्यं कान्तिः —का० सू० 3/1/25
3. देखे ना० शा० 16/90/91
4. वहीं ।

"घ" "समास:" जो बात सामान्यत: अनेक वाक्यों द्वारा विस्तार से कही जाती है, उसे इस प्रकार संक्षेप से कह देना कि समस्त विस्तार एक ही वाक्य में सिमट जाये। जैसे "वे देवगण हिमालय से मन्त्रणा करके आकाश में उड़ गये। इस वाक्य में हिमालय के साथ हुई बातचीत–जो काफी विस्तार से हुई होगी—एक मन्त्रणा शब्द में सिमट गई है। कालिदासकृत कुमारसम्भव के "ते हिमालयमामन्त्र्य" आदि श्लोक (2/46) में प्रयुक्त तीनों वाक्य इसी समास के परिचायक हैं।

"ङ" "साभिप्रायत्वमस्य" विशेषण का साभिप्राय होना अर्थात् ऐसा विशेषण प्रयुक्त करना जोकि वक्ता के अभिप्राय को पुष्ट करता हो। जैसे–कुमार-सम्भव में स्थित कामदेव की "कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणे: 3/10" इस उक्ति में "हरस्य" का "पिनाकपाणे:" विशेषण कामदेव के इस अभिप्राय का पोषक है कि रिक्तहस्त हर को धैर्यच्युत करने की तो बात ही तुच्छ है, मैं तो उस हर के भी धैर्य को च्युत कर सकता हूँ जो अपना प्रलयङ्कर अस्त्र हाथ में धारण किये हुए हों। प्रलय के देवता जब अपना प्रलयकारी अस्त्र हाथ में लिये खड़े हों तब उनका साम्मुख्य तो दूर, साम्मुख्य का विचार भी किसी के मन में कैसे आ सकता है, परन्तु कामदेव पिनाकपाणि के भी धैर्य को च्युत कर सकता है, इससे कामदेव का परम सामर्थ्य व्यक्त होता है। यह सामर्थ्य "हरस्य" के पिनाकपाणे:" विशेषण द्वारा ही प्रकट होता है। खाली हाथ प्रतिद्वन्द्वी को पराजित करना अपूर्व सामर्थ्य का व्यञ्जक नहीं है। "पिनाकपाणे: विशेषण की यही साभिप्रायता है।

अर्थ की उपर्युक्त पाँच प्रकार की प्रौढ़ता को वामन ने अर्थगत ओजोगुण कहा है।[3] मम्मट ने इस प्रकार की प्रौढ़ि को वैचित्र्यमात्र कहकर गुण मानने से इन्कार कर दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि वैचित्र्यमात्र को गुण नहीं माना जा सकता। किसी गाय के सींग, पूँछ आदि अङ्ग यदि विचित्र प्रकार के हैं तो इस विचित्रता को गाय का गुण नहीं कहा जा सकता। विचित्र अङ्ग रचना होने पर भी यदि वह सीधी और दुधारू नहीं है तो उसे कौन रखना चाहेगा। गाय का सीधा और दुधारू होना ही जिस प्रकार उसका गुण माना जाता है, विचित्र अङ्ग रचना नहीं। उसी प्रकार माधुर्यादि ही काव्य के गुण सहृदयग्राह्य हैं, उक्त प्रकार की प्रौढ़ि तो वैचित्र्यमात्र है। हाँ, उक्त प्रौढ़ि का पाँचवा प्रकार जिसे विशेषण की साभिप्रायता कहा गया है, वह काव्य में होना ही चाहिए। उसके बिना तो काव्यार्थ अपुष्टार्थत्व दोष से दूषित हो जाता है। ऐसी स्थिति में अपुष्टार्थत्व दोष के स्वीकार कर लेने से ही जब काम चल सकता है, तब गुणों की संख्या को अर्थ की दृष्टि से बढ़ाना व्यर्थ है। गुण के ग्रहण की अपेक्षा दोष का त्याग अधिक स्पृहणीय होता है, यदि कोई दुधारू गाय दूध तो अपने बच्चे को ही पिलाती है और पालने वाले पर केवल दुलत्ती ही झाड़ती

---

1. "अर्थस्य प्रौढ़िरोज:" का. लं. सू. 3/2/2

है, तब उस गाय को क्या कोई ग्रहण करता है ? स्पष्ट है कि गोदुग्धस्थानीय साभिप्रायत्व के ग्रहण की अपेक्षा दुलत्तीस्थानीय अपुष्टार्थत्व दोष का त्याग आवश्यक है। जब दोष को जानना और उससे बचना काव्य की उपादेयता के लिये अनिवार्य है, तब दोष के त्याग से गुण का स्वीकार करना स्वयम् सिद्ध हो जाता है।

जिस प्रकार अपुष्टार्थत्व काव्य का गम्भीर दोष है, उसी प्रकार अधिक पदत्व, अनवीकृतत्व, अमङ्गलरूप अश्लीलत्व और ग्राम्यत्व भी काव्य के शरीर पर कोढ़ की भाँति अतिशय हेय दोष हैं, जिन पर ध्यान देकर उनसे बचना कवि का आवश्यक धर्म है। ऐसी स्थिति में इन दोषों के अभाव रूप जो अर्थगुण क्रमशः प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता वामन द्वारा प्रतिपादित किए गये हैं, वे सब व्यर्थ हैं। उक्त दोषों के निराकरण से ही क्रम से प्रसाद आदि गुण स्वयम् स्वीकृत हो जाते हैं, तो उनका पृथक् परिगणन अनावश्यक ही है। वास्तव में वामन के ये अर्थगुण अर्थविषयक दोषाभावरूप ही हैं। अतः दोषाभाव के रूप में ही इन्हें स्वीकार किया जाना चाहिए, गुण के रूप में नहीं।[1] वामन ने "अर्थव्यक्ति" नामक जिस अर्थगुण का प्रतिपादन किया है, वह स्वाभावोक्ति नामक अलङ्कार से भिन्न नहीं है। वस्तु के स्वभाव की स्फुटता को वामन अर्थव्यक्ति गुण कहते हैं।[2] मम्मट इसी को स्वाभावोक्ति अलङ्कार कहते हैं।[3] बात एक ही है। स्वभावोक्ति को अर्थगुण कहा जाय या अर्थालङ्कार यह विवाद का विषय है। कुन्तक ने अपने "वक्रोक्तिजीवितम्" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में स्वभावोक्ति को अलङ्कार न मानकर अलङ्कार्य माना है।[4] कुन्तक मम्मट के पूर्ववर्ती हैं। निश्चय ही स्वभावोक्ति को अलङ्कार के रूप में अस्वीकार करते समय कुन्तक की दृष्टि अपने पूर्ववर्ती आचार्यों पर ही रही है। इन आचार्यों में हम वामन को तो गिन नहीं सकते क्योंकि उन्होंने तो स्वभावोक्ति को अलङ्कार माना ही नहीं है। स्पष्ट है कि कुन्तक स्वभावोक्ति के विषय में जिन आचार्यों का प्रतिवाद कर रहे हैं, वे भामह, दण्डी, उद्भट आदि ही हैं। सभी आलङ्कारिकों के उपजीव्य इन भामह आदि परमाचार्यों द्वारा स्वीकृत स्वभावोक्ति को अलङ्कारों में परिगणित न करना और किसी भी आलङ्कारिक द्वारा स्पष्टरूप से न स्वीकृत दश शब्दगुणों में अर्थव्यक्ति

---

1. अपुष्टार्थत्वाधिकपदत्वानवीकृतत्वामङ्गलरूपाश्लीलत्वग्राम्याणां निराकरणेन साभिप्रायत्वमोजः, अर्थवैमल्यात्मा प्रसादः, उक्तिवैचित्र्यमात्रं माधुर्यम्, अपारुष्यरूपं सौकुमार्यम्, अग्राम्यत्वरूपा उदारता च स्वीकृतानि।
—का. प्र. 8/72 की वृत्ति।
2. वस्तुस्वभावस्फुटत्वम् अर्थव्यक्तिः वामन का. लं. सू. 3/2/14
3. "स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्" मम्मट का. प्र०
4. अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिालङ्कृतिः।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठेत। व० जी० 1/11

नामक अर्थगुण को स्वीकार करना निःसन्देह वामन का प्रौढ़िवाद मात्र है। अतः मम्मट द्वारा स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानना चिरन्तन परमाचार्यों का अभिमत तथा अर्वाचीन विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि द्वारा प्रबल समर्थित होने से उसमें अर्थव्यक्ति का अन्तर्भाव ही अधिक समादरणीय है। यही कारण है कि कुन्तक द्वारा समर्थित भी वामन का मत मम्मट के पश्चात् किसी भी ध्वनिवादी आचार्य को मान्य नहीं हुआ। विश्वनाथ और पण्डितराज जैसे प्रख्यात समीक्षकों ने मम्मट का ही अनुसरण किया है। अतः मम्मट द्वारा प्रतिपादित स्वभावोक्ति में अर्थव्यक्ति का अन्तर्भाव ही न्यायोचित है।

वामन का कान्ति नामक अर्थगुण भी मम्मट के अनुसार ध्वनि या गुणीभूत व्यङ्ग्य में अन्तर्भूत होने के कारण स्वीकार्य नहीं है। वामन का रस की दीप्ति को गुण मानना।[1] ठीक ऐसा ही है जैसा आत्मा को गुण मानना। वामन ने गुण स्वरूप रीति को ही काव्य की आत्मा माना है।[2] अतः उनके दीप्तरसत्व को काव्य का गुण कहा जाना युक्तियुक्त हो सकता है परन्तु रस को काव्य की आत्मा मानने वाले समीक्षकों को यह कैसे स्वीकार्य हो सकता है? आत्मा स्वयम् आत्मा का गुण हो यह किसी भी आत्मवादी को स्वीकार्य नहीं हो सकता। अतः दीप्तरसत्व का रसध्वनि में अन्तर्भाव न्याय्य है। वामन का श्लेष नामक अर्थगुण वास्तव में काव्यगत वैचित्र्य मात्र है, उससे रस का कोई उत्कर्ष नहीं होता, अतः उसे मम्मट ने गुण मानने से इन्कार कर दिया है। वामन ने श्लेष का स्वरूप निर्धारित करते हुये घटना को श्लेष कहा है।[3] यह घटना उन्हीं के शब्दों में क्रम, कौटिल्य, अनुल्वणत्व और उपपत्तिरूप विचित्र क्रियाओं का योग है।[4] विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में इनके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए क्रियाओं के सहज प्रवाह को क्रय, चतुर चालाकियों को कौटिल्य, अप्रसिद्ध वर्णन के अभाव को अनुल्वणत्व और उपपादक युक्तियों के विन्यास को उपपत्ति बताकर इन सबके एकत्र सम्मिलन को योग स्पष्ट किया है।[5] यह योग ही वामन की घटना है, जिसे उन्होंने श्लेष गुण कहा है। मम्मट और विश्वनाथ दोनों ने इसे विचित्रता मात्र माना है, गुण नहीं।[6] यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की घटना

1. "दीप्तिरसत्वं कान्तिः" का. लं. सू. 3/2/15
2. "रीतिरात्मा काव्यस्य" का. लं. सू० 1, 2, 6
3. "घटनाश्लेषः" का० लं० सू० 3/2/4
4. क्रम-कौटिल्य-अनुल्वणत्व-उपपत्तियोगो घटना (वही वृत्ति)।
5. तत्र क्रमः क्रियासन्ततिः। विदग्धचेष्टितं कौटिलयम्। अप्रसिद्धवर्णनविरहोऽनुल्वणत्वम्। उपपादकयुक्तिविन्यास उपपत्तिः। एषां योगः सम्मेलनं। स एव रूपं यस्या घटनायास्तद्रूपः श्लेषः —साहि० द० 8/621
6. "क" क्रम-कौटिल्यानुल्वणत्वोपपत्तिरूपघटनात्माश्लेषोऽपि विचित्रत्वमात्रम्। —का० प्र० 8/96

"ख" श्लेषो विचित्रतामात्रम्। —सा० द० 8/621

हृदयावर्जक होते हुए भी रस की उपकारक नहीं होती। घटना, वास्तव में चेष्टारूप ही होती है। घट (चेष्टायाम्) धातु से भाव (क्रिया) के अर्थ में विहित "युच्" प्रत्यय से निष्पन्न घटना शब्द क्रियारूप चेष्टा के अतिरिक्त अन्य अर्थ का बोधक हो ही नहीं सकता। चेष्टाएँ हाथ पांव आदि अङ्गों का ही व्यापार होती है। उन्हें सहज बुद्धि कभी आत्मनिष्ठ गुण के रूप में स्वीकार नहीं कर सकती।

यद्यपि नाट्यशास्त्र में अभिनवगुप्त ने श्लेषगुण सम्बन्धी व्याख्यान में वामन का अनुगमन करते हुए अर्थाश्रित श्लेष का वही "दृष्ट्वैकासनसंस्थिते..." आदि उदाहरण दिया है, जो वामन ने दिया था, तथापि उसे हम अभिनवगुप्त का अभिमत नहीं कह सकते। उन्होंने वहाँ भरत द्वारा निर्दिष्ट श्लेष की वामन सम्मत व्याख्या का ही स्पष्टीकरण किया है। अपना स्वतन्त्र मत इस विषय में स्थापित नहीं किया है। ध्वनि मार्ग के प्रबल समर्थक अभिनव का इस विषय में मौनावलम्बन यही प्रमाणित करता है कि उस समय तक अभिनवगुप्त इस विषय में अपना कोई मत निश्चित नहीं कर सके थे। वे दशगुणवाद के उस समय तक समर्थक रहे हों—ऐसा भी हमें दिखाई नहीं देता। क्योंकि उनका यह गुण और वैदुष्य सर्वविदित है कि वे जिसे ठीक मानते हैं। उसका प्रबल युक्तियों से ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि उनका भाष्य भी मौलिक सिद्धान्त बन जाता है। परन्तु यहाँ ऐसा कुछ दिखाई नहीं देता। इसके दो ही कारण हो सकते हैं। एक यह कि उस समय तक अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक का गहन अध्ययन न किया हो। दूसरा यह कि वामन के मत का खण्डन सर्वोपजीव्यभूत भरत मुनि के दशगुणवाद का ही खण्डन होता, अतः उन्होंने उसकी उपेक्षा की हो। आनन्दवर्धन ने भी गुणत्रयवाद की स्थापना तो की है परन्तु भरतमुनि का खण्डन स्पष्ट रूप से नहीं किया है। मम्मट ने भी दशगुणवाद का खण्डन वामन-मत-खण्डन के रूप में ही किया है। भरत के मत-खण्डन का आभास नहीं होने दिया है। मम्मट ने जिन दश शब्दगुणों और अर्थ-गुणों का खण्डन किया है, वे वामन के सम्मत हैं, न कि भरत के। यह बात उनके 'तेन नार्थगुणा वाच्याः" से स्पष्ट है।[1] भरत ने दश काव्य गुणों का ही उल्लेख किया है, उनके शब्दगत और अर्थगत भेद स्पष्ट नहीं किये हैं। वे तो वामनकृत ही हैं। अस्तु।

समता और समाधि को भी मम्मट ने गुण नहीं माना है क्योंकि प्रक्रमभङ्ग दोष का अभाव ही समता है, अतः वह दोषाभाव मात्र है, गुण नहीं।[2] किसी कथन के उपक्रम और उपसंहार में समानता तो कवि का निसर्ग ही है। कोई पागल ही होगा जो उपक्रम में एक बात और उपसंहार में दूसरी बात कहेगा। अतः उपक्रम

1. का० प्र० 9/97

2. अवैषम्यरूपा समता दोषाभावमात्रं, न गुणः।—का० प्र० 8/96

और उपसंहार में अर्थ की समान अभिधा का विघात साधारणतया दोष ही होता है—जिसे प्रक्रमभङ्ग कहा जाता है। प्रक्रमभङ्ग—दोष का अभाव ही समता है, वह स्वतन्त्र गुण नहीं है।

यही बात समाधि की भी है, समाधि कवि के पर्यालोचन का विषय है, जो स्वयम् काव्य शरीर का निर्वाहक है, काव्य का गुण नहीं है। गुण शरीर का निर्माण नहीं किया करते, अपितु शरीरके आश्रित होकर निवास करते हैं। कोई कवि जब काव्य का निर्माण करने चलता है, तब वह जो कहता है, वह या तो सर्वथा नवीन होना चाहिए या फिर अन्य कवि के कथन की छाया मात्र से अनुप्राणित होना चाहिए। छाया मात्र से अनुप्राणित होने से आशय यह है कि परवर्ती कवि के कथन से पूर्व कवि के कथन की छाया ही ग्राह्य हो सकती है, उसका पुर्नवचन ग्राह्य नहीं है। इसी को अर्थ का अयोनित्व और अन्यच्छायायोनित्व कहा जाता है। वामन इसे समाधि गुण कहते हैं। मम्मट का कथन है कि यदि कोई अर्थ अयोनि या अन्यच्छा-यायोनि नहीं है तो वह काव्य ही कैसे कहा जा सकता है।[1] काव्यत्वलाभ के लिए अर्थ का सर्वथा नवीन अर्थात् अयोनि होना अथवा अन्य कवि की किञ्चित् छाया से अनुगृहीत अर्थात् अन्यच्छायायोनि होना अनिवार्य है। अनिवार्य धर्म गुण नहीं, वह तो स्वरूप निष्पत्ति की अपरिहार्यता है। गुण निष्पन्न वस्तु में निवास करने वाला धर्म हुआ करता है। वस्तु का निष्पादक नहीं हुआ करता। अतः समाधि भी गुण नहीं है।

इस प्रकार मम्मट ने वामन-सम्मत दशगुणवाद का युक्ति युक्त खण्डन कर गुणत्रयवाद को संरम्भ पूर्वक प्रतिष्ठापित कर दिया। मम्मट के पश्चात् विश्वनाथ का प्रत्यक्ष और पण्डितराज का अप्रत्यक्ष समर्थन पाकर आनन्दवर्द्धन का गुणत्रय-वाद काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में सर्वमान्य हो गया है। यद्यपि इसके पश्चात् भी जयदेव आदि ने गुण के सम्बन्ध में भिन्न विचार उपस्थित किया, परन्तु वह इतना समर्थ और प्रौढ़ नहीं था जो कि सहृदय मर्मज्ञों के समाज में आदृत होता। यद्यपि मम्मट से पूर्व वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक आनन्दवर्धन के गुणत्रयवाद को अस्वीकृत कर चुके थे, परन्तु उनका अस्वीकार न केवल आनन्द के गुणत्रय के प्रति था अपितु वामन और उनके पूर्ववर्ती दण्डी और भरत के दश गुणवाद के प्रति भी था। आनन्द का गुणत्रयवाद दश गुणवाद का विरोधी था और मम्मट आनन्द के अनु-गामी थे। अतः उन्होंने आनन्द के गुणत्रयवाद की पुष्टि में दशगुणवाद के विरोध और खण्डन पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखा और उनके निराकरण में ही अन्य सबका निराकरण बुद्धिस्थ कर, कुन्तक के मत का उल्लेख नहीं किया। वास्तव

---

1. अर्थस्य—अयोनेरन्यच्छायायोनेर्वा न भवति दर्शनं, तत्कथकाव्यम्।
—का० प्र० 8/96

में कुन्तक का गुण सम्बन्धी विचार इतना उपेक्षणीय नहीं था जितना कि समझा गया। यहाँ हम कुन्तक का मत उपस्थित कर उसकी भी समीक्षा करना चाहते हैं।

कुन्तक का गुण-सम्बन्धी मत—वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक का संस्कृत-साहित्य में महनीय स्थान है। उन्होंने एक ओर तो सहृदयग्राह्ययुक्तियों द्वारा वक्रोक्ति को काव्य का जीवन सिद्धकर और दूसरी ओर गुणों और रीतियों के परम्परागत स्वरूप को नवीन दिशा देकर अपने को मौलिक चिन्तक होने का परिचय दिया है। वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली रीतियों का जो स्वरूप इनसे पूर्व भौगोलिक सीमाओं के साथ बँधा हुआ था, उसे कुन्तक ने कवि स्वभाव के साथ जोड़कर एक ऐसे विचार को जन्म दिया जो सहृदय विचारकों को सहज ही अपनी मौलिकता की ओर आकृष्ट करने वाला था। वास्तव में कवित्व की जिस शैली को विदर्भ, गौड़, पाञ्चाल देशों के साथ सभी पूर्वाचार्य जोड़ते आ रहे थे। यह कोमल, प्रगाढ़ या उभयात्मक शैली किसी भी देश विशेष के कारण उत्पन्न होने वाली नहीं है। कोई भी कवि विदर्भ, गौड़ और पाञ्चाल से सम्बद्ध नहीं होता और विदर्भ, गौड़ एवम् पाञ्चाल के भी कवि उन रीतियों से सम्बद्ध नहीं होते। गौड़ देश का कवि यदि सुकुमार स्वभाव का है तो वह उस सुकुमार शैली को ग्रहण करता है, जिसे वैदर्भी रीति कहते हैं और विदर्भ में उत्पन्न होने या रहने वाला कवि भी यदि वैचित्र्यप्रिय है तो वह उस विचित्र-काव्य-शैली को अपनाता है, जिसे गौड़ी रीति कहा जाता है। इसी प्रकार कोई कवि स्वभाव से सुकुमार शैली को पसन्द करता हुआ भी उसे अधिक विचित्रता के साथ उपस्थित करने में रुचि रखता है तो वह उस मिश्रित मार्ग को ग्रहण करता है, जिसे पाञ्चाली रीति कहते हैं। इससे यह बात सहज बुद्धि वेद्य है कि कवि की काव्य-शैली उसके स्वभाव से प्रसूत होने वाली वचन-पद्धति है—कवित्व का मार्ग है—जिसका किसी देश विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः काव्य मार्ग को देश विशेष के साथ न जोड़कर कवि की सुकुमार या विचित्र अथवा उभयात्मक रुचि के साथ सम्बद्ध कर, उसे सुकुमार या विचित्र या मिश्रित मार्ग कहा जाना ही युक्तिसङ्गत है। अतः आचार्य कुन्तक ने वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली रीतियों को क्रम से सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग और मिश्रित मार्ग या मध्यम मार्ग नाम देकर साहित्य के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी विचार उपस्थित किया है। कुन्तक के इस मौलिक विचार का खण्डन किसी ने किया हो, उसे अयुक्त ठहराया हो, ऐसा हमें देखने को नहीं मिलता। मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि किसी भी प्रतिष्ठित समीक्षक ने कुन्तक के इस मौलिक विचार का न तो खण्डन ही किया और न समर्थन ही। इसका हमें यही कारण दिखाई देता है कि कुन्तक की इस उद्भावना को मम्मट आदि आचार्यों ने युक्तियुक्त और मौलिक

मानते हुए भी उसे संज्ञान्तरण फलक ही समझा है। इसमें सन्देह नहीं कि कुन्तक का रीति या मार्ग-सम्बन्धी-विचार सर्वथा मौलिक है तथापि उसका फल एतावन्मात्र ही है कि वैदर्भी रीति न कहकर उसे सुकुमार मार्ग कह दिया जाय। वैदर्भी रीति सुकुमार काव्य मार्ग है, यही तो कुन्तक कहना चाहते हैं ? भला वैदर्भी रीति से सुकुमार मार्ग होने से किसकी विमति है ? किसी की नहीं। इसी प्रकार गौड़ी को विचित्र मार्ग और पाञ्चाली को मध्यम मार्ग कहने में भी किसी की विमति नहीं है। तब क्या भरत के समय से चले आते हुए प्रसिद्ध दैशिक व्यवहार को त्याग कर कुन्तक के अनुसार वैदर्भी आदि के स्थान पर सुकुमार मार्ग आदि व्यवहार चालू कर दिया जाये ? नहीं। यह न तो सम्भव है और न अभीष्ट है। रीङ् गतौ धातु से क्तिच् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न रीति शब्द का भी तो अर्थ मार्ग ही होता है, और सुकुमार मार्ग को ही वैदर्भी-रीति के नाम से जब व्यवहृत किया जा रहा है, तब इसमें कौन सा औचित्य है कि प्राचीन नाम के स्थान पर नये नाम का प्रचलन किया जाये। फिर, यह व्यवहार की बात तो लोकाधीन है, आचार्याधीन नहीं।

जहाँ तक सुकुमार आदि मार्ग के साथ दैशिक सम्बन्ध न होने की बात है, वह आज भले ही ठीक हो परन्तु नाट्य-शास्त्र के रचयिता ने तो देशज वेषभूषा के आधार पर ही आवन्ती, दाक्षिणात्या आदि प्रवृत्तियों को नाट्य में स्थान दिया था। भरत सम्मत देशज प्रवृत्तियों के अनुकरण पर ही रीतियों का भी आधार देश विशेष ही हो गया, क्योंकि तत्तद् मार्गों की उत्पत्ति में, तत्तद् देश ही प्रारम्भ में कारण रहे होंगे—तब इस चिर प्रसिद्ध व्यवहार को छोड़ नवीन व्यवहार अपनाने की सलाह देना व्यर्थ कल्पना है, यही कारण है कि मम्मट आदि भावी आचार्यों ने कुन्तक की नामान्तरण-मात्रफलक विवेचना पर कोई ध्यान नहीं दिया।

कुन्तक ने सुकुमार आदि मार्गों के छः गुणों को मान्यता प्रदान की है। उन्होंने वामन के साथ-साथ आनन्दवर्धन के त्रिगुण सम्बन्धी सिद्धान्त को जिसमें तीन ही गुणों को मान्य किया गया है अस्वीकार कर जिन छः गुणों का निर्वचन किया है, उनका भी हम यहाँ क्रम से उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं।

कुन्तक सम्मत 6: गुण—कुन्तक ने 1. माधुर्य, 2. प्रसाद, 3. लावण्य, 4. आभिजात्य, 5. औचित्य और 6. सौभाग्य नामक 6: गुणों को मान्य किया है। इनमें प्रारम्भिक चार गुण विशिष्ट और शेष दो साधारण गुण माने गये हैं। विशिष्ट गुण सुकुमार मार्ग एवम् विचित्र मार्ग के गुण हैं । ये सुकुमार और विचित्र नामक विशिष्ट मार्ग में नियत रहने के कारण विशिष्ट गुण कहे गये हैं। अन्तिम दो गुण

औचित्य और सौभाग्य तीनों मार्गों में सामान्यरूप से रहने वाले गुण हैं, अतः सामान्य गुण माने गये हैं। इन गुणों का कुन्तक-सम्मत स्वरूप निम्न प्रकार है—

(1) **माधुर्य**—वह गुण है, जिसमें समास का प्रयोग बहुत थोड़ा तथा पद-विन्यास बहुत मनोहारी होता है। यह सुकुमार मार्ग का प्रधान-गुण है।[1] प्रधान गुण कहने का आशय यह है कि सुकुमार मार्ग में माधुर्य-गुण भरपूर मात्रा में होना चाहिए। इसमें मनोहारी शब्द तथा मनोहरी अर्थ दोनों का होना अनिवार्य है, अर्थात् केवल शब्द ही श्रुतिसुखद नहीं अपितु अर्थ भी उतना ही रमणीय होना चाहिए।[2] जैसे कि—

क्रीड़ारसेन रहसि स्मितपूर्वमिन्दो-
लेंखां विकृष्य विनिबध्य च मूर्ध्नि गौर्या।
किं शोभिताह मनयेति शशाङ्कमौलेः
पृष्टस्य पातु परिचुम्बनमुत्तरं वः॥ (व० जी० 81)

अर्थ—शिव और पार्वती एकान्त में क्रीड़ारस का आनन्द ले रहे हैं। मुस्कराती पार्वती ने क्रीड़ा करते हुए शिव के मस्तक से चन्द्रकिरण को खींचकर अपने सिर पर बांध लिया और पूछने लगीं कि क्या मैं इसे बांध कर अच्छी लग रही हूँ ? शिव जी ने पार्वती के इस प्रश्न का कोई उत्तर न देकर केवल उनका चुम्बन कर लिया। शिव का यह चुम्बन रूप उत्तर हमारे पाठकों का मङ्गल करे।

इस पद्य में समस्त पदों का अभाव एवं समुचितपदविन्यास तथा रमणीय अर्थ अत्यन्त हृदयावर्जक है। अतः यह माधुर्य का सुन्दर उदाहरण है। इस उदाहरण में यद्यपि तीन लघु समास हैं, परन्तु माधुर्य के लक्षण में निहित असमस्त पद का तात्पर्य सर्वथा समासाभाव न होकर अल्पसमास ही है।[3] अर्थात् असमस्त पद में विद्यमान 'नञ्' निषेधार्थक न होकर अल्पार्थक है।

2. **प्रसाद**—सुकुमार मार्ग का वह गुण प्रसाद कहलाता है, जो सम्पूर्ण रसों और सब वक्रोक्तियों में सामान्य रूप में रहने वाला तथा बिना प्रयास के अर्थ को झट से समर्पित करने वाला एवं बिना प्रयत्न के ही वक्ता के अभिप्राय को प्रकट

---

1. असमस्तमनोहारिपदविन्यासजीवितम्॥
माधुर्यं सुकुमारस्य मार्गस्य प्रथमो गुणः॥ —(व० जी० 1/10)
2. मनोहारीणि हृदयाह्लादकानि श्रुतिरम्यत्वेन अर्थरमणीयत्वेन च......
—(व० जी० 1/10 की वृत्ति)
3. असमस्तशब्दोऽत्र प्राचुर्यर्थः, न समासाभावनियमार्थः
—(व० जी० 1/10 की वृत्ति)

करने वाला होता है ।[1] जैसे—

हिमव्यपायाद् विशदाधराणाम्,
आपाण्डुरीभूतमुखच्छवीनाम् ।
स्वेदोद्गमः किंपुरुषाङ्गनानां
चक्रे पदं पत्रविशेषकेषु ।। (व० जी० 82)

अर्थ इस पद्य में छोटे और मृदु समास की सत्ता स्पष्ट ही है । "शीत के बीत जाने से स्वच्छ अधरों वाली और गोरी मुखच्छवि वाली किन्नरियों के मुख पर बनी पत्राकार रचनाओं पर पसीने की उभरी हुई बूँदें मोती की छटा को व्यक्त करने लगी हैं" यह अर्थ और उसका यह अभिप्राय कि किन्नरियों के वदन का सौन्दर्य अपूर्व हो चला है" बिना प्रयास हृदयङ्गम हो जाता है, यही प्रसाद गुण है ।

3. लावण्य—वाक्यविन्यास की वह रमणीयता लावण्य कहलाती है, जिसमें वर्णों (अक्षरों) का विचित्र संयोजन और पदों का चयन अतिशय सुगठित रूप से किया गया हो ।[2] अर्थात् सुकुमार शब्द और अर्थ की रमणीय-रचना की महिमा वाला वाक्यविन्यास लावण्य नामक काव्य गुण होता है ।[3]

जैसे कि—

स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं विन्यस्तसायन्तनमल्लिकेषु ।
कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्यः केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम् ।। (व० जी० 1/85)

इस पद्य में वाक्यविन्यास के सौन्दर्य की महिमा का बोध सहृदयजन ही कर सकते हैं, वह कही नहीं जा सकती । देखिये—

बसन्त बीत गया, ग्रीष्म का आगमन होते ही कामदेव का बल क्षीण हो गया । परन्तु ग्रीष्म में स्नान की रुचि स्वाभाविक है, स्नान करने के पश्चात् अपने गीले केशों को खोलकर सुखाती हुई कामिनी किसने नहीं देखी । सूखने पर अपने केशों में जब कोई कामिनी धूप की सौरभ रमाकर उनमें मल्लिका (वेला) के गजरे सजा लेती है, तब कमजोर हुए कामदेव को जिस प्रकार बल प्राप्त हो जाता है, उसे सहृदयों का वासनाशील हृदय ही जान सकता है, वह वचन का विषय नहीं है । यही तो काव्य का लावण्य गुण है, जो यहाँ पद और पदार्थ सभी में भरपूर दिखाई देता है ।

---

1. अक्लेशव्यञ्जिताकूतं झगित्यर्थसमर्पणम् ।
रसवक्रोक्तिविषये यत् प्रसादः स कथ्यते ।। —(व० जी० 1/31)
2. वर्णविन्यासविच्छित्तिपदसन्धानसम्पदा ।
स्वल्पया बन्धसौन्दर्यं लावण्यमभिधीयते ।। —(व० जी० 1/32)
3. शब्दार्थसौकुमार्यसुभगः सन्निवेशमहिमा
लावण्याख्यो गुणः । —(वही 1/32 की वृत्ति)

4. आभिजात्य—जो कानों को रमणीय प्रतीत होता हो और चित्त को स्पर्श करता सा जान पड़ता हो, स्वभावत: स्निग्ध कान्ति वाले उस गुण को आभिजात्य कहते हैं ।[1]

तात्पर्य यह है कि अतिशय कर्णप्रिय और अतिशय सुकुमारता के कारण जो गुण सहृदयजन के मन को अलौकिक अवर्णनीय सुख प्रदान करता है, वह आभिजात्य कहलाता है । उदाहरण के लिये कुन्तक ने मेघदूत के उस पद्य का पूर्वार्द्ध जिसमें यक्ष मेघ से कहता है कि तू क्रौञ्च पर्वत पर पहुँच कर अपने मधुर गम्भीर गर्जन के द्वारा कार्त्तिकेय के उस मयूर को नचाना "जिसके चमकदार गोल कुण्डल से युक्त उस पङ्ख को, जो कि नृत्यकाल में झड़कर गिर गया होता है, पार्वती पुत्र-प्रेम के कारण धरती पर से उठाकर अपने कान में धारण कर लेती है, जिससे उनका कान नीलकमल से सुशोभित सा हो उठता है, उद्धृत किया है—

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी ।
पुत्रप्रीत्या कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति ।। (व० जी० 1/87)

कुन्तक के अनुसार उक्त पद्यार्ध में श्रुतिपेशलता और हृदयस्पर्शिता रूप स्वाभाविक मसृणता सहृदयसंवेद्य है, अत: यह आभिजात्य गुण का उदाहरण है ।

उपर्युक्त माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य नामक चार गुण सुकुमार मार्ग के गुण हैं । ये ही चारों गुण विचित्र मार्ग में भी रहते हैं । परन्तु वहाँ ये अत्यधिक मात्रा में रहने के कारण सुकुमारता के पोषक न होकर, विचित्रता के संवाहक होते हैं । विचित्र मार्ग में शब्द, अर्थ, अलङ्कार, रस, गुण आदि सभी काव्य-तत्वों का सन्निवेश प्रयत्नसम्पादित होने के कारण वैचित्र्योत्पादक होता है, अतएव यह विचित्रमार्ग कहा जाता है । कुन्तक इसे बहुत दुष्कर मार्ग मानते हैं, जिसमें सफलता प्राप्त करना साधारण कवि के वश की बात नहीं है । सारांश यह है कि उक्त चारों गुण सुकुमार मार्ग में सहज भाव से रहते हैं, किन्तु विचित्र मार्ग में इनका अतिशय प्रयत्नपूर्वक सन्निवेश किया जाता है ।[2] प्रयत्नसन्निविष्ट होने पर इनके स्वरूप में भी अन्तर आ जाता है, जैसे कि—

विचित्र मार्ग का माधुर्य—यह पदों की वह मधुरता है, जो विदग्धता को प्रकट करती हुई कोमलता का निरास करने पर भी रचना में विचित्र सौन्दर्योत्पत्ति का कारण बनती है । विचित्र मार्ग का यह माधुर्य रचना के शैथिल्य को दूर कर

---

1. श्रुतिपेशलताशालि सुस्पर्शमिव चेतसा ।
स्वभावमसृणच्छायम् आभिजात्यं प्रचक्षते ।। (व० जी० 1/33)

2. आभिजात्यप्रभृतय: पूर्वमार्गोदिता गुणा: ।
अत्रातिशयमायान्ति जनिताहार्यसम्पद: ।। —(व० जी० 1/10)

उसमें वैचित्र्य का सम्पादन करता है।[1] उदाहरण—

किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी।
लीलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारां निधेः॥

अर्थ—

क्या यह (कामिनी) नवीन रस से भरी हुई तारुण्य रूपी वृक्ष की विकसित नूतन लता है, अथवा लबालब भरकर छलछलाते हुए लावण्य के समुद्र की कोई लहर है ?

उक्त पद्य में रूपकाश्रित सन्देहालङ्कार के चमत्कार के साथ वाक्य रचना की सघनता माधुर्य की सम्पादक है।

विचित्रमार्ग का प्रसाद—सुकुमार मार्ग में जिस असमस्त पद विन्यास को प्रसाद गुण कहा गया है, वही थोड़ा ओज-गुण का स्पर्श पाकर विचित्र मार्ग का उपस्कारक बन जाता है।[2] उदाहरण—

अपाङ्गगततारकाः स्तिमितपक्ष्मपालीभृतः।
स्फुरत्सुभगकान्तयः स्मितसमुद्गतिद्योतिताः॥
विलासभरमन्थरास्तरलकल्पितैकभ्रुवो।
जयन्ति रमणेऽर्पिताः समदसुन्दरीदृष्टयः॥

अर्थ—

जिनकी पुतलियाँ नेत्र के कोने तक पहुँच गयी हैं, जिनके पलक-एकदम ठहरे हुए हैं, जिनकी सुन्दर कान्ति फड़क रही है, जिनमें मुस्कराहट साफ दिखाई देती है, जो हावभावों के भार से दबी हुई है, जिनमें एक भौंह चञ्चल हो गई है, ऐसी, प्रियतम की ओर डाली गई मदमाती सुन्दरी की दृष्टियाँ सब पर विजयी हैं।''

इस पद्य में पूर्व प्रसाद की अपेक्षा वाक्यविन्यास कुछ गाढ़ हो गया है, जिससे ओज का स्पर्श स्पष्ट है।

विचित्र मार्ग का लावण्य—विचित्रमार्गीय लावण्य में सुकुमारमार्गीय लावण्य की अपेक्षा यह अन्तर है कि इसमें पद परस्पर गुंथे रहते हैं। पदों के अन्त में स्थित विसर्गों का लोप नहीं होता है और ऐसे ह्रस्व स्वरों की अधिकता रहती है जो संयोगपरक होते हैं।[3] उदाहरण—

---

1. वैदग्ध्यस्यन्दि माधुर्यं पदानामत्र बध्यते।
यांति यत् त्यक्तशैथिल्यं बन्धबन्धुरताऽङ्गताम्॥ —(वही 1/44)
2. असमस्तपदन्यासः प्रसिद्धः कविवर्त्मनि।
किञ्चिदोजः स्पृशन् प्रायः प्रसादोऽप्यत्र दृश्यते। —(वही 1/45)
3. अत्रालुप्तविसर्गान्तैः पदैः प्रोतैः परस्परम्।
ह्रस्वैः संयोगपूर्वैश्च लावण्यमतिरिच्यते॥
—(व० जी० 1/47)

श्वासोत्कम्पतरङ्गिणि स्तनतटे धौताञ्जनश्यामला:,
कीर्यन्ते कणशः कृशाङ्गि किममी वाष्पाम्भसां बिन्दवः।
किञ्चाकुञ्चित कण्ठरोधकुटिला: कर्णामृतस्यन्दिनो,
हुङ्कारा कलपञ्चमप्रणयिनस्त्रुट्यन्ति निर्यान्ति च ॥

अर्थ—

"हे कृशाङ्गि 'आँखों में लगे काजल से मिश्रित ये तुम्हारे काले आँसू श्वाँस की अधिकता से काँपते हुए तुम्हारे स्तनों के तट पर कण-कण होकर क्यों बिखर रहे हैं ? और तुम्हारे वे पंचम स्वर के सहचर हुङ्कार—जो कानों में अमृत उडेला करते हैं—रुँधे हुये कण्ठ से सीधे न निकल कर आज क्यों टूट-टूट कर बाहर निकल रहे हैं ?"

इस पद्य में प्रयुक्त अनेक पद अर्थ की महिमा के कारण परस्पर ऐसे गुँथ गये हैं कि एकपदवत् प्रतीत होने लगे हैं, पदों के अन्त में जहाँ-जहाँ विसर्ग है, वहाँ वे लोप की स्थिति में न होकर, अपनी सत्ता बनाए हुए हैं। संयोगपरक लघु वर्णों की बहुलता स्पष्ट ही है। यही विचित्र मार्ग का लावण्य है।

विचित्रमार्ग का आभिजात्य

जिसमें न तो अत्यधिक कोमलता हो और न अत्यधिक कठिनता हो, अपितु जिसमें दोनों के मध्य की मनोहारी स्थिति हो, जो कवि की प्रौढ़ता का निर्वाह करती हो, वह विचित्र आभिजात्य गुण है।"[1]

यह कोमलता और कठोरता का कवि प्रौढ़िकृत विचित्र निबन्ध है, जो सुकुमारमार्गीय आभिजात्य के समान ही अवर्णनीय एवम् सहृदयहृदयसंवेद्य है।

उदाहरण—

अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीला
परिमलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली।
सुतनु, कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव
स्मरनरपतिकेली यौवराज्याभिषेकम् ॥

अर्थ—

हे सुतनु, बताओ तो, हथेली की सेज पर बनावटी निद्रा के दबाव से पीलापन दूर होकर लाल हुई यह तुम्हारी कपोल-स्थली किस सुन्दर युवक को कामदेव के युवराज पद पर अभिषिक्त करने की सूचना दे रही है ? (नींद का नाटक कर किस प्रेमी का चिन्तन कर रही हो।)

इस श्रृंगार रस से परिपूर्ण पद्य में न तो नितान्त, कोमल, पदों का सन्निवेश

---

1. यत्रातिकोमलच्छायं नातिकाठिन्यमुद्वहत्।
आभिजात्यं मनोहारि तदत्र प्रौढिनिर्मितम्। —(व० जी० 1/48)

है, न ही नितान्त कठोर पदावली का, प्रत्युत दोनों की ही मिली-जुली स्थिति है। यही आभिजात्य है।

ऊपर सुकुमार और विचित्र मार्गों के विशिष्ट गुणों का सोदाहरण निरूपण किया गया है। इन दोनों मार्गों की मिली जुली स्थिति वाला भी एक तीसरा काव्य मार्ग है। कुन्तक के अनुसार इस मिली जुली विशिष्टता वाले मार्ग का ही नाम है—मध्यम-मार्ग।

कुन्तक ने मध्यम-मार्ग को इन शब्दों में लक्षित किया है—

वैचित्र्यं सौकुमार्यञ्च यत्र सङ्कीर्णतां गते।
भ्राजेते सहजाहार्य-शोभातिशयशालिनी।
माधुर्यादिगुणग्रामो वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम्।
यत्र कामपि पुष्णाति बन्धच्छायातिरिक्तताम्।
मार्गोऽसौ मध्यमो नाम नानारुचिमनोहरः
स्पर्धया यत्र वर्तन्ते मार्गद्वितयसम्पदः।

(व० जी० 1/49, 50, 51)

इन कथन का निष्कर्ष इतना ही है कि मध्यम मार्ग में सुकुमार और विचित्र नामक पूर्वोक्त मार्गों की सङ्कीर्णता रहती है। अतएव इसके भी वही गुण हैं जो पूर्वोक्त दोनों मार्गों के हैं अर्थात् पूर्वोक्त माधुर्यादि गुण यहाँ अपनी मध्यम स्थिति में रहते हैं। कवि की रुचि के अनुसार सभी गुण जो पूर्वोक्त दोनों मार्गों में विशिष्ट नियत स्थिति में रहते हैं, वे सब यहाँ अनियत रूप से, एक दूसरे की स्पर्धा करते हुए से, ऐसी स्थिति में रहते हैं कि कभी कोई, कभी कोई, उत्कट रूप में उपस्थित दिखाई देता है।

उक्त तीनों मार्गों में रहने वाले माधुर्यादि विशिष्ट गुणों के अतिरिक्त "औचित्य" और "सौभाग्य" नामक दो ऐसे गुण हैं जो सामान्यतया प्रत्येक मार्ग में रहने चाहियें। इसीलिये उन्हें सामान्य गुण माना गया है। माधुर्यादि चारों विशिष्ट गुणों के साथ इनका रहना अनिवार्य है।

औचित्य गुण

1, जिसके सुस्पष्ट रहने से पदार्थ का महत्व पुष्ट होता है, उचित का कथन ही जिसका प्राण है, उसे औचित्य गुण कहते हैं।[1]

2. जहाँ वक्ता या श्रोता के स्वभाव की मनोहारी छटा के द्वारा वाच्यार्थ आच्छादित हो जाता है, उसे भी औचित्यगुण कहते हैं।[2]

---

1. आञ्जसेन स्वभावस्य महत्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण तदौचित्यम् उचिताख्यानजीवितम्॥ —(व० जी० 1/53)
2. यत्र वक्तुः प्रमातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते॥ —(वहीं 1/54)

प्रथम औचित्य का उदाहरण

करतलकलिताक्षमालयोः
समुदितसाध्वससन्नहस्तयोः ।
कृत रुचिरजटानिवेशयो—
रपर इवेश्वरयोः समागम : ।। (व० जी० 1/115)

इस पद्य में शिव और पार्वती के समागम का वर्णन है। समागम के समय दोनों के हाथों में जयमाला थी। दोनों के हाथ साध्वस (नव-संयोगजन्य भय) से सुन्न हो रहे थे। दोनों के सिर पर सुन्दर जटायें सुशोभित थी। अतः वह केवल शिव और पार्वती के शरीर का ही समागम नहीं था अपितु उनके स्वभाव (वेश-भूषा, मनोभाव) का भी समागम था।

यहाँ जो विशेषण दिये गये हैं, उनसे शिव और पार्वती के तापस-स्वभाव का महत्व भली-भाँति पुष्ट हो रहा है, अतः यह प्रथम प्रकार का औचित्य है।

द्वितीय औचित्य का उदाहरण

शरीरमात्रेण नरेन्द्र, तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः ।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ।।
वही (118)

प्रसिद्ध रघुवंश काव्य के इस पद्य में कौत्स ने सत्पात्रों को सर्वस्व दान कर शरीर मात्र से अवशिष्ट महावदान्य रघु की तुलना उस नीवारतरु से की है, जिसके अन्न की मंजरियाँ तपस्वियों द्वारा अपने खाने के लिये नोचली गई हैं, अतःएव जो अब स्तम्ब (ठुण्ठ) मात्र शेष रह गया है। इस उपमा में कौत्स का तपस्वीपन इतना अधिक उजागर हो रहा है कि उसने वाच्यार्थ को सर्वथा संवृत कर लिया है। कौत्स ने अपने तपस्वी स्वभाव के अनुरूप कैसी सुन्दर उपमा दी है? वस्तुतः इस से अरण्यवासी तपस्वी कौत्स का जो तापस स्वभाव व्यक्त हो रहा है, उसने सम्पूर्ण वाच्यार्थ को आच्छादित कर लिया है। नीवार भोजी तपस्वी का स्वभाव ही यहाँ सहृदय हृदयावर्जक है, वाच्यार्थ उसी के सौन्दर्य में दबा हुआ है।

सौभाग्य गुण—यह (गुण) काव्य का सर्वातिशायी गुण है। इसमें कुन्तक ने काव्य के समस्त सौन्दर्य को समेट लिया है। कुन्तक के अनुसार एक नैसर्गिक कवि की प्रतिभा अपनी सम्पूर्ण शक्ति से काव्य में जितना भी सौन्दर्य सृजन कर सकती है, उस सबका एकत्र समाहार सौभाग्य-गुण कहा जाता है।[1]

सम्पूर्ण काव्य सम्पदाओं के परिस्फुरण से सम्पन्न होने वाला, सरस-हृदय-काव्य रसिकों के हृदय में अलौकिक चमत्कार उत्पन्न करने वाला यह गुण ही काव्य

---

1. इत्युपादेयवर्गेऽस्मिन् यदर्थं प्रतिभा कवेः ।
सम्यक् संरभते तस्य गुणः सौभाग्यमुच्यते ।। —(व० जी० 1/55)

का सर्वोत्कृष्ट गुण है ।[1] यही काव्य का परमार्थ है ।[2]

उदाहरण—

दोर्मूलावधिसूत्रितस्तनमुरः स्निह्यत्कटाक्षे दृशौ
किञ्चित्ताण्डवपण्डिते स्मितसुधासिक्तोक्तिषु भ्रूलते ।
चेतः कन्दलितं स्मरव्यतिकरैर्लावण्यमङ्गैर्वृतं
तन्वङ्ग्यास्तरुणिम्नि सर्पति शनैरन्यैव काचिल्लिपिः ।।

(1/121)

"किसी रमणी के अङ्ग में पहले पहल तरुणायी उभरी है । तरुणाई उभरने से रमणी के आकार की, चित्त की और चेष्टाओं की विचित्रता का यहाँ वर्णन किया गया है । उसके स्तन विस्तृत हो गये हैं, प्रत्येक अङ्ग ने लावण्य धारण कर लिया है, इससे उसका आकार विलक्षण हो गया है । उसके चित्त में काम व्यापार अङ्कुरित हो चले हैं, जिससे उसकी मनःस्थिति विलक्षण हो गई है, उसके नेत्रों में स्निग्ध कटाक्ष उभर आये हैं, बोलते समय उसके अधरों पर मीठी मुस्कान बिखर जाती है । उसकी भौहें नाचना सीख गई हैं, जिससे उसकी चेष्टायें भी विलक्षण हो गई हैं । इस प्रकार उक्त पद्य में नव युवति के आकार, चित्त और चेष्टाओं की वक्रिमा बड़ी ही मनोहर है । सूत्रित, सिक्त, पण्डित और कन्दलित शब्दों की लाक्षणिकता बहुत ही हृदयहारी है । "स्निह्यत्" पद में वर्तमान काल के बोधक शतृ प्रत्यय का प्रयोग बहुत सोच समझकर किया गया है, जो यौवनारम्भ का सूचक है । "अन्यैव काचिल्लिपिः" अर्थात् तरुणी की बनावट कुछ और ही हो गई है" इस कथन द्वारा जो अभेद में भेद किया गया है, वह विलक्षण रूप से चमत्कारी है । "लावण्यमङ्गैर्वृतम् अर्थात् अङ्गों ने लावण्य को स्वयम् वरण कर लिया" इस कथन में जो कारक विषयक वक्रता है वह भी बड़ी चित्ताकर्षक है । इस प्रकार विचित्र मार्ग में पाया जाने वाला समग्र लावण्य और भी विशिष्ट रूप में यहाँ परिलक्षित हो रहा है, जिससे कवि की विलक्षण प्रतिभा द्वारा उपस्थापित सम्पूर्ण सामग्री सहृदयों को आल्हादित करने वाले विलक्षण सौभाग्य गुण की सृष्टि करने में समर्थ हुई है ।[3]

ये सौभाग्य और औचित्य नामक दोनों गुण पूर्वोक्त-सुकुमार, विचित्र और मध्यम—इन तीनों मार्गों में स्थित पदों, वाक्यों तथा प्रबन्धों में व्यापक रूप से

---

1. सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सरसात्मनाम् ।
अलौकिकचमत्कारकारि काव्यैकजीवितम् ।। (व० जी० 1/56)

2. तच्च काव्यैकजीवितं काव्यस्य परः परमार्थ इत्यर्थः ।
(वहीं 1/56 की वृत्ति)

3. व० जी० श्लोक 1/121 की वृत्ति

रहने वाले अतिशय उज्जवल गुण हैं।[1] इनके पूर्ण निर्वाह से ही काव्य हृदयाह्लादक होता है, अन्यथा नहीं। अतएव ये काव्य सामान्य के गुण हैं, किसी विशिष्ट प्रकार वाले काव्य विशेष के नहीं।

इस प्रकार आचार्य कुन्तक ने पूर्वोक्त "माधुर्य, प्रसाद, लावण्य, आभिजात्य" ये चार विशिष्ट गुण तथा "औचित्य और सौभाग्य" दो सामान्य गुण स्वीकार किये हैं। और उनका बड़ा ही सूक्ष्म और हृदयग्राही विवेचन उपस्थित किया है, जिसका पूर्ण विवरण हम ऊपर दे चुके हैं।

हम पूर्व में यह भी कह आये हैं कि गुणत्रयवादी ध्वनिकार के अनुयायी आचार्य मम्मट और विश्वनाथ ने वामन के दशगुणवाद का खण्डन तो संरम्भपूर्वक किया परन्तु कुन्तक के षड्गुणवाद पर एक शब्द भी नहीं कहा। आश्चर्य है कि इस विषय में कोई गवेषणा उपलब्ध नहीं होती। कुन्तक के ये छः गुण क्यों उपेक्षणीय हुए। यह वस्तुतः एक विचारणीय विषय है, जिस पर विचार किये बिना गुण विषयक विचार पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

हम पहले कह आये हैं कि कुन्तक द्वारा निर्धारित तीनों काव्य मार्ग, (1) सुकुमार, (2) विचित्र, (3) मध्यम, क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली रीतियों का संज्ञान्तरण मात्र है। जिस प्रकार रीति को मार्ग शब्द से पुकारने में कोई नवीनता नहीं है, उसी प्रकार वैदर्भी आदि रीति विशेषों को सुकुमार आदि मार्ग विशेष कहने में कोई नवीनता नहीं है। स्पष्ट है, कुन्तक ने प्रचलित प्राचीन वस्तु पर नवीनता का लेबिल चिपका कर दूसरों की वस्तु को अपने नाम से प्रचारित कर एक घटिया किस्म की बाजारू चतुराई का परिचय ही रीतियों के स्थान पर मार्गों का निर्धारण करने में दिया है। यही कारण है कि मम्मट आदि उत्तरवर्ती समीक्षकों ने कुन्तक के इन मार्गों पर दृष्टिपात नहीं किया।

यही स्थिति कुन्तक के गुणों की भी है। ऊपर निर्दिष्ट गुणों के स्वरूप को पढ़ने और समझने के बाद कोई भी सहृदय उनमें भेदक रेखा खींचने में सरलता से समर्थ नहीं हो सकता। औचित्य और सौभाग्य नामक अपने सामान्य गुणों को तो कुन्तक स्वयं ही काव्य का साधारण गुण मानते हैं। साधारण धर्म कभी किसी का लक्षण नहीं हुआ करता। "असाधारणधर्मवचनं लक्षणम्" इस सिद्धान्त का प्रतिवाद किसी भी दार्शनिक मार्ग में नहीं देखा जाता। अतः इन दोनों गुणों को काव्य का साधारण गुण मानने में तो किसी को कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती। भरत से लेकर पण्डितराज तक सभी आचार्य काव्य में उचित के आख्यान और पद, वाक्य, प्रबन्धगत सुभगता का समर्थन करते आ रहे हैं। भविष्य में भी इन तत्वों का प्रति-

---

1. एतत् त्रिष्वपि मार्गेषु गुणाद्वितयमुज्ज्वलम्।
पदवाक्यप्रबन्धानां व्यापकत्वेन वर्तते॥ (व० जी० 1/57)

वाद कभी होगा—यह सम्भव नहीं। रही बात काव्य के विशिष्ट गुणों की। उनमें भी माधुर्य और प्रसाद तो वे ही हैं जो चिर स्वीकृत हैं। वैदर्भ मार्ग के इन प्रधान गुणों को कुन्तक ने सुकुमार मार्ग का प्रधान गुण कहा है—केवल इतने मात्र से ये पूर्वापेक्षया भिन्न नहीं हो जाते। शेष दो (1) लावण्य और (2) आभिजात्य गुणों में कुन्तक स्वयम् भेदक रेखा खींचने में असमर्थ रहे हैं। उनके बन्ध सौन्दर्य रूप लावण्य (1) और स्वाभाविक मसृणतारूप (2) आभिजात्य में अन्तर खोजना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है। कुन्तक ने जो चारों विशिष्ट गुणों की सुकुमार मार्ग में सामान्य स्थिति और विचित्र मार्ग में उनके अतिशय का होना कहा है, उसकी भी विभाजक रेखा खोजना सम्भव नहीं है। मिश्री और शहद, कहाँ कम मिठास वाले हैं और कहाँ अधिक, इसका निर्णय करना किसके लिये सम्भव है? मीठे की न्यूनता और अधिकता में कौन उत्तम है, कौन प्रशंसनीय है? यह भी तो निर्णीत नहीं है, कोई कम मीठा पसन्द करता है, उसी को उत्तम मानता है तो कोई अधिक मीठा होना पसन्द करता है और उसे ही उत्तम समझता है। अतः कहना होगा कि कुन्तक का गुण सम्बन्धी समस्त प्रबन्ध उस विभाजन रेखा से सर्वथा शून्य है जिसके बिना कोई वस्तु अपने स्वरूप को स्वतन्त्र रूप से स्थापित एवम् निरूपित करने में समर्थ नहीं हो सकती। कुन्तक के सभी गुण सब मार्गों में रहने के कारण सामान्य होकर भी विशिष्ट और विशिष्ट होकर भी सामान्य बने हुए है, यह बात कोई सहृदय-विवेचक कुन्तक-सम्मत-गुणों के लक्षण और उदाहरणों को देखकर समझ सकता है। यही कारण है कि कुन्तक के उत्तरवर्ती महान् विवेचक मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज ने उनके समर्थन अथवा खण्डन करने में कोई रुचि नहीं ली।

अन्त में प्रसिद्ध आचार्यों द्वारा मान्य गुणों की संख्या उपस्थित कर हम गुण सम्बन्धी विचार को समाप्त करना चाहते हैं।

गुण संख्या

भरतमुनि सम्मत दस गुण

1. श्लेष, 2. प्रसाद,
3. समता, 4. समाधि,
5. माधुर्य, 6. ओज,
7. सौकुमार्य, 8. अर्थव्यक्ति,
9. उदारता, 10. कान्ति।

भामह सम्मत गुण—तीन गुण

1. माधुर्य, 2. ओज,
3. प्रसाद।

दण्डी सम्मत गुण

वे ही दस गुण जो भरतमुनि को मान्य हैं ।

अग्निपुराण सम्मत गुण--19 गुण

'क' शब्दगुण

1. श्लेष,
2. लालित्य,
3. गाम्भीर्य,
4. सौकुमार्य,
5. उदारता,
6. सती,
7. यौगिकी ।

"ख" अर्थगुण

1. माधुर्य,
2. संविधान,
3. कोमलत्व,
4. उदारता,
5. प्रौढ़ि,
6. सामासिकत्व ।

"ग" उभयगुण

1. प्रसाद,
2. सौभाग्य,
3. यथासंख्य,
4. उदारता,
5. पाक,
6. राग ।

भोजराज सम्मत गुण—24 शब्दगुण

1. श्लेष,
2. प्रसाद,
3. समता,
4. माधुर्य,
5. सुकुमारता,
6. अर्थव्यक्ति,
7. कांति,
8. उदारता,
9. उदात्तता,
10. ओज,
11. औचित्य,
12. प्रेयान्,
13. सौशब्द्य,
14. समाधि,
15. सूक्ष्मता,
16. गाम्भीर्य,
17. विस्तार,
18. संक्षेप,
19. सम्मितता,
20. भाविकता,
21. गति,
22. रीति,
23. उक्ति,
24. प्रौढ़ि ।

कुन्तक सम्मत गुण — 6 गुण

1. माधुर्य,
2. प्रसाद,
3. लावण्य,
4. आभिजात्य,
5. औचित्य,
6. सौभाग्य ।

वामन सम्मत गुण—

पूर्वोक्त भरत सम्मत गुणों के ही शब्दगत और अर्थगत भेद से 20 गुण । नाम एक, स्वरूप भिन्न ।

आनन्दवर्धन सम्मत गुण—3 गुण

1. माधुर्य, 2. ओज,

3. प्रसाद ।

मम्मट सम्मत गुण—

आनन्दनिर्दिष्ट तीन गुण

विश्वनाथ सम्मत गुण—

आनन्दनिर्दिष्ट तीन गुण ।

पण्डितराज जगन्नाथ सम्मत गुण—

आनन्दनिर्दिष्ट तीन गुण ।

नोट—उपर्युक्त तालिका पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष (सिद्धान्त पक्ष) को दृष्टि में रख करदी गयी है । कालक्रम की दृष्टि से नहीं । गुणत्रयवादी आचार्यों से पूर्व वामन का उल्लेख महत्व की दृष्टि से किया गया है, क्योंकि सिद्धान्ती मम्मट आदि ने वामन के गुणवाद को ही महत्वपूर्ण माना है ।

काव्यगत दोष

गुणों के पश्चात् क्यों ?

संस्कृत के प्रायः सभी प्रमुख आचार्यों ने काव्य-दोषों का उल्लेख पहले और गुणों का उल्लेख पीछे किया है । इसके अनेक कारणों के साथ भरतमुनिका अनुकरण ही सर्वप्रमुख कारण है । भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में दोषों का कथन पहले किया है, और गुणों का उसके पश्चात् । भामह, दण्डी, वामन आदि प्राचीन आचार्य काव्य-तत्वों के विवेचन में भरत के ही अनुगामी रहे हैं, अतएव उन्होंने दोषों के स्वरूप और संख्या के निर्धारण में भी भरत का ही अनुकरण किया है । किसी भी वस्तु के दोषों पर दृष्टि डालना और दोषों को त्यागकर वस्तु को ग्रहण करना ग्राहक की बुद्धिमत्ता और सावधानता को प्रकट करता है, अतः दोष दर्शन की महती आवश्यकता है । परन्तु दोषों पर पहले दृष्टिपात करना और गुणों को पीछे देखना, स्वाभाविक नहीं है । स्वभावतः मनुष्य गुणों के सद्भाव से वस्तु के ग्रहण में प्रवृत्त होता है, दोषों के अभाव में नहीं । वास्तव में ग्रहण ही मनुष्य की आवश्यकता है, और ग्रहण ही उसकी प्रवृत्ति का हेतु (प्रयोजक) है । हम ग्रीष्म के दिनों में शीतल जल प्राप्त करने की इच्छा लेकर मिट्टी का घड़ा खरीदने के लिए बाजार में जाते हैं तो हमारा प्रयोजन घड़ा ग्रहण करना होता है, घड़े को त्यागना नहीं । तब हम घड़े के गुण से आकृष्ट होकर उसके ग्रहणार्थ घर से निकले होते हैं, घड़े के दोषों के कारण उसका त्याग करने के लिए नहीं निकले हैं । इसी प्रकार शीत

ऋतु में कम्बल ग्रहण में हमारी प्रवृत्ति उसके शीत निवारणात्मक गुण के कारण होती है। इसीलिए जिस कम्बल के गुण हमें विदित होते हैं, वह जहाँ से प्राप्त होता है, उस स्थान को लक्ष्य बनाकर ही हम घर से निकलते हैं। यही बात अन्य वस्तुओं के विषय में भी हैं। गुण हमारी समस्त प्रवृत्तियों के प्रयोजक हैं और दोष निवृत्ति के। प्रवृत्ति पूर्वभावी और निवृत्ति पश्चाद्भावी होती है। यदि हम प्रवृत्त ही न हों तो निवृत्त किससे होंगे ? जो गृहीत नहीं, उसका त्याग कैसा ? जब ग्रहण के पश्चात् ही त्याग का अवसर प्राप्त है, तब ग्रहण के प्रयोजक गुणों के पश्चात् ही त्याग के प्रयोजक दोषों की उपस्थिति स्वभाव सिद्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि हम जिस वस्तु को ग्रहण करना चाहते हैं, उसके दोषों को बड़े ध्यान से देखते हैं, और थोड़ा भी दोष होने पर दोषयुक्त को त्याग कर निर्दोष को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार वस्तु के ग्रहण में निर्दोषता भी प्रयोजक है, परन्तु इतने मात्र से दोषों की उपस्थिति का गुणों की अपेक्षा पूर्वभावी होना तो सिद्ध नहीं होता। दोष के कारण वस्तु का त्याग तो हम तभी करते हैं न ? जब गुणों के कारण ग्रहण में प्रवृत्त हुए होते हैं, अतः गुण ही दोषों की अपेक्षा पूर्वोपस्थित हैं, उनका प्रथम निर्वचन ही दोषों के निर्वचन की अपेक्षा न्याय्य है। मन्द-बुद्धि-पुरुष भी दोषों को जान कर ग्रहण में प्रवृत्त नहीं होता, गुणों को जानकर ही ग्रहण में प्रवृत्त हुआ करता है।

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भरतमुनि का अनुकरण सर्वथा उचित और न्याय्य है, क्योंकि वे इस क्षेत्र के आद्य आचार्य हैं, सबके उपजीव्य है, पथ प्रदर्शक हैं। अपने उपजीव्य का, पथ प्रदर्शक का, अनुगमन उचित ही है, परन्तु वचन के क्षेत्र में अनुवक्ता का अपना भी स्वतन्त्र चिन्तन है, विवेक है, यदि वह नहीं है तो वचन के रहते अनुवचन की आवश्यकता ही क्या है ? साहित्य के क्षेत्र में आचार्यों की लम्बी परम्परा इस स्वतन्त्र चिन्तन का ही तो फल है। अतः अविचारित अनुकरण प्रशस्य नहीं हो सकता।

फिर, भरतमुनि ने जो काव्य दोष गिनाये हैं, वे प्रबन्ध या मुक्तक महाकाव्य या खण्ड काव्य आदि के दोष नहीं हैं। वे तो नाट्य विषय के कवि कर्म के दोष हैं उन्हें बताकर भरतमुनि केवल यही निर्देश देना चाहते हैं कि नाट्य में इस प्रकार की रचना नहीं होनी चाहिये, जिसमें ये दोष विद्यमान हों। स्पष्ट है कि भरत प्रदर्शित दस दोष काव्य सामान्य के दोष नहीं हैं। यदि वे काव्य सामान्य के दोष गिनाते तब क्या दस दोष ही गिनाकर दोषों की सीमा निर्धारित कर देते ? क्या भरत की आर्ष दृष्टि से वे काव्य-दोष बच जाते, जिनका बड़ा ही स्पष्ट एवं सहजबुद्धिवेद्य विस्तृत विवरण मम्मट और विश्वनाथ ने आगे चलकर किया है। भरत द्वारा परिगणित दस दोष काव्य-सामान्य के नहीं अपितु काव्य-विशेष अर्थात् नाट्य मात्र से सम्बन्धित हैं यह तथ्य भरतमुनि ने दोषों के परिगणन के अन्त में स्वयम् स्पष्ट कर दिया है। नाट्यशास्त्र के सोलहवें अध्याय की (94) चौरानवीं क्रमांकित कारिका के

अन्त में पठित "एते दोषास्तु विज्ञेया: सूरिभि-र्नाटकाश्रया:" यह श्लोकार्द्ध हमारे कथन में पुष्ट प्रमाण है।

यद्यपि भरत ने गुणों से पूर्व दोषों का कथन अवश्य किया है, परन्तु उन्होंने दोषों से पूर्व जितना भी नाट्य का संविधानक निर्दिष्ट किया है, उसे नाट्य का गुण मानकर ही किया है। इसके अतिरिक्त नाट्य-शास्त्र जैसे अति प्राचीन ग्रन्थ का पाठक्रम सर्वत्र एकसा नहीं है। उसे देखकर यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि भरत ने गुणों से पूर्व ही दोषों का परिगणन किया था। अलङ्कार, गुण और दोषों को कहने के पश्चात् भरतमुनि का यह कथन कि "इस प्रकार मैंने अलंकारों, गुणों और दोषों को कहा है, अब मैं इन सबके रसाश्रित प्रयोग को कहूँगा[1] हमें यह समझने को विवश करता है कि भरत ने गुणों के पश्चात् ही दोषों का कथन किया था। कालान्तर में एतद् विषयक पाठ विपर्यस्त हो गया। अन्यथा जिस क्रम से उन्होंने इन विषयों को लिखा था उसके विपरीत क्रम का उल्लेख वे अन्त में क्यों करते? भरत जैसा सर्वोपजीव्य प्रामाणिक आचार्य अपने उद्देश्यक्रम को तत्काल भूल जायगा—ऐसी सम्भावना तो हम नहीं कर सकते। नाट्यशास्त्र के परम प्रामाणिक भाष्यकार आचार्य अभिनवगुप्त की इस श्लोकके "गुणा दोषाश्च" पाठ को प्रमाणित करने वाली व्याख्या भी हमारे उक्त कथन की पोषक है। आचार्य अभिनवगुप्त ने "दोषाश्च" इस पद के अन्त में संलग्न चकार को वृत्तों (छन्दों) और जातियों का समुच्चायक बताकर श्लोकस्थ "एषाम्" पद के वाच्यार्थ को स्पष्ट करते हुए भरत द्वारा छन्दों से लेकर दोषों तक किए गये वर्णन को निर्दिष्ट किया है।[2] यदि भरत ने दोषों को पूर्व और गुणों को पश्चात् कहा होता तो आचार्य अभिनव अपनी व्याख्या में "एषाम्" पद का अर्थ "छन्द: प्रभृतिदोषान्तानाम्" के स्थान पर "छन्द:प्रभृतीनां गुणान्तानाम्" करते। अत: अभिनव भारती भी हमारे कथन की पोषक है। भरतमुनि ने इसी अध्याय में रसाश्रय प्रयोग का निदर्शन करते हुए भिन्न-भिन्न रसों में नाट्यज्ञ कवियों को "किस प्रकार की काव्य रचना करनी चाहिए"—यह बताते हुए हमारे इस कथन को सत्यापित कर दिया है कि भरत ने जिस काव्य के गुण दोषों का परिगणन किया है वह नाट्याश्रयक कवि-कर्म है, सामान्य कवि-कर्म नहीं। भरतमुनि ने वीर, रौद्र और अद्‌भुत रसों में नाट्यज्ञ कवि को प्राय: लघु अक्षरों से युक्त उपमा, रूपक अलंकारों के आश्रित

---

1. एवमेते ह्यलंकारा गुणा दोषाश्च कीर्तिता:।
प्रयोगमेषां च पुन र्वक्ष्यामि रससंश्रयम् (ना० शा० 16/114)

2. चकारात् छन्दान्सि वृत्तानि जातयश्च। एषामिति।
वृत्तच्छन्द: प्रभृतीनाम् दोषान्तानाम्।
(अभि० भा० ना० शा० 16/114)

काव्य रचना करने की सलाह दी है।[1] तथा बीभत्स और करुण रस में प्रायः गुरु अक्षरों वाली रचना करने को कहा है।[2] श्रृङ्गार रस में नाट्याश्रित काव्य की रचना उनके मत से रूपक और दीपक अलंकारों से तथा आर्या छन्द से युक्त होनी चाहिए।[3] भरतमुनि की इन कारिकाओं में—जो नीचे पाद–टिप्पणी में उद्धृत की जा रही हैं पढ़े गए "काव्यं कार्यं तु नाट्यज्ञैः" और "काव्यं स्यात् नाटकाश्रयम्" इत्यादि वाक्य हमारे इस कथन को स्पष्ट प्रमाणित कर रहे हैं कि भरतमुनि द्वारा किया गया गुण, दोष, अलंकार आदि का विवेचन केवल नाट्याश्रय काव्य को लक्ष्य कर किया गया है, काव्य सामान्य को नहीं। यदि उसे काव्य सामान्य विषयक माना जाये तो करुण रस में गुरु अक्षरों वाली तथा रौद्र रस में लघु अक्षरों वाली रचना को कैसे उचित कहा जा सकेगा ? अस्तु।

हम अपने इस अध्याय में जिन गुण दोषों का विवेचन कर रहें हैं, वे काव्य सामान्य के गुण-दोष हैं, नाट्याश्रयक काव्य विशेष के नहीं। अतः दोष-दर्शन से पूर्व गुण ग्रहण की स्वाभाविक प्रवृत्ति को नियामक मानकर हमने गुणों का विवेचन करने के पश्चात् ही दोषों पर दृष्टिपात करना निश्चित किया है।

दोष निरूपण के प्रसङ्ग में हम भरत प्रतिपादित दस दोषों का उल्लेख करना और उसके पश्चात् मम्मट एवं विश्वनाथ द्वारा विवेचित काव्य-दोषों को प्रदर्शित करना ही आवश्यक समझते हैं। जैसा कि हम पूर्व में कह आये हैं कि (मम्मट और विश्वनाथ के अतिरिक्त) दण्डी आदि प्राचीन आचार्य भरत के ही अनुयायी हैं। उनका उल्लेख दोष सम्बन्धी जानकारी को बढ़ाने में किञ्चित् भी सहायक नहीं है। समस्त दोषों का समाहाररूप मम्मटकृत दोष-विवेचन ही इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। विश्वनाथ ने मम्मटकृत दोष विवेचन को ही और अधिक स्पष्ट और सरल रूप में कहने का प्रयत्न किया है, अतः हम पहले भरत निर्दिष्ट दस दोषों को दिखाकर मम्मटकृत दोष निरूपण के आधार पर काव्य-दोषों का निरूपण करना चाहते है।

"क" भरत सम्मत दस काव्य दोष (नाट्याश्रित दोष)—भरतमुनि ने निम्नांकित दस काव्य-दोषों का उल्लेख किया है—

1. गूढ़ार्थ,	2. अर्थान्तर,
3. अर्थहीन,	4. भिन्नार्थ,
5. एकार्थ,	6. अभिप्लुतार्थ,
7. न्यायादवेत,	8. विषम,

---

1. लघ्वक्षरप्रायकृतम् उपमारूपकाश्रयम् (काव्यं कार्यं तु नाट्यज्ञै वीरौद्राभुताश्रयम्। (ना० शा० 16/115)
2. गुर्वक्षरप्रायकृतं ीभत्से करुणे तथा (ना० शा० 16/116)
3. रूपदीपकसंयुक्तमार्यावृत्तसमाश्रयम्। श्रृङ्गारे च रसे वीरे काव्यं स्यान्नाटकाश्रयम् (ना० शा० 16/117)

9. विसन्धि, 10. शब्दच्युत ।[1]

1. गूढार्थ--गूढार्थ दोष वहाँ होता है, जहाँ पद या पदार्थ की हठात् कल्पना करके उसके स्थान पर पर्याय शब्द का कथन किया जाय । जैसे--"दशरथ" के स्थान पर "अधिकनवविमान" (नौ से अधिकविमानवाला) कहना ।

2. अर्थान्तर--दोष वहाँ होता है, जहाँ वर्णनीय के साथ अवर्णनीय का भी कथन कर दिया जाता है । जैसे--कामनियों का तिरछी नजर से ताकना काम को और चिन्तायुक्त मोह को उत्पन्न करता है । यहाँ काम तो वर्णनीय है, उसके साथ चिन्तायुक्त मोह--जो वर्णनीय नहीं--उसका कथन फालतू है ।

3. अर्थहीन--अर्थहीन दोष वहाँ होता है, जहाँ अपनी बात अपनी ही बात से कट रही हो । जैसे--"हे मेरे मन, क्या तू अब भी, उस मुग्धा के कामोत्तेजक हाव भावों का स्मरण कर रहा है" इस वाक्य में मुग्धानायिका के कामोत्तेजक हाव भावों का कथन अपने ही कथन से कट रहा है । मुग्धानायिका में कामोत्तेजक व्यापार नहीं होते हैं । यदि हैं, तो वह नायिका मुग्धा नहीं हो सकती ।

4. भिन्नार्थ--भिन्नार्थ दोष वहाँ होता है, जहाँ पूर्वोक्त अर्थ उत्तरोक्त अर्थ से भिन्न होता है । जैसे 'अनेक गुण होते हुए भी वह श्रेष्ठ वर नहीं है, क्योंकि वह प्रकृति से ही रावण है । भला, सब में सब गुण कहाँ होते हैं ?

5. एकार्थ--एकार्थ वह दोष है, जहाँ अनेक पदों के प्रयोग से एक ही अर्थ सिद्ध होता हो । जैसे--"राजन् आपका यश कुन्द के, इन्दु के, मोतियों की माला के, हर के, और हास के अथवा हर हास (शिव के अट्टहास) के समान श्वेत है । यहाँ कुन्द आदि अनेक उपमानों से एक ही अर्थ सिद्ध हो रहा है । किसी एक से भी वह अर्थ सिद्ध हो जाता ।

6. अभिप्लुतार्थ--जहाँ अनेक वाक्य इस प्रकार कहे जाते हैं कि परस्पर सम्बन्ध न होने के कारण उनकी एक वाक्यता नहीं हो पाती, वहाँ अभिप्लुतार्थ दोष होता है । जैसे--वह राजा बड़ा नीति निपुण है, तालाब में कुमुद खिले हुए हैं, वसन्त ऋतु सबको प्रिय है, मालतीलता, ग्रीष्म ऋतु में फलती है ।

7. न्यायादवेत--न्यायादवेत दोष वहाँ होता है, जहाँ देश, काल, कला और शास्त्र के विरुद्ध कथन किया जाता है । जैसे--कोई कहे कि "मथुरानगरी सुवीर देश की एक प्रसिद्ध नगरी है, जिसकी भूमि में अखरोट और नारियल खूब पैदा होते हैं । यह कथन देशकाल के सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि मथुरा न तो सुवीर देश में है और न वहाँ अखरोट और नारियल पैदा होते हैं ।

---

1. गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं, भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम् ।
न्यायादवेतं विषमं विसन्धि, शब्दच्युतं वै दशकाव्यदोषाः ।।

(ना० शा० 16/88)

8. **विषम**—विषम दोष वृत्त भेद अर्थात् छन्द के भेद से उत्पन्न होता है। अर्थात् एक छन्द के चारों चरण जहाँ समान होने चाहियें वहाँ विषमता होने पर यह दोष होता है। इसका उदाहरण आवश्यक नहीं है। स्वयम् समझा जा सकता है।

9: **विसन्धि**--विसन्धि दोष सन्धिहीनता की दशा में उत्पन्न होता है। प्रगृह्यसंज्ञामूलक प्रकृति भाव के कारण जिन शब्दों में सन्धि नहीं हो पाती ऐसे शब्दों को एक साथ रखना विसन्धि दोष होता है, जैसे—"लते अमू आसाते"।

10. **शब्दच्युत**—जहाँ अर्थ प्रतीति में सहायक आवश्यक शब्द को नहीं कहा जाता, वहाँ "शब्दच्युत" दोष होता है। शब्दच्युतक, बिन्दुच्युतक, स्वरच्युतक आदि प्रहेलिकाओं (पहेलियों) में शब्द आदि को च्युत कर दिया जाता है। नाट्य में इसे दोष माना गया है। क्योंकि इस प्रकार की उक्तियों से सहृदय सामाजिकों को अर्थ-ज्ञान व्यवहित होने से रसास्वाद व्यवहित हो जाता है। यही शब्दच्युत दोष है। इस दोष को दिखाकर भरतमुनि यही निर्देष देना चाहते हैं कि नाट्याश्रित काव्य रचना प्रहेलिकात्मक नहीं होनी चाहिये।

मम्मट निर्दिष्ट काव्यदोष

हम ऊपर कह आये हैं कि काव्य दोषों के ज्ञान के लिये मम्मट का दोष विवेचन ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उनके दोष निरुपण में काव्य सम्बन्धी सभी दोषों का समाहार हो गया है। भरत ने जिन पूर्वोक्त दस दोषों का निरूपण किया है, वे केवल नाट्याश्रित दोष हैं। अतएव उन्होंने काव्य दोष का सामान्य लक्षण नहीं किया है। भामह और दण्डी ने भी उन्हीं का अनुसरण कर काव्य में दोषों के वर्जन का तो उपदेश दिया है, परन्तु न तो दोष सामान्य का लक्षण ही किया है और न ही दोषों के वर्गीकरण की आवश्यकता समझी है। आचार्य वामन ने सर्वप्रथम पद-पदार्थ, वाक्य-वाक्यार्थ दोषों के रूप में दोषों का जो वर्गीकरण किया था, वह अपूर्ण और अपर्याप्त था। आचार्य मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में दोषों के सामान्य स्वरूप का जो निर्धारण और दोषों का वर्गीकरण किया है वही भारतीय काव्यशास्त्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और मान्य है। अत: दोषों की जानकारी के लिए मम्मटकृत दोष विवेचन को ही हम यहाँ उपन्यस्त कर रहे हैं। विश्वनाथ ने मम्मट का ही अनुवाद किया है।

दोष का सामान्य स्वरूप

आचार्य मम्मट ने मुख्य अर्थ का अपकर्ष करने वाले हेतुओं को दोष कहा है, वे काव्य में रस को मुख्य अर्थ मानते हैं, अत: रस का अपकर्ष जिसके रहने से होता हो वह दोष है। क्योंकि रस वाच्यार्थ के आश्रित है, अत: वाच्य का अपकर्षक भी, और रस तथा वाच्य अर्थ को प्रकट करने वाले शब्द, वर्ण एवम् रचना को अपकृष्ट

बनाने वाले तत्व भी, काव्य के दोष होते हैं ।[1] सारांशत:—रस, वाच्यार्थ, शब्द, वर्ण और रचना के अपकर्षक हेतुओं को दोष समझना चाहिये । आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट के इस दोष लक्षण के सार को ग्रहण कर रसका अपकर्ष करने वाले को ही दोष कहा है ।[2] ये दोष पद, पदांश, वाक्य और अर्थ के द्वारा भी रस को दूषित करते हैं और साक्षात् भी । अत: ये पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, अर्थगत और साक्षात् रसगत भेद से पाँच प्रकार के होते हैं ।[3]

आचार्य विश्वनाथ का दोष निरुपण मम्मटानुसारी होते हुए भी अपेक्षाकृत स्पष्ट और सरल है । उदाहरण के लिए मम्मट ने सर्वप्रथम मुख्यार्थ की हति को दोष कहा (मुख्यार्थहति-र्दोष:) फिर मुख्यार्थ क्या है, इसे स्पष्ट करने के लिए रस को ही मुख्यार्थ बताया—(रसश्चमुख्य:) । फिर "हति" को वृत्ति द्वारा स्पष्ट करने के लिये "हतिरपकर्ष:" कहकर हति का अपकर्ष अर्थ किया । फिर जिन्हें वे दोष बताना चाहते हैं वे स्वयम् अपकर्ष नहीं हैं, अत: अपकर्ष का अर्थ भी टीकाकारों को "अपकर्षक" करना पड़ा । इन सबका समाहार करके विश्वनाथ ने जो "रसापकर्षका दोषा:" लक्षण किया वह यद्यपि मम्मट का ही अनुवाद है, तथापि मम्मट के लक्षण की अपेक्षा पूर्ण, संक्षिप्त, स्पष्ट और सरल है । उसमें मम्मट के मूल और वृत्ति रूप समस्त प्रपञ्च का संक्षेप समाहार दिखाई देता है । अत: मम्मटकृत दोष निरुपण को विश्वनाथ के शब्दों में प्रकट करना हमारी दृष्टि में अधिक स्पष्ट और सरल है । विश्वनाथकृत दोष निरुपण को हम मूलत: मम्मट का ही दोष निरुपण मानते हैं । अत: दोषों के पद, पदांश आदि भेद से किये गये वर्गीकरण को हम साहित्य दर्पण के आधार पर उपस्थित कर रहे हैं ।

पदगत तथा वाक्यगत दोष–13

1. दु: श्रवत्व,
2. अश्लीलत्व,
3. अनुचितार्थत्व,
4. अप्रयुक्तत्व,
5. ग्राम्यत्व,
6. अप्रतीतत्व,
7. सदिग्धत्व,
8. नेयार्थत्व,
9. निहतार्थत्व,
10. अवाचकत्व,
11. क्लिष्टत्व,
12. विरुद्धमतिकारित्व,
13. अविमृष्टविधेयांशत्व ।

---

1. मुख्यार्थहतिर्दोष:, रसश्चमुख्य: तदाश्रयाद् वाच्य: ।
   उभयोपयोगिन: स्यु: शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि स: ।। (का० प्र० 7/1)
2. रसापकर्षका दोषा: । (सा० द० 7/1)
3. ते पुन: पञ्चधा मता: ।
   पदे, पदांशे, वाक्येऽर्थे, सम्भवन्ति रसेऽपि यत् । (वही 7/2)

ये 13 दोष पद और वाक्य दोनों में रहने वाले हैं। एक पद में रहने पर पदगत और अनेक पदों में रहने पर वाक्यगत माने जाते हैं। इनका स्वरूप निम्न प्रकार है :—

1. दु: श्रुवत्व— जो सुनने में कठोर प्रतीत होता हो, जैसे—कार्त्तार्थ्यम्।

2. अश्लीलत्व—"श्री" शोभा को कहते हैं। "श्रियं लाति इति श्लीलम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार शोभा को उत्पन्न करने वाले तत्व श्लील कहाते हैं। "रल-योरभेद:" "र" और "ल" में अभेद होने से "श्रील" के स्थान पर "श्लील" कहा जाने लगा। "न श्लीलम्-अश्लीलम्" अर्थात् जो शोभाजनक न हो उसे अश्लील कहा जाता है। काव्यशास्त्र में न केवल श्री को न उत्पन्न करने वाले को प्रत्युत "अश्रियं लाति" इस व्युत्पत्ति से अशोभा के जनक हेतुओं को अश्लील दोष कहा जाता है। यह अश्लीलता तीन प्रकार से होती है :—

1. लज्जाजनक होने से। जैसे—"शत्रुओं को जीतने के लिए आपका साधन बहुत बड़ा है" यहाँ साधन शब्द का प्रयोग लज्जाजनक होने से अश्लील है, क्योंकि साधन शब्द पुरुषेन्द्रिय का भी वाचक होता है।

2. घृणाजनक होने से। जैसे—"वहाँ से तुम्हारे उठकर चलने के समय धीरे से हवा निकली" यहाँ अपानवायु की प्रतीति होने से घृणा उत्पन्न होती है।

3. अमङ्गलजनक होने से। जैसे—"तुम जब चले गये" के स्थान पर "तुम जब विनष्ट हुए" कहना।

3. अनुचितार्थत्व—जैसे "रणयज्ञ में पशुभूत शूर अमरत्व को प्राप्त करते हैं", यहाँ पशुभूत कहना पशुओं की भाँति बलि चढ़ा दिये जाने से शूरों की शूरता के स्थान पर उनकी कारयता को व्यक्त करता है, अत: अनुचित है।

4. अप्रयुक्तत्व—ठीक होते हुए भी कवि परम्परा ने जिसे न अपनाया हो। जैसे—पद्म शब्द का पुल्लिङ्ग भाव शब्दानुशासन सम्मत होते हुए भी कवियों द्वारा नहीं अपनाया गया है।

5. ग्राम्यत्व—जिसमें गवाँरूपन हो। जैसे—"तुम्हारी कटी बड़ी मनोहर है।

6. अप्रतीतत्व—किसी शब्द का ऐसा प्रयोग करना जो शास्त्र विशेष में ही प्रसिद्ध हो। जैसे—"उसने योग द्वारा अपने समस्त आशय नष्ट कर दिये। यहाँ जो आशय शब्द का प्रयोग किया है, वह वासना के अर्थ में किया गया है, परन्तु आशय का वासना अर्थ योगशास्त्र में ही जाना जाता है, अन्यत्र नहीं।

7. सन्दिग्धत्व—जहाँ अर्थज्ञान में सन्देह हो। जैसे—"वन्द्याम्" यह प्रयोग ईकारान्त स्त्री लिंग, वन्दी शब्द का सप्तमी विभक्ति के एकवचन में रूप है, अथवा वन्द्या (आकारान्त स्त्री लिङ्ग) का द्वितीया के एक वचन में रूप है, यह बात सन्दिग्ध है।

8. नेयार्थत्व—लक्षणा के हेतु न होने पर भी लक्षणा द्वारा अर्थ को प्रकट करने की खींचतान करना नेयार्थता कहाती है। लक्षणा तीन हेतुओं के होने पर ही हुआ करती है। प्रथम मुख्यार्थबाध और द्वितीय मुख्यार्थ योग तथा तृतीय रूढ़ि अथवा प्रयोजन में से कोई एक हेतु होने पर ही लक्षणा उत्पन्न होती है। जब लक्षणा का कोई हेतु न होने पर भी लक्षणा द्वारा अशक्य अर्थ को प्रकाशित किया जाता है, तब नेयार्थता दोष होता है। जैसे—हे सुमुखि, तुम्हारे मुँह ने तो कमल को भी ठुकरा दिया है। यहाँ कमल में ठोकर मारना कमल से अधिक सुन्दर होने को प्रकट करने के लिये कहा गया है, परन्तु अधिक सुन्दर होने के स्थान पर ठोकर मारना रूप अर्थ रूढ़ नहीं है, न ही ठोकर मारने से सौन्दर्य का अतिशय आदि प्रयोजन ही सिद्ध होता है, अतः यहाँ हठात् लक्ष्य अर्थ को प्रकट करने की चेष्टा की गई है। यही नेयार्थत्व है।

9. निहतार्थता—अप्रसिद्ध अर्थ में शब्द का प्रयोग निहतार्थता का जनक होता है, जैसे—"यमुना का शम्बर अम्बर बन गया" यहाँ जल के अर्थ में शम्बर शब्द निहतार्थ है, क्योंकि वह शम्बर नाम के दैत्य के लिये ही प्रसिद्ध है, जल के लिये प्रसिद्ध नहीं है।

10. अवाचकत्व—वाचक न होना अवाचकत्व है। जैसे—आङ पूर्वक "दा" धातु आदान अर्थात् ग्रहण अर्थ की वाचक है, अतः उसका ग्रहण के अर्थ में ही प्रयोग किया जाना चाहिये। यदि कोई देने के अर्थ में भी आदान शब्द का प्रयोग करता है तो वहाँ अवाचकत्व दोष निश्चित है।

11. क्लिष्टत्व—दोष वहाँ होता है, जहाँ अर्थ की प्रतीति विलम्ब से होती है, जैसे शरद ऋतु में लक्ष्मी के निवास की जन्मभूमियाँ प्रसन्न हो गई। यहाँ "लक्ष्मी के निवास कमल की जन्मभूमि अर्थात् जल स्वच्छ हो गये। यह अर्थ विलम्ब से विदित होता है।

12. विरुद्धमतिकारिता—विरुद्धमतिकारिता दोष वहाँ होता है जहाँ विवक्षित अर्थ के विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होने लगती है। जैसे—"भवानीपति तुम्हारा कल्याण करें" इस वाक्य में भवानीपति शब्द भव (शिव) से भिन्न किसी अन्य पति की प्रतीति कराने वाला होने से पार्वती के सतीत्व के नितान्त विरुद्ध है। भवानी शब्द का अर्थ "भवस्य पत्नी" अर्थात् भव की गृहिणी होता है तब "भवानीपति" का अर्थ "भव की पत्नी का पति" हुआ। जो भव की पत्नी के किसी भव से भिन्न पति का प्रत्यायक है। अतः विरुद्धमतिकारी है।

13. अविमृष्टविधेयान्शत्व—"न विमृष्टः प्राधान्येन निर्दिष्टो विधेयोऽन्शो यत्र" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जहाँ विधेय अंश का निर्देश प्रधानता के साथ न किया गया हो वहाँ अविमृष्टविधेयान्शत्व दोष होता है। जैसे—स्वर्गरूपी गाँवड़ी को लूट

कर वृथा बौरायी हुई मेरी इन भुजाओं से क्या" रावण के इस कथन में भुजाओं की व्यर्थता विधेय है, जिसे उसने वृथा बौरायी हुई मेरी भुजाओं से क्या ! इस प्रकार कहकर उद्देश्य के स्थान में रख दिया है। वाक्य में उद्देश्य का अनुवाद (पूर्वकथन) करके विधेय को अन्त में कहा जाना चाहिए। यदि "स्वर्ग को लूटकर बौरायी हुई मेरी भुजायें भी व्यर्थ हो गई" ऐसा कहा जाता तब दोष नहीं होता।

केवल पदगत दोष—3

उपर्युक्त तेरह दोष "पद और वाक्य" दोनों में सामान्य रूप से रहने वाले दोष हैं। नीचे ऐसे तीन दोषों का उल्लेख किया जा रहा है, जो केवल पद में ही पाये जाते हैं—

(1) **निरर्थकत्व**—निरर्थकत्व दोष ऐसे पद के प्रयोग में होता है, जो केवल पादपूर्ति के लिए ही प्रयोग किया जाता है। जैसे—" मुञ्च मानं हि मानिनि", इस वाक्य में "हि" शब्द का प्रयोग अनुष्टुप् छन्द के पाद में नियमित आठ अक्षरों की संख्या को पूरा करने के लिए किया गया है। उसका अन्य कोई अर्थ यहाँ नहीं।

(2) **असमर्थत्व**—असमर्थत्व दोष उस पद में रहता है जो व्याकरण आदि के अनुसार भले ही किसी अर्थ का वाचक हो परन्तु लोक व्यवहार में वह उस अर्थ को कभी प्रकट न करता हो। जैसे—"हन्ति" पद उस हन् धातु से बना है, जो गमन अर्थ में भी पढ़ी गयी है, परन्तु लोक में कहीं भी हनन का गमन अर्थ ग्रहण नहीं किया जाता है। वह वैदिक शब्दों में रहस्यभूत अर्थों के प्रकटीकरण में ही प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में यदि कोई कवि उसका गमन अर्थ में प्रयोग करता है, तो वह असमर्थता दोष से दूषित प्रयोग ही है। अतः "कुञ्जं गच्छति" के स्थान पर "कुन्जं-हन्ति" यह कथन असमर्थत्व दोष का जनक है।

(3) **च्युतसंस्कारता**—संस्कार से च्युत्त होने को च्युतसंस्कारता कहा जाता है। शब्द का संस्कार व्याकरण द्वारा किया जाता है। अर्थात् व्याकरण सम्मत होने पर शब्द को संस्कारयुक्त कहा जाता है। अतः यदि कोई पद संस्कार से—व्याकरण से—हीन है, तो वह संस्कार से च्युत हो जाता है, ऐसे ही पद के प्रयोग में च्युत संस्कारता दोष होता है। जैसे—" अर्जुन ने अपने धनुष के दण्ड से शिव के वक्षस्थल को ताड़ित किया" इस अर्थ को भारवि ने अपने किरातार्जुनीय काव्य में "आजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः" कहकर प्रकट किया है। यहाँ आङ् पूर्वक हन् धातु का आत्मने पद में प्रयोग किया गया है, जो हन् धातु के अकर्मक या स्वाङ्ग कर्मक होने पर ही व्याकरण द्वारा विहित है।[1] परन्तु यहाँ दूसरे के अङ्ग को आहत करने

1, "आङोयमहनः" 1/3/28 "अकर्मकात्, स्वाङ्ग कर्मकाच्च"। 1/3/26 पा० अ०

में आत्मने पद कर दिया गया है। अतः यह "आजघ्ने" पद संस्कारच्युत होने से च्युतसंस्कारता से दूषित है।

केवल वाक्यगत दोष : 23

(1) वर्णप्रतिकूलता, (2) लुप्तविसर्गता,
(3) आहतविसर्गता, (4) अधिकपदता,
(5) न्यूनपदता, (6) कथितपदता,
(7) हतवृत्तता, (8) पतत्प्रकर्षता,
(9) सन्धिविश्लेषता, (10) सन्ध्यश्लीलता,
(11) सन्धौकष्टता, (12) अर्द्धान्तरैकपदता,
(13) समाप्तपुनरात्तता, (14) अभवन्मतसम्बन्धता,
(15) अक्रमता, (16) अमतपरार्थता,
(17) वाच्य का अनभिधान, (18) भग्नप्रक्रमता,
(19) प्रसिद्धित्याग, (20) अस्थानस्थपदता,
(21) अस्थानस्थसमासता, (22) सङ्कीर्णता
(23) गर्भितता।

ये 23 दोष केवल वाक्यगत ही होते हैं।

वाक्यगत दोषों का सोदाहरण विवरण

(1) **वर्णप्रतिकूलता**— रस के विपरीत वर्ण विन्यास में होती है। जैसे—शृंगार जैसे कोमल रस में टकारादि कठोर वर्णों का प्रयोग करना—ओवट्टई, उल्लट्टइ, आदि।

(2) **लुप्तविसर्गता**—लुप्तविसर्गता दोष वहाँ होता है जहाँ पदों के विसर्ग अधिकतर लुप्त हुए रहते हैं। जैसे "गता निशा इमा बाले" में "गताः" आदि तीनों पदों में विसर्ग सन्धि नियमानुसार लुप्त हो गये हैं।

(3) **आहतविसर्गता**—जब ऐसे पदों का प्रयोग किया जाय कि उनके विसर्ग, सन्धि नियमानुसार "ओ" के रूप में बदलते जायें, तब यह दोष होता है। जैसे "धीरो वरो नरो याति" में "धीरः" आदि तीनों पदों के विसर्ग "ओ" के रूप में बदल गये हैं।

(4) **अधिकपदता**—अधिकपदता—निरर्थक "फालतू" पद के प्रयोग में होती है। जैसे "विम्बौठी" के स्थान पर "बिम्बाकृतिरक्तोष्ठी" कहना और "उवाच" के स्थान पर "वाचमुवाच"।

(5) **न्यूनपदता**—न्यूनपदता—आवश्यक पद को न कहने पर होती है। जैसे—"वधे न दोषः" अर्थात् मारने में दोष नहीं है—इस वाक्य में "आततायी" पद का प्रयोग आवश्यक है, उसके बिना तो सभी का वध निर्दोष हो जाता है।

(6) **कथितपदता**—जहाँ कहे हुये पद को पुनः कहा जाए वहाँ होती है। जैसे "लीला से बहता पवन रतिलीला के श्रम को हर रहा है" यहाँ उसी लीला को पुनः कहा गया है जो पहले कहा गया था। यह दोष ही पुनरुक्ति कहा जाता है।

(7) **हतवृत्तता**--हतवृत्तता वहाँ होती है जहाँ छन्द सम्बन्धी नियमों का निर्वाह नहीं होता है। इसके उदाहरण की आवश्यकता नहीं है।

(8) **पतत्प्रकर्षता**--जहाँ रचना का प्रकर्ष (सौन्दर्य) क्रम से गिरता चला जाए जैसे—

प्रोज्ज्वलज्ज्वलनज्वाला-
विकटोरुसटाच्छटः
श्वासक्षिप्तकुलक्ष्माभृत्
पातु वो नरकेसरी ॥

इस पद्य के चारों चरणों में अनुप्रास का प्रकर्ष क्रम से गिरता चला गया है।

(9) **सन्धिविश्लेषता**--सन्धिविश्लेषता-वहाँ होती है जहाँ अनेक बार ऐसे पदों का प्रयोग किया जाता है जिनमें प्रकृतिभाव के कारण सन्धि करना सम्भव नहीं होता है। जैसे—"दलिते उत्पले एते अक्षिणी अमलाङ्गि ते" इस वाक्य में प्रयुक्त सभी पद एदन्त और ईदन्त द्विवचन होने से प्रगृह्य संज्ञक हैं।[1] जिनमें प्रकृतिभाव[2] हो जाने से सन्धि सम्भव नहीं है।

(10) **सन्ध्यश्लीलता**--जहाँ ऐसे पदों का प्रयोग किया जाता है जिनमें सन्धि होने पर अश्लीलता उत्पन्न हो जाती है। जैसे "चलन् ड़ामरचेष्टितः" में "न्" को "ण्" कर देने पर अश्लीलता आ जाएगी।

(11) **सन्धौकष्टता**--सन्धौकष्टता वहाँ होती है जहाँ सन्धि होने पर शब्दों और उनके अर्थों को समझने में कष्ट होता है। जैसे--"उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः" इस वाक्य में "उर्वी+असौ+अत्र, तरू+आली, मरू+अन्ते, चारू+अवस्थितिः" इन पदों की स्थिति को ही समझना सन्धि के कारण कष्टकारी हो गया।

(12) **अर्द्धांतरैकपदता**--यह श्लोकवाक्यवृत्ति दोष है। श्लोक के दो अर्द्धांश होते हैं—(1) पूर्वार्द्ध, (2) उत्तरार्द्ध। जब किसी एक अर्द्धांश का अवयव पद दूसरे अर्द्धांश में रख दिया जाता है, तब उक्त दोष होता है। जैसे--

इन्दु र्विभाति कर्पूरगौरै र्धवलयन् करैः।
जगन्मा कुरु तन्वङ्गि मानं पादानते प्रिये ॥

इस श्लोकवाक्य के पूर्वार्द्ध का अवयव "जगत्" उत्तरार्द्ध में रख दिया

---

1. "ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्" पा० अ० 1/1/11
2. "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" वही 6/1/125

गया है, जिससे सम्पूर्ण वाक्यार्थ गड़बड़ा गया है ।

(13) समाप्तपुनरात्तता--वहाँ होती है जहाँ वाक्य को समाप्त करने के पश्चात् पुनः वाक्य के शेषांश को कहा जाता है । जैसे--

नाशयन्तो धनध्वान्तं तापयन्तो वियोगिनः ।
पतन्ति शशिनः पादाः । भासयन्तः क्षमातलम् ।।

इस श्लोक के तीसरे चरण में वाक्य को समाप्त करके उसी वाक्य के शेषांश चतुर्थचरण को पश्चात् कहा गया है ।

(14) अभवन्मतसम्बन्धता--"न भवति मतः सम्बन्धो यत्र, तस्य भावः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जहाँ कवि किसी पद के अभीष्ट सम्बन्ध की निष्पत्ति नहीं कर पाता है, वहाँ उक्त दोष होता है । जैसे---

या जयश्रोर्मनोजस्य, यया जगदलंकृतम् ।
याम् एणाक्षीं बिना प्राणा विफला मे, कुतोऽद्य सा ।।

इस श्लोक वाक्य में "एणाक्षी" पद का सम्बन्ध यत्पदघटित सभी वाक्यों के साथ होना कवि को अभीष्ट है, परन्तु उसने उसे यत्पदघटित तीन वाक्यों में से एक वाक्य के साथ पढ़ दिया है, जिससे वह शेष दो यत्पदघटित वाक्यों के साथ सम्बद्ध नहीं हो सकता है । "यत्तदोर्नित्यः सम्बन्धः" के अनुसार "यत्" शब्द से उत्पन्न आकांक्षा "तत्" शब्द से ही शान्त हुआ करती है, यत् शब्द से नहीं । यदि कवि ने "एणाक्षी" पद को तत्पदघटित वाक्य में "एणाक्षी सा कुतोऽद्य मे" इस प्रकार पढ़ा होता तो उसका सम्बन्ध सम्पूर्ण यत्पदघटितवाक्यों के साथ हो जाता ।

(15) अक्रमता—अक्रमता वहाँ होती है जहाँ क्रम को त्याग कर किसी पद का निवेश किया जाता है । "मैं और तू" के स्थान पर "मैं तू और" कहा जाये, अर्थात् "और" शब्द को "मैं" के पश्चात् न कहकर यदि "तू" के पश्चात् कहा जाये तब मैं और तू से भिन्न किसी तीसरे का समुच्चय भी प्रतीति का विषय हो जाएगा । अतः भिन्न प्रतीति के निवारण के लिये आवश्यक है कि "और" को मैं के साथ कहा जाए "तू" के नहीं । इस प्रकार सभी सार्थक पदों का क्रम, वाक्य में, निश्चित है । उसका त्याग कर देने से अक्रमता दोष उत्पन्न हो जाता है । जैसे--"द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयताम्" इस प्रसिद्ध कालिदासीय पद्य में "कान्तिमती कला" के साथ "त्वम्" के समुच्चायक "च" शब्द को त्वम् के बाद न पढ़कर "त्वमस्य लोकस्य च" इस प्रकार "लोकस्य" के अन्त में पढ़ा है, जिससे लोक का समुच्चय ही प्रतीत होता है, "त्वम्" का नहीं । यही अक्रमता है ।

(16) अमतपरार्थता---यह दोष निश्चित रूप से वहाँ होता है, जहाँ कवि एक ही वाक्य के द्वारा दो अर्थों की प्रतीति कराना चाहता है । कभी कभी अर्थ की प्रतीति प्रकृत रस की विरोधिनी हो जाती है, जो कवि को भले ही इष्ट हो

परन्तु सहृदय श्रोता को इष्ट नहीं होती । वहीं यह दोष होता है । जैसे–प्रसिद्ध काव्य रघुवंश में ताड़कावध के प्रसङ्ग में कालिदास का कथन है कि "राम के बाण से ताड़ित हुई ताड़का रक्तस्नात होकर जीवितेश (यम) के घर चली गई, अर्थात् मर गई यहाँ जीवितेश पद के श्लेष (प्राणेश और यम) का लाभ उठाकर कवि ने राम पर मन्मथ का तथा रक्त में रक्तचन्दन का आरोप कर ताड़का को अभिसारिका का रूप दे दिया है, जो शृङ्गार रस का व्यञ्जक होने के कारण मृत्यु के प्रसंग के विरुद्ध है ।

(17) **वाच्य का अनभिधान**—अर्थात् जो अवश्य वक्तव्य हो, उसे न कहना । जैसे—"क्या तुमने मुझमें कभी कोई दोषांश देखा है ?" इस वाक्य में दोषांष भी देखा है" इस रूप में दोषांश के साथ "भी" को अवश्य कहना चाहिए । उसके बिना वक्ता में सर्वथा दोषाभाव—जो वह प्रतीत कराना चाहता है—प्रतीत नहीं होता । विश्व- नाथ के "व्यतिक्रमलवं कं मे वीक्ष्य" उदाहरण का यही आशय है । पद दोषों में जो न्यूनपदता कही गई है, वह वाचकपद की न्यूनता में होती है । वाच्यानभिधान में द्योतक का अभाव होता है. जिससे सम्पूर्ण वाक्यार्थ शिथिल हो जाता है । दोनों में यही भेद है ।

(18) **भग्नप्रक्रमता**—"भग्नः प्रक्रांतः क्रमः यत्र, तस्य भावः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार उक्त दोष वहाँ होता है, जहाँ दो अर्थों में परस्पर उद्देश्य प्रतिनिर्देश्यभाव सम्बन्ध हुआ करता है । उद्देश्य को ही उलट कर प्रतिनिर्देशन किया जाया करता है । "तू मुझे चाहेगा तो मैं भी तुझे चाहूँगा" इस वाक्य में मेरा चाहना तेरे चाहने का प्रतिनिर्देशन है, क्योंकि उसमें पूर्व उद्दिष्ट (चाहने) को ही उलट कर कहा गया है । ऐसे स्थान में उद्देश्य और प्रतिनिर्देश्य एकरूप होने चाहियें । "तू चाहेगा तो मैं तुझे पसन्द करूँगा" कहने से चाहने का अभाव ही बोधगम्य होता है यद्यपि चाहना और पसन्द करना एक ही तत्व हैं । इसी को भग्न प्रक्रमता कहते हैं । जैसे—

'एकमुक्तो मन्त्रिमुख्यै रावणः प्रत्यभाषत"

इस वाक्य में वचन और प्रतिवचन परस्पर उद्देश्य और प्रतिनिर्देश्यरूप हैं । अतः "उक्त" और "प्रत्यभाषत" में एक ही धातु का प्रयोग करना चाहिये था । वैसा न किया जाने से भग्न प्रक्रमता हो गई है । "प्रत्यभाषत" के स्थान पर "प्रत्यवोचत" कहा जाता तो दोष नहीं होता ।

19 **प्रसिद्धित्याग**—प्रसिद्धित्याग दोष वहाँ होता है, जहाँ प्रसिद्धि के विरुद्ध बात कही जाती है । जैसे "घोरो वारिमुचां रवः" अर्थात् "बादलों का घोर रव हो रहा है" इस कथन में प्रसिद्धि का त्याग किया गया है । क्योंकि बादलों का गर्जन ही लोक और शास्त्र सर्वत्र प्रसिद्ध है, रव नहीं । वह तो भेरी आदि का ही प्रसिद्ध है ।

(20) **अस्थानस्थपदता**—जहाँ किसी कथनीय पद का कथन तो होता है, परन्तु उसका पूर्वपश्चाद्भाव विपर्यस्त कर दिया जाता है। जैसे कालिदास ने रघुवंश मे "तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात् प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम्" इस पद्य में "गङ्गा को पार करते हुए उसके (गङ्गा के) घाट पर" ऐसा न कहकर "उसके घाट पर गङ्गा को पार करते हुए" कहा है, जिससे घाट-गङ्गा का ही था–यह बात प्रतीत नहीं होती। अतः "गङ्गाम् को "तीर्थे" से पूर्व पढ़ना चाहिये था।

21 **अस्थानस्थसमासता**—"अस्थाने तिष्ठति समासो यत्र, तस्य भावः" इस व्युत्पत्ति से ही यह विदित हो जाता है कि जहाँ समास का उपयोग (ओज का प्रकाशन) है, वहाँ समास न करके जहाँ उसका (समास का) उपयोग नहीं वहाँ समास करना, उक्त दोष कहाता है। जैसे—

अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगितिक्रोधादिवालोहितः।
प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात्
फुल्लत्कैरवकोषनिःसरदलिश्रेणी कृपाणं शशी ॥

इस पद्य के पूर्वार्द्ध में चन्द्रमा का क्रोध से लाल होकर सीमन्तिनी स्त्रियों के हृदय में स्थित मान को ललकारने का उल्लेख चन्द्रमा के मुँह से कराया गया है तथा उत्तरार्द्ध में उसके व्यापार का उल्लेख कवि की उक्ति के रूप में किया गया है। यहाँ क्रोधी की उक्ति में यदि समास किया गया होता तो वह क्रोध की अभिव्यक्ति में सहायक होता, परन्तु वहाँ समास न करके कवि की उक्ति में जो समास किया गया है, उसका कोई उपयोग नहीं। इसे ही अस्थानस्थसमासता कहते हैं।

22 **सङ्कीर्णता**—वहाँ होती है जहाँ अन्य वाक्य के निष्पादक पद को अन्य वाक्य में रख दिया जाता है। जैसे—"चन्द्रं पश्य मानं मुञ्च" के स्थान पर यदि "चन्द्रं मुञ्च मानं पश्य" कह दिया जाये तो संकीर्णता हो जायेगी।

(23) **गर्भितता**—वहाँ होती है जहाँ पूरा का पूरा वाक्य दूसरे वाक्य के भीतर डाल दिया जाता है। जैसे—

रमणे चरणप्रान्ते प्रणतिप्रवणेऽधुना।
वदामि सखि ते तत्वं कदाचिन्नोचिताः क्रुधः ॥

कुपिता नायिका को नेक सलाह देती हुई सखी की हे "सखि, अब जबकि तेरा प्रिय तेरे चरणों में पड़ा हुआ है तब मैं तुझे तत्व की बात बताती हूँ—तेरा क्रोध बिल्कुल उचित नही है" इस उक्ति में स्पस्ट ही प्रारब्ध "रमणे इत्यादि वाक्य के भीतर "वदामि सखि ते तत्वम्" यह दूसरा वाक्य डाल दिया गया है। यह गर्भितता है।

अर्थगत दोष : 22

1. अपुष्टत्व,
2. दुष्क्रमत्व,

3. ग्राम्यत्व,	4. व्याहतत्व,
5. अश्लीलत्व,	6. कष्टत्व,
7. अनवीकृतत्व,	8. निर्हेतुत्व,
9. प्रकाशितविरुद्धत्व,	10. सन्दिग्धत्व,
11. पुनरुक्तत्व,	12. ख्यातिविरुद्धत्व,
13. विद्याविरुद्धत्व,	14. साकांक्षत्व,
15. सहचरभिन्नत्व,	16. अस्थानयुक्तत्व,
17. सामान्ये विशेषवचननम्	18. विशेषे सामान्यवचनम्,
19. नियमपरिवृत्ति,	20. विध्ययुक्तता,
21. अनुवादायुक्तता,	22. निर्मुक्तपुनरुक्तता ।

ये बाईस अर्थगत दोष हैं । साहित्यदर्पणकार ने नियम परिवृत्ति को "नियम में अनियम" और "अनियम में नियम" इन दो रूपों में बाँटकर अर्थ-दोषों की संख्या भी तेईस कर दी है ।

अर्थ-दोषों का स्वरूप और उदाहरण

(1) **अपुष्टत्व**--किसी ऐसे शब्द का प्रयोग—जिससे मुख्य विषय की पुष्टि न होती हो । जैसे–"विलोक्य वितते व्योम्नि विधुं मुञ्च रुषं प्रिये !" इस उदाहरण में व्योम का वितत विशेषण मानमोचन में तनिक भी सहायक नहीं है ।

(2) **दुष्क्रमत्व**—अनेक वस्तुओं के विकल्प या समुच्चय में क्रम के औचित्य का त्याग । जैसे--"अश्वं देहि गजेन्द्रं वा" इस वैकल्पिक याचना में गजेन्द्र की याचना प्रथम और उसके विकल्प में अश्व की याचना पश्चात् करनी चाहिये । तथा "सहस्रास्यो न पञ्चास्यः क्षमः स्तोतुं यशस्तव" इस समुच्चय में हजार मुख वाले को असमर्थ बताकर पाँच मुख वाले को असमर्थ बताना अनुचित है । दोनों उदाहरणों में क्रम दोषपूर्ण है ।

(3) **ग्राम्यत्व**—ग्राम्यजनोचित अर्थ का कथन । जैसे—"प्रिये तुम मेरे पास सो जाओ" ।

(4) **व्याहतत्व**—किसी के उत्कर्ष या अपकर्ष को कहकर अपनी ही उक्ति से उसे खण्डित कर देना । जैसे—

हरन्ति हृदयं तेषां न नवेन्दुकलादयः
वीक्ष्यते यैरियं तन्वी लोकलोचनचन्द्रिका ।

इस उदाहरण में जिनके लिये इन्दुकला आनन्ददायिनी नहीं, उन्हीं के आन्नद के लिये तन्वी में चन्द्रिका का आरोप कवि द्वारा किया गया है ।

(5) **अश्लीलत्व**---जब पद या वाक्य के अर्थ से अश्लीलता प्रकट हो । उदाहरण अनावश्यक है ।

6. कष्टत्व—ऐसे अर्थ की कल्पना करना, जो विद्वानों के लिये भी दुर्बोध हो उदाहरण अनावश्यक है।

7. अनवीकृतत्व—एक ही प्रकारके शब्द से पुनः पुनः अर्थ का कथन करना। जैसे—

सदा चरति खे भानुः, सदा वहति मारुतः।
सदा धत्ते भुवं शेषः, सदा धीरोऽविकत्थनः॥

यहाँ एक ही प्रकार (सदा) से अनेक व्यापारों का कथन किया गया है। नवीकृतत्व ऐसा होता है—

भानुः सकृद् युक्ततुरङ्ग एव, रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति।
बिभर्त्ति शेषः सततं धरित्रीं, षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः॥

शाकुन्तल के इस पद्य में एक ही सातत्य धर्म को नये नये प्रकार से कहा गया है।

8. निर्हेतुत्व—कार्य विशेष को कहते हुए भी उसका हेतु न कहना। जैसे—

परित्यक्तं तेन त्वमसि सुतशोकान्नतुभयात्।
विमोक्ष्ये शस्त्र त्वामहमपि············।

वेणी संहार के अन्दर अश्वत्थामा की इस उक्ति में द्रोण के शस्त्र त्याग का हेतु तो (सुतशोकात्) कह दिया गया परन्तु अश्वत्थामा के शस्त्र त्याग का हेतु नहीं कहा गया।

9. प्रकाशितविरुद्धत्व—प्रकाशितविरुद्धत्व वहाँ होता है जहाँ कवि के शब्दों से अभीष्ट अर्थ के स्थान पर अभीष्ट का विरोधी अर्थ प्रकाशित होने लगता है। **जैसे—**

नराधीश! कुमारस्ते श्रियं समधिगच्छतु।

यहाँ "राजन् आपका कुमार आपके जैसा ही श्रीसम्पन्न हो" यह कहना अभीष्ट है, परन्तु "आप की श्री को अपका कुमार प्राप्त करे" इससे "आप मर जाओ" यह विरुद्ध अर्थ प्रकाशित होता है—

10. सन्दिग्धत्व—जहाँ दो में से एक का निश्चय न होता हो। जैसे—

"अचला अबला वा स्युः सेव्याः 9"

इस वाक्य को सुनकर यह निश्चय ही नहीं होता कि वक्ता को अचलों और अबलाओं में से किसका सेवन अभीष्ट है।

11. पुनरुक्तत्व—कहे हुए अर्थ को ही पुनः कहना। जैसे—किरातार्जुनीय काव्य के "सहसाविदधीत न क्रियाम्......"इत्यादि प्रसिद्ध पद्य में "अविवेकः परमापदां पद्म" इस द्वितीय पादोक्त अर्थ को ही उत्तरार्ध के "वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः" इन शब्दों में पुनः कहा गया है।

12. ख्यातिविरुद्धत्व—प्रसिद्धि के विरुद्ध होना। जैसे—

"शितशूलधरो विष्णुः"

यहाँ विष्णु का शूलधारण लोक में प्रसिद्ध नहीं है। शिव का ही प्रसिद्ध है। इसी प्रकार कवि समयविरुद्ध भी समझना चाहिए।

13. विद्याविरुद्धत्व—विद्याविरुद्धत्व दोष शास्त्र विरुद्ध कथन में होता है। जैसे—

"अधरे करजक्षतं मृगाक्ष्याः"

अर्थात् "मृगनेत्री के अधर पर नाखून का चिन्ह" यह श्रृङ्गारशास्त्र के विरुद्ध है। अधर पर दन्तक्षत ही विहित है। इसी प्रकार अन्य शास्त्रों के विरुद्ध भी समझें।

14. साकांक्षत्व—जहाँ अर्थ अपूर्ण दिखाई देता है और पूर्णता के लिए किसी कथनांश की अपेक्षा रखता है, वहाँ साकांक्षत्व दोष होता है। जैसे—

ऐशस्य धनुषोभङ्गं, क्षत्रस्य च समुन्नतिम्।
स्त्रीरत्नञ्च कथं नाम मृष्यते भार्गवोऽधुना॥

यहाँ "स्त्रीरत्नम्" के साथ "उपेक्षितुम्" जोड़े बिना उसकी आकांक्षा पूर्ण नहीं होती।

15. सहचरविरुद्धत्व—उत्कृष्टों के साथ निकृष्ट अथवा निकृष्टों के साथ उत्कृष्ट का वर्णन करना सहचरविरुद्ध होता है। जैसे—

सज्जनो दुर्गतौ मग्नः, कामिनी गलितस्तनी।
खलः पूज्यः समज्यायां, तापाय मम चेतसः॥

यहाँ "सज्जन और कामिनी" इन दो उत्कृष्टों के साथ निकृष्ट 'खल' का वर्णन।

16. अस्थानयुक्तत्व—किसी वाक्यार्थ को अस्थान अर्थात् ऐसे बे ठिकाने युक्त करना अर्थात् जोड़ देना जहाँ जोड़ने से विवक्षित अर्थ घटित न होता हो। जैसे—"रावण योग्य वर नहीं है, क्योंकि महान् गुण होते हुए भी वह रावण ही तो है" इस वाक्य के अन्त में यदि "सबमें सब गुण कहाँ" यह वाक्य जोड़ दें तब रावण के भी योग्य वर होने का समर्थन हो जायेगा, जो यहाँ विवक्षित नहीं है।

17. सामान्ये विशेषः—यह दोष वहाँ होता है जहाँ सामान्य के स्थान पर विशेष का कथन किया जाता है। जैसे—समुद्र सामान्यतया रत्नाकर है, परन्तु उसे यदि हीरों का आकर कह दिया जाये, तब वह सामान्य रूप से रत्नों का आकर होने के स्थान पर केवल हीरों (रत्न विशेष) का ही आकर प्रतीत होने लगेगा।

18. विशेषे सामान्यम्—जहाँ विशेष का कथन योग्य है, वहाँ सामान्य को कहना। जैसे—"यान्ति नीलनिचोलिन्यो रजजीष्वभिसारिकाः" यहाँ अभिसार के योग्य रात्रिविशेषः (तमिस्रासु) कहना योग्य था, सामान्य रजनी नहीं।

19. **नियमपरिवृत्ति** : नियम के स्थान पर अनियम और अनियम के स्थान पर नियम कहना । जैसे–"आपातसुरसेभोगे" यहाँ "आपात एव सुरसे" इस रूप में नियम कहना चाहिये । इसी प्रकार अनियम में नियम को भी समझें ।

20. विध्ययुक्तता : यह दोष विधेय के अयुक्त होने की स्थिति में होता है । जैसे–"अपने पक्ष को आनन्दित करने वाला यह वीर शत्रुपक्ष का नाशक" होगा । यहाँ "शत्रुपक्ष का नाश करके अपने पक्ष को आनन्दित करेगा" ऐसा कहकर विधि (विधेय) की युक्तता की जानी चाहिये ।

21. अनुवादायुक्तता : अनुवाद (उद्‌देश्य) की अयुक्तता में होती है । जैसे–विरही की चन्द्रमा के प्रति "हे विरहीजनों को मारने वाले चन्द्र, तू मुझे न सता" इस उक्ति में "विरहियों को मारने वाले" को उद्‌देश्य बना कर न सताने की याचना अनुचित है । मारने वाला न सताये यह सम्भव नहीं ।

22. निर्मुक्त पुनरुक्तता : वहाँ होती है, जहाँ प्रकृत वाक्यार्थ को एकबार छोड़कर पुनः आगे बढ़ाया जाता है । जैसे लग्नं रागावृताङ्‌ग्या. . . .' इत्यादि पद्य में समुद्र की पुत्री लक्ष्मी ने राजा की कीर्ति को दूती बनाकर अपने पिता मे कहलाया है "कि यह मेरा पति (राजा) तलवार से ही प्यार करता है, मेरी तनिक चिन्ता नहीं करता–यह बात आपको विदित हो" इस प्रकार बात को समाप्त करके भी पुनः कहना शुरु कर दिया कि "इसने मुझे तो अपने भृत्यों को दे दिया है" । यही निर्मुक्त अर्थ की पुनरुक्तता है । समाप्तपुनरात्तता से इसमें यह भेद है कि वहाँ तो एक विशेषण ही समाप्त होकर पुनरात्त होता है; जबकि यहाँ वाक्य के प्रतिपाद्य अर्थ को ही एक बार मुक्त करके पुनः उक्त किया जाता है । अतएव वह वाक्यदोष और यह अर्थदोष है ।

रसदोष

यों तो पूर्वोक्त सभी दोष रस के अपकर्षक हैं, परन्तु वे सब पद, वाक्य आदि के द्वारा रस को दूषित करते हैं । यहाँ जिन दोषों का परिगणन किया जा रहा है, वे साक्षात् रस को अपकृष्ट करने वाले हैं अतः उन्हें विशेषरूप से रसदोष कहा गया है ।

रसदोष सम्बन्धी जो विचार ध्वनिकार ने प्रकट किया था उसी को कुछ शब्दान्तर से मम्मट और विश्वनाथ ने अपने अपने ग्रन्थों में निबद्ध किया है । विश्वनाथ का निबन्धन मम्मट की अपेक्षा अधिक सरल और सुबोध है–यह हम पहले भी बता चुके हैं । रसदोष सम्बन्धी मम्मट की प्रथमकारिका में जो बात कही गयी है, वही विश्वनाथ ने भी कही है, परन्तु दोनों का कथन प्रकार हमारी उक्त धारणा का स्पष्ट प्रमाण है । मम्मट के–

"व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता" [1]

इस कारिकार्द्ध में और उसी की समामार्थक विश्वनाथ की कारिका के–

"रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसज्चारिणोरपि" [2]

इस पुर्वार्द्ध में अर्थसाम्य होते हुए भी स्पष्टास्पष्टता का जो भेद है, वह विवेचक दृष्टि से तिरोहित नहीं है। अतः हम रसदोषों का उल्लेख भी विश्वनाथ के अनुसार ही कर रहे हैं।

कविराज आचार्य विश्वनाथ ने रससम्बन्धी मुख्य दोष इस प्रकार गिनाये हैं :–

1. रस की स्वशब्द से उक्ति,
2. स्थायिभाव की स्वशब्द से उक्ति,
3. सच्चारिभाव की स्वशब्द से उक्ति,
4. विरोधिरस के अङ्ग विभावादि का ग्रहण,
5. विभाव और अनुभाव का कठिनाई से आक्षेप,
6. अनवसर में रस विस्तार,
7. अनवसर में रस विच्छेद,
8. रस की पुनः पुनः दीप्ति,
9. अङ्गी का अनुसन्धान,
10. अनङ्गी का कीर्तन,
11. अङ्ग का अतिविस्तार,
12. प्रकृतिविपर्यय।

ये बारह दोष अनौचित्यमूलक हैं। इसके अतिरिक्त भी रस विषयक अनौचित्य को रस दोष समझना चाहिये। [3]

परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः
"आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः ।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ, तथा दीप्तिः पुनः पुनः"
"अङ्गिनोऽननुसन्धानम् अनङ्गस्य च कीर्तनम् ।
अतिविस्तृतिरङ्गस्य, प्रकृनीनां विपर्ययः"
अथानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता मताः सा० द० 7/577

---

1. का० प्र० 7/60
2. सा० द० 7/577
3. "रपस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसच्चारिणोरपि।

रसदोष का निदर्शन

1. रस की स्वशब्द के उक्ति दो प्रकार से होती है

1. रस शब्द से,

2. श्रृङ्ग०रादि शब्दों से ।

जैसे—

1. उसे देख मेरे मन में रस हुआ,

2. मेरे मन में श्रृङ्गार हुआ ।

2. स्थायी भाव की उक्ति । जैसे–उसे रति हो गई ।

3. सञ्चारी की उक्ति । जैसे उसे लज्जा उत्पन्न हो गई ।

4. विरुद्ध अङ्ग का ग्रहण । जैसे–अरी, मान न कर, यौवन स्थिर नहीं है । यहाँ यौवन को अस्थिर बताना श्रृङ्गार के विरोधी शान्तरस का अङ्ग है ।

5. "क" अनुभाव का कठिनाई से आक्षेप । जैसे–चाँदनी में मुस्कुराती हुई उस कामिनी को देखो । यहाँ आलम्बन और उद्दीपन विभाव अनुभाव-मुखेन कहे गये हैं, यह बात कठिनाई से समझ में आती है ।

"ख" विभाव का कठिनाई से आक्षेग । जैसे–उसे कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है, क्या करें ? यह दशा शोक में भी हो सकती है ओर विरह में भी । अतः कामिनी रूप विभाव का आक्षेप करना कठिन है ।

6. अनवसर में रस विस्तार । जैसे–वेणीसंहार नाटक के द्वितीय अङ्क० में भयङ्क०र नरसंहार के अवसर पर दुर्योधन का अपनी पत्नी भानुमती से रति विस्तार ।

7. अनवसर में विच्छेद । जैसे–वीरचरित नाटक में राम और परशुराम का अखण्ड संग्राम चलते हुए राम का यह कहकर चल देना कि "मैं कँगना खोलने जा रहा हूं" ।

8. रस की पुनः पुनः दीप्ति । जैसे–कुमारसम्भव में पुनः पुनः रति का विलाप ।

9. अङ्गी का अननुसन्धान । जैसे–रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अङ्क में वाभ्रव्य के आगमन पर सागरिका को बिलकुल भूल जाना ।

10. अनङ्ग का कीर्तन । जैसे–कर्पूरमञ्जरी में राजा और नायिका के किये हुए वसन्त वर्णन की उपेक्षा कर वन्दियों के किये वर्णन की प्रशंसा करना ।

11. अङ्ग का अतिविस्तार । जैसे–किरातार्जुनीय में सुराङ्गनाओं के विलास आदि का वर्णन ।

12. प्रकृतिविपर्यय—काव्य नाटक के नायक आदि को प्रकृति कहा जाता है । वहाँ धीरोदात्तादि नायकों का उनके चरित्र के अनुसार ही व्यवहार दिखाया जाना चाहिए । उसके विपरीत होने पर उक्त दोष होता है । जैसे–धीरोदात्त राम का धीरोद्धत की भाँति छल से बाली को मारना आदि ।

अलङ्कारदोष

आचार्य मम्मट ने अलङ्कार दोषों का उल्लेख नहीं किया, परन्तु कविराज आचार्य विश्वनाथ ने अलङ्कारों में भी दोषों की स्थिति का स्पष्ट और बुद्धिग्राह्य, प्रतिपादन किया है । ये दोष पूर्वोक्त दोषों से भिन्न नहीं है । पूर्वोक्त अनुचितार्थत्व, अप्रयुक्तत्व, अवाचकत्व, प्रतिकूलवर्णत्व, अधिकपदत्व, न्यूनपदत्व आदि दोष ही अलङ्कारों में भी पाये जाते हैं । विश्वनाथ ने उदाहरण देकर दस अलङ्कारदोष स्पष्ट प्रदर्शित किये हैं । साथ ही यह भी घोषणा कर दी है कि इन पूर्वोक्त दोषों से भिन्न किसी नवीन दोष की सम्भावना अलङ्कारों में नहीं है ।[1] उक्त दोषों का स्वरूप ।

पहले अवधारित किया ही जा चुका है । अलङ्कारों में इनकी स्थिति को एक दो उदाहरणों द्वारा दिखा देना यहाँ पर्याप्त होगा । शेष उदाहरण साहित्यदर्पण की 578वीं कारिका की वृत्ति में देखे जा सकते हैं ।

अनुचितार्थत्व

अलङ्कार में अनुचितार्थत्व दिखाने के लिये विश्वनाथ ने दो अलङ्कारों को चुना है, 1. उपमा, 2. अर्थान्तरन्यास ।

1. उपमा में अनुचितार्थत्व छः प्रकार का होता है–

 1. उपमेय के साथ उपमान का सादृश्य न होने से ।
 2. उपमानगत धर्म का सम्भव न होने से ।
 3. उपमान में जातिविषयक न्यूनता होने से ।
 4. उपमान में जातिविषयक अधिकता न होने से ।
 5. उपमान में प्रमाणविषयक न्यूनता होने से ।
 6. उपमान में प्रमाणविषयक अधिकता होने से ।

क्रम से उदाहरण

1. मैं किरणों के सदृश वितत (विस्तृत) अर्थ वाले चन्द्र सदृश काव्य की रचना करता हूं ।

---

1. एभ्यः पृथगलङ्कारदोषाणां नैव सम्भवः ।
(सा० द० 7/578)

"इस उपमा में चन्द्र और काव्य का तथा किरण और अर्थ का कोई सादृश्य नहीं है।"

2. तुम्हारे बाण जलती हुई जलधाराओं के समान शत्रुओं पर गिर रहे हैं।
"यहाँ जलधाराओं का जलना कदापि सम्भव नहीं है।"

3. यह राजा संग्राम में चाण्डाल की तरह अतिक्रूर है।
"यहाँ चाण्डाल (उपमान) राजा (उपमेय) की अपेक्षा जाति की दृष्टि से अधिक न्यून (निकृष्ट) है।,"

4. यह मयूर शिव के सदृश नीले कण्ठ वाला है।
"यहाँ उपमान (शिव) उपमेय (मयूर) की अपेक्षा जाति की दृष्टि से बहुत अधिक उत्कृष्ट है।"

5. चन्द्रमा का बिम्ब कपूर की गोली जैसा सुशोभित है।
"यहाँ चन्द्रबिम्ब की अपेझा कपूर की गोली प्रमाण की दृष्टि से बहुत अधिक न्यून है"

6. तुम्हारे स्तन पर्वत जैसे ऊँचे हैं।
"यहाँ उपमान (पर्वत) उपमेय (स्तन) की अपेक्षा प्रमाण में बहुत अधिक है।"

(2) अर्थान्तरन्यास में अनुचितार्थत्व तब होता है, जब किसी उत्प्रेक्षित अर्थ का समर्थन कर दिया जाता है। जैसे—

कालिदास ने कुमारसम्भव में हिमालय का वर्णन करते हुए हिमालय की गुफाओं में स्थित अन्धकार को दिन में सूर्य के डर से छिपकर बैठा हुआ उत्प्रेक्षित किया है और उसका यह कहकर समर्थन किया है कि जो महान् होते हैं, वे क्षुद्रों की रक्षा भी सत्पुरुषों की तरह ही किया करते हैं। यहाँ अन्धकार का डर से छिपा रहना उत्प्रेक्षित मात्र है, अतः असद्रूप है। असत् पदार्थ जब वस्तुतः है ही नहीं, तब उसका समर्थन कैसा ? स्पष्ट ही यह अनुचितार्थता है।

उक्त दोनों अलङ्कार सादृश्यमूलक हैं। सभी सादृश्यमूलक अलङ्कारों में उपमानोपमेयभाव रहता ही है। अतः रूपक, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों में भी इन्हीं के समान अनुचितार्थत्व समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार साधारण धर्म की अधिकता में अधिकपदत्व और न्यूनता में न्यूनपदत्व तथा काल, पुरुष और विधि आदि की भिन्नता में भग्नप्रक्रम आदि जो दोष विश्वास के अनुसार उपमा में पाये जाते हैं, वे सभी सादृश्यमूलक दोष अलङ्कारों में समझने चाहियें।

पदांशदोष क्यों नहीं ?

आचार्य विश्वनाथ ने पद के किसी अंश में दोष की सत्ता को स्वीकार कर

उसे पदांशदोष कहा है ।[1] इसी भेद से उन्होंने दोषों को पाँच प्रकार का माना है।[2] हमारी दृष्टि से अंश का दोष अंशी का ही दोष होता है । जिस प्रकार आँख में काणत्व होने से पुरुष को ही काणा कहा जाता है और पैर लंगड़ा होने से पुरुष को लंगड़ा तथा हाथ के लंुज होने से पुरुष को लंुजा कहा जाता है, उसी प्रकार पद का कोई अंश दोषयुक्त होने से सम्पूर्ण पद ही वस्तुतः दूषित होता है । यह तथ्य मम्मट कृत काव्यलक्षण में "शब्दार्थौ" के "अदोषौ" विशेषण का खण्डन करते हुए विश्वनाथ ने स्वयम् स्वीकार किया है ।[3] अतः पद दोष से भिन्न पदांश दोष का स्वीकार करना उचित नहीं कहा जा सकता । यद्यपि वर्ण और रचना आदि में दोष की सत्ता को स्वीकारते हुए मम्मट भी पदांशदोष के प्रति सहमति रखते दिखाई देते हैं, परन्तु उन्होंने पदांशदोष की न तो पृथक् चर्चा की है, न ही उसका कोई उदाहरण ही दिया है । विश्वनाथ ने पदांशदोष के "तद्गच्छ सिद्धये" आदि अनेक उदाहरण दिये हैं । वे सिद्धये में "दध्ये" अंश को श्रुतिकटु कहते हैं । हम यह समझने में असमर्थ हैं कि जो विश्वनाथ "ओवट्टइ उल्लट्टइ" आदि प्राकृतगाथा में श्रुतिकटुत्व का निर्दशन करते समय संयुक्त टकारों के चार बार तक दिये गये प्रयोग को भी दोष नहीं मानते ।[4] उन्होंने "सिद्धयै" में एक बार के प्रयोग को दोष मानना कैसे उचित समझा ? इसी कारण हमने पदांश-दोष और उसके उदाहरणों को अनावश्यक समझ कर छोड़ दिया है । वे वस्तुतः पद दोषों से ही गतार्थ हैं ।

दोषों का गुणीभाव

पूर्वोक्त दोषों में च्युतसंस्कृति आदि कुछ दोषों को छोड़कर अन्य सभी दोष स्थितिविशेष में दोष नहीं होते हैं तथा कुछ दोष ऐसे भी हैं जो दोष न रहकर प्रत्युत गुण हो जाते हैं । मम्मट और विश्वनाथ दोनों ने वे स्थल उद्घाटित किये हैं, जहाँ उक्त दोष अपना दोषत्व छोड़ देते हैं अथवा प्रत्युत गुण बन जाते हैं । जिज्ञासुओं को दोषों के गुणीभाव का परिज्ञान मम्मट के काव्यप्रकाश अथवा विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण के माध्यम से ही करना चाहिये । हमारा उद्देश्य इन ग्रन्थों को यहाँ उद्धृत करना नहीं है । काव्य दोषों का विवेचन ही हमारा उद्देश्य था, जो हम ऊपर कर चुके हैं । अन्त में हम एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं । वह यह कि हमने दोषों से पूर्व गुणों की स्थिति एवम् उपदेयता को स्वीकार कर गुणों का

1. दोषाः केचिद् भवन्त्येषु पदांशेऽपि . . . . । सा. द. 7/4
2. ते पुनः पञ्चधा मताः । पदे पदांशे वाक्येऽर्थे सम्भवन्ति रसेऽपि यत् ।
सा. द. 7/1
3. न हि कञ्चिदंशं दूषयन्तः श्रुतिदुष्टादयो दोषाः । किं तर्हि, सर्वमेव काव्यम् ।
सा. द. 1/1
4. एषाञ्च एक-द्वि-त्रि-चतुः प्रयोगेण न तादृग् रसभंग इति न दोषः ।
सा. द. 7/5 की वृत्ति

उल्लेख दोषों से पूर्व किया जाना न्यायसङ्गत माना है, परन्तु दोषों का विवेचन जिन आचार्यों के अनुसार किया गया है, वे मम्मट और विश्वनाथ भी गुणों से पूर्व ही दोषों का विवेचन कर गये हैं। ऐसा क्यों ? यदि उन्हीं के मार्ग का अनुसरण करना था; तब उनके अनुसार गुणों से पूर्व दोषों का निर्वचन कर्त्तव्य होना चाहिये।

उसके समाधान में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि मम्मट के अतिरिक्त समस्त आचार्यों ने भरतमुनि का अनुकरण किया है, यह बात हम पहले बता चुके हैं। आचार्य मम्मट ने भरत का अनुकरण नहीं किया परन्तु अपने काव्य–लक्षण में "अदोषौ" पद का निवेश "सगुणौ" से पूर्व किया है, जो उचित है। दोषमुक्त होना सगुण होने की अनिवार्य शर्त है। काव्य–लक्षण में दोष की प्रथम उपस्थिति के कारण ही मम्मट को गुणों से पूर्व दोषों का निर्वचन करना पड़ा है, भरत के अनुकरण पर या गुणों की अपेक्षा दोषों की उपादेयता के आधार पर नहीं। अपने काव्यलक्षण में दोषों का प्रथम उल्लेख निषेधमुखेन किया है, विधिमुखेन नहीं। अतः मम्मट के निषेधात्मक दोष-विवेचन को गुणों से पूर्व दोषों की उपादेयता का आधार नहीं माना जा सकता। रही बात विश्वनाथ की, सो उन्होंने मम्मट का ही सर्वथा अनुकरण किया है, यह हम पहले ही कह चुके हैं।

गुण और दोषों के विषय में राजशेखर और क्षेमेन्द्र

काव्य सम्बन्धी गुणों और दोषों के विषय में अब हमें अपने आलोच्य आचार्य राजशेखर और आचार्य क्षेमेन्द्र के दृष्टिकोणों पर भी विचार कर लेना चाहिये। आश्चर्य है कि हमारे आलोच्य उक्त दोनों आचार्यों में जो समानता हम अनेक क्षेत्रों में देखते हैं, वह यहाँ भी पूर्णरूप से हमें दिखाई देती है।

इसमें सन्देह नहीं कि दोनों आचार्य काव्य–सम्बन्धी गुणों और दोषों से भली-भाँति परिचित थे, तथापि दोनों में से किसी ने भी गुण-दोषों के सम्बन्ध में अपनी कोई पृथक् उद्भावना नहीं की है। निश्चय ही वामनसम्मत गुणों को ही काव्य गुणों तथा भरत द्वारा परिगणित दोषों को ही काव्य-दोषों के रूप में स्वीकार कर, दोनों आचार्यों ने काव्य–सम्बन्धी अन्य महत्वपूर्ण अछूते तत्वों के अनुसंधान में ही अपनी अद्भुत प्रतिभा के व्यय को उचित और उपयोगी माना है। सर्वप्रथम हम राजशेखर के कर्तृत्व पर विचार करें तो हमें स्पष्ट दिखाई देगा कि उन्होंने गुणों को काव्य में सर्वाधिक महत्व दिया है। उनके अनुसार गुणवान् और अलंकृत वाक्य ही काव्य है।[1] यह कितना विचित्र दिखाई देता है कि जिस आचार्य की दृष्टि में गुण और अलंकार ही काव्य का असाधारण धर्म है, उसने गुणों और अलंकारों को परिभाषित करना क्यों आवश्यक नहीं समझा ? इसके दो ही कारण हो सकते हैं।

---

1. गुणवदलङ्कृतञ्च वाक्यं काव्यम् (काव्यमीमांसा, अध्याय 6)

1. पूर्वाचार्यों द्वारा परिभाषित गुणों और अलंकारों को अपनी स्वीकृति देकर काव्य के अछूते रहस्य को उद्घाटित करने की ओर ही अपना ध्यान केन्द्रित करना।

2. करने की इच्छा रखकर भी अपने अधूरे ग्रन्थ में इस अंश की पूर्ति भी अन्य अंशों की भाँति न कर सकना।

हमारी सम्मति में प्रथम कारण ही अधिक विश्वसनीय है। काव्य पुरुष के उत्पन्न होने पर सरस्वती के मुख से कहलाये गये "तू सम, प्रसन्न, मधुर, उदार और ओजस्वी है" तथा "अनुप्रास और उपमा आदि तुझे अलंकृत करते हैं।[1] ये शब्द हमारे विश्वास के पोषक हैं। सरस्वती के इस कथन में जिस प्रकार समता, प्रसाद, माधुर्य, औदार्य और ओज का उल्लेख हुआ है। उससे स्पष्ट है कि राजशेखर की दृष्टि वामन सम्मत काव्य गुणों पर टिकी हुई थी। अलङ्कारों के विषय में भी यही बात है। राजशेखर की सरस्वती ने जिन अनुप्रास आदि शब्दालङ्कारों और उपमा आदि अर्थालङ्कारों का नामोल्लेख किया है, वे चिरपरिचित हैं। स्पष्ट ही चिरपरिचित गुणों और अलङ्कारों को स्वीकार कर आचार्य ने उनके विवेचन में अनावश्यक काल-व्यय न कर, उसके वैभव की खोज में ही अपना प्रयत्न केन्द्रित रखा है। वे काव्य के गुणों और दोषों से परिचित नहीं थे, ऐसा हम नहीं कह सकते। उन्होंने काव्य-मीमांसा के पद-पद पर गुण और दोषों की चर्चा की है। कर्तृत्व और भावकत्व के विवेचन में उन्होंने विवेक रहित प्रतिभा की निन्दा करते हुए कहा है कि वह गुण और दोष का विभाजन नहीं कर सकती।[2] इसी प्रसंग में उन्होंने निर्मत्सर आलोचक का होना दुर्लभ बताते हुए एक प्राचीन उक्ति अङ्कित की है, जिसमें दोष और गुण का विवेक भावक (आलोचक) के लिये अत्यन्त आवश्यक कहा गया है। उसके अनुसार कोई कवि इसलिए कविता करना छोड़ बैठा है क्योंकि कोई ऐसा आलोचक ही नहीं रह गया जो गुणों और दोषों का सार जानता हो।[4] सातवें अध्याय में भोगी कवियों के वाक्यों की विशेषता बताते हुए उन्होंने उनके वचन को प्रसन्न, मधुर, उदात्त तथा अनोजस्वि कहा है।[3] स्पष्ट ही यहाँ उन्होंने वामनोक्त प्रसाद, माधुर्य,

---

1. समः प्रसन्नो, मधुरः, उदारः ओजस्वी चासि। (काव्यमीमांसा अ० 3)
अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति।

2. प्रतिभाविवेकविकलता हि न गुणागुणयोर्विभागसूत्रं पातयति (का. मी. अ. 4)

3. यः सम्यग् विविनक्ति दोषगुणयोः सारं स्वयं सत्कविः सोऽस्मिन् भावक एव नास्त्यथभवेद्दैवान्न निर्मत्सरः। (वही)

4. प्रसन्नमधुरोदात्तसमासव्यासभागवत्।
अनोजस्विपदप्रायं वचो भवति भोगिनाम् (वही अ. 7)

औदार्य और ओज नामक गुणों का परिचय कराया है। इसी प्रकार कर्णाटक देश के कवियों की काव्यपाठ शैली की प्रशंसा करते हुए उन्होंने सब प्रकार के रसों, रीतियों और गुणों से अपना परिचय प्रकट किया है।[1] सारांशतः राजशेखर काव्य-सम्बन्धी गुणों और दोषों से भली-भाँति परिचित थे, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु हम पहले ही कह आये हैं कि उन्होंने गुण–दोष–विवेचन को वामनादि पूर्वाचार्यों के विवेचन के पश्चात् अनावश्यक मानकर उसे छोड़ दिया अथवा असमय में ही जगत् से उठ जाने के कारण वे अपने अधूरे ग्रन्थ में उनका उल्लेख नहीं कर सके।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी गुणों और दोषों का स्वतन्त्र रूप से उसी प्रकार विवेचन नहीं किया, जिस प्रकार राजशेखर ने नहीं किया था। वे भी काव्य-सम्बन्धी गुणों और दोषों से उसी प्रकार पूर्ण परिचित थे, जिस प्रकार राजशेखर। राजशेखर के समान ही क्षेमेन्द्र ने भी वामनोक्त गुणों को ही काव्य गुणों के रूप में स्वीकार कर अपने ग्रन्थों में उनका उल्लेख किया है।

अपने सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ "औचित्यविचार चर्चा" में आचार्य ने गुणौचित्य के निदर्शन से सम्बद्ध 14वीं कारिका की वृत्ति में जिन गुणों के सन्निवेश को प्रस्तुत अर्थ के औचित्य के द्वारा भव्य और सहृदयहृदयानन्दकारक कहा है, उनका उल्लेख ओज, प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य आदि शब्दों द्वारा किया है।[2] जो इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि आचार्य क्षेमेन्द्र भी राजशेखर के समान वामनोक्त 10 गुणों को ही काव्य-गुण मानकर चले हैं। यद्यपि ओज, प्रसाद और माधुर्य तो उत्तरवर्ती मम्मटादि सभी आचार्यों को मान्य हैं, परन्तु उनके साथ "सौकुमार्यादि" शब्द का प्रयोग यही प्रमाणित करता है कि क्षेमेन्द्र की दृष्टि वामनोक्त गुणों पर टिकी हुई थी। क्षेमेन्द्र ते गुणौचित्य के जो अन्वयात्मक एवम् व्यतिरेकात्मक उदाहरण दिये हैं, उनमें उन्होंने ओज और माधुर्य गुणों के ही भाव और अभाव को उद्धृत किया है, तथापि उन्होंने बाणभट्ट की पद्यकादम्बरी से ऐसा भी पद्य उद्धृत किया है।[3] जिसमें माधुर्य के साथ सौकुमार्य आदि गुणों की सत्ता स्वीकार की है।[4] यहाँ सौकुमार्य गुण तथा आदिशब्दग्राह्य समता, उदारता आदि का स्वीकार करना वामनोक्त दश गुणों के प्रति क्षेमेन्द्र की स्वीकारोक्ति को ही प्रकट करता है। इस प्रकार राज-

1. रसः कोऽप्यस्तु काप्यस्तु रीतिः, कोऽप्यस्तु वा गुणः (का. मी. अ. 7)

2. शब्दार्थस्यौचित्येन ओजः प्रसादमाधुर्यसौकुमार्यादिलक्षणो गुणः······ औ. वि. च. 14वीं की वृत्ति

3. हारो जलार्द्रवसनम्–इत्यादि पद्य। औ. वि. च. गुणौचित्य

4. येऽपि काव्यगुणाः केचन तल्लक्षण-विचक्षणैः समाम्नाताः (वही कारिका 5 की वृत्ति)

शेखर और क्षेमेन्द्र दोनों ही आचार्य काव्य-गुणों के सम्बन्ध में एक ही रेखा पर खड़े दिखाई देते हैं, यह बात दोनों की तुलना में एक बड़ा ही महत्वपूर्ण बिन्दु है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने पूर्वाचार्यों–वामनादि–द्वारा प्रतिपादित गुणों को ही काव्य-गुण मानकर सर्वत्र व्यवहार किया है, स्वयम् गुणों का विवेचन करने की इच्छा उनकी नहीं थी, यह बात उन्होंने औचित्यसिद्धान्त की स्थापक कारिका (औचित्यविचार-चर्चा, कारिका संख्या 5 में कहे गये गुणा एव गुणाः) वाक्य की वृत्ति में लिखते हुए ही स्पष्ट कर दी थी। वहाँ उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "जो कुछ काव्यगुण, गुणों को लक्षित करने वाले पूर्वाचार्यों ने कहे हैं, वे सब गुण ही हैं, काव्य की आत्मा नहीं है।[1] यदि काव्य गुणों का विवेचन उन्हें इष्ट होता तो वे यहाँ यही कहते कि काव्य गुणों का विवेचन हम अपने अमुक ग्रन्थ में कर आये हैं या करेंगे, परन्तु उन्होंने ऐसा कोई सङ्केत नहीं किया, इससे यही प्रमाणित होता है कि काव्य-गुणों के सम्बन्ध में उनका पूर्वाचार्यो से भिन्न अपना कोई मत नहीं था।

आचार्य राजशेखर ने भी, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, काव्य गुणों के विवेचन की इच्छा का काव्यमीमांसा में कहीं उल्लेख न कर प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट समता, प्रसाद, औदार्य आदि को काव्यगुण मानकर सर्वत्र व्यवहार किया है। इस दृष्टि से भी हमारे आलोच्य दोनों आचार्यों में पूर्ण साम्य दिखाई देता है।

प्रसिद्ध काव्य-गुणों और दोषों के अतिरिक्त भी गुणों और दोषों के प्रदर्शन की रुचि दोनों महान् आचार्यों में विद्यमान थी, यह बात भी हम दोनों के प्रबन्धों में स्पष्ट रूप से देखते हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र ने "कविकण्ठाभरण" की चतुर्थ सन्धि में जिन गुणों और दोषों का विभाग किया है, वे प्रकृत गुण दोषों से नाम्ना भिन्न हैं। क्षेमेन्द्र ने यहाँ काव्य के तीन गुण बताए हैं :

1. शब्दवैमल्य,
2. अर्थवैमल्य, और
3. रसवैमल्य

इसी प्रकार दोष भी तीन ही गिनाये हैं :–

1. शब्दकालुष्य
2. अर्थकालुष्य
3. रसकालुष्य

इसी आधार पर उन्होंने काव्य को पाँच भेदों में बांटा है,

1. सगुण,
2. निर्गुण,

---

1. येऽपि काव्यगुणाः केचन तल्लक्षणविचक्षणैः समाम्नाताः
—औ. वि. च. गुणौचित्य कारिका 5 की वृत्ति।

3. सदोष,
4. निर्दोष,
5. सगुणदोष ।

क्षेमेन्द्र ने अपने इस विभाजन में वैमल्य और कालुष्य की विभाजक परिभाषाएँ नहीं दी हैं, उन्हें सहृदय आलोचक की रुचि पर ही छोड़ दिया है । इस सम्वन्ध में उन्होंने जो उदाहरण दिये हैं, देखने पर यहीं विदित होता है कि क्षेमेन्द्र ने यहाँ जिन गुणों और दोषों के कारण वैमल्य और कालुष्य को तथा काव्य के सगुणत्व, निर्गु णत्व और सदोषत्व एवम् सगुणदोषत्व को व्यवस्थापित किया है, वे प्रसिद्ध गुण दोषों से भिन्न नहीं हैं । यह तथ्य क्षेमेन्द्र द्वारा दिये गये उदाहरणों मे स्पष्ट है । क्षेमेन्द्र ने अपनी पद्यकादम्बरी से निम्नाङ्कित पद्य को शब्दवैमल्य के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है—

तत्कालोपनते वयस्यनिधने हा पुण्डरीकेति तत् ।
मोहव्यञ्जनमश्मभञ्जनमलं जीवस्य सन्तर्जनम् ।।
कुञ्जव्यापि कपिञ्जलेन करुणं निस्पन्दमाक्रन्दितं ।
येनाद्यापि च तैः स्मृतेन हरिणैः शष्पं परित्यज्यते ।। [1]

इस पद्य में जो गुण दिखाई देता है वह नाक में बोले जाने वाले ञ्, न्, म्, ण् वर्णों के प्रयोग से उत्पन्न माधुर्यगुण से भिन्न नहीं है । इसी प्रकार उन्होंने शब्द–कालुष्य का जो निम्नलिखित उदाहरण दिया है :

उत्खातप्रखरा सुखासुखसखी खड्गासिता खेलगा,
वैश्रृंखलीकृताखिलर्खिला ये खेटकैः ख्यापिता ।
खेटादुत्खनितुं निखर्वमनसां मौर्ख्य–मुखात् खक्खटं,
निः संख्यान्यनिखर्वसर्वमणिभू राख्यातु संख्यानि वः ।।[2]

यहाँ "ख वर्ण का धारावाही प्रयोग तथा "वैश्रृंखल्य" "मौर्ख्य" "खक्खटं" आदि संयुक्त नीरसवर्णों का प्रयोग दुःश्रव होने से श्रुतिकटुत्व से भिन्न अन्य कोई कालुष्य नहीं है । यही बात सदोष काव्य के निम्नाङ्कित उदाहरण में भी स्पष्ट देखी जा सकती है—

अद्यत्वावधि शिण्ढि शिण्ढि दृढ़तागूढानि गूढेतरां
प्रौढिं ढौकय पिण्ढि पिण्ढि च रुजं रुजापरूढां तया ।
मूढं मूढममूढयस्व हृदयं लीढ्वाथ मृढ्वा तमः
सोऽव्यूढामिति च प्रभा परिवृढाव्यूढा द्रढिम्नेऽस्तु व : ।।[3]

---

1. क० कं० भ०, 24
2. क. कं. भ., 27
3. क. कं. भ., 31

यहाँ भी कटुवर्ण ढकार के धारावाही एवं संयोगात्मक प्रयोग से उत्पन्न श्रुतिकटुत्व स्पष्ट विद्यमान है।

इसी प्रकार रसकालुष्य का जो उदाहरण भट्टनारायण के वेणीसंहार से क्षेमेन्द्र ने दिया है, वह प्रकृतिविपर्यय दोष ही है, जिसे ध्वनिवादी आचार्यों ने रस दोष के भीतर गिनाया है।[1] क्षेमेन्द्र के अनुसार चक्रवर्ती दुर्योधन की महिषी में पाण्डव नकुल के सङ्गम की इच्छा का होना सामान्यनीचवनिता के समान है।[2] क्षेमेन्द्र का यहाँ यही आशय है कि चक्रवर्ती की महिषी का वर्णन महिषी के अनुरूप न कर सामान्य नीचवनिता के समान किया गया है, अतः यहाँ रसकालुष्य हो गया है, ध्वनिवादियों के अनुसार यह प्रकृतिविपयर्य ही है। विश्वनाथ के शब्दों में जो पात्र जिस कोटि का है, उसका वैसा ही वर्णन न करना प्रकृतिविपयर्य है।[3]

राजशेखर भी प्रसिद्ध गुण दोषों से भिन्न गुणों और दोषों की ओर कवियों का ध्यान आकृष्ट करते दिखाई देते हैं। उनकी काव्य-मीमांसा में उल्लिखित सभी ध्येय तत्व वास्तव में काव्य के गुण और उनके विषय में असावधानता ही महान् दोष है। काव्यमीमांसा के 18वें अध्याय के अन्त में आचार्य का यह कथन कि हमारे बताये मार्ग का अनुसन्धान करने वाले कवि के अन्य सब गुण भी दोष हैं और उसका अनुसन्धान करने वाले के दोष भी गुण है, हमारे विश्वास का पोषक है।[4]

———

1. प्रकृतीनां विपर्ययः (सा. द. 577)
2. कविकण्ठाभरणम्—चतुर्थसन्धिः।
3. यो यथाभूतस्तस्य अयथावर्णने प्रकृतिविपर्ययो दोषः (सा. द. 577 की वृत्ति)
4. अनुसन्धानशून्यस्य भूषणं दूषणायते।
सावधानस्य च कवेर्दूषणं भूषणायते॥ (का. मी. अध्या. 18 का अन्तिम पृष्ठ)

8
रीति एवम् वृत्ति

रीति

न केवल मानव जीवन में अपितु संसार की समग्र स्थिति में रीति का बहुत महनीय महत्व है। प्रत्येक देश की, देशवासियों की, जातियों और व्यक्तियों की, व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन की, जीवन के प्रत्येक व्यवहार की, स्नान-ध्यान, खान-पान, वेश-भूषा आदि चेष्टाओं की एक पृथक् रीति, पृथक् शैली है, एक पृथक् मार्ग है। सांसारिक स्थिति का मूल कारण प्रकृति का वैषम्य है। "सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः" इस सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार "प्रकृति" गुणों की साम्यावस्था का नाम है। "संसार" प्रकृति की विकृति है। प्रकृति में उत्पन्न वैषम्य ही संसार रूप विकृति का कारण है। अतएव प्रत्येक प्राणी की रुचि परस्पर भिन्न है—"भिन्नरुचिर्हि लोकः।"

"कवि" इस विषम एवम् भिन्न रुचि संसार के मध्य उत्पन्न होने वाला और उसकी विभिन्न चेष्टाओं को गहराई से देखने तथा उसे वाणी प्रदान करने वाला एक सहृदय मनुष्य ही तो है। स्वभावतः उसकी 'वाणी' इसी रुचि भेद के कारण भिन्न-भिन्न रूपों वाली हुआ करती है।

लोक में हम अनेक अवसरों पर लोगों को गाते बजाते देखते हैं। सब अवसरों पर वही सङ्गीत और वही वाद्य देखने को मिलता है, परन्तु शिशु जन्म पर गाये जाने वाले गीतों और कर्ण बेध, मुण्डन, विवाह आदि अवसरों पर गाये जाने वाले गीतों में एक स्थूल भेद विद्यमान रहता है। विवाह सम्बन्धी गीतों और भोजों के आयोजन तथा वृद्ध दादा दादी की मृत्यु पर आयोजित गीतों और भोजों में कोई भेद नहीं, दोनों गीत और भोज ही होते हैं परन्तु दोनों के मार्ग भिन्न हैं। ये मार्ग ही रीतियाँ हैं। वस्तुतः रीति और मार्ग पर्यायवाची शब्द हैं।

रीति का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

रीति शब्द क्रयादिगण की "री गतिरेषणयोः" धातु से क्तिन् प्रत्यय के संयोग से बना है। "रीणन्ति-गच्छन्ति अनया" इस व्युत्पत्ति से रीति का वही अर्थ है, जो मार्ग का होता है। फलतः काव्य के चाहे वह दृश्य हो या श्रव्य—कविरुचिभेद से भिन्न-भिन्न मार्ग होते हैं। उनमें इतना भेद है कि उसकी इयत्ता नहीं निर्धारित

की जा सकती है, तथापि भरतमुनि ने इन मार्गों को सर्वप्रथम चार भागों में विभक्त किया है। उन्होंने अपने नाट्यशास्त्र में नाट्य की विभिन्न शैलियों को प्रवृत्ति नाम से अभिहित किया है और उनके निम्न चार नाम दिये हैं।[1]

1. आवन्ती,
2. दाक्षिणत्या,
3. औड्रमागधी,
4. पाञ्चाली।

स्पष्ट ही भरतमुनि द्वारा किया गया यह नामकरण देश विशेष की भाषा, वेश और आचार की भिन्नता पर आधारित है। नाट्यशास्त्र में प्रवृत्ति के नामकरण का हेतु स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यह (प्रवृत्ति) पृथ्वी पर स्थित नाना देशों के वेश, भाषा और आचार के ऐतिह्य को ख्यापित करती है, अतः इसे प्रवृत्ति कहा जाता है।[2] इसी आधार पर भारत के पश्चिम भाग की प्रवृत्ति को आवन्ती, दक्षिण भारत की प्रवृत्ति को दक्षिणात्या, उड्र अर्थात् उड़ीसा तथा मगध की प्रवृत्ति औड्रमागधी और पाञ्चाल अर्थात् मध्यदेश की प्रवृत्ति को पाञ्चाली कहा गया है। भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित उक्त प्रवृत्ति ही आगे चलकर रीति के रूप में विकसित हो गई। रीति के प्रतिपादक प्रथम आलंकारिक आचार्य भामह हैं। भामह ने दो प्रकार के काव्य मार्गों अर्थात् रीतियों का उल्लेख किया है। उनके समय में काव्य की वैदर्भी और गौड़ी नाम की दो रीतियाँ विकसित हो चुकी थीं। वैदर्भी का सम्बन्ध विदर्भ (आधुनिक बरार) देश की रीति से है। यह भरतमुनि का दाक्षिणात्या प्रवृत्ति का नामान्तरण है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के चौदहवें अध्याय में जिसे दाक्षिणात्य प्रवृत्ति कहा था, दक्षिण देश विदर्भ की उस ही काव्यशैली को भामह ने वैदर्भी रीति के नाम से सम्बोधित किया है। इसी प्रकार पूर्व देश की जिस प्रवृत्ति को भरतमुनि ने औड्रमागधी कहा था भामह ने उसी को गौड़ मार्ग या गौड़ी रीति के नाम से व्यवहृत किया है। आचार्य भामह ने काव्य के दो ही मार्गों का उल्लेख किया है, कोमल मार्ग और कठोर मार्ग। उन्होंने कोमल मार्ग को वैदर्भी रीति और कठोर मार्ग को गौड़ी रीति कहा है। भरतमुनि की आवन्ती और पाञ्चाली प्रवृत्तियों का रीतिकरण भामह ने पृथक् रूप से न कर सम्पूर्ण काव्य-शैली को इन्हीं कोमल और कठोर मार्गों में अन्तर्निहित कर दिया है। वैदर्भी और गौड़ी में भी उन्होंने किसी एक को अधिक महत्व नहीं दिया है। उनका कथन है कि वैदर्भी में भी यदि पुष्टार्थता और वक्रोक्ति का अभाव हो तो केवल कोमलकान्त पदावली

---

1. नाट्यशास्त्र अध्याय। 4.
2. प्रवृत्तिरिति कस्मात्? उच्यते-पृथिव्यां नानादेशवेशभाषाचारवार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः। —(ना० शा० पृ० 165)

को लिये हुए वह गीत के समान श्रुतिपेशल ही हो सकती है, हृदयहारिणी नहीं। इसी प्रकार गौड़ी रीति भी यदि अर्थवत्ता, सालङ्कारता, अग्राम्यता, न्याय्यता और अनाकुलता से युक्त हो तो वह भी अत्यन्त आदरणीय होती है। वास्तव में उक्त अर्थवत्ता आदि गुण ही किसी काव्य रीति को उपादेय बनाते हैं। उनके अभाव में वैदर्भी का भी कोई महत्व नहीं और उनकी सत्ता होने पर गौड़ी भी महनीय होती है।[1] सारांशत: भामह के अनुसार कोमल कान्त पदावली वाला वैदर्भ मार्ग और दीर्घ समास युक्त कठोर गौड़-मार्ग, ये दो ही काव्य के मार्ग हैं और इन दोनों का अपना स्वतन्त्र महत्व है। आचार्य दण्डी ने भी उपर्युक्त दो ही मार्गों पर अपनी समीक्षा को केन्द्रित रखा है, परन्तु वे वैदर्भी रीति को ही उपादेय और गौड़ी को हेय मानते हैं। उन्होंने रीति का सम्बन्ध गुणों से जोड़ा है। वे ही दस गुण जो भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित हैं, दण्डी को भी अभिमत हैं, परन्तु भरत ने उन्हें काव्य के गुण कहा है—काव्यस्यगुणा दशैते। जबकि दण्डी इन्हें वैदर्भ मार्ग का प्राण मानते हैं। इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणा: स्मृता:—1/43। कतिपय विद्वानों ने दण्डी के इस कथन का यह आशय समझा है कि वे (दण्डी) श्लेष, प्रसाद आदि दस गुणों को काव्य-सामान्य का गुण न मानकर काव्य की वैदर्भी नामक विशिष्ट शैली का गुण मानते हैं। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। यदि दण्डी को इन्हें वैदर्भ मार्ग मात्र का गुण मानना अभीष्ट होता तो इन्हें भी भरत ने जिस प्रकार "काव्यस्य गुणा दशैते" कहा था उसी प्रकार "वैदर्भमार्गस्य गुणा दशैते" कहना चाहिये था। "वैदर्भमार्गस्य प्राणा:" कहने से इतना ही दण्डी का अभीष्टार्थ समझना चाहिये कि वैदर्भमार्ग इन दस गुणों के बिना प्राणहीन है, जबकि गौड़ मार्ग कुछ थोड़े से गुणों के आधार पर भी स्थित रह सकता है। इस प्रकार वैदर्भमार्ग दण्डी की दृष्टि में काव्य के समस्त गुणों का आधार है। अत: वही काव्य का उपादेय और अर्चनीय मार्ग है। इसके विपरीत गौड़ मार्ग में काव्य के सम्पूर्ण गुण नहीं रहते, अत: वह अनुपादेय और वर्जनीय मार्ग है। इस प्रकार दण्डी के मत से वैदर्भी काव्य की उत्तम रीति और गौड़ी अधम रीति है।

आगे चलकर आचार्य वामन ने उपर्युक्त रीति के अतिरिक्त पाञ्चाली रीति को भी स्वीकार कर रीतियों की संख्या तीन तक पहुँचा दी, वामन द्वारा स्वीकृत पाञ्चाली रीति भी भरतमुनि की पाञ्चाली प्रवृत्ति का ही नामान्तरण है। स्पष्ट है कि भामह, दण्डी और वामन द्वारा प्रतिपादित रीतियों की मूलभित्ति भरत द्वारा प्रतिपादित प्रवृत्तियाँ ही हैं। भरत की दाक्षिणात्या प्रवृत्ति ही वैदर्भी के रूप में तथा औड्रमागधी और पाञ्चाली प्रवृत्ति ही क्रम से गौड़ी और पाञ्चाली रीति के रूप में विकसित हुई हैं।

---

1. अलङ्कारवदग्राम्यम् अर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौड़ीयमपि साधीयो वैदर्भमपि नान्यथा॥ —(भामह 1/35)

आचार्य वामन ने रीतियों की संख्या में यद्यपि कोई अपूर्व नाम नहीं जोड़ा है तथापि रीति के इतिहास में वामन का सर्वाधिक महत्व माना जाता है, इसका कारण है वामन द्वारा रीति को काव्य की आत्मा घोषित कर रीतियों और गुणों के महत्व पर अत्यधिक जोर देना। संस्कृत साहित्य में रीति को काव्य की आत्मा प्रतिपादित कर उसका सर्वाधिक महत्व स्थापित करने के कारण वामन का संस्कृत साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान है। यद्यपि इनका रीत्यात्मवाद संस्कृत के मान्य आचार्यों द्वारा समादृत नहीं हुआ। तथापि उसका जितना अधिक आलोचन प्रत्यालोचन हुआ, उतना किसी अन्य सिद्धान्त का नहीं हुआ। इस समाख्यान और प्रत्याख्यान ने वामन को प्रसिद्धि की पराकष्ठा पर अवश्य पहुँचा दिया, भले ही उनके रीत्यात्मवाद को प्रतिष्ठा प्राप्त न हुई हो। यहाँ यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि वामन ने दण्डी के समान गौड़ी रीति को अधम न मानकर उसे भी वैदर्भी के तुल्य ही महत्व प्रदान किया है। उनके मत से गौड़ी रीति भी वैदर्भी के समान ही सुन्दर एवम् आह्लादक है। वैदर्भी में माधुर्य और सुकुमारता का निवास रहता है तो गौड़ी में ओज और कान्ति का साम्राज्य होता है। दोनों ही अपने अनुरूप प्रसङ्गों में समानरूप से उपादेय हैं। सुकुमार प्रसंगों में वैदर्भी की जितनी उपादेयता है, ओजस्वी स्थलों में गौड़ी भी उतनी उपादेय है। पाञ्चाली रीति में वैदर्भी और गौड़ी दोनों का मिश्रण रहता है। पाञ्चाली रीति में वैदर्भी के समान निरी सुकुमार ही होती है और न सर्वथा कठोर ही। उसमें दोनों गुण कुछ ऐसी शिथिलता के साथ रहते हैं कि न तो वे सर्वथा छूट ही जाते हैं और न सर्वथा गृहीत ही होते हैं। वह आवश्यकतानुसार मधुर और सुकुमार भी होती है और आवश्यकतानुसार प्रगाढ़ और ओजस्वी भी।[1] गुणों का यह स्वभाव ही है कि वे सर्वथा पृथक् रूप में ही नहीं रहते, उनका मिश्रण भी होता ही है, एक फूल सर्वथा श्वेत और एक सर्वथा लाल होता है तो एक ऐसा भी होता ही है कि जिसमें दोनों का मिश्रण देखा जाता है, जिसे हम गुलाबी कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य गौरवर्ण भी होते हैं और श्याम वर्ण भी, परन्तु ऐसे भी अनेक होते हैं जिन में गौर और श्याम दोनों का मिश्रण होता है। उसे ही गेहुँवा रङ्ग कहा जाता है। इस दृष्टि से पाञ्चाली रीति की मान्यता स्वाभाविक ही है। इस प्रकार वामन के समय तक संस्कृत साहित्य में वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली नाम की तीन रीतियाँ प्रतिष्ठित हो गई जो उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा मान्य होकर आज तक अपने उसी रूप में प्रतिष्ठित हैं।

ऊपर जिन तीन रीतियों का उल्लेख हुआ है, उनके नाम और रूप का निर्धारण भौगोलिक आधार पर हुआ है, यह बात उनके दैशिक नामों से ही सिद्ध है।

---

1. आश्लिष्टश्लथभावां तां पूरणच्छाययाश्रिताम्।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः॥ —(वामन/1/2)

आगे चलकर ऐसा भी समय आया जब रीतियों का भौगोलिक महत्व जाता रहा और वे वर्ण्य विषय के आधार पर काव्य में निविष्ट की जाने लगीं। जो रीतियाँ विदर्भ, गौड़ और पाञ्चाल देश के कवियों द्वारा समादृत काव्य व्यवहार की वस्तु थी, वे अब रस और विषयानुसार काव्य व्यवहार में रूढ़ हो गईं। रीतियों को इस प्रकार भौगोलिक सीमा से बाहर निकालकर उन्हें विषयानुसार रूप देने का श्रेय आचार्य रुद्रट को जाता है। रुद्रट ने ही रसौचित्य के अनुसार रीतियों के आश्रयण की बात सर्वप्रथम साहित्य संसार में चलाई। इनके पश्चात् संस्कृत के सभी आचार्यों ने रस विशेष के साथ रीति विशेष के स्थायी सम्बन्ध को स्वीकार कर रीतियों का विवेचन किया। आचार्य रुद्रट ने वामन द्वारा निर्दिष्ट पूर्वोक्त तीनों रीतियों का विवेचन इसी विषयौचित्य के अनुसार अपने "काव्यालङ्कार" में किया है। उन्होंने वामन की मिश्रण प्रक्रिया से प्रेरित होकर लाटीया नाम की एक चतुर्थ रीति का आविष्कार किया जो पाञ्चाली और गौड़ी का मिश्रित रूप है। वामन ने जैसे वैदर्भी और गौड़ी के मिश्रित रूप की खोज की वैसे ही रुद्रट ने पाञ्चाली और गौड़ी का भी मिश्रित रूप खोज निकाला और उसे लाटीया नाम दिया जिसे विश्वनाथ आदि आचार्यों ने "लाटी" नाम से निर्दिष्ट किया है। रुद्रट ने रीतियों का विभाजन पदों की समस्तता और असमस्तता के आधार पर किया। उन्होंने समास को रीतियों का नियामक हेतु माना। उनके अनुसार जिस रचना में समास का अभाव होता है। उसे वैदर्भी रीति और जिसमें दीर्घ समास का आश्रयण किया जाता है। उसे गौड़ी रीति कहते हैं। समास भी दो प्रकार के होते हैं—

(1) लघु समास,

(2) मध्यम समास।

लघु समास वाली पद रचना पाञ्चाली रीति और माध्यम समास वाली रचना लाटीया कही जाती है।[1] दो या तीन-पदों के समास को लघु समास तथा पाँच सात पदों के समास को मध्यम समास समझा जाता है।[2] रुद्रट की दृष्टि में वैदर्भी और पाञ्चाली रीतियाँ माधुर्य तथा सुकुमारता की व्यञ्जिका हैं, अत: उनका उपयोग श्रृंगार, करुण, अद्भुत आदि कोमल रसों में किया जाना चाहिए।[3] ओज गुण और गाढ़बन्धता के कारण लाटीया तथा गौड़ीया रीतियों का समावेश रौद्र आदि

---

1. वृत्तेरसमासाया वैदर्भीरीतिरेकैव। —(रुद्रट 1/6)

2. द्वित्रिपदा पाञ्चाली, लाटीया पञ्चसप्त वा यावत्।
शब्दा: समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौड़ीया॥ —(वही 2/5)

3. इह वैदर्भी रीति: पाञ्चाली वा विचार्य रचनीया।
मधुराललिते कविना कार्ये वृत्ती तु श्रृङ्गारे॥ —(वही 14/37)

रसों में किया जाना चाहिये ।[1] शेष रसों में रीति का कोई नियम नहीं है ।

रुद्रट के पश्चात् राजशेखर ने रीतियों के सम्बन्ध में बहुत विस्तृत और उपयोगी विचार उपस्थित किया है, जिसे हम विस्तार के साथ अन्त में उपन्यस्त करेंगे । राजशेखर का रीति सम्बन्धी विवेचन विस्तृत होने के साथ-साथ भरत की प्रवृत्ति और वृत्तियों के साथ रीतियों के सूक्ष्म सम्वन्ध का भी बारीकी से विश्लेषण करता है । अत: उसे हम वृत्ति सम्बन्धी विचार से पूर्व ही विवेचित करना ठीक समझते हैं । इससे रीतियों के साथ-साथ वृत्तियों के स्वरूप को समझने में सरलता होगी ।

राजशेखर ने यद्यपि मागधी और मैथिली रीतियों का भी अपने अन्य ग्रन्थों में नामोल्लेख किया है परन्तु अपने मुख्य लक्षण ग्रन्थ काव्य-मीमांसा में ये—वैदर्भी, पाञ्चाली, गौड़ी—इन तीनों रीतियों को ही स्वीकृति प्रदान करते दिखाई देते हैं ।

आगे चलकर भोजराज ने राजशेखर से प्रेरित होकर रीतियों की पूर्वोक्त संख्या में दो नाम और जोड़ दिये । रुद्रट तक चली आती वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली और लाटी इन चार रीतियों में आवन्ती और मागधी नामक दो रीतियों को मिलाकर भोजराज ने अपनी सरस्वती कण्ठाभरण में रीतियों की संख्या को छ: तक पहुँचा दिया परन्तु शृंगार प्रकाश में इन दो रीतियों का उल्लेख नहीं मिलता है । रीति के सम्बन्ध में सर्वाधिक मौलिक विचार हमें आचार्य कुन्तक के मिलते हैं । उन्होंने रीतियों का जो विवेचन किया है, वह सर्वाधिक युक्तियुक्त और बुद्धि ग्राह्य है । कुन्तक रीति के भौगोलिक स्वरूप का आदर नहीं करते । उनके विचार से रीति कवि के आन्तरिक गुणों तथा स्वभाव की ही बाह्य अभिव्यक्ति है, उसका देश विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं । यदि किसी देश विशेष के जलवायु में किसी विशिष्ट प्रकार की काव्य रचना के साधन उपलब्ध होते तो उस देश का प्रत्येक कवि उसी प्रकार की एक जैसी काव्य-रचना करने वाला होता । हम देखते हैं कि समास-बहुला गौड़ी रीति के आधारभूत गौड़ देश की भूमि में जन्म लेने वाले गीतगोविन्दकार जयदेव की कविता में कितनी सुकुमारता है और विदर्भ देश में उत्पन्न होने पर भी महाकवि भवभूति के युद्धवर्णनों में कितनी ओजस्विता है । अत: रीतियों का सम्बन्ध किसी देश विशेष से जोड़ना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता ।[2]

रीतियों में जो गुण व गुण की दृष्टि से उत्तम, मध्यम, अधम भाव स्थापित

---

1. वैदर्भी, गौड़ीया, पाञ्चाली चेति रीतियस्तिस्रः ।
आसु च साक्षान्निवसति सरस्वती, तेन लक्ष्यन्ते ॥ (का० मी० पृ० 31)

2. न च दाक्षिणात्यगीतविषयसुस्वरतादिध्वनिरामणीयकवत् तस्य स्वाभाविकत्वं वक्तुं शक्यते, तस्मिन् सति सर्वस्य तथाविधकाव्यकरणं स्यात् ।
—व० जी० पृ० 46

किया जाता है। वह भी कुन्तक के विचार से उचित नहीं है। यदि वैदर्भी रीति ही सर्वोत्तम काव्य मार्ग हो तो शास्त्रकारों द्वारा उसी का वर्णन और विवेचन किया जाना चाहिये था, गौड़ी जैसी अधम रीति के विवेचन की आवश्यकता ही क्या थी ? शास्त्र का उद्देश्य तो उत्तम तथा श्लाघनीय वस्तु का विवेचन ही होता है। यदि वैदर्भी ही काव्य की सर्वोत्तम और सर्वाधिक उपादेय रीति है, तब वीर, रौद्र आदि रसों के प्रसंग में भी क्या उसे ही ग्रहण किया जायेगा ? यदि नहीं तो युद्ध आदि ओजस्वी प्रसङ्गों के वर्णन क्या रीतिविहीन ही रहेंगे ? यदि ऐसे प्रसङ्गों के लिए गौड़ी रीति ही सर्वथा उपादेय है, तब वैदर्भी को ही सर्वोत्तम बताने का क्या अर्थ ? स्पष्ट है कि सभी रीतियाँ अपने-अपने अवसर पर उपादेय और उत्तम हैं। कहना होगा कि प्रत्येक कवि को चाहे वह विदर्भ का निवासी है या गौड़ देश का, उसे कोमल प्रसङ्गों पर कोमल मार्ग और कठोर प्रसङ्गों पर कठोर मार्ग ही अपनाना उत्तम हैं, इस दृष्टि से सभी काव्य मार्ग उत्तम हैं। किसी को भी मध्यम या अधम कहना उचित नहीं है।[1]

रीति के सम्बन्ध में कुन्तक का उक्त विचार सर्वथा मौलिक है यहपरम्परा पर आधारित न होकर उनके मौलिक चिन्तन पर आधारित है। कुन्तक मनुष्य जीवन में स्वभाव की महत्ता को स्वीकार करते हैं। "स्वभावो मूर्ध्नि वर्त्तते" इस लोकोक्ति के अनुसार स्वभाव ही मनुष्य का अपना रूप है। मनुष्य के उच्चावच व्यापारों में, उसके मानापमान में, उन्नति और अवनति में, सत्कार और तिरस्कार में स्वभाव ही प्रधान कारण होता है। सौम्य स्वभाव के कारण ही मनुष्य सबका सम्मानभाजन और प्रीतिपात्र बनता है, इसी प्रकार कठोर एवम् उग्र स्वभाव वाला मनुष्य सबकी विरक्ति का पात्र होता है। स्वभाव की यह प्रभावशालिता मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यापक है। काव्य-रचना में भी कवि का स्वभाव ही एकमात्र कारण है। कुन्तक के इस महनीय चिन्तन के अनुसार काव्य की रचना पर, उसके विभिन्न प्रकारों पर तथा शैली निर्धारण पर, कवि के काल या देश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, केवल कवि के स्वभाव के अनुसार ही उसकी रचना, रचना के प्रकार और रचना की शैलियाँ विकसित हुआ करती हैं। गौड़देश के निवासी जयदेव के द्वारा कोमल सुकुमार मार्ग अपनाये जाने में उनका स्वभाव ही नियामक है, देश नहीं। इसी प्रकार विदर्भ के निवासी भवभूति के ओजस्वी वर्णनों में उनका स्वभाव ही केवल हेतु है, विदर्भ की भूमि नहीं। कालिदासादि कवियों के द्वारा सुकुमार मार्ग के अवलम्बन में और बाणभट्ट द्वारा शब्दाडम्बरयुक्त विचित्र मार्ग

---

1. न च रीतीनाम् उत्तमाधममध्यमत्वेन त्रैविध्यं व्यवस्थापयितुं न्याय्यम् यस्मात् सहृदयाह्लादकारिकाव्यलक्षणप्रस्तावे वैदर्भी सदृशसौन्दर्यासम्भवात् मध्यमाधमयोरुपदेशवैयर्थ्यमायाति। परिहार्यत्वेनाप्युपदेशो न युक्तताम् आलम्बते, तैरेवानभ्युपगतत्वात्। —व० जी० पृ० 46

को अपनाने में भी उनके स्वभाव को ही कारण मानना चाहिये, देश विशेष को नहीं।

स्वभाव प्रधानतया तीन प्रकार के होते हैं—

1. सुकुमार,
2. विचित्र,
3. मध्यम।

यद्यपि कवि स्वभाव के रूप अनन्त है, और उनके सूक्ष्म अन्तर का वर्णन दुष्कर ही नहीं, असम्भव है। तथापि उक्त तीन प्रकार सर्वत्र मुख्य रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। सुकुमार स्वभाव वाले कवि की शक्ति भी तदनुसार सहजा अर्थात् सौकुमार्यसम्भृत ही होती है, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् में कोई भेद नहीं होता। उसकी व्युत्पत्ति भी उसी प्रकार सुकुमार और रमणीय होती है। सुकुमार शक्ति और सुकुमार व्युत्पत्ति के द्वारा वह सुकुमार स्वभाव वाला कवि सुकुमार मार्ग के अभ्यास में तत्पर हो जाता है।[1] इसी प्रकार विचित्र स्वभाव वाले कवि की शक्ति और व्युत्पत्ति भी विचित्र होती है जो उसे विचित्र प्रकार की रचना में प्रवृत्त करती है। यही बात मध्यम मार्ग के कवि के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये।[2]

1. सुकुमारमार्ग—आचार्य कुन्तक ने बड़े सरल शब्दों में विस्तार के साथ सुकुमार मार्ग के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार सुकुमार काव्य नवनवोन्मेषों वाली प्रतिभा से उद्भूत नव-नव शब्द और अर्थों की उद्भावना से भरपूर होता है। उसमें अनायास ही उपस्थित होने वाले मनोहारी अलङ्कारों का निवेश होता है। उसमें भाव और स्वभाव की प्रधानता रहती है, बलात् कृत्रिम सौन्दर्य उत्पन्न करने की चेष्टा उसमें नहीं होती। रस और भाव के मर्मज्ञ रसिक जनों के मन को मोहित करने वाले स्वाभाविक गुणों से सर्वाङ्ग सुन्दर जिस मार्ग में अवयवों की रमणीयता पृथक् रूप से विभावित नहीं होती, जो विधाता के उस चातुरी युक्त निर्माण के समान होता है—जिसका अतिशय असीम अवर्णनीय है। जिसमें प्रत्येक प्रकार का वैचित्र्य प्रतिभाप्रसूत हुआ करता है और जिसके प्रत्येक

---

1. कविस्वभावभेद निबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थानभेदः समञ्जसतां गाहते। सुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्तिः समुद्भवति, शक्ति-शक्तिमतोरभेदात्। तथा तथाविधसौकुमार्यरमणीयां व्युत्पत्तिमाबध्नाति। ताभ्याञ्च सुकुमारवर्त्मना अभ्यासतत्परः क्रियते।
—व० जी० पृ० 46

2. तथैव चैतस्माद् विचित्रः स्वभावो यस्य कवेस्तद्विदाह्लादकारिकाव्य-लक्षणकरण प्रस्तावात् सौकुमार्यव्यतिरेकिणा वैचित्र्येण रमणीय एव, तस्य च काचिद् विचित्रैव तदनुरूपा शक्तिः समुल्लसति। —वही

अंश से सुकुमारता टपकती दिखाई देती है, वह काव्यमार्ग सुकुमार मार्ग कहा जाता है। बाल्मीकि और कालिदास आदि सत्कवि इसी मार्ग के पथिक हैं।[1]

2. विचित्र मार्ग—अलङ्कारप्रधान मार्ग को विचित्र मार्ग कहा जाता है। "वैचित्र्यम् अलङ्कारः" अर्थात् विचित्रता का ही नाम अलङ्कार है। अतः अलङ्कार प्रधान काव्य मार्ग को विचित्र मार्ग कहना ठीक ही है। विचित्र मार्ग में अलङ्कारों की इतनी बहुलता रहती है कि एक के बाद एक अलङ्कार अपनी झनकार दिखाने के लिये आ उपस्थित होता है। आलङ्कारिक कवि एक के बाद दूसरे अलङ्कार का निबन्धन करते हुए सन्तुष्ट ही नहीं होते।[2] इसमें नूतन अर्थ यद्यपि किञ्चित् भी नहीं होता तथापि उक्ति का वैचित्र्य ही अर्थ को लोकोत्तरता प्रदान करता दिखाई देता है।[3] अतिशयोक्ति का विलास इस मार्ग की प्रमुख विशेषता है। यह मार्ग रामायण में वर्णित उस विचित्र विमान की भाँति है, जिसकी प्रत्येक वस्तु वैचित्र्य से भरी है। पुष्पक विमान का वर्णन करते हुए बालमीकि ने कहा है—

न तत्र किञ्चिन्न कृतं प्रयत्नतो
न तत्र किञ्चिन्न महार्घरत्नवत्।
न तेविशेषा नियताः सुरेष्वपि
न तत्र किञ्चिन्न महाविशेषवत्॥ (रामा० सु० का० 8/3)

अर्थात् "पुष्पक विमान में ऐसी कोई वस्तु नहीं थी, जिसका निवेश प्रयत्न-पूर्वक न किया गया हो। ऐसी एक भी वस्तु उसमें नहीं थी जो वेश कीमती आभूषणों से जटित न हो। उसमें सब वे विशेषतायें थीं, जो देवताओं के यहाँ भी नियतरूप से प्राप्त नहीं होती। उसमें कुछ भी ऐसा नहीं था, जो वैचित्र्य से परि-पूर्ण न हो।"

विचित्र मार्ग इस पुष्पक विमान की ही भाँति होता है।

3. मध्यम मार्ग—यह नाम ही मध्यम मार्ग के स्वरूप को जानने के लिये पर्याप्त है। मध्यम शब्द से ही हम यह समझ लेते हैं कि यह पूर्वोक्त—सुकुमार और विचित्र इन दोनों मार्गों के मध्य का मार्ग है। तात्पर्य यह है कि जिस मार्ग में "सुकुमार और विचित्र" दोनों मार्गों की विशेषतायें एकत्र निवास करती हैं अर्थात् सुकुमारता के साथ-साथ आलङ्कारिक चाकचिक्य भी उत्कृष्ट रूप में रहता हुआ चमत्कार का कारण होता है और आलङ्कारिक चमत्कार के साथ-साथ रस, भाव,

---

1. वक्रोक्ति जीवित अ० 1/का० 25 से 29 तक
2. अलङ्कारस्य कवयो यत्रालङ्करणान्तरम्। असन्तुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत्। —अ० 1 (क० 25 से 29 तक)
3. यद्यप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम्। उक्तिवैचित्र्यमात्रेण काष्ठां कामपि नीयते —वही 1/38

अर्थ और शब्द की नितान्त हृदयहारी स्थिति भी जिसमें विद्यमान रहती है, अथवा यों कहें कि सरसता के साथ अलङ्करिष्णुता और अलङ्करिष्णुता के साथ सरसता जहाँ अपने पूर्ण परिवेश में विद्यमान रहती है, वह काव्य का मध्यम मार्ग कहाता है।

यह भी कवि स्वभाव पर ही निर्भर है। कुछ कवि ऐसे देखे जाते हैं जो न तो केवल स्वाभाविकता से ही तृप्त होते हैं, और न निरी आलङ्कारिक छटा से ही सन्तुष्ट होते हैं, दोनों की सन्तुलित स्थिति ही जिनकी दृष्टि में काव्य की अनिवार्य विशेषता है, ऐसे सहृदय कलाविदों का सरस और चमत्कारी मार्ग ही मध्यम मार्ग कहा जाता है। कुन्तक ने इस मार्ग के कवियों का परिचय कराते हुए मातृगुप्त, मायूरराज और मञ्जीर का नामोल्लेख किया है। परन्तु उनके काव्य ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। क्या ही अच्छा होता यदि मध्यम मार्ग के इन कवियों के ग्रन्थों से हमें इस मार्ग के मनोरम रूप का दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त होता। हमारी सम्मति में काश्मीरी कवि बिल्हण का विक्रमाङ्कदेवचरित इस मार्ग का सुन्दर उदाहरण है।

इस प्रकार आचार्य कुन्तक ने कवि स्वभाव को आधार मानकर सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्गों का जो विवेचन किया है, वह उनके सर्वथा मौलिक चिन्तन का परिचायक है, परन्तु उनका यह मौलिक-विचार संस्कृत-साहित्य के समीक्षा क्षेत्र में प्रतिष्ठा प्राप्त न कर सका जबकि रीतिवाद और रीति सम्बन्धी विचार अन्त तक विवेचन एवं ऊहापोह का विषय बन दृष्टिगोचर होता है। मम्मट और विश्वनाथ जैसे ध्वनिवादी विचारकों ने भी कुन्तक के स्वाभाविक विवेचन की उपेक्षा कर रीतिवाद का ही अनुगमन किया है। इसका कारण रीतिवादी वामन द्वारा रीति को अत्यधिक महत्वर्ण काव्यतत्व के रूप में स्वीकृत करना ही प्रतीत होता है। वामन ने "रीति-रात्मा काव्यस्य" कहकर जो रीति को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया, इससे रीति काव्य की आत्मा के रूप में भले ही प्रतिष्ठा न पा सकी, तथापि वह काव्य के महनीय तत्व के रूप में अवश्य स्वीकृत हो गई। रीति के आत्मत्व का ध्वनिवादियों द्वारा खण्डन किया जाना ध्वनि की प्रतिष्ठा के लिये एक अनिवार्य आवश्यकता थी। यही कारण है कि संस्कृत-समीक्षा-शास्त्रियों ने रीति का संरम्भपूर्वक खण्डन करके भी रीति के स्वरूप को इतना प्रचारित कर दिया कि उसके समक्ष कुन्तक की मौलिक खोज अनवधान की वस्तु बन गई। रीति और मार्ग में अर्थगत भेद कुछ था भी नहीं।

रीति का लक्षण

रीति-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा में एक हेतु और भी है, वह है रीति का शास्त्रीय शैली से किया गया लक्षण। मार्ग या रीति का लक्षण न तो भामह ने दिया था और न दण्डी ने। वामन ने ही सर्वप्रथम रीति को शास्त्रीय शैली से लक्षित एवं

परिभाषित किया। वामन द्वारा निश्चित लक्षण प्राप्त करके रीति एक शास्त्रीय तत्व के रूप में प्रतिष्ठा पाने में समर्थ हो गई, जबकि मार्ग केवल एक संज्ञा ही बनकर रह गया।

वामन ने जो रीति का लक्षण किया वह है–"विशिष्टा पदरचना रीति:"[1] इसके अनुसार पदों की रचना—जोकि गुणों की विशेषता से युक्त होती है, रीति कहलाती है। आनन्दवर्धन ने इसे संघटना कहा है, जो वामन की विशिष्ट पद रचना का ही संक्षिप्त रूप है। आनन्द के अनुयायी विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में रीति का लक्षण करते हुए आनन्द के संघटना शब्द को रचना का पर्याय मानकर उसके साथ वामन के द्वारा उद्दिष्ट पद रचना के आद्य अवयव को रखकर पद सङ्घटना को रीति कहा है। विश्वनाथ का रीति लक्षण जहाँ रीति के स्वरूप को निर्दिष्ट करताहै, वहीं उसके स्थान और कार्य का भी निर्धारण करता है। वे "पदसंघटना रीति:" कहकर पदों की सम्यक् घटना अर्थात् रचना को रीति लक्षित करते हैं, और "अङ्ग संस्था विशेषवत्" कहकर उसका स्थान काव्यशरीर के अन्तर्गत अङ्गों की सुन्दर स्थिति के समान—न कि आत्मा के समान-निरूपित करते हैं, और "उपकर्त्रीरसादीनां" कहकर रीति के कार्य का भी निर्धारण स्पष्ट रूप से कर देते हैं। इस प्रकार स्वरूप, स्थान और कार्य का निर्धारक विश्वनाथकृत रीतिलक्षण बहुत ही परिपूर्ण और समर्थ लक्षण है।

"पदसंघटनारीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् । उपकर्त्री रसादीनाम्"[2] विश्वनाथ का यह लक्षण अपने उपजीव्य आचार्य आनन्दवर्धन के संघटना सूत्र का ही भाष्य रूप है। आनन्दवर्धन ने संघटना को—

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्, व्यनक्ति सा रसान्"[3] इन शब्दों में माधुर्यादिगुणों का आश्रय लेकर खड़ी होने वाली तथा रसों को व्यक्त करने वाली कहा था विश्वनाथ ने संघटना (रीति) के इस आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित स्वरूप का इतने संरम्भ से समर्थन और पोषण किया कि वामन का रीत्यात्मवाद सदा सर्वदा के लिए उपेक्षित हो गया। परन्तु आनन्दवर्धन ने गुणों का आश्रय देकर रीति को इस प्रकार खड़ा कर दिया कि संस्कृत साहित्य में रीति एक मान्य तत्व के रूप में प्रतिष्ठित हो गई।

रीति और गुणों का सम्बन्ध

वामन के रीति लक्षण में रीति और गुणों का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट नहीं था। उन्होंने पहले तो "विशिष्टा पद रचना" कहकर रीति को लक्षित किया। पीछे

---

1. वामन का काव्यालं० 1/2/7

2, सा० द० 9/1

3. ध्वन्या. 3/6

"विशेषो गुणात्मा" कहकर विशेष को सङ्केतित किया। इससे गुणों और रीतियों के सम्बन्ध में आश्रयाश्रयी भाव की प्रतीति तो हुई, परन्तु रीति गुणों का आश्रय है या गुण रीति का आश्रय यह स्पष्ट नहीं हुआ। आन्दवर्धन ने रीति को "गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती" कहकर गुणों को रीति का आश्रय स्पष्ट सिद्ध कर दिया। आनन्दवर्धन ने गुणों और रीतियों का सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए तीन पक्ष उपस्थित किए हैं—

1. संघटन और गुणों का समान आश्रय,
2. संघटनाश्रित गुण।
3. गुणाश्रित संघटना।

इनमें प्रारम्भिक दो पक्षों को स्वीकार करने पर गुणों की स्थिति संघटना के समान अनिश्चित ही रह जाती है, क्योंकि संघटना की स्थिति निश्चित या नियमित नहीं है, जबकि गुणों की स्थिति निश्चित और नियमित है। माधुर्य और प्रसाद गुण का प्रकर्ष करुण और विप्रलम्भ शृंगार में नियत है, इसी प्रकार ओज गुण वीर, रौद्र, अद्भुत आदि रसों में ही प्रकर्षवान् होता है। संघटना में यह नियम नहीं। शृंगार में भी दीर्घसमासवाली और रौद्र आदि रसों में भी समास रहित संघटना हो सकती है। उदाहरण के लिए निम्न पद्य देखिये—

अनवरत-नयन-जल-लव-निपतन-परिमुषित-पत्रलेखान्तम्।
करतलनिषण्णम् अबले, वदनमिदं कं न तापयति॥

इस पद्य में विरहविधुरा नायिका की विप्रलब्धा दशा का वर्णन है। सखी नायिका से कह रही है—"हे अबले, तुम्हारा यह मुख-जिस पर बनाई गई पत्राकार रचना निरन्तर अश्रुकणों के गिरने से धुल गई है और जिसे तुम हथेली पर टिकाये हुए हो—किसे सन्तप्त नहीं करता" विप्रलम्भ शृंगार की व्यञ्जक इस रचना में दीर्घ समास होने पर भी शृंगार का अपहार नहीं हुआ है। इसी प्रकार भट्टनारायण रचित वेणी-संहार के निम्न पद्य में रौद्र रस की स्पष्ट स्थिति होने पर भी समासाढ्य रचना नहीं दिखाई देती। देखिये—

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो य स्तत्कर्मसाक्षी, चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्।[1]

उक्त पद्य अवत्थामा के क्रोध की पराकाष्ठा को व्यक्त करने के कारण रौद्र रस का उत्कृष्ट उदाहरण है, परन्तु रचना में कहीं भी दीर्घ समास का दर्शन नहीं होता।

1. वेणी, 3/32

पूर्व पद्य में दीर्घ समास वाली रचना होने पर भी माधुर्य और प्रसाद तथा द्वितीय पद्य में समासाभाव होने पर भी ओज गुण की स्थिति अक्षुण्ण है। इससे स्पष्ट प्रमाणित है कि गुण रचना के आश्रित नहीं वरन् रचना ही गुणों के आश्रित रहती है। प्रकृत उदाहरणों से यह भी सुतराम् स्पष्ट है कि गुण ही रस के नियत धर्म हैं रचना नहीं। रचना तो गुणानुसारिणी होने पर ही रस की व्यञ्जना में सहायक होती है, स्वतः नहीं। सारांशतः रचना गुणों के आश्रित रहती है, गुण रचना के आश्रित नहीं रहते। साथ ही गुण ही रस के नियत धर्म हैं, वे ही रस की स्थिति के नियामक हैं, रचना का रस की स्थिति में नियामक प्रभाव नहीं पड़ता। दीर्घ समासा रचना होने पर भी माधुर्य होने पर शृंगार रस व्यक्त होता ही है और असमासा रचना होने पर भी यदि ओज गुण है तो रौद्रादि रस रहते ही हैं, यह बात हम ऊपर के उदाहरणों में स्पष्ट देख चुके हैं। इस प्रकार रीति रसादि की उपकर्त्री ही है, कर्त्री नहीं है। अतः विश्वनाथ ने ठीक ही रीति को रसादि की उपकर्त्री कहा है।

रीति और मम्मट

आनन्दवर्धन का "गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती रसान् व्यनक्ति" यह कथन संघटना की स्वतन्त्र स्थिति को स्वीकार नहीं करता। संघटना गुणों के आश्रित रहकर ही रसों को व्यक्त करती है, स्वतन्त्र रूप से नहीं। उसमें कोई विशेषता है तो वह गुणाधान है। पदों की रचना तो कवि का सामान्य कर्त्तव्य है। वही काव्य का शरीर है। यह शरीर यदि रस के सहित है तो वह काव्य कहलायेगा अन्यथा निर्जीव भ्रूण मात्र की तरह उपेक्षणीय होगा। रस के नियामक माधुर्यादि गुण ही हैं। उनके रहते रचना मधुर या ओजस्वी होकर ही सजीव सरस काव्य कहलाने की अधिकारिणी है, अन्यथा नहीं। यही कारण है कि वाग्देवतावतार मम्मट ने रीतियों को कोई महत्व प्रदान नहीं किया। उन्होंने काव्य-प्रकाश में गुणों का तो विस्तार से वर्णन किया परन्तु रीतियों की केवल वृत्यनुप्रयास नामक शब्दालङ्कार के प्रसंग में चर्चा की है, वह भी वामनादि के मत के रूप में।[1] वृत्यनुप्रास अलंकार के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मम्मट ने माधुर्यव्यञ्जक वर्णों वाली रचना को उपनागरिका[2] और ओज के प्रकाश वर्णों वाली रचना को परुषा[3] तथा शेष वर्णों वाली रचना को कोमला[4] वृत्ति अवश्य कहा है परन्तु उन्हें गुणों से भिन्न स्वतन्त्र तत्व निरूपित नहीं किया है। यह इस बात से स्पष्ट है कि उन्होंने जो उपनागरिका और परुषा

1. केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः।
—(का० प्र० 9/111 सूत्र)

2. माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते। —(वही सूत्र 108)

3. ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा। —(वही सूत्र 109)

4. कोमला परैः। —(वही, सूत्र 110)

वृत्ति निर्दिष्ट की हैं। उनका स्वतन्त्र उदाहरण न देकर पूर्वोक्त माधुर्य गुण के उदाहरण को ही उपनागरिका का तथा ओज गुण के उदाहरण को ही परुषा का उदाहरण निर्दिष्ट कर दिया है। इससे यही स्पष्ट होता है कि मम्मट गुणों के अतिरिक्त वृत्तियों के स्वरूप की कल्पना नहीं करते। यदि करते तो वे अवश्य वृत्ति का उसी प्रकार लक्षण करते जिस प्रकार वामनादि रीतिवादियों ने किया है। मम्मट ने वृत्यनुप्रास को स्पष्ट करने के लिए उसके आद्य अवयव वृत्ति शब्द को स्पष्ट करते हुए जो "वृत्तिर्नितयवर्णगतो रस-विषयो व्यापारः" कहा है, वह अपने "छेकवृत्तिगतो द्विधा, 9/105" सूत्र का विवरण मात्र है, जो वृत्तिकार मम्मट द्वारा किया गया है, लक्षणकार के नाते मम्मट के द्वारा वृत्ति या रीति का न तो कोई लक्षण किया गया है, न ही उसके भेद आदि का निरूपण किया गया है। निश्चय ही मम्मट वृत्ति या रीति को स्वतन्त्र काव्य तत्व स्वीकार नहीं करते। इसीलिये उन्होंने दोष, गुण और अलंकारों के लिए तो काव्य प्रकाश में स्वतन्त्र अध्यायों (उल्लासों) की रचना की परन्तु रीतियों के लिए नहीं। सप्तम उल्लास में दोषों और अष्टम उल्लास में गुणों का सविस्तार निरूपण करने के पश्चात् नवम उल्लास में वे अलंकारों का निरूपण करने में प्रवृत्त हो गये हैं। रीतियों कों उन्होंने कोई स्थान नहीं दिया है। यदि उन्हें वृत्तियों का निरूपण भी आवश्यक दिखाई देता तो वे दशम उल्लास को ही अलंकारों के लिए सुरक्षित रखकर नवम में उसी प्रकार रीतियों का निदर्शन कर सकते थे जिस प्रकार विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में किया है।

मम्मट ने उपनागरिका, परुषा, कोमला वृत्तियों का जो गुणात्मक लक्षण किया है, और उन्हें ही मतान्तर से वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली रीति भी कहा है, इस रूप में उनके द्वारा रीतियों का उल्लेख ही रीति सम्बन्धी विवेचन समझा जा सकता है।

राजशेखर की रीतियाँ

राजशेखर के रीति सम्बन्धी विचार बहुत ही मार्मिक हैं। संस्कृत के अधिकतर समीक्षक प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति के विषय में स्पष्ट नहीं हैं, परन्तु राजशेखर ने इन तीनों के स्वरूप को स्पष्ट निर्धारित करते हुए, इनके पारस्परिक सम्बन्ध की घनिष्ठता को भली भाँति दिखलाया है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा नामक अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में काव्य को एक सजीव पुरुष तथा साहित्यविद्या को सजीव स्त्री के रूप में चित्रित करने वाली एक विचित्र कथा कल्पित कर काव्य-पुरुष और साहित्यविद्यावधू को देश के चार भागों में घुमाया है और उन उन भागों में दोनों के चरित की स्तुति मुनिजनों के मुँह से कराई है। उनके अनुसार काव्य पुरुष तथा साहित्यविद्यावधू ने पूर्व देश में जाने पर जो वेष धारण किया, उसी का

वहाँ के निवासी स्त्री पुरुषों ने अनुकरण किया। वेष-विन्यास का यह क्रम प्रवृत्ति कहलाया और इस पूर्व देश की प्रवृत्ति का नाम "औड्रमागधी" हुआ। पूर्व देश में काव्यपुरुष और साहित्यविद्या ने जो नृत्य, वाद्य आदि विलास किया वह भरतों (नटों) के तुल्य होने के कारण भारती वृत्ति के नामसे अभिहित हुआ। साहित्यविद्या ने वहाँ (पूर्व देश में) जो समासप्रधान एवम् अनुप्रास बहुल वचन परिपाटी अपनायी वह गौड़ी या रीति के नाम से मुनियों द्वारा अभिहित हुई। इसी प्रकार पाञ्चालदेश में पहुँचकर दोनों ने जो वेश विन्यास धारण किया वह पाञ्चालमध्यमा प्रवृत्ति तथा जो नृत्य, गीत, वाद्य किया वह सात्वती या आरभटी वृत्ति और जो अल्पसमास तथा अल्प अनुप्रास एवम् लक्षणाप्रधान वचन परिपाटी अपनायी वह पाञ्चाली रीति कही गई। तदनन्तर वे दोनों अवन्ती (मालवा) देश पहुँचे। वहाँ जो वेश विन्यास दोनों ने प्रकट किया वह आवन्ती प्रवृत्ति के नाम से मुनियों द्वारा अभिहित हुआ। यह प्रवृत्ति पाञ्चालमध्यमा तथा दाक्षिणात्या के बीच की थी, अतः वहाँ सात्वती और कैशिकी वृत्तियों की सत्ता देखी जाती है। साहित्यविद्या ने यहाँ किस प्रकार का वचन-विन्यास प्रकट किया यह बात राजशेखर ने नहीं बतलाई, अतएव आवन्ती देश की रीति का भी उन्होंने उल्लेख नहीं किया। लगता है यहाँ की रीति भी पाञ्चाली से भिन्न नहीं थी। अतः उसका पृथक् नामकरण मुनियों द्वारा नहीं किया गया। इसके पश्चात् वे दोनों दक्षिण दिशा में गये। वहाँ का वेष विन्यास दाक्षिणात्या प्रवृत्ति और वहाँ जो नृत्य गीतादिविलास साहित्यविद्या ने किया, वह कैशिकी वृत्ति कहलाई। यहाँ साहित्यविद्या ने जो यथोचित अनुप्रास और समासरहित मोहक वचन परिपाटी अपनाई, वह वैदर्भी रीति कहलायी।

इस प्रकार राजशेखर ने प्रवृत्ति और वृत्तियाँ तो चार-चार परन्तु रीतियाँ तीन (गौड़ी, पाञ्चाली, वैदर्भी) ही निर्दिष्ट की है। पता नहीं आचार्य रुद्रट द्वारा निर्दिष्ट लाटीया को उन्होंने क्यों छोड़ दिया। इसका कारण पाञ्चाली और लाटी में कोई तात्विक भेद न होना ही हो सकता है।

राजशेखर द्वारा कल्पित सारस्वतेय काव्य-पुरुष और साहित्यविद्यावधू की इस यात्रा के इतिहास से यह स्पष्ट हो गया है कि **वेष-विन्यास के क्रम को प्रवृत्ति तथा विलास-विन्यास के क्रम को वृत्ति एवं वचन-विन्यास के क्रम को रीति समझना चाहिए।**[1] राजशेखर ने पूर्वोक्त तीन रीतियाँ स्वीकार की हैं, परन्तु वे रुद्रट के समान सभी रीतियों को एक सा महत्व नहीं देते। राजशेखर ने—कहते हैं—रीति विषयक कोई "रीतिनिर्णय" नामक ग्रन्थ भी लिखा था, परन्तु वह अप्राप्त ही है। उनके नाटकों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे वैदर्भी रीति को ही

1. वेषविन्यास क्रमः प्रवृत्तिः। विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः, वचनविन्यासक्रमो रीतिः। —(का० मी० अ० 3, पृ० 25)

काव्य की सर्वोत्तम रीति मानते हैं। बाल-रामायण नाटक के तृतीय अङ्क में राजशेखर ने दो बार वैदर्भी की प्रशंसा की है। वे कहते हैं कि वैदर्भी कानों को चाटने योग्य माधुर्य गुण को घुमाने वाली वाग्वृत्ति है।[1] इसी अङ्क के अन्त में उन्होंने विदर्भ की राजधानी कुण्डिन नगर की प्रशंसा करते हुए उसे रस की प्रसूति वाग्देवता का निवास कहा है।[2] इसी के दशम अङ्क में उन्होंने विदर्भ देश को सरस काव्य की जन्मभूमि कहा है। यहाँ का काव्य मधुर, प्रसादि और रसवत् तथा इक्षुरस से भी अधिक स्वादिष्ट है।[3] इससे राजशेखर का वैदर्भी के प्रति नितान्त आकर्षण प्रतीत होता है, अतः सिद्ध है कि वे वैदर्भी रीति के हो पक्षपाती थे।

रीति और क्षेमेन्द्र

आचार्य क्षेमेन्द्र बड़े ग्रन्थकार थे। वे चालीस के लगभग ग्रन्थों के रचयिता माने जाते हैं परन्तु उनके सत्रह ग्रन्थ ही प्रकाश में आये हैं। शेष या तो अनुपलब्ध हैं या अप्रकाशित हैं। इनमें तीन ग्रन्थ हो ऐसे हैं जो लक्षण ग्रन्थ अथवा शास्त्रीय ग्रन्थ कहे जाते हैं। इन तीनों शास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर ही क्षेमेन्द्र संस्कृत के अन्यतम आचार्य माने जाते हैं। यह बात सभी जानते हैं कि काव्य-विषयक शास्त्रीय-ग्रन्थों में जो भी रस, गुण, अलङ्कार आदि का विचार किया गया है तथा उनमें जो भी निर्देशक सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, वे सब कविशिक्षा के लिये ही हैं। क्षेमेन्द्र के तीन शास्त्रीय ग्रन्थ कवि शिक्षा-परक ही हैं। "औचित्यविचारचर्चा" में क्षेमेन्द्र ने 27 औचित्य स्थान गिनाकर सर्वत्र औचित्य के निर्वाह की कवियों के शिक्षा प्रदान की है। इनका "कविकण्ठाभरण" तो मुख्य रूप से कवि शिक्षा का प्रयोजन के लिये ही है, इसीलिये इसका नाम इन्होंने कविकण्ठाभरण रक्खा है, स्पष्ट ही वे चाहते हैं कि कविगण इसमें निर्दिष्ट सिद्धान्तों को अपने कण्ठ का आभरण बनायें। ग्रन्थ के अन्त में इन्होंने अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा भी है कि "इस ग्रन्थ की प्रथम सन्धि में वर्णित दैवी उपाय (क्रियामातृका का जप) तथा अन्य सन्धियों में वर्णित मानवीय उपायों द्वारा क्षेमेन्द्र को जो सारस्वत सिद्धि प्राप्त हुई है, वह सभी

---

1. वाग्वैदर्भी स्यन्दते मधुरिमगुणं स्यन्दते श्रोत्रलह्यम्

(बाल-रामा० 3/14)

2. वाग्देवता वसति यत्र रसप्रसूतिर्लीलापदं भगवतो मदनस्य यच्च। प्रेङ्खद विदग्धवनिताञ्चितराजमार्गं तत् कुण्डिनं नगरमेष विभुर्विभर्ति।

—(वही 3/50)

3. स्वादिष्ठं च यदैक्षवादपि रसात्...तद्यस्मिन् मधुरं प्रसादि रसवत् कान्तं च काव्यामृतम् सोऽयं सुभ्रु पुरो विदर्भविषयः सरस्वतीजन्मभूः ।।

—(वही 10/74)

काव्यार्थियों को प्राप्त हो और वह सत्पुरुषों द्वारा प्रमाणितकृत हो ।[1] क्षेमेन्द्र का "सुवृत्ततिलक" नामक ग्रन्थ भी कवि शिक्षापरक ही है । इसमें उन्होंने वृत्तिविनियोग का मार्ग कवियों को दिखाया है और यह आशा की कि इस मार्ग के अनुसार ही कविगण छन्दों का प्रयोग करेंगे ।

यह सब होने पर भी क्षेमेन्द्र ने रीतियों के विषय में कोई भी निर्देशक सिद्धान्त अपने किसी भी ग्रन्थ में प्रदर्शित नहीं किया है । यद्यपि उन्होंने अपने कवि शिक्षा विषयक तीनों पूर्वोक्त ग्रन्थों में जो कुछ कहा है वह काव्यमार्ग को प्रशस्त करने के उद्देश्य से ही कहा है । मार्ग और रीति शब्द समानार्थक ही है, सुवृत्ततिलक के अन्त में उनका यह कथन—

तस्माद्यथायं विनियोगमार्गः प्रदर्शितो वृत्तनिवेशनेषु ।
तथैव कार्यः कविभिः कृतज्ञैः......................[2]

स्पष्ट प्रमाणित करता है कि उनका "सुवृत्ततिलक" छन्दोविषयक मार्ग का निर्देशक है । मार्ग निर्देश एक ही वस्तु है । इसी प्रकार "औचित्यविचारचर्चा" में औचित्य का समग्र विवेचन करने के पश्चात् उन्होंने कहा है—

"अन्येषु काव्याङ्गेष्वनयैव दिशास्वयमौचित्यमुत्प्रेक्षणीयम्"[3]

अर्थात् अन्य काव्याङ्गों में भी इसी दिशा के अनुसार औचित्य का उत्प्रेक्षण करना चाहिए । जहाँ जो दिशा शब्द है, वह भी प्रकार या रीति का ही पर्याय है । परन्तु रीतियाँ जो वैदर्भी, गौड़ी आदि के रूप में चिरकाल से काव्यशास्त्र में परिचित और प्रचलित थीं तथा भरत से लेकर सभी भामह, दण्डी, रुद्रट, राजशेखर आदि आचार्य जिनका विस्तार से विवेचन कर चुके थे, उनके सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र ने कोई विचार उपस्थित नहीं किया । इसका प्रधान कारण तो यही हो सकता है कि रीतियों का इतना अधिक विवेचन क्षेमेन्द्र के समय तक हो चुका था कि उनके और अधिक विवेचन में क्षेमेन्द्र की नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि पिष्टपेषण के अतिरिक्त अन्य कोई सार्थकता नहीं देखती थी । इसके अतिरिक्त क्षेमेन्द्र ने पदौचित्य पर जो मानवीय विवेचन औचित्यविचारचर्चा में उपस्थित किया है, सम्भवतः उसी में उन्होंने रीति के औचित्य को अन्तर्भूत कर लिया है । वास्तव में पदों की रचना अथवा संघटना

---

1. कृत्वा निश्चलदैवपौरुषमयोपायं प्रसूत्यै गिरां
क्षेमेन्द्रेण यदर्जितं शुभफलं तेनास्तु काव्यार्थिनाम् ।
निर्विघ्नप्रतिभाप्रभावसुभगा वाणी प्रमाणीकृता
सद्भिर्वाग्भवमन्त्रपूतविततश्रोत्रामृतस्यन्दिनी ।।
(कवि० क० आ०, उपसंहार श्लोक)

2. सु० ति० 3/38

3. औ० वि० च० 39

ही तो रीति है। जब पद सम्बन्धी औचित्य को संरम्भ के साथ दिखाया जा चुका हो, तब पद रचना रूप रीति का औचित्य भी उसमें अन्तर्भूत हो ही जाता है। अतएव क्षेमेन्द्र ने रीति सम्बन्धी औचित्य को यदि पदौचित्य में ही अन्तर्भूत कर लिया हो तो ठीक ही है। क्या पदों की रचना को पदों से भिन्न देखा या किया जा सकता है?

वृत्ति

ऊपर जिन रीतियों का विवेचन हम कर चुके हैं, उनका आविर्भाव भामह के काव्यालंकार से हुआ। ध्वनि-मार्ग के प्रमुख आचार्य मम्मट ने रीति को वृत्ति से भिन्न नहीं माना। उन्होंने उपनागरिकादि वृत्तियों में ही वैदर्भी आदि का तादात्म्य प्रतिपादित किया। मम्मट आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के अनुयायी थे, यह बात सर्वविदित है। आनन्दवर्धन ने ही सर्वप्रथम रीति और वृत्ति के भेद को मिटाकर दोनों का तादात्म्य प्रतिपादित किया था। ध्वन्यालोक के उपोद्धात में ही उन्होंने ध्वन्यभाववादियों के पक्ष को उपस्थित करते हुए "तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि गताः श्रवणगोचरताम्" कहकर दोनों की एकरूपता को स्वीकृति प्रदान कर दी थी। आनन्दवर्धन और मम्मट दोनों ही व्याकरण-शास्त्र को समस्त विद्याओं का मूल मानने वाले थे। आनन्द ने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में ध्वनि को लक्षित करने वाली "यत्रार्थः शब्दो वा" इत्यादि कारिका के "स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः" इस अंश में कथित "सूरिभिः" पद को वैयाकरणों का निर्देशक कहा है और वैयाकरणों को "प्रथमे हि विद्वान्सो वैयाकरणः" कह कर विद्वानों में अग्रणी घोषित किया है तथा "व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्" कहकर व्याकरण को समस्त विद्याओं का मूल माना है। मम्मट ने भी ध्वनि नामक उत्तम काव्य भेद को लक्षित करते हुए "इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये"[1] कारिका के "ध्वनिर्बुधैः कथितः" इस अंश में स्थित "बुधैः" पद को अर्थापित करते हुए "बुधैः" का वैयाकरणैः अर्थ उसी प्रकार किया है, जिस प्रकार ध्वनिकार ने "सूरिभिः" का किया था। स्पष्ट है कि दोनों आचार्य ध्वनि के विषय में महा-वैयाकरण पतञ्जलि के महाभाष्य[2] में "अथवा प्रतीत पदार्थ को लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते......तस्माद् ध्वनिः शब्दः" इस ध्वनि सिद्धान्त को ही आदर्श मानकर चले हैं। हमारा विश्वास है कि वृत्ति के मामले में भी उक्त दोनों आचार्यों का मस्तिष्क व्याकरण के वृत्ति सिद्धान्त की ओर आकृष्ट था। व्याकरण शास्त्र में कृत्, तद्धित, समास, एकशेष सनाद्यन्त धातु नाम की पाँच वृत्तियाँ मानी जाती हैं।[3]

---

1. का० प्र० 1/4
2. महाभाष्य अ०। पा०। आ०।
3. कृत्तद्धितसमासैकशेष सनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः—

(सि० कौ० सर्वसमास प्रकरण)

इन पाँचों में समासरूपा वृत्ति सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रमुख है। कृत् और तद्धित की वृत्ति तो एक-एक पद के आकार में सिमट कर रह जाती है, परन्तु समास वृत्ति अनेक पदों के आश्रित रहने वाली है, अतः बहुत विशाल है। अनेक पदत्व दो पदों में भी रहता है और उससे अधिक में भी। अतः समास वृत्ति लघु, विस्तृत और अति विस्तृत आदि अनेक रूपों वाली होती है। ये रूप मधुर और परुष, नागरिक और ग्राम्य, आदि अनेक रूपों वाले हो सकते हैं। अल्प-समास मधुर और दीर्घ-समास परुष ही प्रतीत होते हैं। अतः काव्य का माधुर्य और पारुष्य प्रायः समास पर ही आधारित है। अतः माधुर्यादि गुणों के आश्रित रहने वाली वैदर्भी आदि रीति उपनागरिकादि वृत्तियों से भिन्न नहीं हो सकती। इसीलिए मम्मट ने रीतियों की वृत्तियों से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं की है। इस प्रकार भरतोक्त वृत्तियाँ जो भामह के समय में रीति धर्म को स्वीकार कर चुकी थीं, वे मम्मट के समय में पुनः अपने मूल धर्म में लौट आई, यद्यपि उनका रीति नाम आज भी व्यवहृत होता है।

वृत्ति शब्द ''वृतु वर्तने'' धातु से स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में क्तिन्[1] प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है—बर्ताव, व्यवहार, स्थिति आदि। भरतमुनि ने वृत्तियों को काव्य की माता कहा है। नाट्यशास्त्र के 22वें अध्याय में ''सर्वेषा-मेव काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृताः'' अर्थात् वृत्तियाँ समस्त काव्यों की मातायें हैं'' इस भरतसूत्र की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने वृत्तियों को पुरुषार्थ का साधक व्यापार कहा है। उनके अनुसार काव्य का कोई भी वर्णन व्यापार से शून्य नहीं होता, इसलिए वृत्ति का साम्राज्य समस्त काव्य में व्याप्त रहता है।[2] वास्तव में न केवल काव्य, अपितु, संसार की समस्त क्रियायें वृत्तियों से व्याप्त हैं।[3] अभिनवगुप्त के अनुसार काव्य जागतिक क्रियाओं का शाब्दिक प्रतिबिम्बन ही तो है। अतएव उन्होंने काव्य के नायक की कायिक, वाचिक, मानसिक विचित्र चेष्टाओं को वृत्ति कहा है।[4] अभिनव गुप्त के उक्त कथन को आधार बनाकर ही कल्लिनाथ ने सङ्गीतरत्नाकर में वृत्ति लक्षण निम्न शब्दों में किया है—

---

1. स्त्रियाँ क्तिन्। —पा० सू० 3/3/94
2. व्यापारः पुमर्थसाधको वृत्तिः। स च सर्वत्र वर्ण्यते—इत्यतो वृत्तिः काव्यस्य मातृका इति। न किञ्चिद् व्यापारशून्यं वर्णनीयमस्ति।
   —अभिनवभारती
3. सर्वैव क्रिया वृत्तिचतुष्कव्याप्ता —वहीं
4. या विकासेऽथ विक्षेपे सङ्कोचे विस्तरे तथा।
   चेतसो वर्त्तयित्री स्यात् सा वृत्ति.........।।
   —सर० कण्ठा० 2/34

"वृत्तिर्नाम वाङ मनः कायज। चेष्टा पुमर्थोपयोगिनी"

भोजराज ने सरस्वती-कण्ठाभरण में वृत्ति को लक्षित करते हुए कहा है कि विकास, विक्षेप, सङ्कोच और विस्तार क्रियाओं में जो चित्त की वृत्ति को तदनुकूल बनाती है अर्थात् विकसित, विक्षिप्त, संकुचित और विस्तृत करती है, वह वृत्ति कहाती है। आचार्य आनन्दवर्धन भी वृत्ति को व्यवहार रूप ही कहते हैं।[1] दशरूपकार धनञ्जय भी वृत्ति को नायक के व्यवहारों से भिन्न नहीं समझते। दशरूपक में दिये गये धनञ्जय के "तद्व्यापारात्मिकावृत्तिः" सूत्र की व्याख्या करते हुए धनिक कहते हैं कि "प्रवृत्तिरूपो नेतृव्यापार स्वभावो वृत्तिः" अर्थात् नाटक का प्रधान पात्र जैसी चेष्टाओं द्वारा नाटक के कार्यों में प्रवृत्त होता है, उन्हीं चेष्टाओं को वृत्ति कहा जाता है। नायक के स्वभाव की भिन्नता के कारण वृत्तियों की भिन्नता भी स्वाभाविक है। यदि नायक शृङ्गारी मनोवृत्ति का है तो स्वभावतः उसकी चेष्टायें शृङ्गारी ही होंगी। इसी प्रकार यदि वह शौर्य एवम् वीर्य से सम्पन्न है तो स्वभावतः सामरिक चेष्टाओं से उद्दीप्त होगा। धनञ्जय का उक्त विश्लेषण रूपक सम्बन्धी चेष्टाओं से सम्बन्द्ध होने के कारण नाटक के नायक तक सीमित है, वास्तव में, जैसा कि हम अभिनवगुप्त के अनुसार ऊपर कह आये हैं, नायक नाटक का हो या काव्य का, सभी के विषय में उक्त सिद्धान्त सामान्य रूप से लागू होता है। नाट्य दर्पण के रचयिता रामचन्द्र का कथन है कि भरत ने जिन वृत्तियों का निरूपण नाटक के परिप्रेक्ष्य में किया है, वह उपलक्षण मात्र है, अतः अभिनेय काव्य के समान अभिनयहीन काव्य में भी वृत्तियाँ होती ही हैं, क्योंकि कोई भी वर्णन व्यापार से शून्य नहीं हुआ करता है।[2]

वृत्तियों के भेद

वृत्तियां चार प्रकार की मानी गई हैं—

1. भारती वृत्ति,
2. सात्वती वृत्ति,
3. कैशिकी वृत्ति,
4. आरभटी वृत्ति।

उपर्युक्त वृत्तियों के नामकरण सम्बन्धी अनेक हेतु हमें उपलब्ध होते हैं। सर्वप्रथम भारती वृत्ति को ही लें। नाट्य-शास्त्र में इसके दो हेतु दिये गये हैं।

1. मधु और कैटभ के साथ युद्ध करते हुए भगवान् विष्णु ने (अथवा मधु कैटभ ने) जो भाषण किया अर्थात् जिस वाक्यभूयिष्ठा वाणी का प्रयोग किया,

---

1. व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते —ध्वन्या० 3/33

2. नाट्य इति प्रस्तावापेक्षम्। तेनानभिनेयेऽपि काव्ये वृत्तयो भवन्त्येव। —नाट्य दर्पण पृ० 52

उसी से भारती वृत्ति का उदय हुआ ।[1] भारती शब्द वाणी का पर्यायान्तर है। मम्मट ने अपने काव्य प्रकाशीय मङ्गलाचरण में "भारती कवेर्जयति" कहा है, जिससे भारती और वाणी समानार्थक सिद्ध होते हैं। अतः भारती नाम का वाग्व्यापार पर आधृत होना सुसङ्गत प्रतीत होता है। इसीलिये साहित्य-शास्त्र में भारती वृत्ति को शब्द वृत्ति माना गया है।

2. मधु कैटभ के साथ युद्ध के अवसर पर भगवान् विष्णु ने पृथ्वी पर जोर से पैर मारा, जिससे पृथ्वी पर अतिभार पड़ा। इसी से भारती वृत्ति उत्पन्न हुई।[2] भार के साथ भारती का सम्बन्ध जोड़ना विचित्र जान पड़ता है। भार और अति के संयोग से भारती की उत्पत्ति भी नैसर्गिक नहीं जान पड़ती। धनञ्जय ने भारती का सन्बन्ध भरत से जोड़ा है। उनके अनुसार भरतों अर्थात् नटों के वाग्व्यापार को भारती वृत्ति कहते हैं।[3] स्पष्ट है कि धनञ्जय की दृष्टि दशरूपक लिखते हुए नटों पर टिकी हुई थी, अतः उन्होंने भारती का सम्बन्ध भरतों (नटों) से जोड़ दिया। विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में भारती वृत्ति का लक्षण करते हुए नरों को आश्रित संस्कृत वाग्व्यापार को भारती वृत्ति कहा है।[4] स्पष्ट है कि उन्होंने धनञ्जय के "नटाश्रयः" पद को "नराश्रयः" मानकर और नरों अर्थात् पुरुष पात्रों द्वारा प्रायः प्रयुज्यमान संस्कृत भाषा को दृष्टि में रखकर ही भारती वृत्ति का नामकरण किया है। विश्वनाथ का यह नामकरण उनकी अपनी उपज्ञा नहीं है। वस्तुतः भरतमुनि ने ही भारत वृत्ति की विभिन्न व्युत्पत्तियों को दिखाने के पश्चात् नाट्य-शास्त्र के बाईसवें अध्याय में भारती-वृत्ति का सर्वसमन्वित स्वरूप स्थिर करते हुए स्वयम् कहा है कि—

या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या,
स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता,
सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥[5]

अर्थात् "जो शब्द प्रधान हो, पुरुष पात्रों द्वारा प्रयोज्य हो, स्त्रियों से रहित हो, संस्कृत वाक्यों से युक्त हो और भरतों द्वारा प्रयोग की गई हो, उसे भारती वृत्ति कहते हैं।"

---

1. भाषतो वाक्यभूयिष्ठा भारतीयं भविष्यति —ना० शा० 22/9
2. भूमिसंस्थानसंयोगैः पदन्यासैस्तदा हरेः। अतिभारोऽभवद्भूमेर्भारती तत्र निर्मिता ॥ —ना० शा० 22/11
3. भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः —दशरूपक 1/5
4. भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः —सा० द० 6/285
5. ना० शा० 22/25

भरत की इस परिभाषा में समस्त मान्यताओं का समावेश हो गया है। कि हम कह चुके हैं। अभिनवगुप्त एवं रामचन्द्र ने यहाँ भरत शब्द को नरपात्रों का उपलक्षण मानकर नाट्य एवम् काव्य उभयत्र भारती वृत्ति की स्थिति स्वीकार की है। विश्वनाथ का "नटाश्रय:" के स्थान में "नराश्रय:" कहना इस उपलक्षणता पर ही आश्रित है।

भारती वृत्ति के भेद

भारती वृत्ति के चार भेद हैं—

1. प्ररोचना,
2. आमुख,
3. वीथी,
4. प्रहसन।

नाट्य शास्त्र के 22वें अध्याय में इन भेदों का विस्तृत विवरण दिया गया है। कविराज विश्वनाथ ने सा० दर्पण के छठें परिच्छेद में ये चारों भेद संक्षेप में निम्न प्रकार प्रदर्शित किये हैं:—

1. प्ररोचना—अभिनेय वस्तु की प्रशंसा द्वारा श्रोताओं को उसकी ओर आकृष्ट करना प्ररोचना होती है। जैसे रत्नावली के आरम्भ में सूत्रधार का यह कथन कि "इस नाटिका का श्रीहर्ष जैसा निपुण कवि है, यह परिषद् भी (जो इसे देखने के लिए उपस्थित है) गुण ग्राहिणी है....इत्यादि।[1]

2. आमुख—नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्विक जहाँ सूत्रधार के साथ अपने कार्य से सम्बद्ध ऐसे चित्र वाक्यों द्वारा—जो कि प्रस्तुत विषय को दर्शकों के समक्ष उतारने वाले हों—वार्तालाप करते हैं, वही आमुख है, इसे ही प्रस्तावना भी कहते हैं।[2]

भारती वृत्ति के वीथी और प्रहसन नामक भेद रूपक के वीथी और प्रहसन नामक भेदों से भिन्न नहीं हैं। रूपक के दस भेदों—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी तथा प्रहसन—में जो अन्तिम दो भेद सा० दर्पण और दशरूपक में गिनाये गये हैं, वे ही भारती वृत्ति के भेद भी हैं। वे दोनों संस्कृत-प्रधान तथा पुरुष-प्रधान ही होते हैं। यद्यपि वीथी में शृंगार रस की प्रधानता

---

1. प्रस्तुताभिनयेषु प्रशंसात: श्रोतृणां प्रवृत्युन्मुखकरणं प्ररोचना।

—सा० द० 6/285

2. नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेणसहिता: संलापंयत्र कुर्वते।
चित्रैर्वाक्यै: स्वकार्योत्थै: प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथ:
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा॥ —वही

होती है, इसीलिए इसमें कैशिकी वृत्ति की प्रमुखता रहती है, तथापि पुरुष पात्रों द्वारा संस्कृत प्रधान वाणी के कारण यहाँ भारती वृत्ति भी बनी रहती है। वस्तुतः भारती वृत्ति सभी रसों के आश्रित रहने वाली वृत्ति है और संस्कृत प्रधानवाग्व्यवहार ही इसका मुख्य उपजीव्य तत्व है। इसीलिए सा० दर्पणकार ने "वृत्तिः सर्वत्र भारती—सा० द० 6/410 कहा है। अर्थात् भारती-वृत्ति सभी रसों में रहा करती है।

सात्वती वृत्ति

इस वृत्ति का नामकरण सत्व गुण के आधार पर किया गया है। भरतमुनि के अनुसार इसमें सत्वगुण की प्रधानता रहती है। नाट्यशास्त्र में इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

या सात्वतेनेह गुणेन युक्ता
न्यायेन वृत्तेन समन्विता च।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा
सा सात्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥[1]

अर्थात् जो सत्वगुण से युक्त हो, न्याय सम्मत वृतान्त से सम्पन्न हो, हर्षोल्लास से भरपूर हो और शोक से सर्वथा रहित हो उसे सात्वती वृत्ति कहते हैं। इसके भी चार भेद कहे गये हैं—

1. उत्थापक,
2. परिवर्तक,
3. संलापक,
4. संघातक।

इनके स्वरूप को जानने के लिए आकर ग्रन्थों को देखना चाहिये।

कैशिकी वृत्ति

इसका लक्षण नाट्य-शास्त्र में निम्न प्रकार किया गया है—

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा
स्त्रीसंयुता या बहुवृत्तगीता ।
कामोपभोगप्रभवोपचारा
तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति ॥[2]

इसके अनुसार जो वृत्ति सुन्दर नेपथ्यविधान से चित्रित हो, सुन्दर वेशभूषा से भूषित हो, स्त्रियों से युक्त हो, नृत्य और गीतों की बहुलतावाली हो, जो कामजन्य उपभोगों के उपचार से सम्पन्न हो उसे कैशिकी वृत्ति कहते हैं। इस वृत्ति के

---

1. ना० शा० 22/38
2. ना० शा० 22/47

नाम का आधार केश शब्द है। नाट्य शास्त्र में इसकी उत्पत्ति वैष्णव मत के अनुसार भगवान् विष्णु के और शैवमत के अनुसार भगवती पार्वती के केशों से बताई गई है। अभिनवगुप्त ने इसकी उत्पत्ति पार्वती की अपेक्षा शङ्कर भगवान् के नृत्य से स्वीकार्य मानी है। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में ये उत्पत्ति कथायें विस्तार से उल्लिखित हैं। इसके भी नर्म, नर्म-स्फूर्ज, नर्म-स्फोट, और नर्म-गर्भ नाम के चार भेद होते हैं।

आरभटी-वृत्ति

इसकी व्युत्पत्ति आरभट शब्द से हुई है। आरभट शब्द भी "आर और भट" इन दो शब्दों के योग से बना है। "आर का अर्थ है साहसी और "भट" का अर्थ है वीर योद्धा। इस नामकरण से ही इस वृत्ति के स्वरूप का परिचय हमें मिल जाता है। अवश्य ही जिसमें अद्भुत साहस-पूर्ण कार्यों का, उछल-कूद माया जनित इन्द्रजाल आदि का वर्णन हो उसे आरभटी वृत्ति कहते हैं। भरतमुनि ने इसका लक्षण इस रूप में किया है—

प्रस्तावपातप्लुतलङ्घितानि
चान्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्।
चित्राणि युक्तानि च यत्र नित्यं
तां तादृशीमारभटीं वदन्ति ॥[1]

इसके भी निम्नलिखित 4 भेद दशरूपक में किये गये हैं—

1. संक्षिप्तक,
2. अवघातक,
3. वस्तुस्थापक,
4. संफेट।

वृत्तियों का रीतियों से अभेद

हम यह बात पहले बता चुके हैं कि मम्मटाचार्य ने वृत्यनुप्रास के प्रसंग में उपनागरिका, परुष और कोमल नाम की तीन वृत्तियों का नामोल्लेख कर वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली रीतियों का उनके साथ अभेद कर दिया है। उनके अनुसार रीतियाँ वृत्तियों से भिन्न नहीं हैं। परन्तु मम्मट ने जिन वृत्तियों का उल्लेख किया है—वे उपर्युक्त वृत्तियों से भिन्न हैं। निश्चय ही वे शब्द प्रधान अनुप्रास जाति के प्रकार विशेष हैं, जबकि उपर्युक्त कैशिकी आदि वृत्तियाँ वर्णन विशेष पर आश्रित होने से अर्थ प्रधान हैं। इस दिशा में मम्मट आनन्दवर्धन के विचार से प्रभावित हैं, यह बात भी हम पहले कह चुके हैं। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के प्रथम

1. ना० शा० 22,47

उद्योत में ध्वनि को अस्वीकार करने वालों का उल्लेख करते हुए माधुर्यादि गुणों को वर्ण-संघटना का धर्म कहा है और वृत्तियों को माधुर्यादि से अभिन्न माना है। माधुर्यादि गुण शब्द के ही आश्रित रहते हैं, अर्थ के नहीं। इसी से सहमति रखकर मम्मट ने वृत्तियों को अनुप्रास का धर्म मानकर वृत्यनुप्रास की कल्पना की है। इस प्रकार मम्मट के समय में वृत्तियाँ अपने अर्थ प्रधान स्वरूप को छोड़कर शब्द प्रधान अनुप्रास जाति के रूप में परिणत हो गई दिखाई देती है।

———

1. वर्णसंघटना धर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्त-वृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशितास्ता अपि गताः श्रवण-गोचरम्। —ध्वन्या० [1], उपोद्घात

9

"पद, वाक्य, शब्द तथा अर्थ विचार"

पद विचार

हमारे इस अध्याय का सम्पूर्ण विवेच्य विषय शब्दशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाला है। पद, वाक्य, शब्द एवम् अर्थ-सम्बन्धी-विवेचन का अधिकार व्याकरण के अतिरिक्त अन्य किसी शास्त्र का नहीं हो सकता। व्याकरणाचार्यों में महामुनि पाणिनि का वही स्थान है जो नाट्याचार्यों में भरतमुनि का है। यों तो व्याकरण-शास्त्र सभी विद्याओं का मूल है, परन्तु पद, वाक्य आदि का विचार तो व्याकरण के बिना किया ही नहीं जा सकता है। जहाँ तक निरुक्त का सम्बन्ध है, वह वैदिक शब्दों की ही निरुक्ति करता है, जिनका काव्य में कोई उपयोग नहीं है, भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी विचार भी काव्य शब्दों एवम् काव्यार्थ के विषय में अकिञ्चित्कर है, क्योंकि उसका विचार भाषा सम्बन्धी मूल ध्वनियों और ध्वनि विकारों तक ही सीमित है। काव्य में प्रयुक्त, वाचक, लक्षण, व्यञ्जक शब्दों और उनके वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य अर्थों तक उसकी पहुँच नहीं है। साथ ही भाषा विज्ञान का क्षेत्र भाषा सामान्य है, संस्कृत आदि भाषा विशेष नहीं।

पाणिनिव्याकरण में पद संज्ञा

"सुप्तिङन्तं पदम्" (पा० 1/4/14) इस पाणिनिसूत्र के अनुसार सुबन्त और तिङन्त की पद संज्ञा होती है। "सुप् और तिङ्" ये दो प्रकार के प्रत्यय हैं, सुप् प्रत्यय सार्थक संज्ञा शब्दों के पीछे जुड़कर सुबन्त पदों का तथा तिङ् प्रत्यय धातु के पीछे जुड़कर तिड़न्त पदों का निर्माण करते हैं।

पाणिनि के—

"स्वौजसमौट्छस्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस् ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम् ङ्योस्सुप्[1]—

उक्त सूत्र में 21 (इक्कीस) प्रत्यय गिनाये गये हैं। इन 21 प्रत्ययों को ही सुप् कहते हैं। इसी प्रकार पाणिनि के—

"तिप्तस्झिसिप्तस्थमिब्वसमस्तातान्झथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ्[2]

1. पाणिनि 4/1/2
2. पाणिनि 3/4/78

इस सूत्र में 18 प्रत्यय गिनाये गये हैं जिन्हें तिङ् प्रत्यय कहा जाता है। सुप् और तिङ् दोनों प्रकार के प्रत्ययों की विभक्ति संज्ञा भी होती है।[1] इस प्रकार सुप् कहलाने वाले इक्कीस प्रत्ययों को सात विभक्तियों में बाँट दिया गया है। प्रत्येक विभक्ति में तीन-तीन प्रत्यय समाविष्ट हो जाते हैं, जिनकी क्रम से एक वचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा होती है। निम्न तालिका के अनुसार सातों विभक्तियाँ वचनक्रम के साथ दी जा रही हैं, जिससे विभक्तियों और उनके वचनों का स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा।

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सु	औ	जस्
द्वितीया	अम्	औट्	शस्
तृतीया	टा	भ्याम्	भिस्
चतुर्थी	ङे	भ्याम्	भ्यस्
पञ्चमी	ङसि	भ्याम्	भ्यस्
षष्ठी	ङस्	ओस्	आम्
सप्तमी	ङि	ओस्	सुप्

सुबन्त

ऊपर दी गई तालिका में जो "सु" से लेकर "सुप्" तक 21 प्रत्यय दिये गये हैं, वे सब "सुप्" कहे जाते हैं। इनमें से कोई भी प्रत्यय जिस सार्थक शब्द के अन्त में जुड़ा होता है, उसे सुबन्त समझना चाहिये।

तिङन्त

पाणिनि के "तिप्तस्झि........." आदि उपर्युक्त सूत्र में जो 18 प्रत्यय कहे गये हैं, उन्हें तिङ् प्रत्यय कहा गया है। ये तिङ् प्रत्यय क्रिया के वाचक "भू" आदि धातुओं के अन्त में जुड़कर प्रथम, मध्यम, उत्तम पुरुषों की क्रिया का बोध कराते हैं। इस प्रकार "भू" आदि धातु के अन्त में संयुक्त हुए "तिप्" आदि प्रत्यय के संयोग से जो "भवति', आदि क्रिया-वाचक शब्द बनते हैं, वे सब तिङन्त कहे जाते हैं।

ऊपर निर्दिष्ट "सुप्तिङन्तं पदम्" इस पाणिनिसूत्र के अनुसार इन्हीं सुबन्त तथा तिङन्त शब्दों की पद संज्ञा होती है। इस प्रकार राम आदि शब्दों के साथ "सु, औ, जस्=अस्" प्रत्यय जोड़कर जो "रामः, रामौ, रामाः" आदि शब्द निष्पन्न होते हैं, उन प्रयोगार्ह कर्त्ता आदि के वाचक "रामः" आदि सुबन्त शब्दों को ही पद कहा जाता है। राम आदि शब्द "सु" आदि सुप् प्रत्यय से संयुक्त होने पर ही पद कहलाते हैं, इससे पूर्व नहीं।

इसी प्रकार "भू" आदि क्रियावाचक शब्द "तिप्, तस्, झि=अन्ति" आदि

---

1. "विभक्तिश्च" पा० सू०। 4/104

तिङ् प्रत्ययों के संयोग से "भवति, भवतः, भवन्ति" आदि के रूप में निष्पन्न होकर जब किसी पुरुष विशेष की वर्तमान आदि क्रिया का बोध कराने के लिये प्रयुक्त होते हैं। तब उन तिङ्न्त "भवति" आदि शब्दों की भी पद संज्ञा होती है। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि "रामः" आदि सुबन्तों और "भवति" आदि तिङ्न्तों की पद संज्ञा है। अर्थात् सुबन्त शब्दों और तिङन्त शब्दों को पद कहा जाता है।

परस्मैपद और आत्मनेपद

ऊपर जिन 18 तिङ् प्रत्ययों का उल्लेख किया गया है, उनमें प्रारम्भिक 9 प्रत्यय परस्मैपद तथा अन्तिम 9 प्रत्यय आत्मनेपद कहलाते हैं। इन प्रत्ययों का संयोग प्रथम, मध्यम तथा उत्तम पुरुषों की क्रिया का बोध कराने के लिए पृथक् किया जाता है। किस पुरुष में किस प्रत्यय का प्रयोग होता है। यह बात नीचे दी गई तालिका को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जायेगी—

पुरुष	प्रत्यय		
	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
परस्मैपद			
प्रथम पुरुष	तिप्	तस्	झि
मध्यम पुरुष	सिप्	थस्	थ
उत्तम पुरुष	मिप्	वस्	मस्
आत्मनेपद			
प्रथम पुरुष	त	आताम्	झ
मध्यम पुरुष	थास्	आथाम्	ध्वम्
उत्तम पुरुष	इट्	वहि	महिङ्

इस तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि परस्मैपद के लिए तिप्, तस्, झि आदि का प्रयोग तथा आत्मने पद के लिये त, आताम् झ आदि का प्रयोग किया जाता है।

परस्मैपदी—वे धातु हैं जो ऐसी क्रिया की वाचक हैं, जिसका फल कर्त्ता से भिन्न किसी व्यक्ति को प्राप्त होता है। ऐसी धातुओं से ही तिप्, तस् आदि प्रत्यय होते हैं, इसीलिये (वे तिप् तस् आदि) भी परस्मैपद कहलाते हैं।

आत्मनेपदी--वे धातु हैं, जिनकी वाच्यभूत क्रिया का फल कर्त्ता को ही प्राप्त होता है, ऐसी धातुओं से ही "त, आताम्' आदि प्रत्यय होते हैं, अतएव उन्हें भी आत्मनेपद कहते हैं।

उभयपदी—जिन क्रियाओं का फल उभयगामी हो, उनकी वाचक धातु उभयपदी होती हैं, उनसे उभयपद प्रत्यय हुआ करते हैं।

सुबन्तपद—ऊपर गिनाये गये "सु" आदि 21 प्रत्ययों को "राम" "हरि" आदि संज्ञा शब्दों के अन्त में जोड़कर जो 21 शब्द रूप निष्पन्न होते हैं, वे सब

सुबन्त पद कहलाते हैं। उदाहरणस्वरूप राम शब्द के 21 रूप नीचे दिये जा रहे हैं:—

विभक्ति	वचन		
	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
1. प्रथमा	रामः	रामौ	रामाः
2. द्वितीया	रामम्	रामौ	रामान्
3. तृतीया	रामेण	रामाभ्याम्	रामैः
4. चतुर्थी	रामाय	रामाभ्याम्	रामेभ्यः
5. पञ्चमी	रामात्	रामाभ्याम्	रामेभ्यः
6. षष्ठी	रामस्य	रामयोः	रामाणाम्
7. सप्तमी	रामे	रामयोः	रामेषु

इसी प्रकार प्रत्येक संज्ञा शब्द के 21 रूप होते हैं, जो सब के सब सुबन्त पद कहलाते हैं।

तिङन्त पद

ऊपर बताया जा चुका है कि तिङ् प्रत्यय 18 होते हैं, जिनमें तिप् आदि 9 प्रत्यय परस्मैपद और "त, आताम्" आदि 9 प्रत्यय आत्मनेपदी हैं। परस्मैपदी "पठ्" आदि धातुओं से परस्मैपद प्रत्यय और आत्मनेपदी "एध्" आदि धातुओं से आत्मनेपद प्रत्यय अन्त में जोड़कर जो 18 धातुरूप निष्पन्न होते हैं, वे सब तिङ्न्त पद कहलाते हैं। उदाहरणार्थ पठ् और एध् धातु के नौ-नौ रूप नीचे दिये जा रहे हैं, जो सब के सब तिङ्न्त पद कहलाते हैं—

परस्मैपदी "पठ्" धातु के रूप

पुरुष	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	पठति	पठतः	पठन्ति
मध्यम पुरुष	पठसि	पठथः	पठथ
उत्तम पुरुष	पठामि	पठावः	पठामः

आत्मनेपदी "एध्" धातु के रूप

पुरुष	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	एधते	एधेते	एधन्ते
मध्यम पुरुष	एधसे	एधेथे	एधध्वे
उत्तम पुरुष	एधे	एधावहे	एधामहे

दोनों धातुओं के उक्त रूप वर्तमान-कालिक क्रिया के रूप हैं। भूत और भविष्यत् कालिक क्रिया के रूप यद्यपि इनसे भिन्न प्रकार के होते हैं, परन्तु वे सब इन्हीं 18 तिङ् प्रत्ययों के संयोग से निष्पन्न होते हैं। अतः सभी तिङन्त होते हैं और

तिङन्त होने के कारण सभी की पद संज्ञा होती है। संस्कृत भाषा में कोई भी शब्द सुबन्त हुए बिना और कोई भी धातु तिङन्त हुये बिना प्रयोगार्ह नहीं होती है। प्रयोग की अर्हता के लिये शब्दों को सुबन्त तथा धातुओं को तिङन्त बनाना आवश्यक है। इसी आशय से कविराज विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में पद का लक्षण इस प्रकार किया है।

विश्वनाथकृत पदलक्षण

"वर्णा: पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधका:"[1]

इसके अनुसार उस वर्ण या वर्ण समूह को पद कहते हैं जो वाक्य या महा-वाक्य की तरह परस्पर अन्वित न हो और एक अर्थ का बोधक हो, साथ ही प्रयोगार्ह भी हो अर्थात् केवल शब्द रूप न रहकर सुबन्त बन गया हो अथवा केवल धातु रूप न रहकर तिङन्त बन गया हो।

विश्वनाथ के इस पद लक्षण में भी वस्तुत: प्रयोगार्ह होना ही पदत्व का नियामक है, जो सुबन्त या तिङन्त होने पर ही निर्भर है। विश्वनाथ ने जो अनन्वित आदि का समावेश लक्षण में किया है, वह तो वाक्य और महाकाव्य आदि की निवृत्ति के लिए किया है, जोकि बिना पदों के बन ही नहीं सकते। इसी प्रकार "अर्थ बोधिंका:" विशेषण भी वर्णों की सार्थकता के लिये दिया गया है, जो (सार्थकता) सुबन्तों और तिङन्तों की पहली शर्त है। कोई भी निरर्थक ध्वनि सुबन्त या तिङन्त हो ही नहीं सकती। जिन शब्दों में सुप् प्रत्यय होते हैं, उनका प्रातिपादिक होना अनिवार्य है, और प्रातिपादक होने के लिए अर्थवान् होना अनिवार्य है।[1] सारांशत: सुबन्त और तिङन्त शब्दों को ही पद कहा जाना चाहिए।

वाक्य विचार

जिस प्रकार व्याकरण को शब्दशास्त्र कहा जाता है, उसी प्रकार मीमान्सा-दर्शन "वाक्यशास्त्र" के नाम से प्रसिद्ध है, इसका हेतु यह है कि मीमान्सक लोक वाक्यार्थज्ञान को ही अर्थ-ज्ञान में कारण मानते हैं। वास्तव में किसी भी शब्द के अर्थ का बोध वाक्य में विद्यमान अन्य शब्दों के साथ, उसके सम्बन्ध ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। उदाहरण के लिये अग्नि शब्द आग के लिये भी प्रयुक्त होता है और आग जैसे तेजस्वी पुरुष के लिये भी। नेता जी सुभाषचन्द्र बोस को लोग आग कहा करते थे। ऐसी स्थिति में आग शब्द का क्या अर्थ है यह हम "अग्निर्दहतिकाष्ठानि" और "अग्निर्माणवक:" इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त होने पर ही जान सकते हैं। इस प्रकार वाक्यार्थ ज्ञान ही पदार्थ ज्ञान में हेतु होता है। किस पद की किस अर्थ में शक्ति है ? अर्थात् कौन पद किस अर्थ का बोधक है ? यह बात भी उस पद के वाक्य

---

1. सा. द. 2/9
2. अर्थवदधातुरप्रत्यय: प्रातिपदिकम्—पा० सू० 1/2/45

में प्रयुक्त होने पर ही जानी जा सकती है। शब्दशक्ति को ग्रहण करने के यद्यपि व्याकरण आदि अनेक हेतु हैं।[1] तथापि व्यवहार ही सर्वप्रमुख कारण माना जाता है। प्रत्येक व्युत्पित्सु (शब्दार्थ-ज्ञान का इच्छुक) बालक पहले पहल उत्तमवृद्ध और और मध्यमवृद्ध के व्यवहार से ही शब्दशक्ति को ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ उत्तमवृद्ध द्वारा मध्यमवृद्ध को कहे गये "गाम् आनय" "गां बधान" अर्थात् "गौ को लाओ" "गौ को बाँधो" वाक्य को सुनकर सास्नादिमत् पिण्ड को मध्यमवृद्ध द्वारा लाते बाँधते देखकर बालक सास्ना (गलकम्बल) से युक्त पशु विशेष को "यह गौ है" ऐसा जान लेता है। इसी प्रकार अश्वः, पुरुषः, हस्ती आदि समस्त पदों की शक्ति का ग्रहण, किसी भी व्युत्पित्सु को व्यवहार द्वारा होता है। व्यवहार वाक्यों द्वारा ही प्रवृत्त होता है, एक-एक शब्द द्वारा नहीं। अनेक बार "गौः, गौः, गौः या "अश्वः, अश्वः, अश्वः" को सुनकर भी बालक को इन शब्दों के अर्थ का ग्रहण तब तक नहीं हो सकता जब तक "गौश्चरति" और "अश्वो धावति" आदि वाक्यों में इन शब्दों का प्रयोग वह पुनः पुनः नहीं सुनता और "गाम् आनय" तथा "अश्वं बधान" आदि व्यवहार में उन्हें पुनः-पुनः लाया और बाँधा जाना नहीं देखता।[2] स्पष्ट है कि व्यवहार ही शब्द शक्ति का प्रधान ग्राहक है और व्यवहार वाक्याश्रित ही होता है। अतः वाक्यार्थ-ज्ञान ही पदार्थ-ज्ञान में हेतु है। यह मीमान्सा-शास्त्र का एक मुख्य सिद्धान्त है, जिसके कारण मीमान्सा-शास्त्र को 'वाक्यशास्त्र' कहा जाता है।'

वाक्यशास्त्र कहे जाने पर भी मीमान्साश-ास्त्र वाक्य का कोई निजी लक्षण उपस्थित करता हो, ऐसी बात नहीं है। वाक्य का लक्षण भी वैयाकरणों द्वारा निर्धारित ही सर्वत्र समादृत और मान्य है। पाणिनि के "युष्मद-स्मदोः षष्ठी-चतुर्थी द्वितीयास्थयोर्वानावौ (8/1/20) सूत्र पर कात्यायन के "समान-वाक्ये निघात युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः" वार्तिक में आये वाक्यशब्द को परिभाषित करते हुए वार्तिककार ने महाभाष्य-सम्मत "एकतिङ् वाक्यम्" कहा है। इसके अनुसार एक तिङन्त "ओदनं पच" आदि पद-समूह को वाक्य कहा जाता है। इसी कारण "ओदनं यच, तव भविष्यति" ये दो वाक्य हैं, एक नहीं। अतएव यहाँ "तव" के स्थान में "ते" आदेश नहीं होगा, क्योंकि वह समान वाक्य में ही नियमित कर

---

1. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य बृद्धाः॥
—सर्वशास्त्रप्रसिद्धो वृद्धवादः

2. व्यवहारश्च मध्यमवृद्धस्य गवानयनप्रवृत्यादिरूपः सर्वदैव उत्तमवृद्धोक्त-गामानयेतिवाक्यश्रवणादेव भवति, न कदापि गोपदमात्रश्रवणात्।
—का० प्र० 5 उ० पृ० 222, विवरण (वामन)

दिया गया । जब कि "तव भविष्यति" यह वाक्य "ओदनं पच" इस वाक्य से भिन्न वाक्य है यद्यपि "ओदनं पच तव भविष्यति" यह वचन एक ही वक्ता द्वारा एक ही बोद्धा के प्रति कहा गया है, तथापि यह एक समान वाक्य नहीं है, क्योंकि इसमें "पच" और "भविष्यति" ये दो तिङन्त पद प्रयुक्त हैं। एक वाक्य एक ही तिङ् वाला होता है । "एकतिङ् वाक्यम्" इस वाक्यलक्षण में जो तिङ् शब्द पठित है, वह पूर्वोक्त उन तिप्, तस्, आदि 18 प्रत्ययों का वाचक है, जो धातु के अन्त में जुड़कर तिङन्त पद का निर्माण करते हैं । ये प्रत्यय कर्त्ता, कर्म और भाव अर्थ में हुआ करते हैं । ये जिस धातु के अन्त में संयुक्त होते हैं, वह धातु यदि सकर्मक है, तो ये प्रत्यय या तो कर्त्ता अर्थ में होते हैं, वह कर्म अर्थ में । धातु यदि अकर्मक है तो उससे ये कर्त्ता या भाव (क्रिया मात्र) अर्थ में ही होते हैं, क्योंकि अकर्मक धातु में कर्म की सत्ता तो होती ही नहीं । जो प्रत्यय जिस अर्थ में होता है, वह उसका ही वाचक होता है, अतः जब ये कर्त्ता में होते हैं, तब ये कर्त्ता के वाचक होते हैं और कर्त्ता इनका वाच्य होता है । तथा जब कर्म में होते हैं तब कर्म के वाचक होते हैं और कर्त्ता इनका वाच्य होता है । इसी प्रकार भाव में होने पर भाव वाचक होते हैं और तब भाव ही इनका वाच्य होता है । ऐसी स्थिति में किसी भी तिङ् प्रत्यय के होने पर जो तिङन्त क्रियापद निष्पन्न होता है, वह अवश्य ही कर्त्ता, कर्म या भाव का वाचक होता है । उदाहरण के लिये सकर्मक "पठ्" धातु से तिप्, आदि प्रत्यय जोड़-कर जो पठति, आदि तिङ्न्त पद निष्पन्न होते हैं, वे एक कर्त्ता की वर्तमान-कालिक पठन क्रिया के बोधक हैं, इसी प्रकार "पठतः" पद दो कर्त्ताओं की वर्तमान कालिक क्रिया का बोधक है और "पठन्ति" बहुकर्तृक क्रिया का । "तिप्, तस्, अन्ति" प्रत्यय प्रथम पुरुष के प्रत्यय हैं, अतः इनके प्रयोग में युष्मद् (तू, तुम) और अस्मद् (मैं, हम) से भिन्न किसी देवदत्त आदि अन्य पुरुष का बोध स्वभावतः ही हो जाता है । मध्यम पुरुष के प्रत्यय सिप् थस्, थ के द्वारा "तू, तुम रूप" मध्यम पुरुष का और उत्तम पुरुष के प्रत्ययों द्वारा । (मैं, हम रूप) उत्तम पुरुष का बोध भी इसी प्रकार समझना चाहिये । कर्मवाच्य और भाववाच्य भी इसी प्रकार समझे जा सकते हैं । वहाँ (पठ्यते" के द्वारा पठन क्रिया के विषयीभूत किसी एकत्व विशिष्ट "वेदः" आदि कर्म की प्रतीति "त" प्रत्यय द्वारा स्वयम् हो जाती है । इसी प्रकार "भूयते" आदि अकर्मक धातु के प्रयोग में भवन या सत्तारूप भाव मात्र की प्रतीति "त" प्रत्यय से ही स्वयम् हो जाती है । तात्पर्य यह है कि तिङ्न्त पद के प्रयोग में कर्त्ता, कर्म, या भाव की प्रतीति तिङ् प्रत्यय के साथ स्वभाव सिद्ध है, अतः "पठति" का जब हम प्रयोग करते हैं, तब कोई एक " देवदत्तः" आदि कर्त्ता और "वेदम्" आदि कर्म स्वतः प्रतीत होना स्वाभाविक है । इसलिये वार्तिककार वैया-करण कात्यायन के "एकतिङ् वाक्यम्" लक्षण में वाक्य के कर्त्ता कर्म आदि सम्पूर्ण अवयव स्वतः समाविष्ट हैं, अतः यह वाक्य के कर्त्ता कर्म आदि सम्पूर्ण अवयव स्वतः समाविष्ट हैं, अत- यह वाक्य का पूर्ण लक्षण है ।

विश्वनाथकृत वाक्यलक्षण

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने तो वाक्य को ही काव्य कहा है ।[1] अतः उनके लिये वाक्य का स्वरूप स्पष्ट करना नितान्त आवश्यक था, जो उन्होंने इन शब्दों में किया है—

''वाक्यं स्याद् योग्यताऽऽकांक्षाऽऽसत्तियुक्तः पदोच्चयः[2] विश्वनाथ के उक्त लक्षण में विशेष्यांश—' पदोच्चयः वाक्यम्'' इतना ही है, शेष विशेषणांश है। तदनुसार उन्होंने पदों के समूह को वाक्य कहा है, परन्तु उसमें योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति का होना आवश्यक ठहराया है। पदार्थों के पारस्परिक-निर्बाध-सम्बन्ध को योग्यता कहते हैं। उसके अभाव में तो ''वहि्नना सिञ्चति'' भी वाक्य हो जायेगा, जबकि वहि्न में सेचन क्रिया के कारण होने की योग्यता नहीं है। पदों को सुनकर श्रोता के मन में उन पदों के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रति यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है ? इसे ही आकाँक्षा कहते हैं। इसके बिना भी पद समूह को वाक्य मानने पर तो पारस्परिक सम्बन्ध से रहित ''गौः, अश्वः, हस्ती'' आदि पदों के समूह को भी वाक्य कहना पड़ेगा। ''देवदत्तो गच्छति'' इस पद समूह में योग्यता और आकांक्षा होने पर भी यदि ''देवदत्तः'' पद का उच्चारण आज किया जाय और ''गच्छति'' का एक दिन बाद, तो इस वाक्य में जो योग्यता और आकांक्षा हैं, वे स्वतः समाप्त हो जायेंगी। आज कहा गया ''देवदतः'' पद कल कहे गये ''गच्छति'' के साथ किसी प्रकार भी सम्बद्ध नहीं हो सकेगा। अतः पदों का अविलम्बेन उच्चारण भी उन्हें वाक्य, बनाने के लिये परमावश्यक है। इस अविलम्बोच्चारण का ही नाम ''आसत्ति'' है। इसे सन्निधि भी कहा जाता है।

न्यायशास्त्र के तर्क संग्रह आदि अनेक ग्रन्थों में भी वाक्य का स्वरूप इसी रूप में प्रतिपादित किया गया है। वहाँ पदों के समूह को वाक्य और आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि को वाक्यार्थ ज्ञान में हेतु कहा गया है।[3] निःसन्देह विश्वनाथ का वाक्यलक्षण नैयायिकों के लक्षण का ही अनुवाद है।

आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश में ''तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्'' सूत्र की वृत्ति में अभिहितान्वयवादी और अन्विताभिधानवादी मीमांसकों के मत को उद्धृत करते हुए ''आकांक्षायोग्यतासन्निधिवशाद् वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये (परस्पर सम्बन्धे)······वाक्यार्थः समुल्लसति'' आदि जो कुछ कहा है, वह भी उक्त नैयायिक

---

1. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—सा० द० 1/3
2. सा० द० 2/1
3. ''पदसमूहो वाक्यम्, आकांक्षायोग्यता सन्निधिश्च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः'' तर्क सं० शब्द खण्ड

मत का संवादी ही है। स्पष्ट है कि वाक्य के लक्षण में वैयाकरण, आलङ्कारिक, नैयायिक और मीमांसक सभी एक मत हैं। वास्तव में कर्त्ता, कर्म आदि समस्त कारकों से युक्त एक तिङन्त को वाक्य लक्षित करने वाला पतञ्जलि का पूर्वोक्त "एकतिङ् वाक्यम्" लक्षण ही सबका मूल है। क्योंकि तिङ् प्रत्यय क्रिया वाची धातु से होते हैं और क्रिया कभी कारकों के बिना सम्पन्न नहीं होती। क्रिया से सम्बद्ध होना ही तो कारकत्व है—'क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्[1] कारक नाम ही क्रिया को करने वाले का है। अतएव षष्ठी विभक्ति को छोड़कर अन्य सब कर्म, करण आदि कारक कहे जाते हैं। सभी कारक क्रिया से सम्बद्ध होते हैं। इस सम्बन्ध में योग्यता, आकांक्षा आदि रहती ही है। अत: वार्तिककार कात्यायन द्वारा उद्धृत भाष्यकार का वाक्यलक्षण सर्वथा परिनिष्ठित है, वास्तव में वही सबका आधार है। उस छोटे से लक्षण में गागर में सागर के समान वाक्य का सम्पूर्ण अपेक्षित विस्तार समा गया है। प्रविश, पिण्डीम् आदि पदों के प्रयोग में भी गृहम्, भक्षय आदि पदों की आकांक्षा श्रोता को उत्पन्न होती है, जिनका वह प्रकरण सामर्थ्यवशात् अध्याहार कर लेता है, तब प्रविश पद "गृहं प्रविश" के रूप में और पिण्डीम् पद "पिण्डीं भक्षय" के रूप में उपस्थित हो जाते हैं।

पद और वाक्य के सम्बन्ध में राजशेखर

आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा के "पदवाक्यविवेक" नामक छठे अध्याय में सर्वप्रथम शब्द और फिर उसके अर्थ का परिचय कराया है, पश्चात् दोनों (शब्द और अर्थ) को पद कहा है। उनके अनुसार शब्द वह है, जो व्याकरण शास्त्र के द्वारा प्रकृति प्रत्ययादि के विचार से निर्णीत हो, तथा शब्द का अर्थ वह है, जिसे वह (शब्द) निरुक्त, निघण्टु आदि के द्वारा सूचित करता हो। इस प्रकार व्याकरण से निर्णीत शब्द और निरुक्त आदि से निर्दिष्ट अर्थ ही मिलकर पद कहे जाते हैं, अर्थात् राजशेखर की सम्मति में अर्थवान् शब्द ही पद है।[2]

राजशेखर द्वारा शब्द, अर्थ और पद सम्बन्धी उक्त कथन शब्द, अर्थ और पद का सामान्य परिचय ही कहा जा सकता है, लक्षण या परिभाषा नहीं। लक्षण तो उसे ही कहना चाहिए जो वस्तु के असाधारण धर्म का बोध कराता है। साथ ही अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव दोषों से रहित होता है।[3] राजशेखर द्वारा प्रति-

---

1. अन्वर्था चेयं संज्ञा, करोतीति कारकम् इति।
—सि० कौ० "कारके पा० स० 1/4/23 की तत्वबोधिनी
2. व्याकरणस्मृतिनिर्णीत: शब्द:, निरुक्तनिघण्ट्वादिभिर्निर्दिष्टस्तदभिधेयोऽर्थ: तौ पदम्। —का० मी० अध्याय 6
3. अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भवदोषरहितम् असाधारणधर्मवचनं लक्षणम्।
—तर्कशास्त्र

पादित शब्द आदि के स्वरूप में उक्त विशेषता दिखाई नहीं देती। शब्द का यह लक्षण कि "जिसमें व्याकरण द्वारा प्रकृति प्रत्ययादि की स्थिति निर्णीत हो वह शब्द हैं" अव्युत्पन्नों को कैसे शब्द ठहराया जा सकता है। व्याकरण के अध्येता अच्छी तरह जानते हैं कि पाणिनि ने प्रकृति प्रत्ययरहित अव्युत्पन्न शब्दों को भी—यदि वे अर्थवान् हैं—प्रातिपादिक कहा है और उनसे सुप् विभक्तियों का विधान किया है। पाणिनि का "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्"[1] यह सूत्र अव्युत्पन्न (प्रकृति प्रत्ययरहित) शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा के ही लिये है। जिन शब्दों की निष्पत्ति प्रकृति प्रत्यय के संयोग से होती है, वे सब शब्द या तो कृदन्त होते हैं, या तद्धितान्त अथवा समासयुक्त होते हैं। उनकी प्रातिपदिक संज्ञा के लिए पाणिनि ने "कृत्तद्धितसमासाश्च[2] सूत्र को अलग से कहा है। अतः स्पष्ट है कि प्रकृति प्रत्ययविहीन अथवान् शब्द को भी पाणिनि ने शब्द माना है और उसकी भी प्रातिपादिक संज्ञा की है। इस पृष्ठ भूमि में राजशेखरकृत शब्दस्वरूप का निर्धारण अव्याप्ति दोष से दूषित है। राजशेखर का "तौ पदम्" अर्थात् व्युत्पन्न शब्द और उसका अर्थ ही मिलकर पद होते है, यह कथन भी अपूर्ण और दूषित है। क्योंकि यदि अर्थवान् शब्द ही पद होगा, तो धन, वन, घट, पट आदि सभी अर्थवान् शब्द पद हो जायेंगे, फिर उन्हें प्रयोगार्ह बनाने के लिये सुप् प्रत्ययों की आवश्यकता ही क्या होगी? फिर तो "सुप्तिङन्तंपदम्" आदि व्याकरण विधान व्यर्थ हो जायेगा। एक बात और है, राजशेखर के अनुसार यदि अर्थवान् शब्द ही पद है, तो क्या धनम् वनम् आदि सुबन्तों के स्थान पर सुप रहित धन, वन, शब्द प्रयुक्त हो सकते हैं? यदि नहीं तो "तौ पदम्" के स्थान पर उन्हें पाणिनिसूत्र को उपस्थित कर "सुप्तिङन्तं पदम्" ही कहना चाहिए था।

लगता है, राजशेखर द्वारा अर्थवान् शब्द को पद कहने में उनका आशय केवल इतना ही है कि अर्थवान् शब्द ही पद संज्ञा के योग्य होता है। अर्थहीन नहीं, अतः उनके "तौ पदम्" को "तौ पदसंज्ञायोग्यौ" के अर्थ में ग्रहण करना ही हम ठीक समझते हैं। अतएव उन्होंने आगे चलकर वाक्य का जो स्वरूप प्रदर्शित किया है, उसमें श्रूयमाणविभक्तिक तथा लुप्तविभक्तिक पदों की अनिवार्यता निर्दिष्ट की है। इससे सिद्ध है कि पदों का विभक्तियुक्त होना आवश्यक है। विभक्ति (सुप्, तिङ्,) के बिना अर्थवान् शब्द अपने अर्थ को प्रकट करने में समर्थ नहीं हो सकता।

राजशेखर सम्मत वाक्यस्वरूप

राजशेखर ने अभिधित्सित अर्थ को प्रकट करने वाले पदसमूह को वाक्य

1. पाणिनि 1/2/45
2. पाणिनि 1/2/46

कहा है। उनके "पदानामभिधित्सितार्थग्राथनाकरः सन्दर्भो वाक्यम्"[1] इस वाक्यलक्षण में "पदानां सन्दर्भो वाक्यम्" यह विशेष्यांश ही लक्षण का निर्वाहक है, शेष अंश "सन्दर्भः" का विशेषण है, जो स्पष्ट प्रतिपत्ति (बोध) के लिये दिया गया प्रतीत होता है। वह यदि न भी दिया गया होता तब भी कोई हानि नहीं थी। क्योंकि जो अर्थ अभिधित्सित अर्थात् कथन करना अभीष्ट ही नहीं, उसके लिये तो पदों का प्रयोग कोई पागल ही कर सकता है। कोई भी अप्रमत्त व्यक्ति जल की इच्छा होने पर "जलम् इच्छामि" ही कहेगा, "अग्निम् इच्छामि" क्यों कहेगा ? और यदि "अग्निम् इच्छामि" कहता है तो आप कैसे समझेंगे कि अग्नि इसका अभिधित्सित अर्थ नहीं है ? क्या अग्नि किसी का अभिधित्सित अर्थ नहीं हो सकता ? जल भी अभिधित्सित हो सकता है और अग्नि भी। विष भी अभिधित्सित हो सकता है और अमृत भी। अतः पद सन्दर्भ का "अभिधित्सितार्थग्रन्थनाकरः" विशेषण देना अकिंचित्कर है। उक्त विशेषण अव्याप्ति दोष से दूषित भी है, क्योंकि अभिधित्सित अर्थ कहने से केवल वही अर्थ गृहीत होगा जो अभिधावृत्ति से बोधित होता हो, ऐसी स्थिति में "अग्निर्माणवकः" "गङ्गायां घोषः" आदि पद समूह वाक्य नहीं कहे जा सकेंगे, क्योंकि यहाँ अग्नि, गङ्गा आदि पर लक्षणीय अर्थ के बोधक हैं, न कि अभिधित्सित अर्थ के। वस्तुतः पद संदर्भ को अर्थ का प्रतिपादक कहना ही व्यर्थ है, राजशेखर के अनुसार जब अर्थवान् शब्द ही पद होता है, निरर्थक तो पद हो ही नहीं सकता तब "अर्थ-ग्रन्थनाकरः" विशेषण से राजशेखर किस पद समूह की व्यावृत्ति करना चाहते हैं ? स्पष्ट ही राजशेखर के लक्षण में विशेष्यांश ही निर्दुष्ट वाक्यलक्षण है, विशेषणांश व्यर्थ है।

राजशेखर का "पदानां सन्दर्भो वाक्यम्" यह निर्दुष्ट लक्षण विश्वनाथ के पूर्वोक्त वाक्यलक्षण का ही संवादी है, क्योंकि आकांक्षा आदि का सद्भाव तो यहाँ भी अनिवार्य ही है।

आचार्य क्षेमेन्द्र का पद वाक्यविवेक

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा में पदौचित्य तथा वाक्यौचित्य की पर्याप्त चर्चा की है, जिसे हम औचित्यसम्बन्धी अध्याय में दिखा चुके है। इसके अतिरिक्त पद या वाक्य के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र ने अन्य कोई विवेचन उपस्थित नहीं किया है। क्षेमेन्द्र को आचार्यत्व प्रदान करने वाले तीनों ग्रन्थ—

1. औ० वि० चर्चा,
2. कवि-कण्ठाभरण,
3. सुवृ० ति०

---

1. का० मी० 6

वस्तुतः कवि-शिक्षा-परक है, जो काव्य-रचना के पथिकों का मार्ग-दर्शन करने वाले हैं। जो व्यक्ति काव्य रचना करना चाहता हो, वह पद और वाक्य की रचना या उसके स्वरूप से भी परिचित न होगा, यह सम्भावना नहीं की जा सकती। अतः क्षेमेन्द्र को पद, वाक्य आदि पर लक्षणकरण की दिशा में सोचना आवश्यक नहीं था। अतएव उन्होंने पद, वाक्य आदि के लक्षणकरण का कहीं कोई प्रयत्न नहीं किया है।

संसार का समस्त व्यवहार शब्द के आश्रित है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है कि "ऐसी कोई प्रतीति नहीं है, जो शब्द के बिना होती हो, मानव का समस्त ज्ञान शब्द के साथ बिंधा है।[1] अतः शब्द-सम्बन्धी-विचार नितान्त आवश्यक है।

शब्द विचार

शब्द-सम्बन्धी-विचार उपस्थित होने पर सर्वप्रथम हमारी दृष्टि शब्दशास्त्र पर ही जाकर टिकती है। ठीक भी है, क्योंकि शब्दशास्त्र से अधिक कौन शास्त्र शब्द के विषय में प्रमाणभूत हो सकता है। शब्दशास्त्र से हमारा अभिप्राय व्याकरण का ही कार्य है। इसीलिए पाणिनि व्याकरण पर महाभाष्य लिखना आरम्भ करते हुए महामुनि पतञ्जलि ने व्याकरण शास्त्र को शब्दानुशासन शास्त्र के नाम से सम्बोधित किया है—"अथ शब्दानुशासनम्"। महाभाष्य के उक्त प्रथम वाक्य में महाभाष्यकार ने अथ शब्द को अधिकार के अर्थ में प्रयुक्त बताते हुए उसका अर्थ किया है कि "शब्दानुशासनं नाम शास्त्रम् अधिकृतं वेदितव्यम्" अर्थात् शब्दानुशासन नाम का शास्त्र हमारे द्वारा भाष्य के हेतु अधिकृत जानना चाहिये। कैयट ने शब्दानुशासन को व्याकरण का सार्थक नाम कहा है—"व्याकरणस्य चेदमन्वर्थं नाम शब्दानुशासनमिति—प्रदीप"। सिद्ध हुआ कि शब्द का अनुशासन करना व्याकरण का ही अधिकृत कार्य है, वही उसका प्रयोजन भी है। उक्त भाष्य पर प्रदीप लिखते हुए महावैयाकरण कैयट ने शब्दानुशासन को व्याकरण का साक्षात् प्रयोजन बताया है और रक्षा, ऊह आदि को प्रयोजन के अर्थात् शब्दानुशासन के प्रयोजन ठहराये हैं।[2] इसके अनुसार शब्दों का अनुशासन व्याकरण का मुख्य प्रयोजन है। अतः शब्द सम्बन्धी जानकारी के लिए व्याकरण की शरण जाना ही मुख्य उपाय है। भर्तृहरि

---

1. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते।
अनुविद्धमिव ज्ञनं सर्वं शब्देन भासते॥

—वाक्यपदीय 1/123

2. भाष्यकारो विवरणकारत्वाद् व्याकरणस्य साक्षात् प्रयोजनमाह अथ शब्दानुशासनमिति। प्रयोजनं प्रयोजनानि तु रक्षोहादीनि पश्चाद् वक्ष्यति। —(प्रदीप) पातञ्जल म० भाष्य 1/1 शब्द निर्णय)

ने कहा है कि शब्दों का तत्वबोध व्याकरण के बिना हो ही नहीं सकता ।[1]

महामुनि पतञ्जलि ने शब्द का निर्णय करने के लिये जिज्ञासुओं के सम्मुख गौ को उपस्थित कर उनसे पूछा है कि तुम्हारे सम्मुख जो गौ उपस्थित है, उसमे तुम क्या-क्या देख रहे हो ? उनका उत्तर था कि भगवन्, हम जिसे देख रहे हैं, वह एक पशु व्यक्ति है, जो गलकम्बल, पूंछ, टाँट, खुर, और सींगों से युक्त है। वह जो चारे के लिये सङ्केत कर रहा है, उसे भी हम देख रहे हैं, उसकी जुगाली, उसका पैर से शरीर के अवयवों को खुजलाना और पलकें झपाना आदि भी हमें दिखाई दे रहा है। उसका श्वेत वर्ण भी हमें दीख रहा है। इसके अतिरिक्त इसमें एक ऐसा सामान्य धर्म भी प्रतीत हो रहा है, जो इसके अतिरिक्त इसकी जाति के अन्य अनन्त गोव्यक्तियों में भी विद्यमान है, जिससे उन्हें भी हम गौ के रूप में जानते हैं, बस यही सब हम देख रहे हैं, इससे भिन्न तो हमें कुछ भी दिखाई नहीं देता। इस पर मुनि ने उन द्रष्टाओं से कहा कि अच्छा तुम्हारे इस गोविज्ञान में जो उपर्युक्त चार वस्तु उपस्थित हैं, उनमें खोज कर यह बताओ कि उन चारों में "गौ" शब्द जिसे हम मुँह से बोल रहे हैं और तुम कानों से सुन रहे हो, कौन है ? इस प्रश्न को सुनकर तथा कुछ देर तक मन में यह विचार कर कि हमारी दृष्टि में जो चार वस्तु उपस्थित हैं, उनमें तो एक भी ऐसी नहीं है जो मुँह से बोली और कानों से सुनी जाती हो, ये तो सब दृष्टि का ही विषय हैं, तब हम गौ नाम अर्थात् गकार+औकारात्मक गौ शब्द किसे बतायें, एक-एक कर उन्हीं से पूछना शुरु किया कि भगवन् यह जो सास्ना, लांगूल, ककुद, खुर और विषाण वाला पशुपिण्ड हमें दिख रहा है, यही गौ शब्द भी है क्या ? मुनि ने तुरन्त कहा—नहीं, यह शब्द कैसे हो सकता है, यह तो द्रव्य है। द्रव्य तो हाथ से पकड़ा जा सकता है, क्या शब्द को भी तुम हाथ से पकड़ सकते हो ? तब उन्होंने कहा, तो इसके संकेत, चेष्टाएँ और पलक झपाना आदि जो हम देख रहे हैं, वे ही शब्द हैं क्या ? मुनि ने फिर कहा—नहीं, वे तो सब क्रिया हैं। क्रिया की जाती है, शब्द क्रिया (बनाया) थोड़ा ही जाता है, वह तो बना बनाया तुम्हारे आत्मा में विद्यमान रहता है, जब तुम प्रयोग करना चाहते हो तब तुरन्त तुम्हारी जिह्वा पर आ जाता है—"गौ"। जिन्हें तुम गौ बता रहे हो, वे क्या तुम्हारी जिह्वा पर आ सकते हैं ?

तो क्या इस में जो श्वेत वर्ण हम देख रहे हैं, वह है गौ शब्द ?

नहीं, वह तो गुण है, जो चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय है, शब्द को तुम चक्षु से थोड़े ही देख सकते हो।

तो, अब केवल सामान्य धर्म ही शेष रह गया, जो हम देख रहे हैं, तब क्या वही शब्द है ?

नहीं, वह भी शब्द नहीं है। वह तो आकृति है, जो बनती बिगड़ती रहती है। शब्द कभी बनता है, न बिगड़ता है।

---

1. तत्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणाद ऋते— (वाक्यपदीय 1/13)

फिर तो हमें दिखाई देने वाली इन द्रव्य, क्रिया, गुण और आकृतिरूप चारों वस्तुओं में कोई भी शब्द नहीं है, अवश्य वह इनसे भिन्न ही होना चाहिए। कृपया आप ही बतायें, गौ के इस विज्ञान में गौ शब्द कौन है ?

अच्छा तो सुनो। देखो तुम्हारे शरीर की वायु से ताड़ित हुए तुम्हारे कण्ठ और तालु से अभिव्यक्त जिस ग्+औ=गौ के उच्चारण से खुर, सींग आदि से युक्त पशुपिण्ड की तुम्हें सम्यक् प्रतीति होती है, वह उच्चार्यमाण "गौ"—ही गौ शब्द है। समझ गये न ?

जी हाँ, अब समझे कि जिस गौ को हम आँखों से देख रहे थे, वह गौ तो है परन्तु गौ शब्द वह नहीं है। गौ शब्द तो वह गकारौकारात्मक ध्वनि है, जो इस गौ-व्यक्ति को ध्वनित अर्थात् प्रकाशित करता है।

ठीक समझे हो। वही शब्द है।

तब तो भगवन्, ध्वनि ही शब्द है, चाहे वह गौः, अश्वः पुरुषः, हस्ती आदि कुछ भी हो।

हाँ, जिस ध्वनि से किसी पदार्थ की प्रतीति लोक में होती हो वह ध्वनि ही शब्द है। यही हमारा शब्द निर्णय है।

महामुनि पतञ्जलिकृत महाभाष्य में प्रश्नोत्तर शैली से किये गये शब्द निर्णय को हमने सम्वाद रूप में उपस्थित कर यह निर्णय किया है कि पदार्थ की प्रतीति कराने वाली ध्वनि ही शब्द है।[1] अधिक जानकारी के लिये महाभाष्य के शब्द निर्णय प्रकरण को देखना चाहिये। यद्यपि व्याकरण दर्शन में ध्वनि और स्फोट को भिन्न रूप में स्थापित किया गया है। ध्वनि से स्फोट और स्फोट से अर्थ की अभिव्यक्ति स्वीकार की गई है तथापि यह (उपर्युक्त सन्दर्भ में) ध्वनि को ही अर्थ का प्रत्यायक यह बताने के लिये कहा गया है कि द्रव्य आदि को शब्द नहीं कहा जा सकता, ध्वनि को ही शब्द कहा जाना चाहिये।[2]

नैयायिक-मत

न्याय दर्शन में शब्द के दो रूप उपलब्ध होते हैं—

1. शब्द नामक गुण,
2. शब्द नाम का प्रमाण।

शब्द नाम का गुण वह है, जो श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होता है—"श्रोत्रग्राह्यो"

---

1. प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते

—पा० म० भा० उपोद्घात

2. अन्यत्र ध्वनिस्फोटयोर्भेदस्य स्थापितत्वात् इहाभेदेन व्यवहारेऽपि न दोषः, द्रव्यादयो न शब्द-शब्दवाच्या इत्यत्र तात्पर्यात्।

"उपर्युक्त भाष्य पर कैयट का प्रदीप

गुण: शब्द:--तर्कसंग्रह'' और शब्द नाम का प्रमाण वह वाक्य है जो ईश्वर आदि आप्तपुरुष के द्वारा प्रयुक्त या उच्चरित हुआ है ''आप्तवाक्यं शब्द:-वही''

उपर्युक्त उभयविध शब्दों में प्रमाणरूप शब्द से हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। प्रस्तुत अध्याय में पद, वाक्य तथा शब्द और अर्थ पर विचार हमारा कर्त्तव्य है। पद, वाक्य और अर्थ के साहचर्य से यहाँ वही शब्द हमारे विचार का विषय है, जो पद, और वाक्य तथा अर्थ का मूल कारण है। यह वही शब्द है जिसे वैयाकरणों ने ध्वनि कहा है। नैयायिक उसे ही श्रोत्रग्राह्यगुण कहते हैं। वास्तव में ध्वनि ही श्रोत्र का ग्राह्य गुण है। अत: वैयाकरणों की ध्वनि और नैयायिकों के श्रोत्रग्राह्य में कोई भी तात्विक भेद नहीं है।

आलंकारिक मत

आलंकारिक विद्वान् कहीं भी शब्द का लक्षण करते या शब्द के स्वरूप को परिभाषित करते नहीं दिखाई देते हैं। कारण स्पष्ट है, अलंकारशास्त्र अर्थात् काव्यशास्त्र शब्दशास्त्र को प्रमाण मानकर चलने वाला शास्त्र है, अत: वह शब्द के काव्योपयोगी भेदों का तो विचार करता है उसके सामान्य स्वरूप को व्याकरण शास्त्र का विषय मानकर उसके लिये व्याकरणशास्त्र का ही अनुगमन करता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के ध्वनि को लक्षित करते हुए ''स ध्वनिरिति सूरिभि: कथित:'' कहकर और उसकी वृत्ति में ''प्रथमे हि विद्वान्सो वैयाकरणा:, व्याकरणमूलत्वात्सर्वविद्यानाम्'' अर्थात् व्याकरण के विद्वानों को अग्रणी विद्वान् घोषित कर यह बार स्पष्ट कर दी है। आचार्य मम्मट ने भी ध्वनिकाव्य के लक्षण में ''सूरिभि:'' के स्थान में ''बुधै:'' कहकर और ''बुधै:'' को ''वैयाकरणै:'' के रूप में विवृत करके तथा ''अन्यैरपि तन्मतानुसारिभि:'' इन शब्दों में आलंकारिकों का वैयाकरणानुसारी होना स्पष्ट ही कह दिया है।[1]

अत: आलंकारिकों को शब्द का वही स्वरूप मान्य है, जिसे हम ऊपर पतञ्जलि के सन्दर्भ में स्पष्ट कर चुके हैं।

शब्द के भेद

आचार्य मम्मट ने वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक भेद से शब्द को तीन प्रकारों में विभक्त किया है और उनके वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य नाम के तीन अर्थ प्रदर्शित किये हैं। अभिहितान्वयवादी मीमांसकों का मत उद्धृत करते हुए मम्मट ने तात्पर्य नाम का एक चतुर्थ प्रकार का अर्थ भी कहा है परन्तु वह शब्द का अर्थ न होकर वाक्य का अर्थ है। इस विषय को जानने के लिये काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास का प्रारम्भिक भाग द्रष्टव्य है। यहाँ उसे उद्धृत कर निबन्ध को अनावश्यक रूप से विस्तृत करना हमारा अभीष्ट नहीं। फलत: अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना

---

1. का० प्र० 1/4

शक्ति से अर्थ के प्रकाशक सार्थक वर्ण समूह को आलंकारिकों के मत में शब्द का स्वरूप समझना चाहिए।

अर्थ विचार

दृश्यमान जगत् में हम अपने चारों ओर जो कुछ देखते हैं उसके दो रूप हमें उपलब्ध होते हैं—

1. शब्द रूप, और
2. अर्थ रूप।

उदाहरण के लिये हम जिस घट (पट, गौ, हस्ती, चैत्र, मैत्र) आदि को अपने सम्मुख उपस्थित देखते हैं, वह दो रूपों वाला होता है, एक शब्दरूप घट तथा दूसरा अर्थरूप घट। शब्द रूप घट वह है, जिसका हम अपने मुख के भीतर विद्यमान कण्ठ और मूर्द्धा स्थान से जिह्वा के स्पर्श द्वारा उच्चारण करते हैं–घ्+अ, ट्+अ= घट। अर्थरूप घट वह है जिसे हम हाथ में पकड़कर या सिर पर रखकर कुयें या नदी अथवा तालाब पर ले जाते और उसमें पानी भरते, फिर उठाकर सिर पर धरते और पानी सहित घर पर ले जाते हैं। इनमें एक घट नामात्मक है, दूसरा रूपात्मक। एक संज्ञा-घट, दूसरा संज्ञीघट। जगत् का प्रत्येक पदार्थ इन्हीं दो रूपों में सत्तावान् है। एक है वस्तु का शब्दरूप, जिसका हम केवल जिह्वा द्वारा उच्चारण ही कर सकते हैं और दूसरा है वह रूप जिसका हम उच्चारण नहीं कर सकते परन्तु हमारे ग्रहण त्याग आदि समस्त व्यवहार का आश्रय वही होता है। वस्तु का वह द्रव्य रूप ही अर्थ कहा जाता है। दूसरे शब्दों में घकार-टकारात्मक घट शब्द जिस कपालद्वय-संयोगावच्छिन्न द्रव्य का बोध कराने के लिये प्रयुक्त किया जाता है वही घट शब्द का अर्थ है, इसी प्रकार देवदत्तादि अर्थों को समझना चाहिये।

महामुनि पतञ्जलि ने "गौ" शब्द का ज्ञान कराने के लिये जिस सास्ना-लाङ्गूल-ककुद-खुर-विषाणीरूप पशुपिण्ड को उपस्थित किया है, जिसका उल्लेख हम पीछे शब्द विचार के अवसर पर कर चुके हैं, वह पशु पिण्ड ही गौ शब्द का अर्थ है। गौ शब्द को गौ रूप अर्थ से भिन्न दिखाने के लिये पतञ्जलि ने "किम् यत्तत् सास्ना-लाङ्गूल-ककुद-खुर-विषाण्यर्थरूपं स शब्दः ? यह प्रश्न उपस्थित करते हुए सास्नादिमत् पिण्ड को गौ शब्द का अर्थ कहकर शब्द से भिन्न द्रव्य का अर्थत्व स्पष्ट कर दिया है।

पाणिनि ने "तदधीते तद्वेद"–सूत्र [1] में अध्ययन के विषयभूत शब्द और ज्ञान के विषयभूत अर्थ को पृथक्-पृथक् दो तत् शब्दों द्वारा कह कर दोनों के भेद को स्पष्ट कर दिया है। उसके अनुसार जो कण्ठ ताल्वादि आस्यव्यापार का विषय है, वह शब्द है, तथा बुद्धि व्यापार का विषय अर्थ है।

1. पाणिनि—4/2/59

घट, पट, चैत्र, मैत्र आदि प्रत्येक वस्तु के दो रूप हैं, एक उच्चार्यमाण ध्वनिरूप और एक ज्ञायमान द्रव्यरूप। आचार्य मम्मट ने "जाति ही सब शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त है" इस पूर्व मीमांसक मत का निदर्शन करते हुए एक ही डित्थ आदि वस्तु की शब्दरूपता और अर्थरूपता को स्पष्ट कर दिया है। पूर्व मीमांसकों के अनुसार बाल, वृद्ध और शुक आदि द्वारा उच्चरित डित्थ शब्द भिन्न होते हुए भी डित्थत्व सामान्य की सत्ता से ही डित्थरूप का त्याग नहीं करता है।[1] यहाँ एक ही डित्थ की शब्दरूपता एवं अर्थरूपता के भेद को उच्चारण एवं दर्शन आदि के आधार पर भिन्न रूप में ग्रहण कर हम ध्वनिरूप शब्द और द्रव्यरूप अर्थ के स्वरूप को स्पष्ट समझ सकते हैं।

अर्थ के भेद

यद्यपि काव्यशास्त्र में शब्द और अर्थ दोनों को काव्य का स्वरूप कहा गया है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा के तृतीय अध्याय में काव्य पुरुष की उत्पत्ति का इतिहास बताते हुए, शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर कहा है।[2] साहित्यदर्पण में विश्वनाथ ने भी "काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्"[3] यह कहकर राजशेखर का समर्थन किया है। तथापि शब्द की अपेक्षा अर्थ ही काव्य में महत्वपूर्ण तत्व है। ध्वन्यालोक में आचार्य आन्दवर्धन ने "अर्थः सहृयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः"[4] इन शब्दों में शब्द की अपेक्षा अर्थ को सहृयश्लाघ्य कहा है और उसे ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है।

अर्थ के 3 प्रकार

काव्य में वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य भेद से अर्थ को तीन प्रकार का प्रतिपादित किया गया है। आचार्य मम्मट ने वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक भेद से शब्द के तीन प्रकारों को बताकर क्रम से उन्हीं के प्रतिपाद्य अर्थ को वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य भेद से तीन प्रकार का बताया है[5]—

ये तीनों अर्थ शब्द की अभिधा, लक्षणा, व्यन्जना नाम की तीन शक्तियों पर आश्रित हैं। इन तीनों शब्दशक्तियों और उनके द्वारा बोध्य उक्त तीनों अर्थों का विस्तृत विवेचन काव्य प्रकाश और साहित्य दर्पण में किया गया है, इसके लिए काव्य

---

1. बाल-वृद्ध-शुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु, प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्ति......।

—का० प्र० 10 सूत्र

2. शब्दार्थौ ते शरीरम्। —का० मी० अ० 3
3. सा० द० परि० 1।
4. "ध्वन्यालोक" आनन्दवर्धन 1/2
5. "वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः—का० प्र० 2/2"

प्रकाश का द्वितीय उल्लास और साहित्य दर्पण का द्वितीय परिच्छेद पठनीय है। संक्षेप में—

1. शब्द की स्वाभाविक शक्ति को अभिधा कहते हैं और उससे जो अर्थ विदित होता है, वह वाच्य अर्थ कहलाता है। यह स्वाभाविक शक्ति वही है जिसे लोक में रूढ़ि कहा जाता है। जैसे सास्नादिमती पशुव्यक्ति में गौ शब्द की रूढ़ि है। अतः सास्नादिमती पशुव्यक्ति ही गौ शब्द का वाच्य अर्थ है। यही शब्द का मुख्य अर्थ है।

2. कभी-कभी वक्ता अपने अभीष्ट अर्थ की प्रतीति उसके वाचक शब्द से न कराकर तत्संबद्ध अर्थ के वाचक शब्द द्वारा कराया करता है। ऐसा वह या तो रूढ़ि के कारण करता है, या किसी प्रयोजन विशेष को दृष्टि में रखकर। उदाहरण के लिये किसी स्पर्धा को देखकर जब कोई यह कहता है कि अमुक स्पर्धा में पाकिस्तान हार गया और भारत जीत गया है, तब वक्ता हारने वाली ग्यारह खिलाड़ियों की टीम जो वस्तुतः स्पर्धा में भाग ले रही थी—उसके स्थान पर उससे सम्बद्ध देश पाकिस्तान का नाम लेता है—जौ स्पर्धा स्थल पर उपस्थित हो ही नहीं सकता, अतएव उसका हारना भी सम्भव नहीं हो सकता। यह बात वक्ता को भी विदित है। परन्तु लोक में यह रूढ़ि प्रचलित हो गई है कि किसी देश की ओर से स्पर्धा में भाग लेने वालों को उस देश के नाम से सम्बोधन किया जाने लगा है। इस रूढ़ि के कारण ही उक्त वक्ता पाकिस्तान के ग्यारह खिलाड़ी हार गये हैं, के स्थान पर पाकिस्तान हार गया कहता है। उसके इस कथन में पाकिस्तान शब्द की देश विशेष रूप स्वाभाविक शक्ति प्रत्यक्ष प्रमाण से वाधित होकर ग्यारह व्यक्तियों की पाकिस्तान सम्बन्धी टीम का ही बोध कराती है। प्रश्न है कि स्वाभाविक शक्ति के बाधित हो जाने पर भी तत्संबद्ध अर्थ का बोध उसी शब्द से कैसे हो जाता है? उत्तर यह है कि उस ही पाकिस्तान शब्द में बाधित अर्थ के अतिरिक्त अबाधित अर्थ को प्रकट करने वाली भी एक शक्ति है जो सम्बद्ध अर्थ को प्रकट कर देती है। वह शब्द की स्वाभाविक शक्ति यद्यपि नहीं है, तथापि लोक रूढ़ि से प्रेरित वक्ता द्वारा शब्द पर आरोपित कर दी गई है, जिससे लोक रूढ़ि से परिचित वक्ता और श्रोता उसके अर्थ को झटिति हृदयङ्गम कर लेते हैं। इस आरोपित शक्ति का प्रयोग कहीं-कहीं किसी विशेष प्रयोजन के लिये भी वक्ता द्वारा किया जाता है। जैसे किसी मूर्ख मनुष्य की अत्यधिक मूर्खता को व्यक्त करने के लिये कोई उसे मूर्ख न कहकर गधा या बैल कह दिया करता है। ऐसे स्थल में गधा या बैल का मुख्य अर्थ (पशु विशेष) प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधित है, परन्तु गधा आदि कहे बिना केवल मूर्ख मात्र कह देने से उस व्यक्ति की गधे जैसी अतिशय मूर्खता व्यक्त ही नहीं होती। अतः वक्ता अपने प्रयोजन की सिद्धि

के लिये मूर्ख व्यक्ति में गधे आदि का आरोप करने को विवश हो जाता है। वक्ता द्वारा रूढ़ि या प्रयोजन के कारण आरोपित की गई इस शब्द शक्ति का नाम लक्षणा है और इसके द्वारा जो अर्थ बोधित होता है वह लक्ष्य अर्थ कहा जाता है। उपर्युक्त उदाहरणों में प्रथम पाकिस्तान शब्द रूढ़ि मूलक लक्षणा से पाकिस्तान की टीम को और दूसरे में गधा शब्द प्रयोजन मूलक लक्षणा द्वारा गधे के तुल्य अत्यधिक मूर्ख व्यक्ति को लक्षित करता है। जिसे लक्षित करता है वही लाक्षणिक शब्द का लक्ष्यार्थ होता है।

3. ऊपर जो प्रयोजनमूलक—जिसे प्रयोजनवती भी कहा जाता है—लक्षणा का उदाहरण दिया गया है। उसमें जब कोई वक्ता किसी देवदत्त आदि की अत्यधिक मूर्खता को व्यक्त करने के अभिप्राय से उसे बैल या गधा कहता है तब उसके द्वारा प्रयुक्त "गौर्देवदत्तः" वाक्य में स्थित गौ शब्द का स्वाभाविक शक्तिलभ्य सास्नादिमत् पिण्ड अर्थ गौ शब्द का वाच्यार्थ होता है। किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उसका बाधित होना सिद्ध है क्योंकि देवदत्त सास्नादिमान् नहीं है, यह तथ्य सभी को दृष्टिगोचर है। ऐसी स्थिति में देवदत्त के लिए कहा गया गौ शब्द उपर्युक्त आरोपित शक्ति (लक्षणा) के द्वारा गौ शब्द से गोसदृशमूर्ख देवदत्त अर्थ को लक्षित करता है। प्रश्न उठता है कि वक्ता ने मूर्ख, अधिक मूर्ख, महामूर्ख आदि ही क्यों नहीं कहा, उसने उसे गौ ही अर्थात् बैल ही क्यों कहा ? उत्तर है कि वक्ता यदि उसे विशेषणों से अभिहित करता तो वह देवदत्त की मनुष्योचित मूर्खता को ही प्रकट कर पाता, जबकि वह तेवदत्त को इतना मूर्ख कहना चाहता है, जितना मूर्ख कभी मनुष्य हो नहीं सकता वरन् बैल ही हो सकता है। स्पष्ट है कि गोसदृशजाड्यमान्द्यादि से युक्त देवदत्त को ख्यापित करने के लिये ही उसने उसे गौ (बैल) कहा है। यही उसका प्रयोजन है, जो गौ शब्द से ही व्यक्त होता है, मूर्ख या महामूर्ख आदि से नहीं।

यहाँ यह बात भी स्पष्ट दिखाई दे रही है कि जिस गौ शब्द का अर्थ उसकी स्वाभाविक शक्ति—जिसे अभिधा कहा जाता है—के द्वारा सास्नादिमती पशुव्यक्ति के रूप में गृहीत है उसी गौ शब्द का अर्थ "गौर्देवदत्तः" में मूर्खत्वादि से युक्त देवदत्त भी लक्षणाशक्ति द्वारा लक्षित हुआ है और उस गौ शब्द के प्रयोग से ही देवदत्त में विद्यमान मूर्खता का अतिशयबोधनरूप प्रयोजन भी व्यक्त होता है, क्योंकि उसका (गौ शब्द का) प्रयोग ही वक्ता ने उक्त प्रयोजन की सिद्धि के हित किया है, तब प्रश्न उठता है कि गौ शब्द में स्थित अभिधाशक्ति से साय्नादियुक्त पशु रूप अर्थ और उसमें आरोपित लक्षणा शक्ति से मूर्खरूप अर्थ ज्ञात होने के पश्चात् जो मूर्खत्वादि का अतिशय गौ शब्द से व्यक्त हुआ है, उसे व्यक्त करने की शक्ति भी निश्चय ही इसी गौ शब्द में स्थित है, क्योंकि

इसके अतिरिक्त तो उक्त अर्थ के व्यक्तीकरण का अन्य कोई साधन यहाँ है नहीं । वह शक्ति पूर्वोक्त अभिधा ओंर लक्षणा से भिन्न ही कोई होनी चाहिए क्योंकि वे तो अपना-अपना काम करके विरत हो चुकी हैं । शब्द और शब्द से होने वाली बुद्धि से होने वाला कर्म एक बार हो चुकने के बाद फिर दुबारा नहीं हुआ करता ।[1] अतः इन दोनों से भिन्न तीसरी शक्ति भी गौ शब्द में विद्यमान है । वह शक्ति किस नाम से पुकारी जाय ? अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त तो अन्य कोई शब्दशक्ति किसी दर्शन में प्रसिद्ध नहीं है ? इसी प्रश्न का उत्तर है—व्यन्जना । व्यञ्जना द्वारा बोध्य अर्थ का ही नाम है—व्यंग्य ।

शब्द के तीन ही अर्थ काव्यशास्त्र में मान्य हैं --

1. वाच्य,
2. लक्ष्य और
3. व्यंग्य ।

तात्पर्य नाम का जो एक अर्थ अभिहितान्वयवादी मीमांसकों को मान्य है, वह शब्द का अर्थ न होकर वाक्य का अर्थ है, यह हम पहले बता चुके हैं । अभिहितान्वयवादियों का यह वाक्यार्थ भी अन्विताभिधानवादी मीमांसकों द्वारा अमान्य कर दिया गया है ।[2] वे इसे वाच्यार्थ ही मानते हैं । इस प्रकार वाक्यार्थ रूप तात्पर्यार्थ स्वयम् मीमांसकों के ही एक वर्ग द्वारा अमान्य है, अतः उसके सर्वमान्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता । इसीलिए आचार्य मम्मट ने वाच्य, लक्ष्य, अर्थों को बताकर तात्पर्यार्थ का उल्लेख "कोई तात्पर्यार्थ" को भी मानते हैं—"तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्"[3] इन शब्दों द्वारा किया है । यहाँ "केषुचित्" कहकर मम्मट ने तात्पर्यार्थ की सर्वमान्यता के अभाव को ही सूचित किया है ।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा के अर्थानुशासन नामक नवम अध्याय में दिव्य. दिव्यमानुष, मानुष भेद से जिन द्रौहिणिसम्मत तीन अर्थों का उल्लेख किया है,[4] और उनमें अपने अभीष्ट पातालीय, मर्त्यपातालीय, दिव्य पातालीय, दिव्यमर्त्यपातालीय नामक चार भेद जोड़कर अर्थों की संख्या सात तक पहुँचा दी है ।[5] वे सब अर्थ वाच्य लक्ष्य और व्यंग्य ही होते हैं । उनके राजशेखर द्वारा विहित दिव्य आदि भेद आश्रय अथवा स्थान के भेद को दृष्टि में रखकर किये गये हैं, यह बात उन अर्थों के दिव्य आदि नामों से ही स्पष्ट है । "दिवि भवं दिव्यम्" "पाताले भवं पातालीयम्" यह व्युत्पत्ति ही व्युत्पन्न पुरुषों को यह बोध करा देती है कि ये अर्थ दिव् और पाताल

---

1. शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः—

मीमांसा सूत्र—सा० द० 2. प०

2. वाच्य एवं वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः—का० प्र० 2/6
3. का० प्र० 2/३
4. स त्रिधा इति द्रौहिणिः—का० मी० 9 अध्या०
5. सप्तधा इति यायावरीयः—वही

लोक से सम्बद्ध है अर्थात् दिव् (स्वर्ग) या पाताल लोक अथवा मर्त्य लोक के प्राणियों में उपलब्ध होते हैं। कोई वस्तु यदि हमें तीन या सात स्थानों में उपलब्ध होती है तो इससे वह वस्तु तो सात प्रकार की नहीं हो जाती। उदाहरण के लिए हमें एक घड़ा बेगमपुल पर भी मिल सकता है, बुँदेले पर भी और बुढ़ाना गेट तथा बागपत गेट की पैठ में भी उपलब्ध हो सकता है। इस प्रकार अनेक स्थानों में उपलब्ध होने से एक ही घड़ा अनेक तो नहीं हो जायेगा। ठीक इसी प्रकार वाच्य आदि अर्थों को ही दिव् आदि लोको में उपलब्ध होने वाला समझना चाहिए।

इसी प्रकार राजशेखर ने आठवें अध्याय में जिन बारह या सोलह प्रकार की काव्यार्थयोनियों का उल्लेख किया है वे उन्हीं वाच्य आदि त्रिविध काव्यार्थों के उत्पत्ति स्थान हैं। श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि द्वादश स्थानों से ही काव्यार्थ का जन्म होता है, यही बताना उसका उद्देश्य है।[1] उपर्युक्त सात लोक यदि अर्थ के उपलब्धि स्थान होने से अर्थ के भेदक नहीं, तो ये द्वादश या षोडश काव्यार्थयोनियाँ भी उसके उत्पत्ति स्थान होने से उसकी भेदक नहीं हैं। घड़े का उत्पत्ति स्थान कुम्भकारों के बारह घर होने से घड़ा भिन्न थोड़े ही हो जाता है, वह सर्वत्र एक ही है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी प्रबन्धार्थ का औचित्य प्रदर्शित करने के लिए जिस अर्थ विशेष की चर्चा "औचित्यविचारचर्चा" की तेहरवीं कारिका में की है, वह अर्थ विशेष भी वाच्यादिस्वरूप ही है। उन्होंने औचित्य का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कालिदास के "जातं वंशे भुवनविदिते......" आदि मेघदूतीय पद्य में जिस प्रथित पुष्करावर्त्तकपर्जन्यवंश्यत्व और अमात्य प्रकृतिपुरुषत्व रूप अर्थ के उपन्यास को प्रबन्धोचित ठहराया है, वह श्लोकोक्त शब्दों का वाच्यार्थ ही तो है। उनके द्वारा एतदर्थ भवभूति के उत्तररामचरित से उद्धृत "योऽयमश्वः पताकेयमथवा वीरघोषणा........." आदि सन्दर्भ में सीतापुत्र लव की जिस "परप्रतापस्पर्शासहिष्णुता" को प्रबन्धार्थ के अत्यन्त उचित कहा है। वह उक्त संदर्भ का व्यंग्यार्थ ही तो है, जो लव की उक्ति से व्यक्त होता है।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि शब्द की अभिधाशक्ति से बोध्य वाच्यार्थ और लक्षणा से बोध्य लक्ष्यार्थ तथा व्यञ्जना से बोध्य व्यंग्यार्थ के अतिरिक्त शब्द का अन्य कोई अर्थ नहीं होता। शब्द की ये तीन शक्तियाँ काव्यप्रकाश, सा. दर्पण आदि आकर ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित हैं। इनके ज्ञान के लिये इन ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।

———

1. काव्यार्थानां द्वादशवोनय इत्याचार्याः, षोडश इति यायावरीयः काव्यमीमांसा अध्याय 8

10
कवि-समय तथा देश-काल-विभाग

कविसमय

कवियों का अपना एक निराला संसार है, जो प्रत्यक्ष जगत् की अपेक्षा बहुत विलक्षण है। कवियों के संसार में प्रत्यक्ष जगत् तो अन्तर्निहित रहता ही है, उससे भिन्न भी बहुत कुछ दिखाई देता है। आचार्य मम्मट ने कवि की निर्मिति को ब्रह्मा की निर्मिति की अपेक्षा जो विलक्षण और उत्कृष्ट कहा है उसका प्रमुख कारण यही है कि वह नियति के नियमों से उन्मुक्त होती है।[1] इस उन्मुक्तता की यद्यपि कोई सीमा नहीं है तथापि कुछ ऐसे तथ्य हैं जो कवियों के संसार में प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं।

कवियों ने कुछ ऐसे सिद्धान्त अपना लिये हैं, जिनकी मान्यता कविसमाज में चिरकाल से चली आ रही है। कवियों की ये चिरस्वीकृत मान्यतायें काव्यशास्त्र में कवि समय अथवा कविसमयख्याति के नाम से प्रसिद्ध हैं। संस्कृत में समय शब्द के प्रायः पाँच अर्थ प्रसिद्ध हैं—

1. शपथ,
2. आचार,
3. काल,
4. सिद्धान्त, तथा
5. संवित्।[2]

प्रस्तुत कवि समय शब्द में समय शब्द आचार या सिद्धान्त अर्थ का वाचक है। जिसके अनुसार कवियों के निजी आचार या सिद्धान्त अर्थात् मान्यताओं को कवि-समय या कविसमयख्याति कहा जाता है।

कवि समाज में चिरसमादृत जिन मान्यताओं को कवि-समय या कविसमयख्याति कहा जाता है, ये वे मान्यतायें हैं जो सामान्य रूप से बाह्य जगत् में प्रचलित

---

1. नियतिकृतनियमरहितां, ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मिति-मादधती भारती कवेर्जयति॥
—का० प्र० (मङ्गलाचरण)

1. समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः —अमरको० नानार्थवर्ग 3/149

या उपलब्ध नहीं हैं। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की कसौटी पर वे खरी भी नहीं उतरतीं। तात्पर्य यह है कि किसी लौकिक अथवा शास्त्रीय आधार पर उनकी सत्ता, उनकी भावात्मक-स्थिति, सिद्ध नहीं की जा सकती, तथापि वे कवियों द्वारा मान्य हैं, और काव्य जगत् में उनका व्यवहार चिरकाल से होता आ रहा है। उदाहरण के लिये, कीर्ति (यश) कोई द्रव्य पदार्थ नहीं है, अतएव उसमें किसी गुण का होना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि गुण का आश्रय द्रव्य ही हुआ करता है।[1] परन्तु अद्रव्य रूप कीर्ति को भी कवियों द्वारा श्वेत माना जाता है और उसके द्वारा दिगन्तों का श्वेत हो जाना वर्णन किया जाता है। ऐसी ही अनेक मान्यतायें कविसमाज में सिद्धान्तित हैं, जो साहित्यशास्त्र में कवि समय के नाम से प्रसिद्ध हैं।

काव्यशास्त्र में कवि समय

कवियों के आचार, उनकी मान्यतायें या सिद्धान्त, जिन्हें कविसमय के नाम से व्यवहृत किया जाता है, बाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि महाकवियों की कृतियों में सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। उन्हें खोजना और एकत्र कर परिगणित करना अत्यन्त दुष्कर कर्म है। यद्यपि आचार्य वामन ने अपने काव्यालङ्कारसूत्र के प्रायोगिक नामक पञ्चम अधिकरण में कवि-समय का उल्लेख किया है तथापि उसमें व्याकरण सम्बन्धी नियमों की रूपरेखा ही दी गई है। काव्यशास्त्र में कवि-समय का विवेचन आचार्य राजशेखर ने ही प्रथम बार अपने काव्यमीमांसा नामक ग्रन्थ में किया है। राजशेखर के पश्चात् साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी कविसमयों का परिगणन दर्पण के सप्तम परिच्छेद में किया है। इन दोनों आचार्यों के अतिरिक्त इस महत्व-पूर्ण काव्यशास्त्रीय तत्व का विवेचन अथवा विस्तृत उल्लेख संस्कृत के किसी आचार्य ने अपने ग्रन्थ में नहीं किया है। यहाँ हम दोनों आचार्यों के कवि समय विषयक विचारों को क्रम से उपस्थित कर इस विषय को स्पष्ट करना चाहते हैं।

राजशेखर का कवि समय विवेचन

ऋषिकल्प, परमप्रतिभावान् कवि, आचार्य राजशेखर ने कवि-समय का लक्षण और उसके प्रकारों का सोदाहरण विवेचन बड़े व्यवस्थित ढङ्ग से अपनी काव्यमीमांसा में किया है। काव्यमीमांसा के 14, 15, 16 तीन अध्याय कवि समय के विवेचन में ही लिखे गये हैं। आचार्य ने कवि समय को भौम और स्वर्ग्य भेदों में विभक्त कर सर्वप्रथम भौम (भूमि सम्बन्धी) और स्वर्ग्य (स्वर्ग सम्बन्धी) कवि समय का विश्लेषण किया है। फिर भौम के जाति, द्रव्य और क्रिया विषयक भेदों का 14वें अध्याय में और गुण विषयक भेदों का 15वें अध्याय में विस्तार से विवेचन किया है। इस प्रकार भौम कवि समय का विवेचन दो अध्यायों में पूर्ण कर 16वें अध्याय में स्वर्ग्य कवि-समय का परिचय दिया है। स्वर्ग्य कवि समय में आचार्य ने स्वर्ग शब्द को भूमि से भिन्न लोक का उपलक्षण मानकर देवलोक, आकाश,

---

1. गुणाश्रयो हि द्रव्यम्। —तर्कभाषा प्र० खं०

पाताल आदि से सम्बद्ध वस्तुओं के वर्णन में कवियों के आचार को बड़ी सूझबूझ के साथ बारीकी से विवेचित किया है।

राजशेखरकृत कवि-समय-लक्षण

"अशास्त्रीयम् अलौकिकञ्च परम्परायातं यमर्थम् उपनिबध्नन्ति कवयः, स कविसमयः" अर्थात् जो न शास्त्र-सिद्ध है, न लोक-सिद्ध है, केवल परम्परा में प्रचलित है, ऐसे जिस अर्थ (जाति, द्रव्य, गुण) का वर्णन कवि लोग करते हैं, वह कवि-समय है।

कवि समय दोष नहीं, गुण है।

उपर्युक्त लक्षण के अनुसार जो अर्थ न शास्त्र-सिद्ध है, न लोक-सिद्ध, उसे दोष नहीं कहा जा सकता। इसका कारण राजशेखर यह बताते हैं कि प्राचीन विद्वानों ने सहस्रों शाखाओं वाले वेदों का अङ्गों सहित अध्ययन करके तथा अनेक शास्त्रों का ज्ञान करके और देश देशान्तरों एवम् द्वीप दीपान्तरों में भ्रमण करके जिन अर्थों को देखा, सुना और समझा उन अपने दृष्ट' श्रुत एवं अनुभूत अर्थों का अपनी कृतियों-काव्यों, महाकाव्यों नाटकों और प्रबन्धों में वर्णन किया है। उन बहुदृष्ट और बहुश्रुत विद्वानों द्वारा वर्णित वे अर्थ यद्यपि सभी देशों और कालों में एक जैसे नहीं है, तथापि उन अनुकरणीय मनीषियों के विपरीत वर्णन करना उन पूज्यों का व्यतिक्रम समझ कर उनके अनुकूल अर्थों के वर्णन करने की परम्परा का नाम ही कवि समय है। प्रारम्भ में पूज्यों और उपजीव्यों का अनुकरण ही जिसका मूल कारण था, ऐसा यह पूर्वानुगामी व्यवहार ही इसके मूल कारण को न समझने वालों और प्रयोग मात्र पर दृष्टि केन्द्रित रखने वालों द्वारा कवि समय के नाम से प्रयुक्त किया जाने लगा और फिर रुढ़ि बन गया।

इस कविसमय में अनेक अर्थों का वर्णन तो आदि काल से ही एक व्यवस्थित रूप में चला आ रहा है। जैसे—बालमीकि, व्यास, भास, कवि-पुत्र, सौभिल्ल, शूद्रक और कालिदास सभी उपजीव्य कवि कीर्ति को श्वेत, अनुराग को रक्त, पाप को मलिन वर्ण वाला वर्णन करते आ रहे हैं, अतः ऐसी वस्तुयें कवि समय कहलाने लगीं। परन्तु कुछ तत्व ऐसे भी हैं, जो परस्पर एक दूसरे के आरम्भ को देखकर बाद के लोगों ने होड़ा होड़ी प्रचलित कर दिये हैं, इस प्रकार के लोगों को राजशेखर ने धूर्त कहा है। प्राचीनों द्वारा स्थापित और धूर्तों द्वारा प्रचालित कवि समय का पृथकत्व राजशेखर नहीं कर पाये हैं। अच्छा होता यदि राजशेखर दोनों को पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट कर देते। हमारा अनुमान है कि किसी कवि ने कामदेव के बाणों से युवक युवतियों के हृदय का भिन्न होना वर्णन किया तो दूसरी ने स्त्री के कटाक्षों द्वारा पुरुषों के हृदय का भिन्न होना भी कल्पित कर लिया। यहाँ प्रथम प्रकार का हृदय-वेध तो युवकों में काम वेदना की प्रबलता के कारण स्वाभाविक है,

परन्तु दूसरा सर्व वेध न होने के कारण होड़ा होड़ी प्रचलित है। ऐसे ऐसे कवि-समयों को ही आचार्य ने धूर्तों द्वारा प्रचलित कहा होगा। इस प्रकार प्राचीन और अपेक्षाकृत अर्वाचीन दोनों प्रकार के कवियों का आचार शनैः शनैः रूढ़ होकर कवि समय के नाम से परिचित होने लगा। यह कविसमय कवि मार्ग का अतिशय अनुग्राहक होने से काव्य का गुण ही है, इसे दोष नहीं कहा जा सकता।

कवि समय के भेद

कवि समय--स्वर्ग्य, भौम और पातालीय भेद से तीन प्रकार का है। इनमें स्वर्ग्य और पातालीय की अपेक्षा भौम प्रधान है। उसका विषय बहुत विस्तृत तथा व्यापक है। यह चार प्रकार का है—

1. जाति रूप,
2. द्रव्य रूप,
3. गुण रूप,
4. क्रिया रूप।

इन चारों में प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं—

1. असत् का उल्लेख,
2. सत् का भी अनुल्लेख,
3. नियम।

1. जो वस्तु नहीं हैं उसकी भी सत्ता मानकर वर्णन करना—असत् का उल्लेख कहाता है, जैसे नदियों में कमल, कुमुद आदि का वर्णन जलाशय मात्र में हंस, सारस आदि पक्षियों का वर्णन जहाँ तहाँ स्थित सभी पर्वतों में सुवर्ण और रत्नों के होने का वर्णन। नदियों के बहते जल में, कमल आदि नहीं होते। जलाशय मात्र में हंस आदि पक्षी नहीं रहते। सभी पर्वतों में सुवर्ण और रत्न नहीं होते। अतः ये सब पदार्थ असत् हैं, परन्तु कवि लोग इनका वर्णन करते हैं। ये सब नदी आदि पदार्थ जाति रूप हैं अतः असत् का उल्लेख रूप यह कवि समय जातिगत है।

2. जो है, वह सत् कहाता है। सत् को भी असत् मानकर उसका अभाव वर्णन करना सत् का अनुल्लेख है, जैसे—बसन्त में मालती (चमेली) का अभाव, चन्दन के वृक्षों पर पुष्पों और फलों का अभाव, अशोक के वृक्ष में फल का अभाव।

3. अनेक स्थानों में प्रवृत्त व्यवहार को किसी एक स्थान विशेष में नियमित कर देना नियम रूप कवि समय है। जैसे—समुद्रों में ही मकरों का और ताम्रवर्णी नदी में ही मोतियों का वर्णन करना।

उक्त तीनों भेद जातिरूप कवि समय के हैं। द्रव्यरूप के भी इसी प्रकार तीन भेद नीचे दिये जा रहे हैं—

1. असत् द्रव्य का निबन्धन, जैसे—अन्धकार का मुष्टि ग्राह्य अर्थात् मुट्ठी

में ग्रहण करने योग्य और सूची वेध्य अर्थात् सुई से बींधा जाने योग्य होना ।अन्धकार का मुष्टि ग्राह्य या सूची वेध्य होना असत् है और वह द्रव्य रूप है ।

2. सत् द्रव्य का अनिबन्धन, जैसे—कृष्ण पक्ष में होती हुई भी ज्योत्स्ना का वर्णन न करना और शुक्ल पक्ष में होते हुए भी अन्धकार का वर्णन न करना ।

3. मलयाचल में ही चन्द्र का उत्पन्न होना और हिमालय में ही भूर्ज पत्र उत्पन्न होना, अन्यत्र नहीं, यह द्रव्य विषयक नियमन है ।

कुछ फुटकर द्रव्यों में भी कवि समय के सिद्धान्त लागू होते हैं, जैसे—क्षीर समुद्र और क्षार (खारे) समुद्र को और सागर तथा महासागर को एक मानना ।

जाति रूप और द्रव्य रूप के समान क्रियारूप अर्थ के भी इसी प्रकार तीन भेद होते हैं—

1. असत् क्रिया रूप अर्थ का निबन्धन । जैसे—चकवा चकवी के जोड़े का रात्रि में अलग-अलग तटों पर निवास और चकोरों का चाँदनी को पीना । ये दोनों क्रियाएँ असत् हैं, परन्तु कवि लोग इनका वर्णन करते हैं ।

2. सत् अर्थात् होते हुए भी क्रिया रूप अर्थ का वर्णन न करना । जैसे—दिन में कुमुदों का न खिलना तथा रात में शेफालिका के फूलों का न झड़ना । ये दोनों क्रियायें होती हैं, परन्तु कवि समय में इनका होना मान्य नहीं है ।

3. क्रिया रूप अर्थ का नियमन जैसे—ग्रीष्म आदि अन्य ऋतुओं में भी कोकिल का कूजन सुना जाता है परन्तु कवियों के आचार में वह बसन्त में ही नियमित कर दिया गया है । इसी प्रकार मोरों का बोलना और नाचना भी केवल वर्षा ऋतु में ही कवि समय में नियमित है ।

ऊपर जातिगत, द्रव्यगत और क्रियागत कवि समय का उल्लेख किया गया है । इनके कवियों द्वारा प्रयुक्त उदाहरणों के श्लोक राजशेखर कृत काव्यमीमांसा के चतुर्दश (चौदहवें) अध्याय में क्रम से दिये गये हैं । यह संस्कृत के कवियों का सामान्य व्यवहार है, जो सभी कवियों के काव्यों में सर्वत्र देखा जा सकता है । ऐसे सामान्य व्यवहार को किसी एक कवि के व्यवहार से उदाहृत करना इसी प्रकार अनावश्यक है, जिस प्रकार पक्षियों का आकाश में उड़ना दिखाने के लिये किसी एक पक्षी विशेष के उड़ने का उदाहरण देना । अतः इसके उदाहरणों के लिये काव्य-मीमांसा के चौदहवें अध्याय को ही देखना उचित है । यहाँ उन्हें उसी रूप में उद्धृत कर निबन्ध को अनावश्यक रूप से बढ़ाना हम उचित नहीं समझते । काव्य-मीमांसा को मूल रूप से यहाँ उतारना हमारा उद्देश्य नहीं है । कवि समय क्या है ? और कितने प्रकार का है ? यही बताना हमारा उद्देश्य है । अतः आगे भी हम कविराज विश्वनाथ की भाँति कविसमयों का परिचय देना और राज-शेखर की भाँति उनके भेदों और विशेषताओं का उल्लेख करना ही पर्याप्त समझते हैं ।

काव्यमीमांसा के 15वें अध्याय में दिये गये गुणगत कवि समय के भी असत् का निबन्धन, सत् का अनिबन्धन और नियमन भेद से किये गये तीनों रूपों का विवरण निम्न प्रकार है—

1. असत् गुण का निबन्धन, जैसे—यश और हास्य आदि के श्वेत होने और अपयश तथा पाप आदि के काला होने एवं क्रोध एवं अनुराग आदि के लाल होने का वर्णन।

यश और हँसों आदि पदार्थों की यह गुणात्मक परिस्थिति मानवमन की सामान्य अनुभूति पर आधारित है। निश्चय ही यह अनुभूति बड़ी उज्ज्वल होती है। इसीलिए यश का उपार्जन मनुष्य का मुँह उजला करने वाला कहा जाता है। हास्य का रूप तो उज्ज्वल है ही।

अपयश और पाप के कारण मनुष्य स्वयम् अपना मुँह छिपाना चाहा करता है, यह सामान्य अनुभव ही बुराइयों के काला होने का साधक है, इसीलिये बुरे या पापी मनुष्य का मुँह काला कहा जाता है।

क्रोध से लाल होने और प्रेम में रंग जाने की लोकोक्तियों के पीछे भी यही अनुभूति है।

2. सत् (विद्यमान) भी गुण का अनिबन्धन, जैसे—कुन्द की कलियाँ और मुहँ से सुगन्धित पान दबाये रहने वाले विलासी पुरुषों एवं स्त्रियों के दाँत (रक्तवर्ण के होने पर भी) कवियों द्वारा श्वेत वर्ण ही सदा निबद्ध किये जाते हैं। कमल आदि की कलियाँ हरे रंग की होती हैं, परन्तु कविजन उनका भी प्राय: श्वेत रूप में ही वर्णन करते हैं, हरा रंग नहीं मानते। इसी प्रकार प्रियंगु (काँगनी) के पुष्प पीले होते हैं, परन्तु उन्हें श्यामल वर्ण वाला ही कविसमय में स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त सत् गुण का अनिबन्धन राजशेखर ने क्रिया आदि के अनिबन्धन की कोटि में रखकर निरूपित किया है, परन्तु यह उससे भिन्न वस्तुत: अन्यथा निबन्धन है। आचार्य ने, जो जैसा है, उसे वैसा निबद्ध न कर अन्यथा निबन्धन में ही समाविष्ट कर लिया है।

3. **गुण नियम**—कुछ वस्तुओं के रक्त, श्वेत आदि गुण कविसमय में नियमित कर लिये गये हैं, जैसे—सामान्य रूप से माणिक्य का रक्तवर्ण, पुष्पों का श्वेतवर्ण और मेघों का कृष्णवर्ण। तात्पर्य यह है कि पद्मराग (रक्त) और मरकत (हरित) आदि भेद से मणियाँ यद्यपि भिन्न-भिन्न वर्ण वाली होती हैं, परन्तु जब मणि विशेष का नाम न लेकर किसी स्थान या वस्तु में मणियों का उल्लेख किया जाता है तब वहाँ उनका वर्ण रक्त ही माना जाता है। उदाहरण के लिये मणि विशेष मरकत आदि का नाम न लेकर जब मणिकुट्टिम (मणियों का फर्श) या मणिमाला (मणियों की माला) कहा जायेगा, तब उसका रङ्ग लाल ही वर्णन किया जायेगा।

इसी प्रकार पुष्प यद्यपि भिन्न-भिन्न वर्ण के होते हैं, परन्तु पुष्प विशेष का नाम न लेकर जब सामान्य रूप से पुष्प का उल्लेख किया जाता है, जैसे—पुष्पमाला, तब यहाँ पुष्पों का रङ्ग श्वेत ही वर्णन किया जाता है। यही नियम मेघों के विषय में भी है। बिना शरद आदि ऋतु का नाम लिये जब सामान्य रूप में "मेघ" कहा जायेगा तब उसका वर्ण काला माना जायेगा, जैसे—"घनश्यामेन रामेण" में श्याम-वर्ण वाले राम की उपमा "घन" से दी गई है। श्रीकृष्ण को भी घनश्याम कहा जाता है।

वर्णों का अभेद

कुछ वर्णों में भेद होते हुए भी कविसमयानुसार अभेद माना जाता है, जैसे काले और नीले में, काले और हरे में, काले और श्यामल में, पीले और लाल में, श्वेत और गौर में कोई भेद न मानकर एक रूप में वर्णन करना सर्वत्र कवियों का समय (सिद्धान्त, आचार) है। इसके लिये एक दो उदाहरण देना आवश्यक है—

"नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम्"

राम की स्तुति में पढ़े जाने वाले तुलसी के इस प्रसिद्ध श्लोक में नील और श्याम में कोई भेद न कर राम के अङ्ग को नीलकमल के समान श्मामल कहा गया है।

"कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्त्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम्॥

कालिदास ने रघुवंश के इस श्लोक में श्वेतवर्ण वाले वृष (बैल) को श्वेत वर्णवाले कैलास प्रर्वत के समान गौर कहा है। जिससे श्वेत और गौर का एकत्व सिद्ध होता है।

"कर्पूरगौरं करूणावतारम्"

भगवान् शिव की स्तुति में पढ़े जाने वाले इस प्रसिद्ध श्लोक में भी कपूर के समान श्वेत वर्ण वाले शिव को कपूर के समान गौर वर्ण वाला कहने से श्वेत और गौर का एकत्व सिद्ध है।

इसी प्रकार अन्य वर्णों की एकता के उदाहरण काव्यमीमांसा में तथा कालिदासादि के काव्यों में देखने चाहियें।

नेत्रों का वर्ण—

कवि समयानुसार श्वेत, श्याम, कृष्ण तथा मिश्रवर्णों में वर्णनीय है। अकेले महाकवि कालिदास ने ही नेत्रों को कहीं श्याम, कहीं कृष्ण और कहीं मिश्रवर्ण वाला कहा है। रघुवंश के निम्नाङ्कित श्लोक में नेत्रों की श्यामता वर्णित है—

श्यामता—

अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्यें,
कतिचिदवनिपालः शर्वरीः शर्वकल्पः।

पुरमबिशदयोध्यां मैथिलीदर्शिनीनां,
कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम् ।।[1]

यहाँ राजा दशरथ राम विवाह के पश्चात् पुत्रों और पुत्र-वधुओं के साथ जनकपुर से लौटकर जब अयोध्या में प्रवेश कर रहे हैं, तब जानकी को देखने के लिये अयोध्या की स्त्रियाँ राजमार्ग में स्थित मकानों की खिड़कियों से झाँक रही हैं। उस समय उनकी आंखों से युक्त खिड़कियाँ ऐसी लग रही हैं जैसे कि उनमें नीलकमल खिले हुए हों।

यहाँ महाकवि ने लोचनों का कुवलयों (नीलकमलों) से साम्य किया है, जिससे नील और श्याम में अभेद तथा लोचनों का श्यामत्व सिद्ध है।

मेघदूत के निम्नांकित श्लोक में नेत्रों को कृष्णवर्ण कहा गया है—

कृष्णता—

पादन्यासक्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रविन्दून्
आमोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान् ।।[2]

यहाँ यक्ष मेघ से कह रहा है कि उज्जयिनी में स्थित महाकाल के मन्दिर में भगवान् महाकाल की आराधना में नृत्य करती हुई तथा चँवर डुलाती हुई वेश्यायें तेरे द्वारा गिराई वर्षा की प्रथम बूंदों से सुख का अनुभव कर तेरी और अपने भ्रमर पंक्ति के समान काले और लम्बे कटाक्षों को फेंकेंगी।

यहाँ भ्रमरपंक्ति से नेत्रों की उपमा करने से नेत्रों का कृष्णवर्ण वाच्य है। मेघदूत के ही निम्नपद्य में नेत्रों की मिश्रवर्णता (मिले जुले रङ्ग) का वर्णन है—

मिश्रवर्णता—

तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रू लताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरि विलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बम्
पात्रीकुर्वन् दशपुरवधूनेत्र-कौतूहलानाम् ।।[3]

यहाँ दशपुर की वधुओं के नेत्रों को "कृष्णशारप्रभा" वाले अर्थात् काली बहुरङ्गीप्रभा से युक्त तथा वायु के झौंके के द्वारा ऊपर फेंके जाने वाले कुन्द के फूलों का पीछा करते हुए भ्रमरों की श्री को चुराने वाले कहकर महाकवि ने नेत्रों की श्वेत-श्याम-शोण कान्ति के मिश्रण से सम्पन्न चित्रवर्णता का परिचय दिया है।

---

1. रघुवंश 9/93
2. मेघदूत 1/36
3. वही 1/47

वास्तव में किसी सुन्दर विशाल नेत्र की परिधि श्वेत और मध्य में पुतली काली तथा कोयो में लाली प्रकृति सिद्ध होती है, अतएव कवि जहाँ चारों ओर की परिधि के अभिप्राय में नेत्र का वर्णन करता है वहाँ वह नेत्र को श्वेत कहा करता है। विष्णु को पुण्डरीकाक्ष (श्वेतकमल जैसी आँखों वाला) इसी अभिप्राय से कहा जाता है। और जहाँ काली पुतली के अभिप्राय से नेत्र का वर्णन किया जाता है वहाँ उसे काला अर्थात् नीलकमल के तुल्य कहा जाता है तथा जहाँ कनखियों की लालिमा को भी दृष्टि में रखकर कवि नेत्र का वर्णन करता है, वहाँ वह उसे मिश्र-वर्ण अर्थात् "श्वेत-श्याम-रतनार" कहा करता है। इसी अभिप्राय से नेत्र का अनेक वर्णों में उल्लेख कवि समय में प्रसिद्ध है।

ऊपर भौम पदार्थों के सम्बन्ध में कवियों के व्यवहार का उल्लेख किया गया है। भौम पदार्थ की भाँति ही स्वर्गीय और पातालीय पदार्थों के विषय में भी कवियों की मान्यतायें हैं, जिनका उल्लेख राजशेखर ने काव्य मीमांसा के 16वें अध्याय में किया है।

स्वर्ग्य कवि समय

स्वर्ग्य कवि समय में पृथ्वी से ऊपर वर्तमान अन्तरिक्ष और देवलोक के पदार्थों के सम्बन्ध में कवियों की जो मान्यतायें हैं, उनका उल्लेख किया गया है। कुछ विशेष मान्यतायें निम्न प्रकार हैं—

चन्द्र सम्बन्धी

(क) चन्द्रमा में वर्तमान कलङ्क को शश और हरिण के रूप में समान रूप से मान्य किया जाता है। अतएव चन्द्रमा को शशाङ्क भी कहा जाता है और मृगाङ्क भी। इस प्रकार शश और मृग दोनों का ऐक्य कविसमय में मान्य है। जो सर्वत्र कवि व्यवहार में देखा जा सकता है।

(ख) कामदेव के ध्वज में स्थित चिन्ह को मकर भी कहा जाता है और मत्स्य भी। अतएव कामदेव के लिए "मकरकेतन:" और "मीनकेतन:" दोनों शब्दों का व्यवहार कवि लोग करते हैं। इस प्रकार मकर और मीन दोनों का ऐक्य कविसमय में मान्य है।

(ग) चन्द्रमा को समुद्र से उत्पन्न होने वाला भी माना जाता है और अत्रि के नेत्र से उत्पन्न हुआ भी। इस प्रकार दोनों चन्द्रमाओं का ऐक्य कविसमयसिद्ध है।

(घ) अनन्तकाल से उत्पन्न भी शिव के मस्तक का चन्द्रमा सदा बालचन्द्रमा के रूप में ही वर्णन किया जाता है, जैसे—भाले वालविधुर्गले च गरलम्"।

उपर्युक्त चार मान्यतायें चन्द्रमा के विषय की हैं। कामदेव के विषय की कुछ मान्यतायें निम्न प्रकार हैं—

कामसम्बन्धी—

1. काम अमूर्त्त होता हुआ भी मूर्तरूप में वर्णन किया जाता है ।
2. पुष्पों का ही उसका धनुष् है और पुष्प ही उसके बाण हैं ।
3. गुञ्जन करती भ्रमरावली कामदेव के धनुष की प्रत्यञ्चा है ।
4. काम के बाणों से युवकयुवतियों के हृदय का वेध होता है ।
5. इन्द्रियों के "शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श" ये 5 विषय ही उसके 5 बाण हैं ।
6. मन कामदेव की जन्मभूमि है, अतएव उसे मनोज, मनोभव आदि कहा जाता है ।
7. यह अपने जन्म-स्थान "मन" का ही भेदन करता है और शङ्कर का वैरी है, आदि-आदि ।

विशेष—राजशेखर ने द्वादश आदित्यों (सूर्यों) के ऐक्य को भी कविसमय में परिगणित किया है, जो युक्तियुक्त नहीं हैं : कविसमय—जैसा कि राजशेखर ने स्वयम् लक्षित किया है--वही है जो न शास्त्रसिद्ध है, न कि लोक सिद्ध । आदित्यों का द्वादशत्व ज्योतिष आदि शास्त्रों में प्रसिद्ध ही है और अमरकोश आदि में उसे द्वादशात्मा कहा है, जिससे उसका द्वादशत्व तथा एकत्व दोनों सिद्ध हैं, सूर्य का एकत्व लोकसिद्ध है ही, सारा विश्व सूर्य के एकत्व से परिचित है ।

इसी प्रकार नारायण और माधव का एकत्व कोषादि में पर्यायभूत होने से आबालवृद्ध प्रसिद्ध है, उसे कविसमय कहना ठीक नहीं । कमला और सम्पत्ति का ऐक्य भी "श्रीश्च सम्पत्तिशोभयोः" आदि नानार्थ शब्दों के परिगणन में अमरकोशादि में कहा ही है, लोक में भी विष्णु की पत्नी लक्ष्मी तथा चाँदी, सोनारूप लक्ष्मी को सब लोग एक ही मानते है और एक रूप में व्यवहार करते दिखाई देते हैं, जो सर्वसाधारण लोग कवि-समय का नाम भी नहीं जानते वे भी दीपावली के दिन चाँदी, सोना सामने रखकर लक्ष्मी देवी का पूजन करते हैं । अतः जो शास्त्र और लोक दोनों से सिद्ध हैं उसे कविसमय में परिगणित करना युक्तियुक्त नहीं है ।

पातालीय कविसमय—भौम और स्वर्ग्य कविसमय के समान ही कुछ पातालीय कविसमय भी राजशेखर द्वारा गिनाये गये हैं, जैसे—

1. नाग और सर्प का ऐक्य,
2. दैत्य, दानव और असुरों का ऐक्य,
3. इसी प्रकार के अन्य भेद ।

इनमें प्रथम "नाग और सर्प का ऐक्य" हमारी समझ में कविसमय नहीं हो सकता । वह स्वयम् लोक सिद्ध है । कोई भी व्यक्ति नाग और सर्प में भेद नहीं ग्रहण करता । सब लोग दोनों को एक ही मानते हैं । नागपंचमी के दिन नागपूजा के

निमित्त सर्प को ही दूध पिलाया जाता है । "जो नागनाथ सो सर्पनाथ" यह लोकोक्ति सर्वत्र प्रसिद्ध है । अतः नाग और सर्प का एकत्व लोकसिद्ध है ।

दूसरा "दैत्य, दानव और असुरों का ऐक्य" जो राजशेखर ने कवि-समय में गिनाया है, उसके सम्बन्ध में हमारा विचार है कि यह भी कविसमय नहीं हो सकता । ये तीनों प्राणी "दैत्य, दानव, असुर" लोक के प्राणी नहीं हैं । ये तो शास्त्र-प्रसिद्ध ही प्राणी हैं और शास्त्र में इन्हें कहीं भी भिन्न नहीं कहा जाता । अमरकोश में ये तीनों पर्यायवाची शब्द कहे गये हैं :—

"असुरा दैत्य दैतेय दनुजेन्द्रारि दानवाः ।"[1]

कोश के अनुसार ये तीनों जब समानार्थक ही हैं, तब इनका ऐक्य कोश से ही सिद्ध है । कोश तो शब्द शक्ति के ग्रहण में प्रबल प्रमाण है, वही जब असुरों, दैत्यों, दानवों के एकत्व को प्रमाणित कर रहा है, तब इनके ऐक्य को कविसमम कैसे कहा जा सकता है ?

राजशेखर ने शेष और कूर्म आदि के ऐक्य को भी कविसमय में गिनाया है परन्तु उसका कोई उदाहरण नहीं दिया है । प्रत्येक स्वाभिमत कविसमय को उदाहरण मुखेन प्रस्तुत करने वाले आचार्य ने शेष और कूर्म के ऐक्य का उदाहरण क्यों प्रस्तुत नहीं किया, यह समझ में नहीं आता । हमारी समझ से यह अंश काव्यमीमांसा में प्रक्षिप्त है, अन्यथा राजशेखर जैसा बहुश्रुत आचार्य शेष और कूर्म को एक कैसे बता सकता था । राजशेखर ने लक्ष्मी और सम्पत्ति के ऐक्य का जो—

"दोर्मन्देरितमन्दरेण जलधेरुत्थापिता या स्वयं ।
यां भूत्वा कमठः पुराणककुदन्यस्तामुदस्तम्भयत् ।।"

इत्यादि उदाहरण दिया है, उसी को यदि शेष और कमठ के तथा लक्ष्मी और सम्पत्ति के ऐक्य का सम्मिलित उदाहरण माना जाय तो हमारा कहना है कि वहाँ विष्णु कमठ बनकर जिसे अपने ककुद पर धारण कर रहे हैं वह लक्ष्मी है, न कि पृथ्वी । विष्णु ने लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिये मन्दराचल को कमठ बनाकर अपनी पीठ पर धारण किया था, न कि पृथ्वी को । कमठ बनकर लक्ष्मी को ककुद पर धारण करने से यही तात्पर्य है कि लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये विष्णु को कमठ बनकर मन्दराचल को पीठ पर धारण करना पड़ा । यदि प्रकृत पद्य में कमठ बनकर पृथ्वी को धारण करना रूप अर्थ ही कवि अभीष्ट है तो हम पूछते हैं कि यहाँ "दोर्मन्देरितमन्दरेण" पद में निर्दिष्ट जो मन्दर पर्वत है, उसे किसने धारण किया ? वह समुद्र में निराधार ही ठहर गया क्या ? समस्त पुराणों में मन्दर पर्वत का कूर्म की पीठ पर स्थिर होना और फिर उसके द्वारा समुद्र-मन्थन वर्णित है । उस समय वहाँ अर्थात् जलधि में पृथ्वी के मग्न होने का प्रसङ्ग ही कहाँ था ? अतः यहाँ "पुरुषोत्तमः

---

1. अमरकोष 1/12

कमठो भूत्वा मन्दरेण यां ककुदन्यस्तां लक्ष्मी जलधेरुदस्तम्भयत्'' इस अन्वय सम्बन्ध से मन्दर को पीठ पर रखना ही अभिप्रेत है, पृथ्वी को नहीं ।

पृथ्वि, स्थिरा भव, भुजङ्गम धारयैनां
त्वं कूर्मराज, तदिदं द्वितयं दधीथाः ।
दिक्कुञ्जराः कुरुत तत्त्रितये दिधीर्षा,
रामः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ।।[1]

कविराज विश्वनाथ द्वारा कारण से कार्य का समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास के विषय में उदाहृत इस श्लोक में भुजङ्गम (शेष) कूर्मराज और दिक्कुञ्जरों का पृथक्त्व और उनके कार्य का भी पृथक्त्व स्पष्टरूप से कहा गया है, अतः शेष और कूर्म आदि का ऐक्य कवियों को मान्य कैसे हो सकता है और कैसे उसे कविसमय कहा जा सकता है ?

क्षेमेन्द्र और कविसमय—यद्यपि–जैसा कि हम पहले कह आये हैं—राजशेखर और विश्वनाथ के अतिरिक्त किसी भी आचार्य द्वारा किया गया कविसमय का विवेचन उपलब्ध नहीं होता है, तथापि राजशेखर और क्षेमेन्द्र हमारी तुलना के विषय हैं । अतः इस विषय में क्षेमेन्द्र के विचारों पर भी दृष्टि डाल लेना आवश्यक है ।

आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा रचित अनेक ग्रन्थों में ''औचित्यविचारचर्चा तथा कविकण्ठाभरण'' ये दो ग्रन्थ ही सर्वाधिक कवि शिक्षापरक है, परन्तु आचार्य ने इन दोनों ग्रन्थों में कविसमय का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया है । कविसमय जब कवियों का सिद्धान्त अथवा आचार है, तब उसका उल्लेख कविकण्ठाभरण में तो क्षेमेन्द्र द्वारा किया ही जाना चाहिये था । कविकण्ठाभरण में कवियों को किन-किन विषयों का ज्ञान आवश्यक है, यही सब क्षेमेन्द्र ने प्रस्तुत किया है, ऐसी स्थिति में जहाँ अनेक प्रकार के परिचयों को प्रदर्शित किया गया है, वहाँ कविसमय का परिचय भी उनके लिये आवश्यक था, पता नहीं क्षेमेन्द्र इस दिशा में उदासीन क्यों रहे ? लगता है राजशेखर के कविसमय निबन्धन के पश्चात् इस विषय में कुछ कहना शेष न समझ कर क्षेमेन्द्र ने भी उसी प्रकार मौन धारण कर लिया, जिस प्रकार उनके उत्तरवर्ती अन्य सभी आचार्यों ने किया है । आचार्य विश्वनाथ ने जिस प्रकार कविसमय का परिगणन कुछेक नवीन मान्यताओं को जोड़कर स्पष्ट रूप से किया है (जिसका हम आगे उल्लेख करेंगे) उसी प्रकार कुछ थोड़ी नवीन खोज के साथ क्षेमेन्द्र भी कर ही सकते थे, क्योंकि कविसमय की कोई सीमा तो निर्धारित न राजशेखर ने की है, न विश्वनाथ ने । अतः कुछ मान्यतायें क्षेमेन्द्र द्वारा भी अतिरिक्त खोज लेना कठिन नहीं था । हमारी सम्मति में ऐसा करना किसी अभाव की पूर्ति न होकर पिष्टपेषण मात्र ही होता, इसीलिये केवल काम की बात कहने में विश्वास करने वाले आचार्य

1. सा० द० 10/709 ज्ञ

ने कविसमय पर लेखनी उठाना अनावश्यक समझा है। वैसे उन्होंने कुछ आवश्यक तत्वों की भी उपेक्षा अपने ग्रन्थों में की है, उदाहरण के लिये कविकण्ठाभरण में कवियों के लिये छन्द-परिचय का कोई उदाहरण न देना पर्याप्त है। छन्दःपरिचय से अधिक तो कवियों के लिये दूसरा कोई परिचय हो ही नहीं सकता परन्तु उसे भी क्षेमेन्द्र ने कविकण्ठाभरण में उदाहृत नहीं किया है। औचित्य विचारचर्चा में "च" आदि निपातों तक के औचित्य का उल्लेख करने वाले आचार्य का परिचय प्राप्ति नामक कविकण्ठाभरण के पंचम सन्धि में छन्दोविचिति से कवि को परिचित कराना अनावश्यक समझना आश्चर्यजनक ही है। परन्तु क्षेमेन्द्र कविसमय विषयक सिद्धान्त से पूर्ण परिचित थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। उन्होंने इन कविशिक्षापरक ग्रन्थों में भी कविसमय का स्वरचित उदाहरणों में न केवल परिचय दिया है, अपितु, पूर्ण रूप से निर्वाह किया है। उदाहरण के लिये 'औचित्यविचारचर्चा' में रसौचित्यविषयक निम्नलिखित—

कुर्वन् सर्वाशये व्याप्तिम् औचित्यरुचिरो रसः।
मधुमास इवाशोकं करोत्यङ्कुरितं मनः॥[1]

इस कारिका में जो मधुमास (वसन्त) में अशोक का अङ्कुरित होना कहा गया है, वह कविसमय ही तो है, लोक में तो मधुमास के अतिरिक्त भी अशोकतरुओं का अंकुरण प्रत्यक्ष इष्ट है।

इसी प्रकार रसौचित्य के उद्दामोत्कलिकाम् इत्यादि विप्रलम्भशृङ्गार के उस उदाहरण में जो उन्होंने रत्नावली-नाटिका से उद्धृत किया है "पश्यन् कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम्" इस कथन में कोप का रक्तवर्ण होना कविसमय ही तो है। सम्भोग शृङ्गार विषयक रसौचित्य के—

बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥[2]

इस कालिदासीय उदाहरण में वर्णित वसन्त और वनस्थली का समागम भी कविसमय ही है, अन्यथा किंशुकवनों का विकास तो वसन्त के पश्चात् ग्रीष्म में भी देखा ही जाता है। रसौचित्य के विपरीत—

वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः॥[3]

इस प्रत्युदाहरण में जो कर्णिकार पुष्प का निर्गन्ध होना वर्णित है, वह भी कविसमय ही है, अन्यथा गन्ध तो कर्णिकार में भी होता ही है। सभी पुष्प पार्थिव

---

1. औचित्यविचारचर्चा 16
2. वही।
3. वहीं।

होने के कारण गन्धयुक्त ही होते हैं। कर्णिकार और किंशुक का निर्गन्ध होना कवि-समय ही है।

हास्यरस का औचित्य प्रदर्शित करने के लिये उदाहृत--

"सीधुस्पर्शभयान्त चुम्बसि मुखम्.................."

....

इत्युक्त्वा मदघूर्णमाननयना वासन्तिका मालती—

लीनस्यात्रिवसोः करोति वकुलस्येवासवासेचनम् ।।[1]

इस अपने लावण्यवती नामक काव्य के पद्य में क्षेमेन्द्र ने अत्रिवसु नामक ब्राह्मण के ऊपर वासन्तीनामक वेश्या द्वारा किये गये मद्यगण्डू को वकुल पर कामिनी द्वारा किये गये शराब के गण्डूष (कुल्ले) की उपमा दी है। जिसका तात्पर्य है कि वेश्या के मुख से किये गये सीधुसेक से नीरस अत्रिवसु इस प्रकार सरस हो उठा जिस प्रकार कामिनी के आस्यमद्य से वकुल सरस हो उठता है अर्थात् खिल जाता है।

यहाँ "विकसति वकुलं योषितामास्यमद्यैः"[2] में विश्वनाथ द्वारा निर्दिष्ट कविसमयख्याति से क्षेमेन्द्र का भली-भाँति परिचित होना स्पष्ट सिद्ध है। विश्वनाथ से पूर्व ही क्षेमेन्द्र इस कविसमय से परिचित थे कि कामिनी के आस्यमद्य के सेक से वकुल खिल उठता है। यही बात प्रमाणित करती है कि वे सभी कविसमयख्यातियों से पूर्ण परिचित थे।

"सुवृत्ततिलकम्" में प्रहर्षिणी वृत्त का स्वरचित उदाहरण क्षेमेन्द्र ने इन शब्दों में दिया है—

मानोजः सुरभिगुणैर्यशः सितानां
निर्व्याजा निजभुजविक्रमक्रमाप्ता।
सर्वाशाप्रणयिजनोपजीव्यमाना
भव्यानां भवति परप्रहर्षिणी श्रीः ।।

यहाँ "यशः सितानां भव्यानाम्" कहकर उन्होंने स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि वे कविसमय में प्रसिद्ध यश का श्वेत वर्ण होना न केवल मानते थे वरन् तद्नुसार प्रयोग भी करते थे।

नर्कुट छन्द के स्वनिर्मित उदाहरण से भी क्षेमेन्द्र ने कीर्ति के कविसमय सिद्ध श्वेत वर्ण मे अपना परिचय प्रमाणित कर दिया है। वे कहते हैं—

निजभुजजैर्विशालगुणविक्रमकीर्तिभरैः
प्रविदधता सुधांशुधवलं भवता भुवनम्..............।[3]
....
....

1. औचित्यविचारचर्चा 16
2. सा० द० 7/589
3. सु० ति० 1/31

यहाँ कीर्ति के द्वारा भुवन का सुधांशुधवल होना कहकर क्षेमेन्द्र ने कीर्ति के श्वेत होने की कविसमयख्याति से अपना पूर्ण परिचय प्रमाणित कर दिया है ।

इन उदाहरणों से यह बात स्पष्ट प्रमाणित है कि आचार्य क्षेमेन्द्र ने भले ही कविसमय का विवेचन न किया हो परन्तु वे राजशेखर की भाँति ही कविसमय के विषय में अभिज्ञ थे । वास्तव में लगभग 40 ग्रन्थों का रचयिता आचार्य कवि कैसे भला कविसमय से अनभिज्ञ हो सकता है ?

कविराज विश्वनाथ का कविसमय

साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने दर्पण के सातवें परिच्छेद के अन्त में कविसमय में ख्यात होने पर ख्यातविरुद्धता नामक दोष को गुण मानते हुए कविसमयों का परिगणन किया है । कविसमय तीन शार्दूल छन्दों में निबद्ध हैं । आचार्य ने इन तीन श्लोकों में मुख्य रूप से इक्कीस कविसमय ख्यातों का परिगणन कर अन्य कविसमयों को सत्कवियों के प्रबन्धों में खोजने का निर्देश किया है ।[1]

विश्वनाथ द्वारा परिगणित मुख्य इक्कीस कविसमय निम्नलिखित हैं :—

1. व्योम (आकाशपटल) और पाप में मलिनता ।
2. यश, हास, कीर्ति में धवलता (सफेदी) ।
3. क्रोध और अनुराग का लाल रंग ।
4. सरित् समुद्र आदि में कमल आदि का होना ।
5. हंस आदि समस्त पक्षियों का समस्त जलाशयों में गमन ।
6. चकोरों का चाँदनी को पीना ।
7. वर्षा ऋतु में हंसों का मानसरोवर चला जाना ।

---

1. (1) मालिन्यं व्योम्नि पापे, (2) यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः,
(3) रक्तौ च क्रोधरागौ, (4) सरिदुदधिगतं पङ्कजेन्दीवरादि,
(5) तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति मरालादिकः पक्षिसंघः,
(6) ज्योत्स्ना पेया चकोरैः, (7) जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः,
(8) पादाघातादशोको विकसति—(9) वकुलं योषितामास्यमद्यैः,
(10) यूनामंगेषु हाराः, (11) स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः,
(12) मौर्वी रोलम्बमाला, (13) धनुरथ विशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतोः,
(14) भिन्नं स्यादस्य बाणैर्युवजनहृदयम्, (15) स्त्रीकटाक्षेण तद्वत्,
(16) अह्न्यम्भोजं निशायां विकसति कुमुदम्, (17) चन्द्रिका शुक्लपक्षे,
(18) मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिखिनाम्, (19) नाप्यशोके फलं स्यात्,
(20) न स्याज्जाती बसन्ते, (21) न च कुसुमफले गन्धसारद्रुमाणाम्
इत्याद्युन्नेयमन्यत् कविसमयगतं सत्कवीनां प्रबन्धे ।

सा० द० 7/590

8. कामनियों के पादप्रहार से अशोक का विकसित होना ।
9. स्त्रियों के मुख की शराब के गण्डूष (कुल्ली) से वकुल (मौलसिरी) का खिलना ।
10. युवकों (युवा, युवतियों) के अंगों में हारों का होना ।
11. वियोग के ताप से युवा, युवतियों के हृदय का फट जाना ।
12. भ्रमरों का कामदेव के धनुष की प्रत्यञ्चा होना ।
13. कामदेव से धनुष् और बाण फूलों के होना ।
14. कामदेव के बाणों से युवकों के हृदय विंधना (घायल होना) ।
15. स्त्रियों के कटाक्षों से पुरुषों के हृदय विंधना ।
16. दिन में कमलों और रात में कुमुदों का खिलना ।
17. शुक्लपक्ष में ही चाँदनी का होना ।
18. मेघों का शब्द सुनकर मोरों का नाचना ।
19. अशोक वृक्ष पर फल न लगना ।
20. वसन्त ऋतु में चमेली पर फूल न आना ।
21. चन्दन के वृक्षों पर फूल और फल न होना ।

आचार्य विश्वनाथ ने तथा राजशेखर ने अपने-अपने ढंग से कविसमयों का उल्लेख किया है । जिसमें विश्वनाथ का उल्लेख परिगणन मात्र है परन्तु निर्विवाद है । आचार्य राजशेखर का कविसमय बहुत व्यवस्थित है जो वास्तव में विवेचन कहा जा सकता है, परन्तु---जैसा कि हम बता चुके हैं—वह निर्विवाद स्वीकार्य नहीं है । यह भी स्पष्ट देखा जा सकता है कि विश्वनाथ के परिगणन में वे तत्व नहीं गिनाये गये हैं जो विवादित हैं । राजशेखर ने बहुत बारीकी से शास्त्रीय शैली में कविसमय को विवेचित कर के भी कुछ अत्यधिक प्रसिद्ध और व्यवहृत कविसमयों का उल्लेख नहीं किया है, कामिनियों के पादाघात से अशोक का विकसित होना और उनके शीधुसेक से वकुल का खिल उठना बहुत ही प्रसिद्ध कविसमय है, परन्तु राजशेखर ने उसका उल्लेख नहीं किया है । विश्वनाथ ने सभी निर्विवाद कविसमयों का उल्लेख कर अन्यों को खोजने का निर्देश देते हुए कविसमयों की परिधि को असीम रूप दे दिया है, जिस से सत्कवियों के प्रबन्धों में विद्यमान अन्य कविसमयों के संकलन की आवश्यकता प्रतिपादित की है । हमारा विश्वास है कि कोई विवेचक अवश्य ही कभी न कभी विश्वनाथ और राजशेखर के उल्लेख से बचे हुए कविसमयों को खोजकर कविसमय की विश्वनाथोक्त इक्कीस संख्या को और आगे बढ़ायेगा ।

2. देशकाल विभाग

देश और काल का विभाग कवि के लिये परमावश्यक है । आचार्य राजशेखर के शब्दों में देश और काल का विभाग करने वाला कवि अर्थ दर्शन की दिशा में

दरिद्रता का अनुभव नहीं करता ।[1] आशय यह है कि किस देश में किस काल में क्या होता है ? कवि को इसका ज्ञान रखना आवश्यक है । यदि कवि को देशकाल का ज्ञान है तो उसे भिन्न-भिन्न देश और समय से सम्बद्ध वस्तुओं के वर्णन के लिये अपार विषय उपलब्ध रहता है । देशकाल के ज्ञान के अभाव में कवि को वर्ण्य सामग्री की न्यूनता रहती है, यही कवि की दरिद्रता है ।

देश और काल का यथावत् ज्ञान न होने पर कवि देश विरुद्ध और काल विरुद्ध विषयों का वर्णन भी कर बैठता है, जिससे वह उपहास का पात्र बन जाता है । अतः देश और काल अर्थात् इनसे सम्बद्ध विषयवस्तु का ज्ञान कवि के लिये आवश्यक कर्त्तव्य है । इसी उद्देश्य से काव्यमीमांसाकार आचार्य राजशेखर ने काव्य-मीमांसा के सत्रहवें अध्याय से देश का तथा अठारहवें अध्याय से काल का विभाग बड़ी ही कुशलता और विद्वत्ता से किया है । राजशेखर के अतिरिक्त संस्कृत के किसी भी आचार्य ने इस प्रकार का देशकाल विभाग नहीं किया । अतः देशकाल के विभाग का निदर्शन करने के लिये काव्यमीमांसा का अनुसरण ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है ।

1 .देश विभाग—

सर्वप्रथम देश की सीमा का निर्धारण करते हुए काव्यमीमांसाकार ने सम्पूर्ण जगत् और उसके एक भाग दोनों को देश शब्द का वाच्य कहा है । जगत् शब्द केवल द्यावा (अन्तरिक्ष) और पृथिवी को मिलाकर वर्तमान समष्टिरूप एक लोक का ही वाचक है, ऐसा भी एक मत है । दिव् लोक और पृथ्वी लोक ये दोनों दो जगत् हैं, यह भी दूसरा मत है । स्वर्गलोक, मृत्युलोक और पाताल लोक ये तीनों पृथक्-पृथक् तीन जगत् हैं । ऐसा भी कुछ लोग मानते हैं । कवियों का व्यवहार सभी प्रकार का देखा जाता है ।

क—हलमगु बलस्यैकोऽनड्वान्हरस्य न लांगलम्
क्रमपरिमिता भूमिर्विष्णोर्न गौर्न व लांगलम् ।
प्रवहति कृषि नाद्याप्येषां द्वितीय गवं बिना ।
जगति सकले नेदृग्दृष्टं दरिद्र कुटुम्बकम् ।।[2]

(बलराम जी के पास हल है पर बैल नहीं हैं । शिवजी के पास बैल हैं पर हल नहीं है । विष्णु भगवान् के पास तीन पद क्रम से नापकर प्राप्त की हुई भूमि है पर न बैल है, न हल है । यदि इनकी सभी वस्तु एकत्र कर दी जायें, तब भी दूसरे बैल के बिना ये लोग खेती नहीं कर सकते हैं । सम्पूर्ण जगत् में ऐसा दरिद्र परिवार नहीं देखा गया) ।

---

1. देशे कालं च विभजमानः कविर्नार्थदर्शनदिशि दरिद्राति ।
—का० मी० अ० 17 पृ० 226

2. का० मी० अ० 17 पृ० 226 ।

उपर्युक्त उदाहरण में कवि द्वारा द्यावापृथ्वीरूप एक जगत् की कल्पना की गयी है।

ख–रूणद्धि रोदसी चास्य यावत् कीर्तिरनश्वरी।
तावत् किलायमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम्॥[1]
(जब तक पुण्यात्मा पुरुष की अविनश्वर कीर्ति द्यावापृथिवी में व्याप्त रहती है, तब तक वह देव लोक में निवास करता है।)

इस श्लोक में "द्यावा और पृथ्वी" इन दो जगतों का वर्णन किया गया है।

ग–त्वमेव देव पातालम् आशानां त्वं निबन्धनम्।
त्वं चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयायसे॥[2]
(हे देव ! आप ही पाताल हैं, आप ही दिशाओं के निबन्धन (पूर्व पश्चिम आदि दिग्व्यवहार के हेतु अर्थात् भूलोक) हैं, और आप ही देवों तथा मरुद्गणों की भूमि (स्वर्गलोक) हैं, इस प्रकार आप एक होकर भी तीन लोक बने हुए हैं)।

इस ऊपर निर्दिष्ट श्लोक में भूलोक, स्वर्गलोक और पाताल लोक भेद से तीन जगत् व्यवहृत हुए हैं।

ये ऊपर निर्दिष्ट तीन लोक ही—(भूर्भुवः स्वः) हैं। जैसा कि कहा गया है—
नमस्त्रिभुवनाभोगभृतिस्वेद भरादिव।
नागनाथांगपर्यङ्कशायिने शार्ङ्गधन्वने॥[3]
(तीनों भुवनों के विस्तार को धारण करने से थक कर मानों शेष शय्या पर शयन कर रहे भगवान् विष्णु को नमस्कार है)।

अन्य लोग भू, भुर्वः, स्वः के साथ महर्, जन, तपस् और सत्य लोक को जोड़ कर सात लोक मानते हैं। जैसा कि कहा गया है :—
"संस्तम्भिनी पृथुनितम्बतटे-र्धरित्र्याः,
संवाहिनी जलमुचां चलकेतुहस्तैः।
हर्षस्य सप्तभुवन पृथितोकीर्त्तेः
प्रासादपंक्तिरियमुच्छिखरा विभाति॥"[4]

इस पद्य में कवि ने "सप्तभुवन प्रथितो कीर्तेः" कहकर सात भुवनों (जगतों) की मान्यता प्रकट की है।

---

1. का० मी० अ० 17 पृ० 227
2. का० मी० अ० 17 पृ० 228
3 का० मी० अ० 17 पृ० 228
4. वही।

ये सात भुवन सात वायुस्कन्धों अर्थात् प्रवह आदि सात वायुसमूहों के साथ मिलकर चौदह हो जाते हैं। नीचे के पद में चौदह भुवनों का उल्लेख किया गया है :—

निरवधि च निराश्रयं च यस्य
स्थित मनुर्वतितंकौतुक प्रपञ्चम्।
प्रथम इह भगवान् स कूर्ममूर्ति
र्जयति चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः॥

इन चौदह में तल, अतल आदि सात पाताल लोकों को मिलाकर कुछ लोग इक्कीस लोकों की भी गणना करते हैं जैसा कि—

हरहास-हरावास-हरहारनिभप्रभाः।
कीर्त्तयस्तव लिम्पन्तु भुवनान्येकविंशतिम्॥[1]

इस प्रकार एक से लेकर इक्कीस लोकों अर्थात् जगतों की कल्पना विद्वानों द्वारा की गयी है। राजशेखर के अनुसार ये सभी मत ठीक हैं। सामान्य कथन में लोक (जगत्) एक रहता है और विशिष्ट कथन में अनेक हो जाता है।

इन उपर्युक्त लोकों में जो भूर्लोक है, वह पृथिवी है। पृथिवी में सात द्वीप हैं–

1. जम्बूद्वीप
2. प्लक्षद्वीप
3. शल्मली द्वीप,
4. कुश द्वीप,
5. क्रौञ्च द्वीप,
6. शाक द्वीप,
7. पुष्पकर द्वीप,

इनमें जम्बूद्वीप सब के मध्य में है, शेष तीन-तीन द्वीप उसके दोनों ओर हैं। इन सात द्वीपों में निम्नलिखित सात समुद्र हैं, जो एक-एक द्वीप को चारों ओर से घेरे हुए हैं :

सात समुद्र निम्नलिखित हैं :—

1. लवण सागर,
2. रस सागर,
3. सुरा सागर,
4. घृत सागर,
5. दधि सागर,
6. क्षीर सागर,
7. सलिल सागर,

कुछ कवि तीन ही समुद्रों का वर्णन करते हैं। जैसे—

आकम्पित क्षितिभृता महता निकामं
हेलाभिभूत जलधि त्रितयेन यस्य।
वीर्येण संहतिभिदा विहतोन्नतेन
कल्पान्तकालविसृतः पवनोऽनुचक्रे॥[2]

---

1. का० मी० अ० 17 पृ० 228
2. का० मी० अ० 17 पृ० 228

यहाँ किसी राजा के वीर्य द्वारा तीनों समुद्रों के अभिभव का उल्लेख किया गया है।

कोई चार समुद्रों का वर्णन भी करते हैं। महाकवि कालिदास ने नन्दिनी गौ को "पयोधरीभूतचतुः समुद्राम्" कहा है।

चतुः समुद्रवेलोर्मि रचितैकावलीतलम्।
मेरुमप्यद्रिमुल्लंध्य यस्य क्वापि गतं यशः ॥

इस पद्य में भी किसी कवि ने चार समुद्रों का उल्लेख किया है। राजशेखर का कथन है कि अभिप्राय भेद से सभी मत ठीक हैं। जो सात समुद्रों की कल्पना करते हैं वे भी शास्त्र से विपरीत नहीं हैं। जैसा कि :—

अगस्त्यचुलुकोच्छिष्ट सप्तवारिधिवारिणि।
मुहूर्तंकेशवेनापि तरता पूतरायितम् ।।[1]

यहाँ अगस्त्य ऋषि के चुल्लू द्वारा सात समुद्रों के पीये जाने का उल्लेख है। जम्बूद्वीप के मध्य में सब पर्वतों में प्रमुख सुमेरु नामक काञ्चन पर्वत है, जो समस्त पर्वतों का राजा माना जाता है। वह मूर्त औषधियों का निधान है तथा देवों की निवास भूमि है। इस सुमेरु पर्वत से आरम्भ करके ही भगवान् ब्रह्मा ने इसके ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् कोणों में समस्त विश्व की रचना की है।

वह ऐश्वर्यशाली सुमेरु सब पर्वतों में प्रमुख पहला वर्ष पर्वत है। इसके चारों ओर इलावृत नामक वर्ष है। उसके उत्तर में तीन वर्ष पर्वत हैं—

1. नील 2. श्वेत, 3. शृङ्गवान्।

इन तीन वर्ष पर्वतों के तीन वर्ष है :—

1. रम्यक वर्ष, 2. हिरण्मय वर्ष, 3. उत्तरकुरु वर्ष

उसके दक्षिण में भी तीन पर्वत हैं :—

1. निषध,
2. हेमकूट,
3. हिमवान्,

इनके भी तीन वर्ष हैं :—

1. हरिवर्ष,
2. किंपुरुषवर्ष,
3. भारतवर्ष,

इनमें जो भारतवर्ष है उसके नौ भेद हैं—

---

1. का० मी० अ० 17 पृ० 228।

1. इन्द्रद्वीप
2. कसेरुमान्,
3. ताम्रपर्ण,
4. गभस्तिमान्,
5. नागद्वीप,
6. सौम्य,
7. गन्धर्व,
8. वरुण,
9. कुमारीद्वीप,

इस नौ खण्ड वाले भारतवर्ष में पाँच सौ भाग जल है तथा पाँच भाग स्थल है। इस प्रकार विभक्त ये नौ खण्ड दक्षिण समुद्र से हिमालय तक प्रत्येक खण्ड के सौ योजन विस्तार के क्रम से अवस्थित हैं और परस्पर अगम्य हैं। इन्हें जो जीतकर अपने वश में कर लेता है, वह सम्राट् कहा जाता है।

कुमारीपुर से लेकर विन्दुसर[1] तक एक हजार योजन का क्षेत्र चक्रवर्ति क्षेत्र है, इसे जो जीतता है वह चक्रवर्ती होता है।[2] चक्रवर्ती के चिह्न निम्न प्रकार हैं :—

"चक्रं रथो मणि र्भार्या निधिरश्वो गजस्तथा।
प्रोक्तानि सप्त रत्नानि सर्वेषां चक्रवर्त्तिनाम्॥[3]

अर्थात् "चक्र, रथ, मणि, भार्या, निधि, घोड़ा, हाथी, "ये सात रत्न चक्रवर्ती के बताये गये हैं।

इस कुमारी द्वीप में निम्नलिखित सात कुल पर्वत हैं :—

1. विन्ध्य पर्वत,
2. पारियात्र,
3. शुक्तिमान्,
4. ऋक्षपर्वत,
5. महेन्द्र पर्वत,
6. सह्य पर्वत,
7. मलय पर्वत,

इनमें विन्ध्य आदि पर्वत तो सर्वविदित हैं। मलय पर्वत चार भेदों वाला है। उनमें—

प्रथम—मलय पर्वत जड़ से फुलंग तक सर्पों से लिपटा रहता है और आनन्द-दायी चन्दन, कक्कोल, इलायची के तथा काली मिर्च के वृक्षों से युक्त है, तथा उस पर जाती (चमेली) में लतातरु बहुतायत से उत्पन्न होते हैं।

द्वितीय—मलय वह है कि जिसकी तलहटी में मोती उपजाने वाली ताम्र-पर्णी नामक उत्तम नदी बहती है। यह मलय रत्नों का स्वामी तथा रत्नों का विशाल

---

1. विन्दुसर गंगोत्री से दो मील की दूरी पर स्थित एक सरोवर है। कहते हैं कि महाराज भगीरथ ने इसी स्थान पर तपस्या की थी।
2. कौटिल्य के अर्थशास्त्र में "हिमवत्समुद्रान्तरम् उदीचीनम् योजन सहस्त्र परिमाणम् अतिर्यक् चक्रवर्त्ति क्षेत्रम्" कहा गया है।
3. का० मी० अ० 17 पृ० 233।

खजाना है, भगवान् घटयोनि अगस्त्य मुनि इसी मलय पर निवास करते हैं।

तृतीय—मलय पर्वत देवताओं का क्रीड़ा स्थल है, मनुष्यों की उस पर पहुंच है और अगस्त्य मुनि का घर है। इस पर स्थित वृक्ष सदा ऋतुओं में फलों, पुष्पों, लताओं और हरे-भरे पत्तों से युक्त रहते हैं।

चतुर्थ—मलय वह है जिस पर रावण की राजधानी लंका स्थित है, जिसके द्वार की अर्गला में देवराज इन्द्र बँधा रहता है। जिसके प्रासादों के शिखर रत्नजटित स्वर्ण से निर्मित हैं!

इन चारों मलय पर्वतों से वह दक्षिणानिल बहा करता है, जो कोकिलों के पंचम नाद का हेतु, पुष्पों का उत्पादक और बसन्त का मित्र है।[1] पूर्व समुद्र तथा पश्चिम समुद्र के और हिमालय तथा विन्ध्याचल के मध्य वर्तमान भूखण्ड को आर्यावर्त कहते हैं। उसमें चारवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) और चार आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास) व्यवस्थित हैं। इन्हीं के आधार पर यहाँ सदाचार प्रचलित है। यहीं का व्यवहार प्रायः कवियों का आदर्श है।

इस आर्यावर्त में वाराणसी से पूर्व का दिग्भाग पूर्व देश कहलाता है, जिसमें अङ्ग, कलिङ्ग, तोषल, कोसल, उत्कल, मगध, मुद्गर, विदेह, नेपाल, पुण्ड्र, प्राग्ज्यौतिष. तामलिप्तक, मलद, मल्लवर्तक, सुह्म, ब्रह्मोत्तर आदि जनपद हैं।

इसमें बृहदगृह, लोहितगिरि, चकोर, दर्दुर, नेपाल, कामरूप आदि पर्वत हैं और शोण तथा लौहित्य नाम के दो नद हैं। गङ्गा करतोया, कपिशा आदि नदियाँ हैं। इस देश में लवली, ग्रन्थिपर्णक, अगरू, द्राक्षा, कस्तूरी आदि उत्पन्न होते हैं।

माहिष्मती नगरी से आगे का देश दक्षिण देश कहलाता है। इसमें महाराष्ट्र, माहिषक, अश्मक, विदर्भ, कुन्तल, ऋथकैशिक, सूर्पारक, काञ्ची, केरल, कावेर, मुरलवान्, वासक, सिंहल, चोल, दण्डक, पाण्ड्य, पल्हव, गाङ्ग, नासिक्य, कोङ्कण, कोलगिरि, वल्लर आदि जनपद हैं।

इसमें विन्ध्य का दक्षिणी भाग, महेन्द्र, मलय, मेकल, पाल, मञ्जर, सह्य, श्रीपर्वत आदि पर्वत हैं। नर्मदा, तापी (ताप्ती) पयोष्णी, गोदावरी, कावेरी, भैमरथी, वेणा, कृष्णवेणी, वञ्जुरा, तुङ्गभद्रा, ताम्रपर्णी, उत्पलावती, रावणगङ्गा आदि नदियाँ बहती हैं। इस देश की नदियाँ उपज के नाम से वर्णित की गई है।

देवसभा से आगे का देश पश्चिम देश कहा जाता है। इसमें देवसभ, सुराष्ट्र, दशेरक, त्रवण (ट्रावणकोर) भृगुकच्छ, (भडोच) कच्छीय, आनर्त्त, अर्बुद, ब्राह्मणवाह, यवन आदि जनपद हैं।

---

1. वायुपुराण के 45वें तथा 78-88 अध्यायो में भी भारतवर्ष का ऐसा ही वर्णन मिलता है। वामनपुराण के 8-13वें अध्यायों तक का पाठ भी वायुपुराण के समान ही है।

यहाँ गोवर्धन, गिरिनार, देवसभ, माल्यशिखर, अर्बुद आदि पर्वत हैं। सरस्वती, श्वभ्रवती, वार्तध्नी, मही, हिडिम्बा आदि नदियाँ यहाँ बहती हैं। इस देश में करीर, पीलु, गुग्गुलु, खजूर, करभ आदि की पैदावार होती है।

पृथूदक से आगे का देश उत्तरापथ कहलाता है। यहाँ शक, केकय, वोक्काण, हूण, वाणायुज, काम्बोज, वाल्हीक, वह्लव, लिम्पाक, कुलूत, कीर, तङ्गण, तुषार, तुरुष्क, बर्बर, हरहूरव, हहुक, सहुड़, हंसमार्ग, रमठ, करकण्ठ आदि जनपद हैं।

हिमालय, कलिन्द, इन्द्रकील, चन्द्रगिरि, आदि यहाँ के पर्वत हैं। गङ्गा, सिन्धु, सरस्वती, शतद्रु, चन्द्रभागा, यमुना, इरावती, वितस्ता, विपाशा, कुहू, देविका, आदि नदियाँ यहाँ बहती हैं।

यहाँ सरल (साल) देवदारु, द्राक्षा, कुमकुम, चमर, अजिन, सौवीर, स्रोतोञ्जन, सैन्धव, वैदूर्य और अश्व उत्पन्न होते हैं।

इन सब देशों के बीच में मध्य देश है। यह कवियों के व्यवहार में प्रचलित है। शास्त्र व्यवहार में भी इसे मध्यदेश ही कहा गया है, जैसा कि मनुस्मृति अध्याय 2, श्लोक 21 में—

हिमवद् विन्ध्ययोर्मध्यं यत् प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥

हिमालय और विंध्याचल के मध्यभाग, जो विनशन से पूर्व तथा प्रयाग से पश्चिम में स्थित है, मध्यदेश कहा गया है।

इस मध्य देश में जो देश, पर्वत, सरित् हैं और वहाँ जो-जो वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं वे सब प्रसिद्धि से ही सिद्ध है, अतः उनका निर्देश आवश्यक नहीं है।

इन ऊपर निर्दिष्ट द्वीपों के अतिरिक्त जो देश, पर्वत और नदियाँ आदि हैं, वे कवियों के अधिक प्रयोजन की नहीं, अतः उनका विवेचन भी अनावश्यक है।

विनशन एवं प्रयाग तथा गंगा यमुना के मध्यवर्ती देश को अन्तर्वेदी कहा जाता है। उसीं को अवधि बनाकर दिशाओं का विभाग करना चाहिए यह अनेक आचार्यों का मत है। राजशेखर कहते हैं कि इस अन्तर्वेदी में भी महोदय अर्थात् कान्यकुब्ज नामक स्थान ही सम्पूर्ण अन्तर्वेदी का मूल है, उसे ही अवधि मानकर दिशाओं का विभाजन करना चाहिए। कुछ विद्वानों का मत है कि दिशाओं के अनियत होने से उनका विभाजन भी अनियत ही है। क्योंकि जो देश वामन स्वामी से पूर्व है वही ब्रह्मशिला से पश्चिम है, इसी प्रकार जो गाधिपुर से दक्षिण है, वही कालप्रिय से उत्तर है। तात्पर्य यह है कि किसी भी देश को पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण नहीं कहा जा सकता, जो किसी देश की या नगर की अपेक्षा पूर्व है वही दूसरे की अपेक्षा उत्तर कहा जाता है वही दूसरे की अपेक्षा दक्षिण भी होता है। अतः दिशाओं का विभाग अनिश्चित ही है। इसके उत्तर में राजशेखर का कहना है कि हमने जो अवधि का निर्धारण किया है, वह शास्त्रों तथा कवियों के व्यवहार को

देखकर किया है । अतः उसे दिशाओं की अवधि का अनश्चित रूप मानकर उसके अनुसार पूर्व-पश्चिम आदि दिग्व्यवहार करना चाहिये । उसके अतिरिक्त जो दिग्व्यवहार है, वह तो वास्तव में अनिश्चित ही है ।

दिशायें चार हैं—

1. प्राची, 2. अप्राची,
3. प्रतीची, 4. उदीची

"चतसृष्वपि दिक्षु रणे द्विषतः प्रति" [1] इत्यादि कवि व्यवहार में चार दिशाओं का उल्लेख देखा जाता है ।

1. ऐन्द्री, 2. आग्नेयी,
3. याम्या, 4. नैर्ऋती,
5. वारुणी, 6. वायव्या,
7. कौवेरी, 8. ऐशानी

इन आठ दिशाओं का उल्लेख भी कवि लोग करते हैं—

"युष्माकं तानि सप्तत्रिदशमुनिनुतान्यष्टदिग्भाञ्जि भानोः"[2] ब्राह्मी (ऊर्ध्वदिशा) नागीया (अधो दिशा) को मिलाकर दस दिशाएं भी कवियों द्वारा व्यवहृत देखी जाती हैं—

"दशदिक्तटपर्यन्तसीमसङ्कटभूमिके ।"[3]

ये सभी व्यवहार ठीक हैं, अर्थात् दिशाओं के विषय में 4,8,10 सम्बन्धी सभी मत मान्य हैं । क्योंकि दिशाओं की संख्या विवक्षा के अधीन है ।

प्राची—वह दिशा है जो चित्रा और स्वाती नक्षत्रों के मध्य विद्यमान है । उसे ही पूर्व कहा जाता है ।

प्रतीची—प्राची के ठीक सामने वाली दिशा का नाम है । इसे ही पश्चिम कहते हैं ।

उदीची—ध्रुव से युक्त दिशा को कहते हैं । यही उत्तर दिशा कही जाती है ।

अपाची—उदीची के ठीक सामने वाली दिशा है । वही दक्षिण दिशा कहाती है ।

उपर्युक्त चार दिशाओं के मध्य आने वाली दिशाओं को विदिशा कहते हैं, जो इस प्रकार हैं—

प्राची और अपाची के मध्य—आग्नेयी
अपाची और प्रतीची के मध्य—नैर्ऋती

---

1. का० मी० अ० 17, पृ० 239
2. वही, पृ० 240
3. वही ।

प्रतीची और उदीची के मध्य–वायवी

उदीची और प्राची के मध्य–ऐशानी

दिशाओं के विषय में कवियों का दो प्रकार का व्यवहार होता है, एक तो चिर प्रसिद्ध पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि नामों से और दूसरा किसी स्थान विशेष को अवधि बनाकर।

1. प्राची (पूर्व दिशा) का प्रसिद्ध व्यवहार—
"प्राची वालविडाललोचनरुचां जाता च पात्रं ककुप्" ।[1]
2. अपाची (दक्षिण दिशा ········)
"जिहासुर्दक्षिणामाशां भगवानिव भास्करः"
3. प्रतीची (पश्चिम दिशा·········)—
"पश्य पश्चिमदिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकथे, विवस्वता·········[2]
4. उदीची (उत्तर दिशा·········)
"अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा·········"[3]

विशिष्ट स्थान को अवधि बनाकर किया गया दिग्विभागः—

पूर्व और पश्चिम का
"यादांसि, हे चरत संगतगोत्रतन्त्रं
पूर्वेण चन्दनगिरेरुत पश्चिमेन"[4]

यहाँ चन्दनगिरि (मलयाद्रि) को अवधि बनाकर पूर्व और पश्चिम दिशा का व्यवहार किया गया है।

दक्षिण और उत्तर का
"काञ्चयाः पुरो दक्षिणदिग्विभागे
तथोत्तरस्यां दिशि वारिराशेः"[5]

यहाँ काञ्चीपुरी को अवधि बनाकर दक्षिण दिशा का तथा समुद्र को अवधि बनाकर उत्तर दिशा का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार अन्य दिशाओं का वर्णन भी समझना चाहिए।

वर्ण (रंग) का भी कविव्यवहार नियमित है, जैसे कि—

1. पूर्व में रहने वालों का श्याम वर्ण।
2. दक्षिण के लोगों का कृष्ण वर्ण।

---

1. काव्यमीमांसा–241
2. वही ।
3. वही ।
4. वही ।
5. वही ।

3. पाश्चात्यों का पाण्डु (पीला+श्वेत) वर्ण।

4. उत्तर वालों का गौर (गोरा) वर्ण।

कविमार्ग में श्याम और कृष्ण में तथा पाण्डु और गौर में विशेष अन्तर नहीं माना जाता है, यह बात कविसमय के विवेचन में ही हम कह आये हैं। इस प्रकार देशविभाग का विवेचन पूर्ण हुआ। यह सब काव्य-मीमांसा के सत्रहवें अध्याय के अनुसार किया गया है, यह बात हम पहले ही कह चुके हैं।

3. काल विभाग

काल (समय) को आजकल सैकिण्ड, मिनट आदि भेदों में बाँटा जाता है। प्राचीन काल में इसे काष्ठा आदि भेदों में विभक्त किया जाता था। एक बार पलक झंपाने में जितना समय लगता है, उसे निमेष कहते हैं। पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा होती है। तीस काष्ठाओं की एक कला और तीस कलाओं का एक मुहूर्त होता है तथा तीस मुहूर्त का एक दिन-रात अर्थात् आजकल के चौबीस घण्टे होते हैं।

चौबीस घण्टे के मिनट (1440) बनाकर यदि हम तीस से भाग करें तो 48 (अड़तालीस) मिनट का एक मुहूर्त होता है इसी प्रकार यदि 48 मिनट के सैकिण्ड (2880) बनाकर उसे 30 से भाग दें तो 96 (छियानवें) सैकिण्ड की एक कला होती है। इस प्रकार एक कला में एक मिनट और छत्तीस सैकिण्ड होते हैं। यह समय डेढ़ मिनट से छः सैकिण्ड अधिक है जिसे तीस से भाग कर देने पर 3, 6 सैकिण्ड की एक काष्ठा निश्चित होती है। यह एक काष्ठात्मक समय पन्द्रह बार पलक मारने में व्यय होने वाले समय के समान है। एक बार पलक मारना एक निमेष काल होता है। इस प्रकार एक सैकिण्ड में लगभग 5 (पाँच) निमेष होते हैं। निमेष से आगे काल का विभाग सम्भव नहीं है।

भारतीय वर्ष दो रूपों में विभक्त है—

1. चान्द्र वर्ष,

2. सौर वर्ष,

भारतीय चान्द्र वर्ष का आरम्भ चैत्र मास से होता है। एक वर्ष में निम्नांकित बारह मास होते हैं :—

1. चैत्र,	2. वैशाख,
3. ज्येष्ठ,	4. आषाढ़,
5. श्रावण,	6. भाद्रपद,
7. आश्विन,	8. कातिर्तक,
9. मार्गशीर्ष,	10. पौष,
11. माघ,	12. फाल्गुन।

चैत्र के पश्चात् अर्थात् वैशाख से आषाढ़ तक के तीन महीनों में प्रतिमास एक मुहूर्त (48 मिनट) दिन बढ़ता जाता है और फिर श्रावण मास से लेकर आश्वयुज (आसौज) तक उसी क्रम से दिन घटता जाता है। आसौज के पश्चात् अर्थात् कार्त्तिक से लेकर पौष मास तक तीन महीने रात्रि एक मुहूर्त (48 मिनट) प्रतिमास बढ़ती और दिन घटता जाता है।

सौरवर्ष

सूर्य प्रतिमास एक राशि पर स्थिर रहता है, वह सौर मास कहलाता है। मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनुः, मकर, कुम्भ और मीन— ये बारह राशियाँ (नक्षत्र समूह) होती है। प्रत्येक राशि पर एक मास स्थित रहता हुआ सूर्य बारह सौर मासों का निर्माण करता है। यह एक सौर वर्ष कहलाता है।

ऋतुएं—

एक चान्द्र में छः ऋतुएँ होती हैं—

1. बसन्त,
2. ग्रीष्म,
3. वर्षा,
4. शरद्,
5. हेमन्त,
6. शिशिर।

प्रत्येक ऋतु दो मास निम्न क्रम से स्थित रहती है—

ऋतु	मास
1. बसन्त	चैत्र, वैशाख
2. ग्रीष्म	ज्येष्ठ, आषाढ़
3. वर्षा	श्रावण, भाद्रपद
4. शरद्	आश्विन, कार्त्तिक
5. हेमन्त	मार्गशीर्ष, पौष
6. शिशिर	माघ, फाल्गुन

अयन—

एक वर्ष में दो अयन होते हैं—

1. दक्षिणायन,
2. उत्तरायण।

तीन-तीन ऋतुओं अर्थात् 6-6 मास का प्रत्येक अयन होता है—

ऋतुएँ	अयन
1. वर्षा, शरद्, हेमन्त	दक्षिणायन
2. शिशिर- वसन्त, ग्रीष्म	उत्तरायण

पित्र्य मास—

प्रत्येक मास में दो पक्ष होते हैं—

1. शुक्ल पक्ष ।

2. कृष्ण पक्ष ।

शुक्ल पक्ष—

मास के उन 15 दिनों को कहते हैं, जिनमें चन्द्रमा प्रतिदिन एक कला के क्रम से बढ़ता जाता है। इस पक्ष की अन्तिम तिथि पूर्णिमा कहलाती है, जिसमें चन्द्रमा पूर्ण कलायुक्त रहता है।

कृष्ण पक्ष--

मास के उन 15 दिनों का नाम है जिनमें चन्द्रमा प्रतिदिन एक कला के क्रम से घटता जाता है और अन्तिम दिन सर्वथा क्षीण होकर सूर्य में मिल जाता है। इस अन्तिम तिथि का नाम अमावस्या है, जिसका अर्थ ही यह है कि इस तिथि में चन्द्रमा और सूर्य एकाकार होकर निवास करते हैं (अमा सह वर्त्तेते चन्द्रार्कौ यस्यां सा अमावस्या) अर्थात् जिसमें चन्द्र और सूर्य एक साथ सम्मिलित होते हैं, उस तिथि का नाम अमावस्या है।

शुक्ल-पक्ष तथा कृष्ण-पक्ष इन दो पक्षों वाले मास को पित्र्य मास कहते हैं। इस पित्र्य मास को आधार मानकर ही समस्त वेदोक्त कर्म किये जाते हैं। पित्र्य मास के पक्षों को उल्टा कर देने से अर्थात् कृष्णपक्ष को पहले और शुक्ल पक्ष को पीछे कर देने पर चान्द्रमास होता है। आर्यावर्त के कवि इस चान्द्रमास का ही आश्रय ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार दो पक्षों का एक मास, दो मासों की एक ऋतु, तीन ऋतुओं का एक अयन और दो अयनों का एक वर्ष होता है। वर्ष का आरम्भ चैत्रमास से दैवज्ञ लोग मानते हैं। कुछ लौकिक व्यवहारों (श्रावणी, आषाढ़ी आदि) में वर्ष का आरम्भ श्रावण मास से भी माना जाता है—

वर्षा ऋतु में पूर्व दिशा का वायु बहता है यह कवियों की मान्यता है। आचार्यों का कथन है कि वर्षा में भी पश्चिम का ही वायु बहता है, पूर्वी वायु तो वर्षा का विरोधी है। "राजशेखर का मत है कि इस विषय में कविव्यवहार ही प्रमाण है। इसी प्रकार कुछ लोग ग्रीष्म ऋतु में अनिश्चित दिशाओं से वायु का बहना बताते हैं और कुछ नैऋत से। राजशेखर का मत है कि दोनों ही ठीक हैं।

यही संक्षेप में काल विभाग है, जो काव्यमीमांसा के 18वें अध्याय के आधार पर किया गया है। एतत्सम्बन्धी कवि व्यवहार के उदाहरण काव्यमीमांसा में ही द्रष्टव्य हैं।

क्षेमेन्द्र और देश-काल

ऊपर हमने महापण्डित कविराज आचार्य राजशेखर की काव्यमीमांसा के आधार पर देशकाल विभाग का विवेचन किया है। हम यह भी कह चुके हैं कि

देशकाल का विभाग राजशेखर के सिवा अन्य किसी भी आचार्य का किया हुआ उपलब्ध नहीं होता। राजशेखर से पूर्व के आचार्यों ने इस विषय के महत्व को स्वीकारते हुये भी जिस प्रकार उसका राजशेखर की भाँति विशद विवेचन नहीं किया उसी प्रकार राजशेखर के उत्तरवर्ती भी किसी आचार्य ने उनका विवेचन करना आवश्यक नहीं समझा। इसका कारण यही हो सकता है कि राजशेखर ने काव्यमीमांसा के 17 और 18 दो अध्यायों में देशकाल का इतना सर्वांगीण विवेचन किया है कि उसके पश्चात् किसी अन्य के लिये कुछ कहना शेष ही नहीं रह गया है।

जहाँ तक क्षेमेन्द्र का प्रश्न है, उन्होंने देशकाल के विभाग पर भले ही विस्तार से कुछ न कहा हो परन्तु वे देश और काल के महत्व से पूर्ण परिचित थे। "औचित्यविचारचर्चा" में क्षेमेन्द्र ने जो 27 औचित्य स्थान गिनाये हैं, इनमें देशौचित्य और कालौचित्य की भी गणना उन्होंने की है।[1] इसी प्रकार "कविकण्ठाभरण" में परिचय प्राप्ति नामक पंचम अध्याय के व्याख्यान में भी उन्होंने देशपरिचय को प्रमुख स्थान दिया है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य–विचारचर्चा में काल सम्बन्धी औचित्य पर प्रथम तथा देश सम्बन्धी औचित्य पर उसके पश्चात् दृष्टि डाली है और कविकण्ठाभरण में केवल देश परिचय को ही उदाहृत किया है, इससे यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि क्षेमेन्द्र की दृष्टि राजशेखर के देशकाल-विभाग पर केन्द्रित नहीं थीं। उन्होंने जो एतत्सम्बन्धी विचार उपस्थित किया है, वह उनके मौलिक चिन्तन का ही फल है। यदि वे राजशेखर के देशकाल विभाग से प्रेरित होते तो अपनी औचित्यकारिका में, जो यहाँ पाद टिप्पणी में उद्धृत की है, अवश्य ही वे देशौचित्य का उल्लेख कालौचित्य से पूर्व करते, क्योंकि उस स्थिति में राजशेखर का देशकाल शब्द उनके मस्तिष्क में घूम रहा होता। कविकण्ठाभरण में उन्होंने केवल काल के परिचय का ही उल्लेख किया है, देश के परिचय का नहीं, यह बात भी हमारे उक्त अनुमान की पोषक है। अन्यथा उन्हें काल परिचय का भी उदाहरण कविकण्ठाभरण में देना चाहिये था। अतः हम कुछ लोगों के इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं कि क्षेमेन्द्र कालौचित्य या देशौचित्य के प्रदर्शन में राजशेखर के देशकाल-विभाग से प्रेरित थे।

क्षेमेन्द्र ने अपनी मुनिमतमीमांसा में कालौचित्य का जो "योऽभूद्गोपशिशुः आदि उदाहरण तथा जो—

"नो दौर्जन्याद् विरमति जड़ो नापि दैन्याद् व्यरंसीत्"

प्रत्युदाहरण दिया है, उन दोनों में उनकी दृष्टि काल से क्रियाकृत भूत, वर्तमान, भविष्यत्, भेदों पर ही केन्द्रित रही है, राजशेखर द्वारा प्रदर्शित निमेष काष्ठा आदि स्वरूपों पर नहीं, इससे यह भी सिद्ध है कि इस दिशा में क्षेमेन्द्र ने

---

1. ·········काले···देश, कुले, व्रते : औ० वि० च० 9

राजशेखर का अनुकरण नहीं किया। यदि वे इस दिशा में राजशेखर से प्रेरित होते तो काल के निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त आदि स्वरूप भेदों के औचित्य को उदाहृत करना उनके लिये कठिन कार्य नहीं था। फिर राजशेखर ने जिस कालविभाग को मीमांसा में पल्लवित किया है उसमें क्षेमेन्द्र द्वारा चर्चित भूत, वर्तमान, भविष्यत् का कहीं नाम तक नहीं है। देश परिचय का जो उदाहरण क्षेमेन्द्र ने कविकण्ठाभरण में अपने शशिवंश महाकाव्य से उद्‌धृत किया है, उसमें भोज, मालव, मद्र, मागध आदि सात देशों का नाम ग्रहण, उन देशों के परिचय मात्र का साधक है, और सर्व-साधारण के समान सामान्य भौगोलिक ज्ञान पर आधारित है। उस पर राजशेखर कृत विस्तृत देशविभाग से प्रेरित होने की कल्पना का कोई पुष्ट हेतु दिखाई नहीं देता। अतः हमारा निष्कर्ष है कि क्षेमेन्द्र का सामान्य-ज्ञानाधीन देशकाल ज्ञान राजशेखर से प्रेरित या उनका अनुकरण न होकर सर्वथा अपना मौलिक है। जिससे वे राजशेखर के समान न सही परन्तु पर्याप्त मात्रा में देशकाल सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान से ही नहीं, उसकी बारीकियों से भी पूर्ण परिचित थे।

———

11

कवियों, आलोचकों और शिष्यों के भेद

कवियों के भेद--

1. शिष्य कवि,
2. कवि।

कवियों, आलोचकों और शिष्यों के भेद को लेकर राजशेखर से पूर्व किसी भी आचार्य के स्वतन्त्र विचार उपलब्ध नहीं है। यद्यपि दण्डी, रुद्रट, वामन आदि प्राचीन आचार्यों ने कवियों के गुणों और काव्य के कारणों आदि पर अपने विचार स्पष्ट रूप से अपने-अपने ग्रन्थों में अवश्य लिखे हैं परन्तु कवियों' आलोचकों और शिष्यों के भेदों पर उन्होंने विचार नहीं किया है। इस दिशा में जिन्होंने स्पष्ट रूप से मौलिक और उपयोगी विवेचन किया है ; ऐसे दो ही आचार्य दृष्टिगोचर होते हैं और वे हैं हमारे निबन्ध के आलोच्य आचार्य राजशेखर और क्षेमेन्द्र। इन दोनों आचार्य कवियों ने अपनी विद्या और अनुभूति के बल पर जहाँ एक ओर कवियों और काव्यों के गुणों पर अपने विविक्त विचार उपस्थित किये हैं। वहीं कवियों आदि के भेदों का भी स्पष्ट विवेचन किया है। क्षेमेन्द्र के उत्तरवर्ती हेमचन्द्र, वाग्मट अरि-सिंह आदि आचार्यों ने कवि-शिक्षा पर तो अपने-अपने ग्रन्थों में बहुत मूल्यवान तत्वों को निर्दिष्ट किया है परन्तु कवियों आदि के भेदों पर उन्होंने भी स्पष्ट रूप से कुछ नहीं लिखा है। अतएव प्रकृत अध्याय में हम अपने आलोच्य इन्हीं दोनों आचार्यों के विचार से कवियों, आलोचकों और शिष्यों के भेदों का निरूपण आवश्यक समझते हैं। यहाँ जिन शिष्यों का ग्रहण है, वे कोई सामान्य शिष्य नहीं है, अपितु वे ऐसे ही शिष्य हैं, जो काव्य-सम्बन्धी-शिक्षा ग्रहण कर कवि बनना चाहते हैं। अतः उन्हें साधारण शिष्य न समझकर काव्य-शिष्य अर्थात् कवि भावी शिष्य ही समझना चाहिये। अतएव आचार्य राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा के चतुर्थ अध्याय में सर्वप्रथम शिष्य कवियों का विभेद वर्णन कर तत्पश्चात् कवियों का भेद वर्णन किया है, जो पंचम अध्याय तक पूर्ण हुआ है।

राजशेखरकृत शिष्य-कवियों के भेद—

राजशेखर के अनुसार शिष्य दो प्रकार के होते हैं—

1. बुद्धिमान्।
2. आहार्य बुद्धि।

जिसकी बुद्धि स्वभाव से ही शास्त्र का अनुगमन करती है, वह बुद्धिमान् और जिसकी बुद्धि शास्त्राभ्यास से संस्कृत होती है, उसे आहार्य बुद्धि कहा जाता है। बुद्धि भी तीन प्रकार की होती है---

1. स्मृति,
2. मति और
3. प्रज्ञा।

स्मृति वह कही जाती है जो बीते हुए विषयों का स्मरण कराती है। मति उसे कहते हैं जो वर्तमान अर्थों का मनन करती है और प्रज्ञा उस बुद्धि का नाम है जो भावी अर्थों का प्रज्ञान (बोध) कराया करती है। ये तीनों ही बुद्धियाँ कवियों की उपकारक हैं। उपर्युक्त बुद्धिमान् शिष्य सेवा करता है, सुनता है, ग्रहण करता है, धारण करता है, जानता है, तर्क करता है, फर्क समझता है और वस्तु के तत्व को प्राप्त करता है। दूसरे आहार्य बुद्धि शिष्य में भी ये गुण होते हैं परन्तु वह पग-पग पर उपदेश की अपेक्षा रखता है। सद्गुरू की उपासना दोनों का प्रकृष्ट गुण है, वही तो बुद्धि विकास के लिये कामधेनु सदृश है।

इन दोनों से विपरीत बुद्धि वाले शिष्य को दुर्बुद्धि कहते हैं। इन तीन प्रकार के शिष्यों में जो प्रथम अर्थात् बुद्धिमान् शिष्य है, उसे प्रतिपत्ति अर्थात् सहज बोध होता है। वह एक ही बार के कहने से अर्थ को ग्रहण कर लेता है। ऐसे शिष्य को कवि-मार्ग का ग्रहण करने के लिए सद्गुरू के समीप अवश्य जाना चाहिये। दूसरे प्राहार्यबुद्धि शिष्य को एक बार बताने पर अर्थावबोध नहीं होता है। बोध होने पर भी सन्देह बना रहता है, उसे चाहिए कि वह अपने सन्देह को दूर करने और अर्थ को ठीक-ठीक समझने के लिए अनेक गुरुओं के पास जाये। तीसरे दुर्बुद्धि शिष्य की बुद्धि तो सदा विपरीत ही बनी रहती है। वह उस काले वस्त्र के समान होता है, जिस पर कोई दूसरा रंग नहीं चढ़ा करता। हाँ, मान्त्रिक और तान्त्रिक उपायों से उस पर भी सरस्वती की कृपा हो सकती है। यह उपाय आचार्य राजशेखर ने औपनिषदिक अधिकरण में बताने का संकेत किया है।[1] परन्तु यह अधिकरण काव्यमीमांसा के कवि रहस्य नामक प्रथम अधिकरण में उपलब्ध नहीं होता। अवश्य ही आचार्य ने औपनिषदिक अधिकरण में मन्त्र जाप आदि के द्वारा कवित्व-प्राप्ति के वे उपाय बताये होंगे, जिनका उल्लेख आगे चलकर क्षेमेन्द्र ने अपने कविकण्ठाभरण में किया है।

कवियों के भेद—

आचार्य राजशेखर ने शक्ति के पर्यायभूत जन्मान्तर के संस्कार विशेष से उत्पन्न प्रतिभा को काव्य का कारण कहा है। वे उसे कारयित्री प्रतिभा कहते हैं—

---

1. तं यदि सारस्वतोऽनुभावः प्रसादयति, तम् औपनिषदिके वक्ष्यामः। काव्यमीमांसा अध्याय 4, पृष्ठ 28।

"सा द्विधा कारयित्री भावयित्री च"—का० मी० अ० 4, पृ० 32, यहाँ पर कारयित्री शब्द कारणरूपा के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। इसके भी उन्होंने तीन भेद किये हैं—

1. सहजा,
2. आहार्या,
3. औपदेशिकी।

सहजा प्रतिभा वह है जो जन्मान्तर के संस्कार अर्थात् शक्ति के कारण सहज भाव से कवि को प्राप्त हुआ करती है।[1] आहार्या प्रतिभा इसी जन्म के संस्कारों से उत्पन्न होती है।[2] औपदेशिकी प्रतिभा मन्त्र-तन्त्र आदि के उपदेश से उद्भूत होती है।[3] इन तीन प्रकार की प्रतिभा वाले कवि क्रम से सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस कवि की सरस्वती जन्मान्तर के संस्कार से ही सहज रूप से कवि कर्म में प्रवृत्त हो जाती है वह बुद्धिमान् सारस्वत कवि होता है और जिसकी भारती इस जन्म के अभ्यास से उद्भूत होती है, वह आहार्यबुद्धि कवि आभ्यासिक कवि कहलाता है तथा जिस दुर्बुद्धि कवि की वाणी का विलास मन्त्र तन्त्रादि के उपदेश से प्रसूत होता है, उसे औपदेशिक कवि कहते हैं। इस प्रकार राजशेखर ने कवियों के तीन भेद प्रतिपादित किये हैं—

1. सारस्वत कवि,
2. आभ्यासिक कवि,
3. औपदेशिक कवि।

ये तीनों ही भेद प्रतिभामूलक हैं। आचार्य की दृष्टि में प्रतिभा चाहे किसी कोटि की हो सहजा हो, आभ्यासिकी हो, अथवा औपदेशिकी हो-मन्त्रतन्त्रानुष्ठान जन्य हो, उसके बिना काव्य नहीं हो सकता उपर्युक्त कवि भेदों में स्थित तृतीय औपदेशिक कवि के विवरण से स्पष्ट है कि दुर्बुद्धि शिष्य भी मन्त्र तन्त्रादि के उपदेश से वाग्वैभव को प्राप्त कर सकता है। यहाँ पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि जब मन्त्र तन्त्रोपदेश से वाग्वैभव की उत्पत्ति सिद्ध है, तब यदि शेष दोनों प्रकार के कवि-सारस्वत और आभ्यासिक भी इस उपाय का अवलम्बन करें तो क्या उनका वाग्वैभव और भी उत्कृष्ट नहीं हो जायेगा, इसके उत्तर में कुछ आचार्यों का विचार है कि शेष दोनों कवियों को उस उपाय की आवश्यकता नहीं है। मन्त्र तन्त्रादि का अवलम्बन वाग्वैभव को उत्पन्न करने के लिए ही तो कर्त्तव्य है, सारस्वत और आभ्यासिक कवि को जब वह उसके बिना ही स्वतः प्राप्त है, तब उसे इसकी आवश्यकता क्यों ?

---

1. जन्मान्तर संस्कारापेक्षिणी सहजा—का० मी० अ० पृ० 28।
2. इहजन्मसंस्कारयोनिराहार्या—का० मी० अ० 4, पृ० 28।
3. मन्त्रतन्त्राद्युपदेशप्रभवा औपदेशिकी—का० मी० अ० 4, पृ० 28।

क्या स्वभावतः मीठी द्राक्षा (मुनक्का) को भी कोई चीनी की चासनी में डालता है, परन्तु राजशेखर का यह मत है कि यदि सारस्वत और आभ्यासिक कवि भी मन्त्र-तन्त्रों के जप आदि अनुष्ठान का अवलम्बन करते हैं तो इससे उनकी काव्य प्रतिभा निःसन्देह और भी अधिक उत्कृष्ट होगी। एक ही प्रयोजन के लिए यदि दुहरे उपाय अपनाए जायें तो उनको दोगुना लाभ होता ही है।[1]

आचार्य श्यामदेव उपर्युक्त तीन प्रकार के कवियों में पूर्व-पूर्व कवि को श्रेष्ठ मानते हैं अर्थात् उनके मत में औपदेशिक, आभ्यासिक और आभ्यासिक से सारस्वत कवि श्रेष्ठ होता है, परन्तु राजशेखर इस विषय में भी अपना पृथक् मत उपस्थित करते हैं, उनका मानना है कि उत्कर्ष प्राप्त करने पर कोई भी कवि दूसरे की अपेक्षा श्रेष्ठ हो सकता है, अतः उत्कर्ष ही श्रेष्ठ है, जोकि अनेक गुणों के एकत्र मिल जाने से उत्पन्न होता है[2], यद्यपि बुद्धिमत्ता तथा काव्यांगविद्याओं का अभ्यास एवम् औपदेशिक शक्ति का एकत्र होना अत्यन्त दुर्लभ है तथापि वह असम्भव नहीं है, यदि ये समग्रगुण एकत्र सन्निहित हो जायें तो कविराज पद की प्राप्ति को कौन रोक सकता है?[3] तात्पर्य यह है कि उक्त समग्र गुणों वाला कवि ही सर्वश्रेष्ठ है।

उपर्युक्त प्रतिभाजन्य मौलिक कवि भेदों के अतिरिक्त राजशेखर ने व्युत्पत्ति-जन्य कवि-भेदों का वर्णन काव्यमीमांसा के पंचम अध्याय में किया है। राजशेखर ने उचित और अनुचित के विवेक को व्युत्पत्ति नाम दिया है। यह विवेक अनेक विषयों से सम्बद्ध शास्त्रों के अध्ययन से भी उत्पन्न होता है और उसके बिना भी लोकदर्शन तथा सत्सङ्ग आदि से उत्पन्न होता है, कबीर आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। अतएव आचार्य मम्मट ने दोनों बातों का समावेश कर लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात् को निपुणता कहा है। मम्मट की निपुणता राजशेखर की व्युत्पत्ति का ही पर्याय है।

आनन्द नामक प्राचीन आचार्य प्रतिभा और व्युत्पत्ति में से प्रतिभा को श्रेष्ठ मानते हैं। प्रतिभा वास्तव में कवि के अव्युत्पत्तिजन्य दोष को भी ढक देती है। इसके विपरीत मंगल नामक आचार्य प्रतिभा की अपेक्षा व्युत्पत्ति को श्रेष्ठ कहते हैं, उनकी दृष्टि में व्युत्पत्ति कवि के अशक्तिकृत दोष को ढक लेती है। आचार्य राजशेखर प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों के समवाय (मेल) को श्रेयस्कर मानते हैं।

---

1. एकार्थं हि क्रियाद्वयं द्वैगुण्याय सम्पद्यते। का० मी० अ० 4, पृ० 33
2. उत्कर्षः श्रेयान् इति यायावरीयः। स चानेकगुणसन्निपाते भवति। का० मी० अ० 4, पृ० 33।
3. काव्य काव्यांगविद्यासु कृताभ्यासस्य धीमतः।
मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता॥
का० मी० अ० 4., पृ० 34।

उनका अभिप्राय है कि जिस प्रकार लावण्य के बिना रूपसम्पत्ति और रूप सम्पत्ति के बिना लावण्य शोभाजनक नहीं होता, उसी प्रकार प्रतिभा के बिना व्युत्पत्ति और व्युत्पत्ति के बिना प्रतिभा काव्य की शोभा का हेतु नहीं होती । अतः प्रतिभा और व्युत्पत्ति से सम्पन्न कवि ही वास्तविक कवि कहा जाता है । वह तीन प्रकार का होता है—

1. शास्त्रकवि,
2. काव्यकवि,
3. उभयकवि

1. शास्त्रकवि—

वह है जो शास्त्रीय विषयों को काव्य रूप में उपस्थित करता है । वह शास्त्रीय तत्वों को तर्क प्रधान शैली में उपस्थित कर रस सम्पदा को विच्छिन्न कर दिया करता है ।

2. काव्य-कवि—

वह है जो शास्त्र में स्थित तर्क कर्कश अर्थ को उक्ति की विचित्रता के द्वारा शिथिल कर उसे सरल बना देता है ।

3. उभय कवि—

वह है जो शास्त्रीय विषय को अपने अनुभव और चिन्तन के आधार पर इस रूप में उपस्थित करता है कि जिससे शास्त्रीय अर्थ अपने शास्त्रीय रूप को छोड़कर सरस काव्य का रूप धारण कर लेता है, उदाहरण के लिए रहस्यवादी कवि ऐसे ही कवि हैं, उनके काव्य में दर्शनशास्त्र का अद्वैतवाद ही वस्तुतः अपना शास्त्रीय रूप छोड़कर रहस्यवादी काव्य बन गया है ।

राजशेखर शास्त्र और काव्य में उपकारक और उपकार्य सम्बन्ध को स्थापित करते हैं । उनके अनुसार शास्त्र का संस्कार काव्य को अनुगृहीत करता है । परन्तु केवल शास्त्र से ही जुड़े रहना काव्य के लिए हानिकारक होता है । इसी प्रकार काव्य का संस्कार शास्त्रीय वाक्य के परिपाक में सहायक होता है, परन्तु निरी काव्यप्रवणता शास्त्रीय स्वरूप के लिए घातक होती है । आचार्य का अभिप्राय यह है कि कवि को शास्त्रदृष्टि होना चाहिए किन्तु शास्त्रैकप्रवण नहीं होना चाहिए । उनकी दृष्टि में वही कवि श्रेष्ठ है जो काव्य में शास्त्रीय अर्थों का सरसता के साथ निर्वाह करता चलता है अर्थात् शास्त्र विरुद्ध अनर्गल काव्य रचना नहीं करता है और काव्य को शास्त्र का अनुवाद भी नहीं बनने देता है । इस प्रकार का उभयकवि ही श्रेष्ठ है । "त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थ-प्रवर्तिनीम् । तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः" कुमार-सम्भव में साँख्य-शास्त्र को काव्य रूप देने वाले और रघुवंश के वागर्थाविव संपृक्तौ........" इस मंगलाचरण में शैवदर्शन में प्रसिद्ध शिव के अर्द्धनारीश्वर रूप को काव्य का कलेवर प्रदान करने वाले कालिदास ऐसे ही कवि हैं ।

आचार्य राजशेखर ने शास्त्रकवि के तीन और काव्यकवि के आठ भेद बतलाये हैं जिनका विश्लेषण काव्य-मीमांसा के पंचम अध्याय में द्रष्टव्य है। हमारी दृष्टि में ये भेद प्रदर्शन के लिए किये गये हैं, शिष्यों अथवा कवियों के लिए ये विशेष उपकारक नहीं हैं। इस प्रकार के तो अन्य भी अनन्त भेद किये जा सकते हैं। अतएव राजशेखर ने पंचम अध्याय के अन्त में शास्त्र-कवि, काव्य-कवि और उभय-कवि के उक्त भेदों को दिखाकर स्वयम् इनके अनन्त भेदों के होने की बात स्वीकार की है :—

अयमत्रैव शिष्याणां दर्शितस्त्रिविधो विधिः।
किन्तु वैविध्यमप्येतत् त्रिजगत्यस्य वर्त्तते।[1]

अर्थात् यहाँ शिष्यों के तीन भेद ही हमारे द्वारा दिखाये गये हैं किन्तु इस त्रिभुवनमय जगत् में उनके अगणित भेद होते हैं।

भावयित्री प्रतिभा के धनी भावक—

ऊपर कवि से सम्बद्ध कारयित्री प्रतिभा का विवेचन किया गया है, इससे भिन्न दूसरी प्रतिभा का नाम भावयित्री है। यह भावकों की उपकारक होती है। भावक ही कवि के श्रम और अभिप्राय का मूल्यांकन करता है। भावक के मूल्याङ्कन द्वारा ही कवि का काव्य व्यापार फलीभूत होता है। भावक के बिना वह निष्फल हो जाता है।[2]

कुछ लोग कवि और भावक में भेद स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि से कवि ही भावक होता है और भावक ही कवि होता है परन्तु कालिदास नामक आचार्य का मत इससे भिन्न है, वे दोनों को पृथक्-पृथक् मानते हैं। उनके अनुसार दोनों (कवि और भावक) का स्वरूप और विषय एक-दूसरे से भिन्न होता है। यद्यपि स्वर्ण को उत्पन्न करने और उसकी परीक्षा करने वाला पत्थर जाति की दृष्टि से एक ही है, अर्थात् पत्थर ही है—तथापि एक पत्थर स्वर्ण को उत्पन्न मात्र करता है, उसका खोटा-खरापन नहीं देखता और दूसरा (निकष) उसकी परीक्षा मात्र करता है, उसे उत्पन्न नहीं करता। अतः दोनों एक दूसरे से भिन्न ही होते हैं, उसी प्रकार कवि और भावक भी भिन्न ही है, एक नहीं। हाँ, कवि और भावक को परस्पर भिन्न प्रतिपादित करने वाले जिस कालिदास का नामोल्लेख यहाँ आचार्य राजशेखर ने किया है, वह प्रसिद्ध महाकवि कालिदास ही हैं अथवा कोई अन्य ? यह बात यहाँ स्पष्ट नहीं है तथापि ये कोई अन्य विद्वान् ही प्रतीत होते हैं, महाकवि कालिदास नहीं। "नेति कालिदासः" यह निर्विशेष नामोल्लेख ही उनके भिन्न होने का

---

1. काव्यमीमांसा अ० 5 का अन्त
2. तया खलु फलितः कवेर्व्यापारतरुः। अन्यथा सोऽवकेशी स्यात्।
   का० मी० अ० 4, पृ० 34।

प्रबल प्रमाण है। राजशेखर ने जहाँ भी प्रसिद्ध कालिदास का उल्लेख किया है वहाँ उन्हें महाकवि शब्द से ही संकेतित किया है, कालिदास कहकर नहीं। इसी चतुर्थ अध्याय में राजशेखर ने प्रतिभावान् कवि की परोक्ष को भी प्रत्यक्ष की भाँति देखकर वर्णन करने वाली दृष्टि को उदाहृत करते हुये देशान्तर, द्वीपान्तर आदि के जो चार उदाहरण दिये हैं, वे सब महाकवि कालिदास की कृतियों से ही दिये हैं परन्तु कालिदास का नाम न लेकर उन्हें महाकवियों का व्यवहार की कहा है। इसके अतिरिक्त महाकवि कालिदास का कोई भी ऐसा ग्रन्थ प्रसिद्ध नहीं है, जिसमें उन्होंने काव्य-कर्म-सम्बन्धी-विचार प्रस्तुत किये हों, अतः स्पष्ट ही ये कोई दूसरे ही कलिदास नामक आचार्य हैं, महाकवि कालिदास नहीं।

भावकों के भेद

मंगल नामक आचार्य ने भावकों के दो भेद किये हैं। उनके अनुसार भावक अर्थात् आलोचक दो प्रकार के होते हैं—

1. अरोचकी,
2. सतृणाभ्यवहारी।

परन्तु राजशेखर उक्त दो भेदों के साथ मत्सरी और तत्वाभिनिवेशी को जोड़कर चार प्रकार के आलोचकों का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार राजशेखर के अनुसार भावकों के चार भेद होते हैं जो निम्न प्रकार हैं—

1. अरोचकी आलोचक

अरोचकी आलोचक वे हैं जिन्हें दूसरे शब्दों में नापसन्द कहना चाहिये। ये किसी वस्तु को पसन्द करने में स्वभावतः उदासीन होते हैं। ये उस कंजूस व्यक्ति के समान हैं जो यह जानकर भी कि सम्मुख खड़ा याचक वास्तव में दान का पात्र है, बड़ी कठिनाई से अपने पैसों की पोटली खोलते हैं और फिर एक पाई को मसल-मसलकर हाथ से नीचे छोड़ते हैं। ये उत्तम से उत्तम काव्य वस्तु को भी अच्छा कहने में संकोच करते हैं। उनका यह अरोचकीपन दो प्रकार का होता है—

(क) नैसर्गिक,

(ख) ज्ञानयोनि।

(क) नैसर्गिक आरोचकी—राँगे की भाँति सैकड़ों संस्कारों को पाकर भी अपनी कलुषता को नहीं छोड़ता। सर्वदा मलिन ही बना रहता है।

(ख) ज्ञानयोनि अरोचकी—वह है जो विशिष्ट अर्थ वाले वचनों में रुचि रखता है, अर्थात् विशिष्ट वचनों की प्रशंसा करता है, सामान्य वचन कितने भी सुन्दर हों उनमें रूचि नहीं रखता।

2. सतृणाभ्यवहारी आलोचक

जो व्यक्ति भोजन के मध्य में पड़े तिनके को भी बाहर नहीं निकालता उसे भी भोजन के साथ ही खा जाता है उसे सतृणाभ्यवहारी कहा जाता है। प्रकृ में इसका कोई अर्थ नहीं, अतः यह शब्द यहाँ लक्षणा से ऐसे आलोचक का बो

कराता है, जो भले बुरे का किंचित् विवेक न कर सभी को ग्रहण करता चला जाता है। इस प्रकार की वृत्ति साधारणतया सभी जिज्ञासुओं में पायी जाती है, गुणावगुण की पहचान हो, न हो, प्रायः सभी कौतुकवश कवि वचनों की आलोचना करने लग पड़ते हैं। वे बहुत सी अनपेक्षित बातों को ग्रहण करते और बहुत सी अपेक्षित बातों को त्याग दिया करते हैं। ऐसे ही प्रतिभा और विवेक से हीन आलोचकों को सतृणाभ्यवहारी कहा गया है।

3. मत्सरी आलोचक

वे हैं जो स्पष्ट दिखाई देते हुये को भी नहीं देखते। वे दूसरे के गुणों को वर्णन करने में अपनी वाणी को बाँधे रखते हैं। मत्सर हीन गुणज्ञ आलोचक बिरले ही होते हैं।

4. तत्वाभिनिवेशी आलोचक

वह आलोचक है जो कवि के काव्यश्रम को यथार्थ रूप से पहचानता है। वह शब्दों के गुम्फन की विधि का विवेक रखता है। उसकी सूक्तियों से आह्लादित होता है। सघन रसामृत का पान करता है और उसके गूढ़ तात्पर्य का चिन्तन करता है। ऐसा आलोचक किसी-किसी को कभी-कभी प्राप्त होता है। वह कवि का स्वामी भी होता है मित्र भी और मन्त्री भी। वह उसका शिष्य भी होता है और गुरु भी। सच्चा आलोचक वास्तव में कवि का सभी कुछ होता है। तत्वाभिनिवेशी निर्मत्सर आलोचक ही कवि के निबन्धों को दिगन्तों में ख्यापित करता है।

यहाँ तक शिष्यों, कवियों और भावकों के स्वरूप और भेदों का वर्णन हमने आचार्य राजशेखर की काव्यमीमांसा के आधार पर किया है। अब हम आचार्य व्यासदास क्षेमेन्द्र के एतद्विषयक विचारों पर दृष्टिपात करना चाहते हैं।

क्षेमेन्द्र की कवि शिक्षा—यद्यपि कवि शिक्षा विषयक अनेक ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध हैं, जिनमें अरिसिंह और अमरचन्द नामक दो जैन विद्वानों द्वारा लिखित "काव्यकल्पलता" बहुत उपयोगी है। अच्युतराय मोडक का "साहित्यसार" नामक ग्रन्थ भी कविशिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय है, तथापि राजशेखर की "काव्यमीमांसा" और क्षेमेन्द्र की "कविकण्ठाभरण" ये दोनों ग्रन्थ ही इस विषय में सर्वाधिक महत्व के हैं। काव्यमीमांसा के आधार पर शिष्यों, कवियों और भावकों के प्रमुख भेदों का निदर्शन हम ऊपर कर चुके हैं। अब हमें क्षेमेन्द्रकृत कवि कण्ठाभरण के आधार पर इस विषय का विवेचन करना है।

इसमें सन्देह नहीं कि "कविकण्ठाभरण" में व्यासदास क्षेमेन्द्र राजशेखर की काव्यमीमांसा के अत्यधिक ऋणी हैं। वास्तव में कविकण्ठाभरण के लिखने की प्रेरणा ही क्षेमेन्द्र को काव्यमीमांसा से मिली है। जिस प्रकार राजशेखर ने काव्यमीमांसा के पंचम अध्याय में कवियों के रचनाकवि शब्दकवि आदि आठ प्रकारों का निरूपण किया है, उसी की छाया लेकर क्षेमेन्द्र ने "कविकण्ठाभरण" की तृतीय

सन्धि में चमत्कार के समस्त सूक्तव्यापी शब्दगत, अर्थगत आदि दस भेद निरूपित किये हैं। कविकण्ठाभरण की पंचम सन्धि में नौसिखिये कवियों के लिये जो अनेक शास्त्रों के अध्ययन की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है, वह काव्यमीमांसा के द्वितीय अध्याय में राजशेखर के एतद्विषयक आदेश का ही अनुमोदन है। कविकण्ठाभरण की द्वितीय सन्धि में जिस शतशिक्षा का प्रतिपादन है, वह काव्यमीमांसा के कविचर्यापरक बारहवें अध्याय में प्रतिपादित शिक्षा की छाया ही है। दोनों में विषय साम्य तो है ही, कल्पना एवं शब्दों तक का साम्य भी दृष्टिगोगर होता है। काव्यमीमांसा के ग्यारहवें अध्याय का जो विषय है, वही कविकण्ठाभरण की द्वितीय सन्धि का विषय है। इस प्रकार "कविकण्ठाभरण" "काव्यमीमांसा" की छाया सी प्रतीत होता है, परन्तु इतना होने पर भी कविकण्ठाभरण काव्यमीमांसा का अनुवाद-मात्र न होकर अपनी मौलिक विशेषता बनाए हुए है। क्षेमेन्द्र की अपनी स्वतन्त्र विचारणा वहाँ अवश्य प्रदर्शित होती है। किसी गम्भीर और विस्तृत विचार को सरल और संक्षेप में उपस्थित कर हृदयङ्गम कराना क्षेमेन्द्र की अपनी विशेषता है, वही यहाँ भी कविकण्ठाभरण की मौलिकता और पृथगात्मता की साधक है। क्षेमेन्द्र ने केवल पाँच सन्धियों और पचपन कारिकाओं में वह सब साफ-साफ कह दिया है, जिसे काव्यमीमांसा के विस्तृत कलेवर से प्राप्त करना कविभावी शिष्यों के लिये सरल नहीं है। साररूप में सरल शैली द्वारा विषय को प्रस्तुत क देरना ही कविकण्ठाभरण की अपनी विशेषता है। क्षेमेन्द्र को एक आदर्श ग्रन्थलेखन पद्धति प्राप्त है, जो उनकी अनन्य साधारण विशेषता है, यही विशेषता कविकण्ठाभरण की स्वतन्त्र एवं मौलिक स्थिति की सम्पोषक है।

क्षेमेन्द्रकृत शिष्यों के भेद––आचार्य क्षेमेन्द्र कविकण्ठाभरण की प्रथम सन्धि के अन्त में शिष्यों का वर्णन बड़े संक्षेप में करते हैं, परन्तु वह सोदाहरण और सोपपत्तिक होने से बहुत ही स्पष्ट एवं प्रभावी है। उन्होंने शिष्यों अर्थात् काव्यकर्म की शिक्षा ग्रहण करने वालों को तीन रूपों में विभक्त किया है। ये तीन रूप निम्न प्रकार हैं––

1. अल्पप्रयत्न साध्य,
2. कृच्छ्र साध्य,
3. असाध्य।

ये तीनों प्रकार के शिष्य काव्य क्रिया में उपदेश्य हैं। इनमें जो थोड़े ही प्रयत्न से सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं वे प्रथम कोटि के तथा जो बहुत अधिक प्रयत्न की अपेक्षा रखते हैं वे द्वितीय कोटि के तथा जो कितना भी प्रयत्न करने पर कवि-कर्म में सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकते वे तृतीय कोटि के शिष्य हैं।[1]

---

1. तत्र त्रयः शिष्याः काव्यक्रियायामुपदेश्याः। अल्पप्रयत्नसाध्यः, कृच्छ्रसाध्यः, असाध्यश्च। क. क.। सन्धि––का अन्तिम भाग।

हम ऊपर कह आये हैं कि कविकण्ठाभरण की सम्पूर्ण कवि-शिक्षा काव्य-मीमांसा की छाया जान पड़ती है। क्षेमेन्द्र ने जो उक्त तीन भेद शिष्यों के किये हैं, उन्हें हम काव्यमीमांसा में कहे गये हैं। 1. बुद्धिमान्, 2. आहार्यबुद्धि और (3) दुर्बुद्धि। नामक भेदों की छाया के ही रूप में देखते हैं। क्षेमेन्द्रकृत उक्त भेद इतने स्थूल हैं कि उनके स्वरूप को स्पष्ट करने की आवश्यकता ही उपस्थित नहीं होती, जबकि राजशेखरकृत "भेद" विवरण चाहते हैं, जैसा कि राजशेखर ने किया भी है। वे बुद्धिमान् को विवृत करते हुए कहते हैं कि "यस्य निसर्गतः शास्त्रम् अनुधावति बुद्धिः स बुद्धिमान्" और आहार्य बुद्धि का निदर्शन इन शब्दों से करते हैं—"यस्य च शास्त्राभ्यासः संस्कुरूते बुद्धिम्, असौ आहार्यबुद्धिः" राजशेखर के उक्त विवरण में उपदेष्टा और उपदेश्य दोनों का प्रयत्न स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। दोनों में उपदेष्टा का प्रयत्न बहुत कम और उपदेश्य का अधिक अपेक्षित है। जिसकी बुद्धि निसर्गतः शास्त्र का अनुधावन करने लगती है, उसके विषव में दोनों का प्रयत्न बहुत कम और जिसकी बुद्धि को शास्त्राभ्यास संस्कृत करता है, उसके विषय में उपदेष्टा की अपेक्षा उपदेशश का प्रयत्न अत्यधिक दिखाई देता है। निश्चित रूप से शास्त्राभ्यास उपदेश्य के ही आश्रित है, उपदेष्टा के नहीं। इसके विपरीत क्षेमेन्द्रकृत भेदों में सम्पूर्ण प्रयत्न उपदेष्टाश्रित ही दिखाई देता है। वहाँ शिष्य साध्य है और गुरु साधक है। अतः सम्पूर्ण प्रयत्न गुरु के ही आश्रित है। मानों शिष्य को प्रयत्न की आवश्यकता ही नहीं, वह साध्य ही जो ठहरा। जिस प्रकार अल्प प्रयत्न साध्य रोग में सम्पूर्ण प्रयत्न साधक अर्थात् वैध के ही आश्रित होता है, रोग के आश्रित तनिक भी नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। यही बात कृच्छ्रसाध्य के विषय में भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षेमेन्द्र ने सारा भार उपदेष्टा पर ही डाल दिया है। वही तो साधक है, प्रयत्न साधक के ही तो आश्रित रहा करता है, न कि साध्य के।

राजशेखर और क्षेमेन्द्र के उपर्युक्त भेद विभाजन में एक बात विशेष ध्यान आकृष्ट करने वाली है, वह है भेदों की संख्या। राजशेखर ने जो बुद्धिमान् आदि तीन भेद किये हैं, उन्हें हम अपनी ओर से भले ही शिष्यों के भेद समझ लें परन्तु राजशेखर ने दुर्बुद्धि के निदर्शन में बड़े ही विवेक से काम लेकर स्पष्ट रूप से दो ही शिष्यों का नाम ग्रहण किया है, वे कहते हैं—

द्विविधं शिष्यमाचक्षते, यदुत बुद्धिमान् आहार्यबुद्धिश्च ।[1] इस प्रकार राजशेखर ने शिष्यों की दो ही कोटियों का परिगणन किया है, तीसरे दुर्बुद्धि को वे शिष्य नहीं मानते। यह अलग बात है कि मन्त्र आदि दैवी उपचार द्वारा दुर्बुद्धि को भी सारस्वत अनुभाव प्राप्त हो जाये। उस स्थिति में दुर्बुद्धि को शिष्य नहीं

---

1. काव्यमीमाँसा अ. 4.

कहा जा सकता, क्योंकि शिष्य वही है जो "शासितुं योग्यः" हो। जिसने मन्त्र आदि की साधना द्वारा सारस्वत वैभव प्राप्त किया हो वह तो किसी शास्त्र के शासन में रहा ही नहीं। ऐसी स्थिति में वह किसका शिष्य कहा जायेगा, अतः राजशेखर ने दुर्बुद्धि को अलग रखकर जो द्विविधं शिष्यों का परिगणन किया है, वह सहज और तर्क सिद्ध होने से शास्त्रीय शैली के अन्तर्गत है। इसके विपरीत क्षेमेन्द्र के अतिस्थूल विभाजन में हमें यह बात नहीं दिखाई देती। क्षेमेन्द्रकृत भेदों में वह सूक्ष्मता दिखाई नहीं देती जो किसी मर्मज्ञ आचार्य के किये हुये तत्व निरूपण में हुआ करती है। अल्प-प्रयत्न-साध्य और अधिक-प्रयन्त-साध्य तो संसार की सभी क्रियायें होती हैं। इस आधार पर किया गया वस्तु-भेद "तात्विक" नहीं कहा जा सकता। मन्द-बुद्धि पुरुष भी इस दृष्टि से प्रत्येक स्थल में भेद बता सकता है। गुड़ पाक और चीनी पाक में क्या भेद है? इस प्रश्न के उत्तर में अज्ञ भी यह बता सकता है कि एक पाक अल्प साध्य है और दूसरा पाक अधिक-प्रयत्न-साध्य है। क्या यह भेद निरूपण तात्विक समझा जा सकता है? इसी प्रकार कूप स्नान और नदीस्नान में क्या भेद है? अथवा कला अध्ययन और विज्ञान अध्ययन में क्या भेद है? इसका उत्तर भी यदि अल्पाधिक प्रयत्न साध्य ही कोई दे--जैसा कि सब दे ही सकते हैं तब क्या यह तात्विक उत्तर होगा। इसीलिये हमने क्षेमेन्द्र के उक्त भेद निरूपण को स्थूल की संज्ञा दी है।

इसके अतिरिक्त एक बात और विचारणीय है। क्षेमेन्द्र ने जो शिष्यों का तृतीय भेद कहा है क्या उसे अर्थात् असाध्य को शिष्य कहा जा सकता है? जो थोड़े या बहुत किसी भी प्रकार के प्रयत्न से काव्यकर्म को सीख ही नहीं सकता उसे शिष्य कोटि में रखना क्या उचित है? क्षेमेन्द्र जिसे उस गधे के समान होने का प्रमाण पत्र दे रहे हैं जो किसी भी हालत में संगीत नहीं सीख सकता। यही नहीं जिसे वे उस अन्धे व्यक्ति की उपमा देते हैं, जो दिखाने पर सूरज को नहीं देख सकता।[1] उसे शिष्य कौन स्वीकार करेगा, जिस बालक को किसी प्रतिष्ठित चिकित्सक ने शिक्षा के अयोग्य ठहरा दिया हो, उसे क्या किसी शिक्षा संस्थान में प्रवेश मिल सकता है? उसे तो क्षेमेन्द्र के शब्दों में सर्वत्र यही सुनना पड़ेगा कि "इसे ले जाओ" यह हमारे शिक्षणालय में शिष्यों के मध्य प्रवेश नहीं पा सकता, क्योंकि कितने भी विशिष्ट प्रकारों द्वारा इसे शिक्षा दी ही नहीं जा सकती।[2] ऐसी स्थिति में असाध्य को शिष्य कोटि में गिनना क्या क्षेमेन्द्र के लिये उचित था? स्पष्ट है कि राजशेखरकृत द्विविध शिष्य भेदों के रहस्य को न समझकर अतएव उनके दुर्बुद्धि

---

1. न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि, सन्दर्शितं पश्यति नार्कमन्धः।

क. क. । सन्धि ।

2. न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्यात् शिक्षाविशेषैरपि सुप्रयुक्तैः।

क. क. । सन्धि ।

नामक अशिष्य को भी शिष्य कोटि में रखकर और असाध्य को भी साध्य मानकर किया गया क्षेमेन्द्र का त्रिविध-शिष्य-भेद निरूपण अयुक्तियुक्त ही है।

कोई भी बुद्धिजीवी यह समझने में असमर्थ ही रहेगा कि जिसे क्षेमेन्द्र गधे के समान और अन्धे के समान काव्य क्रिया में सर्वथा असाध्य मानते हैं, उसे ही काव्य-क्रिया में उपदेश्य कहकर, उन्होंने शिष्यों की श्रेणी में उसका समावेश कैसे कर लिया? असाध्य को शिष्यों की कक्षा में प्रविष्ट कर "त्रयः शिष्याः काव्य क्रियायामुपदेश्याः कहना सर्वथा समझ से बाहर है। ये हुये शिष्यों के भेद। अब क्षेमेन्द्र कृत कवि भेदों को भी देखना चाहिये।

क्षेमेन्द्र कृत कवि भेद—

आचार्य क्षेमेन्द्र ने कवियों के भेद भी शिष्यों के समान ही संक्षिप्त किये हैं। संक्षेप ही वस्तुतः क्षेमेन्द्र की विशेषता है। रामायण, महाभारत, बृहत्कथा आदि के लाखों श्लोकों को हजारों की संख्या में समेट देना क्षेमेन्द्र की संक्षेप-प्रियता का और सारग्राहिता का ही परिणाम है। राजशेखर तो विस्तार प्रिय हैं ही। वे मानो दूसरे के लिये कहने को कुछ छोड़ना चाहते ही नहीं। उन्होंने कवियों के प्रतिभाजन्य, व्युत्पत्तिजन्य भेदों को बताने के बाद कालजन्य भेद भी कर डाले हैं। उनके किये हुए भेद काव्य-मीमांसा में आरम्भ से अन्त तक पाये जा सकते हैं। चतुर्थ अध्याय में किये गये प्रतिभाजन्य भेदों के पश्चात् पंचम अध्याय में पुनः व्युत्पत्तिकृत भेदों तथा दशम अध्याय में पुनरपि कालकृत भेदों।[1] को देखकर यही मानना पड़ता है कि राजशेखर का सर्वेक्षण बहुत सूक्ष्म है, अतएव विस्तृत है। क्षेमेन्द्र ने मानो राजशेखर के विस्तार को समेट कर संक्षेप में आवश्यक तत्वों का निरूपण करने के लिये ही कविकण्ठाभरण की रचना की है। वे संक्षिप्त प्रिय तो हैं ही परन्तु उनके इस संक्षेप में वह मौलिकता दिखाई नहीं पड़ती, जो आचार्यों के मौलिक तत्व निरूपण में हुआ करती है।

क्षेमेन्द्र ने कविकण्ठाभरण की द्वितीय सन्धि का आरम्भ करते हुये कवियों का जो भेद निरूपण किया है, उसमें कविकर्म सम्बन्धी वह मौलिक दृष्टि नहीं है, जो राजशेखर कृत भेदों में विद्यमान है। क्षेमेन्द्र के ये भेद दूसरों के मार्ग पर चलने वाले तथा दूसरों को अपने पीछे चलाने वाले कवियों की दृष्टि से किये गये हैं। इनसे कवि का मूल रूप उपस्थित नहीं होता। उपजीवी और उपजीव्य कवियों के भेद बताकर क्षेमेन्द्र ने प्राप्तकवित्वजीवी कवि के लिये शत (सौ) शिक्षाओं का निरूपण तो

---

1. चतुर्विधश्चासौ । 1. असूर्यम्पश्यः, 2. निषण्णः, 3. दत्तावसरः. 4. प्रायोजनिकश्च । यो गुहागर्भभूमिगृहादिप्रवेशान्नैष्ठिकवृत्तिः कवते असावसूर्यम्पश्यस्तस्य सर्वेकालाः । यः काव्यक्रियायाम् अभिनिविष्टः कवते न च नैष्ठिकवृत्तिः सनिषण्णस्तस्यापि त एव कालाः । यः सेवादिकमरून्धानः, कवते स दत्तासरस्तस्य कतिपये कालाः ।... यस्तु प्रस्तुतं किंचित् संविधानकम् उदिदश्य कवते स प्रायोजनिकः तस्य प्रयोजनवशात् कालव्यवस्था । का० मी० अ० 10, पृ० 139–138 ।

द्वितीय सन्धि में कर दिया है परन्तु प्राप्त कवित्व कवि के भेदों का निरूपण नहीं किया है। वही वास्तव में कवि भेद कहा जा सकता था। अस्तु, क्षेमेन्द्र ने उपजीवी और उपजीव्य कवि के जो भेद निरूपित किये हैं, उनमें उपजीवी के चार और उपजीव्य का केवल एक भेद कहा है, जो निम्न प्रकार हैं—

उपजीवी के चार भेद--

उपजीवी अर्थात् पिछलग्गू कवि चार प्रकार के होते हैं—

1. छायोपजीवी।
2. पदकोपजीवी।
3. पादोपजीवी।
4. सकलोपजीवी।

उक्त चार भेदों को क्षेमेन्द्र ने परिभाषित न करके केवल उदाहरणों द्वारा छाया आदि पदों के विवक्षितार्थ को समझाने की चेष्टा की है। उनके उदाहरणों से ही छायोपजीवी आदि चतुर्विध कवियों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इनमें

1. छायोपजीवी—

वह कवि है जो किसी पूर्ववर्त्ती कवि की छाया को लेकर रचना करता है। अर्थात् पूर्वकवि की कल्पना को ही दूसरे शब्दों में अपनी उक्ति में स्थान देता है। उदाहरण के लिये भट्ट भल्लट नामक प्राचीन कवि का "नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट।" इत्यादि पद्य उपस्थित कर उसमें कवि द्वारा कालकूट की उस उत्तरोत्तर विशिष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है, जिसमें वह समुद्र से चलकर खलों की वाणी तक पहुँच गया है, समुद्र के हृदय से उठा तो शंकर के कण्ठ में जा बैठा, शंकर के कण्ठ से उठा तो खलों की जिह्वा पर जा बैठा, इस प्रकार कालकूट नामक विष उत्तरोत्तर विशिष्ट स्थिति को प्राप्त करता गया। भल्लट कवि का विवक्षितार्थ यहाँ दुर्जनों के वचनों की कटुता सम्बन्धी अतिशय मूलक निन्दा मात्र है, जिसे कवि ने उत्तरोत्तर विशिष्ट स्थिति की कल्पना द्वारा व्यक्त किया है।

कवि भल्लट की उक्त कल्पना की छाया लेकर ही उत्पलराजदेव ने--

मात्सर्यतीव्रतिमिरावृतदृष्टयो ये
ते कस्य नाम न खला व्यथयन्ति चेत:।
मन्ये विमुच्य गलकन्दलमिन्दुमौले
र्येषां सदा वचसि वल्गति कालकूट:॥

अपने इस पद्य में खलों के वचन में कालकूट की उछलन का वर्णन कर खलों की निन्दा की है। क्षेमेन्द्र के अनुसार उत्पलराज छायोपजीवी कवि हुए।

पदकोपजीवी कवि--

जो कवि दूसरे कवि के पदों को यथावत् अपनी कविता में स्थान देता है, वह पदकोपजीवी होता है। इसके उदाहरणार्थ "क्षेमेन्द्र" ने कवि 'मुक्ताकण' का "यथा रन्ध्रं व्योम्न:······" इत्यादि जो पद्य उपस्थित किया है, उसी के यथा मन्ये,

तथा आदि पदों को उनके भाई चक्रपाल ने अपने सरस्यामेतस्याम्......"इत्यादि पद्य में स्थान दिया है। अतः चक्रपाल पदकोपजीवी कवि हैं।

उक्त भेद में पदोपजीवी को क्षेमेन्द्र ने पदकोपजीवी कह दिया है, ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिये। क्षेमेन्द्र ने वस्तुतः जान बूझकर पद के स्थान में पदक शब्द का प्रयोग किया है, पदक शब्द में समूहार्थक 'क' प्रत्यय इस विवक्षा का द्योतक है कि यह भेद तभी मान्य होता है जब कोई कवि अनेक पदों का यथावत् हरण करता है, वास्तव में यह समूहापहरण है।

पादोपजीवी कवि—

जो दूसरे के श्लोक का पाद पूरा का पूरा श्लोक में उठाकर रख दे, ऐसे कवि को पादोपजीवी कहा गया है। उदाहरण के लिये अमरुक कवि के "गन्तव्यं यदि नाम......" इत्यादि पद्य के चतुर्थचरण "को जानाति पुनस्त्वया सह मम स्याद् वा न वा संगमः" को स्वयं क्षेमेन्द्र ने अपने "हंहो स्निग्ध सखे। विवेक।......" इत्यादि पद्य के चतुर्थ चरण के रूप में उठाकर रख लिया है।

सकलोपजीवी कवि—

जो किसी की उक्ति को प्रकारान्तर से अपने शब्दों में यथावत् कह देता है वह सकलोपजीवी कहा जाता है। जैसे कि आर्य-भट्ट के "शब्दैर्निसर्ग कटुभिः..." इत्यादि पद्य में जो यह कहा गया था कि 'खल (दुर्जन) निगड की भाँति अपने निसर्गकटु शब्दों से कानों को व्यथित करते हैं, इसी अर्थ को साधारण अन्तर से छन्द भेद करके बाण भट्ट ने अपने" कटुक्वणन्तो मलदायकाः खलाः इत्यादि पद्य में पूरा का पूरा कह दिया है। अतः बाण भटट यहाँ सकलोपजीवी कवि हैं।

भुवनोपजीव्य कवि—

जिसे भुवनभर के सभी कवि अपना आश्रय बनाते हैं अर्थात् जिसका सहारा लेकर काव्य कर्म में प्रवृत्त होते हैं, वह कवि भुवनोपजीव्य कहा जाता है। महर्षि व्यास ऐसे ही भुवनोपजीव्य कवि हैं। भास, कालिदास, भारवि, माघ, श्री हर्ष आदि सभी महाकवियों ने व्यास के महाकाव्य महाभारत से आख्यान चुनकर अपने-अपने दृश्य और श्रव्य काव्य लिखे हैं, अतः भगवान् व्यास भुवनोपजीव्य कवि हैं।

क्षेमेन्द्र ने भुवनोपजीव्य कवि के भेद नहीं कहें हैं, केवल एक महर्षि व्यास को भुवनोजीव्य कहा है। ठीक भी हैं क्योंकि भुवन भर का उपजीव्य कोई एक ही हो सकता है, अनेक नहीं है। जिस प्रकार समस्त ज्योतियों का उपजीव्य एक सूर्य ही है, अन्य नहीं। जो एक है, अनन्य है, उसके अन्य भेद कैसे हो सकते हैं?

क्षेमेन्द्र ने "रामायणमंजरी" के आरम्भ में महर्षि बालमीकि को सर्वोपजीव्य कहा है, देखिये—नुमः सर्वोपजीव्यं तं कवीनां चक्रवर्त्तिनम् यस्येन्दुधवलैः श्लोकैर्भूषिता भुवनत्रयी"।[1]

---

1. रामायणमञ्जरी–श्लोक 4

हमें लगता है कि उपजीव्य कवि के भी दो भेद किये जा सकते हैं–

1. भुवनोपजीव्य

2. सर्वोपजीव्य

भुवनोपजीव्य में एक भुवन (भूलोक) का उपजीव्य होना विवक्षित है और सर्वोपजीव्य से भुवनत्रयी (भू, र्भुवः स्वः) का। ऐसा स्पष्ट भेद लक्षित होते हुए भी क्षेमेन्द्र ने उपजीव्य कवि के उक्त भेद क्यों नहीं किये ? यह बात विचारणीय है।

हमारा विचार है—जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं।" कवि-कण्ठाभरण का समस्त प्रबन्ध राजशेखर-कृत काव्यमीमांसा की छाया है। राजशेखर ने का. मी. के ग्यारहवें और बारहवें अध्यायों में बड़े विस्तार से शब्दाहरण, अर्थहरण आदि का विश्लेषण प्रस्तुत कर बत्तीस प्रकार के हरण का सोदाहरण विवेचन किया है और भ्रामक, चुम्बक, कर्षक, द्रावक तथा चिन्तामणि भेद से पाँच प्रकार के कवियों का विभाजन किया है।[1] ग्यारहवें अध्याय के अन्त में राजशेखर ने सभापति कवि के दो भेद किये हैं–

1. उपजीव्य

2. उपजीवक।[2]

हमारे विचार से उपजीवक शब्द को ही प्रत्यय भेद से क्षेमेन्द्र ने उपजीवी के रूप में ग्रहण कर उसी के उपर्युक्त छायोपजीवी आदि भेद प्रदर्शित कर दिये हैं और उपजीव्य कवि का राजशेखर ने कोई स्वरूप और भेद स्पष्ट नहीं किया है, अतः क्षेमेन्द्र ने भी उपजीव्य को विश्लेषित नहीं किया। केवल राजशेखर के चिन्तामणि नामक सर्वश्रेष्ठ कवि के अनुकरण पर अपने श्रद्धापात्र महर्षि व्यास को उपजीव्य कवि के रूप में उदाहृत कर दिया है। इस प्रकार राजशेखर द्वारा न किया गया उपजीव्य सम्बन्धी भेद प्रदर्शन ही क्षेमेन्द्र द्वारा उपजीव्य के भेद न करने में कारण है, अन्यथा व्यास को भुवनोपजीव्य और बाल्मीकि को सर्वोपजीव्य मानने वाले क्षेमेन्द्र के लिये उपजीव्य के स्वसम्मत दो भेद–

1. भुवनोपजीव्य

3. और सर्वोपजीव्य

प्रदर्शित करना स्वाभाविक ही था।

---

1. भ्रामकश्चुम्बकः किञ्च कर्षको द्रावकश्च यः।
स कविर्लौकिकोऽन्यस्तु चिन्तामणिरलौकिकः॥ का. मी. अध्याय 12, पृ. 164, 65

2. सभापतिस्तु द्विधा। उपजीव्य उपजीवकश्च।

आचार्य राजशेखर पर पूर्वाचार्यों का प्रभाव
एवं
आचार्य क्षेमेन्द्र पर पूर्वाचार्यों का प्रभाव

12

(क) आचार्य राजशेखर पर पूर्वाचार्यों का प्रभाव

संसार में अवतीर्ण होने वाले प्रत्येक मनुष्य में कुछ गुण प्राकृत होते हैं तो कुछ अपने पूर्व पुरुषों से उसे विरासत में मिला करते हैं, जिन्हें वह अपनी प्रतिभा से विकसित भी कर सकता है और अपनी जड़ता से नष्ट भी कर सकता है। कवि और आचार्य कोटि के लोग अलौकिक प्रतिभा के धनी होते हैं तथापि वे अपने पूर्ववर्ती कवि और आचार्यों से ही मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं और उत्तरवर्ती कवियों और आचार्यों के लिये आदर्श बन जाते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक कवि और आचार्य अपने पूर्व कवियों और आचार्यों से अवश्य ही प्रभावित होता है और उत्तरवर्ती कवियों और आचार्यों पर अपना प्रभाव भी अवश्य छोड़ जाया करता है। आदि कवि बाल्मीकि से पूर्व कोई लौकिक कवि भले ही न रहा हो परन्तु "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः" कहलाने वाला कोई अलौकिक कवि उनसे पूर्व भी अवश्य उपलब्ध था और "पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति" के उद्घोष का लक्ष्य कोई "देवकाव्य" भी उनसे पूर्व विद्यमान था ही, जिससे अनुष्टुभ् आदि छन्दों का ग्रहण बाल्मीकि ने किया था। स्पष्ट है कि प्रत्येक कवि और आचार्य किसी न किसी अंश में पूर्व पुरुषों का ऋणी हुआ ही करता है।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में बहुत से आचार्यों का उल्लेख किया है, जिनमें से अनेक या तो कल्पना प्रसूत हैं या फिर वे इतिहास से ओझल हो चुके हैं। राजशेखर के पूर्ववर्ती जो आचार्य इतिहास प्रसिद्ध हैं, जिनका उल्लेख राजशेखर ने अपने ग्रन्थों में किया है, उनमें मुख्य हैं—भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, वामन और आनन्द।

राजशेखर के समय तक साहित्य के क्षेत्र में रस, अलंकार, रीति और ध्वनि सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हो चुके थे। राजशेखर ने सभी सम्प्रदायों को गहराई तक देखा

और समझा था। यद्यपि भरत को रस सम्प्रदाय का आदि आचार्य माना जाता है परन्तु राजशेखर ने रसाधिकारिक रचना नन्दिकेश्वर द्वारा प्रतिपादित की है। नन्दिकेश्वर महादेव के अनुयायी थे, जिन्होंने एक सहस्र अध्यायों में कामशास्त्र की रचना की थी।[1] नाट्यशास्त्र पर अभिनवगुप्तरचित अभिनवभारती टीका में सुमति के भरतार्णव नाम ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है, इस ग्रन्थ की रचना नन्दिकेश्वर के ग्रन्थ को आधार मानकर की गई थी। यह तथ्य "आचार्य बलदेव उपाध्याय" ने "काव्यमीमांसा की भूमिका" में प्रकट किया है। उनके अनुसार प्राचीन अभिलेखों से भी यह सिद्ध होता है कि भरतमुनि को नाट्यशास्त्र का उपदेश नन्दिकेश्वर ने किया था। वस्तुतः नाट्यशास्त्र में नन्दिकेश्वर द्वारा भरत को किये गये नाट्योपदेश का उल्लेख नहीं हुआ है। वहाँ तो देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा द्वारा चारों वेदों से सामग्री लेकर नाट्य वेद की रचना और पुनः भरतमुनि को उसके पढ़ाने का ही स्पष्ट उल्लेख है। नाट्यशास्त्र के उपोद्घात में 1 से 15 तक श्लोकों को देखने से यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मा ने नाट्यवेद की रचना पंचम वेद के रूप में की और भरत को वह पंचमवेद पढ़ाया, जिसका अभिनय भरत ने अपने सौ पुत्रों द्वारा कराया।

काव्यमीमांसा में रस सम्प्रदाय के उल्लेख से रस के विषय में राजशेखर की अभिरुचि स्पष्ट लक्षित होती है। उन्होंने काव्य का आत्मा रस को ही स्वीकार किया है।[2] राजशेखर के रसात्मतावाद में भरत का रस सूत्र और उसकी भट्टलोल्लट आदि द्वारा की गयी व्याख्यायें ही कारण हैं। यद्यपि ध्वनिकार आनन्दवर्धन का ध्वन्यात्मवाद उस समय तक प्रसूत हो चुका था और राजशेखर ध्वनिकार के सिद्धान्त से परिचित भी थे परन्तु उन्होंने ध्वन्यात्मवाद को अमान्य करते हुए रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार कर अपनी मौलिक और स्वतन्त्र विचारशीलता का ऐसा प्रकाशन किया है कि उसी से प्रभावित उत्तरवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने अपने "साहित्य-दर्पण" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में ध्वनिकार के ध्वन्यात्मवाद को बड़े संरम्भ के साथ खण्डन किया और राजशेखर द्वारा स्वीकृत रसात्मता को स्वीकार कर काव्य का लक्षण ही "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" घोषित किया।

राजशेखर के समय तक भरत के इस सूत्र की विविधव्याख्यायें हो चुकी थीं। और रस की परिधि नाटक तक ही सीमित न रहकर समूचे काव्य को व्याप्त कर चुकी थी। अलंकार-शास्त्र का भी बहुत विस्तार हो चुका था। अलंकारों की संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। भामह, उद्भट, रुद्रट आदि आचार्य अलंकार

---

1. महादेवानुचरश्च नन्दी सहस्रेणाध्यायानां पृथक् कामसूत्रं प्रोवाच। दिव्यं वर्षसहस्रमुमया सह सुरतसुखमनुभवति महादेवे वासगृहद्वारगतो नन्दी कामसूत्रं प्रोवाच। वात्स्यायन टीका 1–1, 8।

2. शब्दार्थौ ते शरीरम्......रस, आत्मा......। का. मी. 3 अ.

का पर्याप्त पोषण और संवर्धन कर चुके थे । रीति न केवल काव्य में मान्यता प्राप्त कर चुकी थी अपितु वामन ने उसे काव्य की आत्मा का पद प्रदान कर दिया था। आनन्दवर्धनाचार्य यद्यपि ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित कर चुके थे, तथापि ध्वन्यात्मवाद का अभी पर्याप्त प्रचार प्रसार नहीं हो सका था। इस ऐतिहासिक संदर्भ से हम जान सकते हैं कि राजशेखर का रचनाकाल इन उपर्युक्त साहित्यिक प्रभावों से अछूता नहीं था।

इसमें सन्देह नहीं कि राजशेखर अलंकार-सम्प्रदाय से अत्यधिक प्रभावित हुये थे। उन्होंने शिक्षा, व्याकरण आदि चिर प्रसिद्ध छः वेदांगों के साथ अलंकार को वेद का सप्तम अंग घोषित किया और अलंकार के परिज्ञान के बिना वेदार्थ के परिज्ञान का न हो सकना "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया......" इत्यादि मन्त्र के प्रामाण्य से पुष्ट किया है।[1] निःसन्देह रूपकातिशयोक्ति अलंकार को बिना जाने "द्वा सुपर्णा......" इत्यादि श्रुति के अर्थ को नहीं जाना जा सकता है। अतः वेदार्थज्ञान में अलंकार-ज्ञान निश्चित रूप से कारण है। इस प्रकार अलंकार की महिमा प्रतिष्ठापित करने वाला आचार्य अलंकार तत्व से कितना अधिक प्रभावित था, यह समझना कठिन नहीं है।

राजशेखर ने काव्य की परिभाषा अर्थात् लक्षण उपस्थित करते हुये जो अलंकार, को काव्य में अनिवार्यता प्रदान की है, उससे भी यही प्रमाणित होता है कि वे अलंकार सम्प्रदाय से अत्यधिक प्रभावित थे। उनकी "गुणवदलंकृतञ्ज वाक्यमेव काव्यम्" यह काव्य-परिभाषा उन अलंकारवादी आचार्यों की सरणि का ही अनुगमन करने वाली है, जो अलंकार को काव्य का आवश्यक उपादान मानते आ रहे थे। राजशेखर की उपर्युक्त काव्य-परिभाषा आलंकारिक उद्भट के "गुणालंकारचारुत्वम्" युक्तमप्यधिकोज्ज्वलम्" कथन की छाया को परिलक्षित करती है। इसके अतिरिक्त अलंकारवादी रुद्रट से राजशेखर ने विषय-प्रतिपादन, अलंकार-निरूपण और काव्य हेतु शक्ति की मान्यता को ग्रहण किया है, जिससे अलंकार सम्प्रदाय का प्रभाव राजशेखर पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। परन्तु वे अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्य थे, यह बात हम नहीं मानते। रुद्रट आदि आलङ्कारिकों से बहुत कुछ ग्रहण करने पर भी रस को ही काव्य की आत्मा घोषित करना उन्हें अलङ्कार सम्प्रदाय से पृथक् प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है।

जहाँ तक रीति का सम्बन्ध है राजशेखर ने रीति के साथ प्रवृत्ति और वृत्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है। उनकी कल्पना के अनुसार साहित्य-विद्यावधू ने अपने प्रियतम काव्यपुरुष के लिये भारत की चारों दिशाओं में जाकर भिन्न-भिन्न

---

1. उपकारकत्वादलंकारः सप्तमङ्मगम् इति यायावरीयः । ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद् वेदार्थानवगतिः । यथा द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया......इति । काव्यमीमांसा 2 अध्याय

प्रकार की विचित्र वेशभूषा धारण करी और विचित्र विलास ग्रहण किया तथा नवीन वचन-विन्यास का आश्रयण किया। इसी से साहित्यजगत् में प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति का उद्भव हुआ।

हम देखते हैं कि एक ओर "नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत "जिन्हें रस सिद्धान्त का आद्य आचार्य माना जाता है" ने अपने ग्रन्थ में प्रवृत्ति और वृत्ति का तो चतुर्दश अध्याय में वर्णन किया है, परन्तु रीति का कहीं नामोल्लेख नहीं किया है। दूसरी ओर अलंकार सम्प्रदाय के आदि आचार्य माने जाने वाले भामह ने अपने समय में प्रचलित गौड़ मार्ग और वैदर्भमार्ग का तो उल्लेख किया है परन्तु रीति के नाम से किसी साहित्यिक तत्व के साथ अपना परिचय प्रकट नहीं किया है। यद्यपि मार्गशब्द भी उसी वस्तु के लिये प्रयुक्त होता है, जिसके लिये रीति का प्रयोग किया जाता है तथापि जिस रीति ने आगे चलकर काव्य की आत्मा होने का गौरव प्राप्त किया हो उसका नाम तक भामह द्वारा न लिया जाना, यही प्रमाणित करता है कि उनके समय में रीति नाम का साहित्यिक तत्व प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सका था। गौड़मार्ग और वैदर्भमार्ग का जो उल्लेख भामह के काव्यालंकार में हमें मिलता है, वह उस समय प्रचलित दो विशिष्ट काव्यशैलियों का ही परिचायक है। शैलियाँ तो थीं ही, उससे कौन इनकार कर सकता है? काव्य होंगे तो शैलियाँ भी होंगी ही। जैसा कि बाणभट्ट ने "हर्षचरित" के आरम्भ में कहा है कि "उत्तर के कवि श्लेष प्रधान रचना में रुचि रखते हैं और पश्चिम के कवि अर्थ प्रधान रचना को तथा दक्षिणात्य कवि उत्प्रेक्षा प्रधान एवं गौड़ देश के कवि शब्दाडम्बर वाली रचना को पसन्द करते हैं।[1]

बाणभट्ट के समय चारों दिशाओं के कवियों की चार शैलियों का परिचय हमें मिलता है, जो प्रतीत होता है कि भामह के समय में सिमटकर दो ही मार्गों— गौड़ और वैदर्भ के रूप में रह गई थीं। भामह ने किसी भी एक मार्ग की प्रशंसा नहीं की है। वे अलंकार आदि काव्योचित गुण होने पर गौड़ मार्ग को भी प्रशंसनीय और इन गुणों के अभाव में वैदर्भ-मार्ग को भी निन्दित मानते हैं।[2] स्पष्ट है कि भामह के समय तक उक्त दोनों मार्गों ने भी स्वतन्त्र रूप से साहित्यिक तत्व के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं की थी, अन्यथा एक ही प्रकार के काव्योचित गुण दो भिन्न मार्गों में कैसे पाये जा सकते हैं? स्पष्ट है कि भरत के नाट्यशास्त्र में स्थित प्रवृत्ति और वृत्ति के भीतर वे समस्त गुण रहते हुए भी, जिनके आधार पर रीतियों का विशाल महल आगे चलकर खड़ा किया गया, अलंकार-शास्त्र के पितामह भामह

---

1. श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दक्षिणात्येषु गोड़ेष्वक्षरडम्बरः ।। हर्षचरित ।।

2. अलंकारवदग्राम्यम् अर्थ्यन्याय्येम् अनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयः वैदर्भमपि नान्यथा ।। भामह का का. लं. 1/35

द्वारा रीतियों की खोज न करना यही सिद्ध करता है कि अलंकार-तत्व पर दृष्टि केन्द्रित रहने के कारण भामह का ध्यान रीतियों की खोज की ओर गया ही नहीं।

यही बात हमें दण्डी के काव्यादर्श में भी दिखाई देती है। उन्होंने भी गौड़ और वैदर्भ नामक दो ही मार्गों का विस्तृत विवेचन अपने ग्रन्थ के आरम्भ में किया है।[1] उन्होंने भी भामह के समान सर्वत्र मार्ग शब्द का ही उल्लेख किया है और दोनों मार्गों की अनन्तता प्रतिपादित की है। उस अनन्तता के विषय में उनका कथन है कि इन दोनों मार्गों के इतने अनन्त रूप हो सकते हैं कि उनका वर्णन स्वयं सरस्वती भी नहीं कर सकती। हम दण्डी के उक्त कथन को भामह के सूत्र का भाष्य मात्र ही समझते हैं, उससे भिन्न नहीं। स्पष्ट है कि दण्डी के समक्ष भी रीतियों की स्पष्ट कल्पना नहीं थी। अन्यथा वे सरस्वती के लिये भी उनका विभेद वर्णन अशक्य न कहकर स्वरूप और संख्या का उसी प्रकार निर्धारण करते जिस प्रकार आगे चलकर वामन ने किया। वामन ने रीति का विशद विवेचन किया है। उन्होंने रीति को ही काव्य की आत्मा स्वीकार कर, उसे काव्य में सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है।[1] सर्वप्रथम रीति का लक्षण भी वामन ने ही किया—"विशिष्ट-पद-रचना रीतिः" "विशेषो गुणात्मा" उनका तात्पर्य है कि गुणों की विशेष स्थिति वाली पद-रचना को रीति कहते हैं। वामन ने भरत के गुण-विवेचन से प्रेरित होकर शब्द और अर्थ के दस-दस गुण पृथक्-पृथक् स्वीकार किये हैं, जिनका विवेचन हम पीछे कर चुके हैं। वामन के अर्थ गुण इतने व्यापक हैं कि रस का समावेश भी इन्हीं में हो जाता है। सम्पूर्ण रस-प्रपंच को वामन ने अपने "दीप्तरसत्वं कान्तिः इत्याकारक "कान्तिगुण" में कर लिया है।

राजशेखर ने रीति का वही स्वरूप स्वीकार किया है जो वामन ने स्वीकार किया था। हम देखते हैं कि वामन की विशिष्ट पद रचना ही राजशेखर के रीति लक्षण में वचनविन्यासक्रम हो गई हैं—"वचनविन्यासक्रमो रीतिः" का. मी. "वामन की पद रचना और राजशेखर के वचन विन्यास में कोई मौलिक भेद नहीं है। राजशेखर ने वामन के लक्षण में स्थित विशिष्ट पद को अपने लक्षण से अवश्य बहिष्कृत कर दिया है, इसका यही कारण है कि वामन ने जिन गुणों से विशिष्ट-पद रचना को रीति कहा है, उन गुणों में ही समस्त रस प्रपंच को समाविष्ट कर लिया है और इसीलिये उसे (रीतिको) काव्य की आत्मा घोषित किया है, जबकि राजशेखर रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजशेखर वामन के रीति सिद्धान्त से तो प्रभावित हैं परन्तु उनके रीत्यात्मवाद के समर्थक नहीं। राजशेखर ने न केवल रीत्यात्मवाद को अस्वीकार किया है, अपितु रस को काव्य की आत्मा स्वीकार कर

---

1. इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वस्तुं प्रतिकविस्थिताः ।। काव्यादर्श 1/101

2. रीतिरात्मा काव्यस्य—वामनीय का. सू. 1/2/6

वामन के रीत्यात्मवाद का खण्डन कर दिया है। वास्तव में राजशेखर भरत के रस-सिद्धान्त से अत्यन्त प्रभावित थे। भरत से ही प्रेरित होकर उन्होंने प्रवृत्ति और वृत्ति के साथ रीति का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है। भरत की प्रवृत्ति और वृत्ति में ही रीतित्व इस प्रकार अन्तः समाविष्ट था जिस प्रकार दूध में घी। राजशेखर की सूक्ष्म बुद्धि ने प्रवृत्ति और वृत्ति का मन्थन कर उनके भीतर स्थित रीति को बड़ी चतुराई और सावधानी से बाहर निकाल कर रक्खा है। राजशेखर द्वारा काव्यमीमांसा में दिये गये तीनों के स्वरूपपरिचय से हम यह बात स्पष्ट रूप से जान सकते हैं कि राजशेखर रस के समान ही रीति के विषय में भी भरत के ही ऋणी हैं, वामन के नहीं। राजशेखर ने वेष-विन्यास को प्रवृत्ति, विलास-विन्यास को वृत्ति तथा वचन-विन्यास को रीति निर्धारित कर तीनों को एक सूत्र में बांध दिया है।[1] स्पष्ट है कि राजशेखर की रीति भरत की प्रवृत्ति और वृत्ति का ही निष्यन्द है, हाँ, वामन की विशिष्ट पदरचनारूप रीति से भी वे प्रभावित अवश्य हुए हैं।

वामन के पश्चात् रुद्रट ने रीतियों का विशद विवेचन अपने काव्यालंकार नामक ग्रन्थ में किया है। उन्होंने रीतियों को देशविदेश के कवियों से सम्बद्ध न रख कर विषय एवं रस के औचित्य से सम्बद्ध कर दिया। उनके अनुसार किसी भी देश का कवि रसौचित्य के आधार पर ही वैदर्भी आदि रीतियों का आश्रय ग्रहण करता है, भले ही वह गौड़ देश का निवासी हो, यदि वह शृंगार रस का वर्णन प्रस्तुत करता है तो उसे वैदर्भी का ही समाश्रयण करना होता है, इसी प्रकार विदर्भ के कवि को भी वीर और रौद्र के प्रसंग में गौड़ी और लाटीया का ही आश्रय ग्रहण करना होता है। इस प्रकार देश विशेष से हटकर रसौचित्य के साथ रीतियों का सम्बन्ध रुद्रट ने ही सर्वप्रथम साहित्य-संसार के समक्ष प्रकट किया।[2] रुद्रट के रस सम्बन्ध का ही अनुगमन कर बाद के आलंकारिकों ने रीतियों का विवेचन किया। परन्तु राजशेखर ने काव्यपुरुष और साहित्यविद्यावधू के चारों दिशाओं में विचरण के कथानक द्वारा पुनः प्रवृत्ति, वृत्ति और रीतियों का सम्बन्ध देश विदेशों से जोड़कर रुद्रट की मान्यता से अपनी असहमति प्रकट कर दी है। साथ ही रुद्रट की लाटीया रीति को भी राजशेखर ने मान्य नहीं किया। वस्तुतः पांचाली और लाटीया में कोई विशेष अन्तर रुद्रट स्थापित नहीं कर सके थे। उनके अनुसार दो चार पदों के समास वाली पांचाली और पांच सात पदों के समास वाली रीति लाटीया है। राजशेखर ने इस सूक्ष्म भेद को अकिंचित्कर मानकर लाटीया को पांचाली से भिन्न

1. वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः, वचन-विन्यासक्रमो रीतिः। का. मी. अध्याय 3 पृष्ठ 25

2. वैदर्भी पांचाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।
लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम्॥ रुद्रट काव्यालंकार 15/20

मान्यता नहीं दी। उन्होंने वैदर्भी, पांचाली और गौड़ी नाम की तीन ही रीतियाँ स्वीकार कीं।[1] यद्यपि कर्पूर-मंजरी में मागधी और बाल-रामायण में मैथिली रीति का नामोल्लेख राजशेखर ने किया है परन्तु उनका कहीं लक्षण निर्दिष्ट नहीं किया है। प्रतीत होता है कि ये गौड़ी रीति के ही नामान्तर हैं। राजशेखर ने रीतियों का विभाजन एक विचित्र आधार पर किया है। यह विचित्र आधार तीन तत्वों वाला है—

1. योगवृत्ति,
2. योगवृत्ति परम्परा,
3. उपचार।

उनके अनुसार वैदर्भी में योगवृत्ति पांचाली में उपचार और गौड़ी में योगवृत्ति की परम्परा रहती है। उक्त प्रकार के नूतन साधनों द्वारा रीतियों का विवेचन करने के कारण राजशेखर रीतियों के विषय में भी अपनी नवीनता बनाए हुए हैं। उनकी यह योगवृत्ति आदि मीमांसा भी रुद्रट की समासश्रित रीतिविषयता से अप्रभावित नहीं है, क्योंकि वे भी वैदर्भी में समासाभाव और पांचाली में ईषत्-समास तथा गौड़ी में दीर्घ समास की स्थिति को स्वीकार करते हैं।[2] इस प्रकार रीति के विषय में राजशेखर पर रुद्रट के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता है अर्थात् रुद्रट की रीतिविषयक समास नियतता राजशेखर भी किसी अंश में अवश्य स्वीकार करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजशेखर रीतियों की संख्या और स्वरूप के विषय में वामन से तथा उनकी समासाश्रयता के विषय में रुद्रट से प्रभावित हैं। अलंकार के सम्बन्ध में भी हमें राजशेखर पर रुद्रट का प्रभाव विशेष रूप से दिखाई देता है। राजशेखर का अनुप्रास, यमक, चित्र और शब्द श्लेष तथा वास्तव, औपम्य, अतिशय और अर्थश्लेष स्पष्ट रूप से रुद्रट का अनुकरण है।[3]

राजशेखर ने विषय-प्रतिपादन ही रुद्रट से ग्रहण नहीं किया, रस को काव्यात्मा की स्वीकृति, अलंकारों का वर्गीकरण तथा काव्य में शक्ति की मान्यता भी रुद्रट से ही ग्रहण की है। अतः रुद्रट का प्रभाव राजशेखर पर विशेषतया लक्षित होता है।

यद्यपि रुद्रट ने काव्य में आत्मभूत तत्व का विचार स्वतन्त्र रूप से अपने काव्यालंकार में किया दिखाई नहीं देता, तथापि प्रथम अध्याय में सरस काव्य रचना

---

1. वैदर्भी, गौड़ीया, पांचाली चेति रीतयस्तिस्रः। का. मी. पृ० 31
2. द्वित्रिपदा पांचाली लाटीया पंच सप्त वा यावत्।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौड़ीया ॥ रुद्रट का. ल. 2/5
आख्यातान्युपसर्गैः संसृज्यन्ते कदाचिदर्थाय।
वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव। वही का. ल. 2/6
3. वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथाऽपरं चित्रम्।
शब्दस्यालंकाराः, श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्योस्तु ॥ रुद्रटालंकार 2/13

की कर्त्तव्यता[1] बताकर अन्तिम अध्याय में समस्त रस-प्रपंच का सविस्तार विवेचन कर जिन काव्यों में सम्पूर्ण रसों का समावेश किया जाता है, उन्हें महाप्रबन्ध और जिनमें सम्पूर्ण रसों का सन्निवेश नहीं होता या जिनमें एक ही रस आदि से अन्त तक सन्निविष्ट रहता है, उन्हें लघु-काव्य निर्णीत करना[2] यही सूचित करता है कि रुद्रट आलंकारिक होकर भी रस को काव्य का जीवन-तत्व मानते थे। यही बात हमें राजशेखर में भिन्न क्रम से स्थित दिखाई देती है। उन्होने अपने काव्य-लक्षण "गुणवदलंकृतं च वाक्यं काव्यम्" में रस का नाम ग्रहण नहीं किया परन्तु स्वयं सरस्वती के मुख से "रसः (ते) आत्मा" अर्थात् रस तेरा (काव्य-पुरुष का) आत्मा है, यह स्पष्ट घोषित किया है। यद्यपि विषय के विवेचन में राजशेखर ने रुद्रट का अनुगमन किया है परन्तु रुद्रट की अपेक्षा उनका विषय विभाजन अत्यधिक पूर्ण और व्यापक है।

काव्यमीमांसा एक साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ है, परन्तु राजशेखर की शैली साहित्याचार्यों की शैली से सर्वथा भिन्न और विलक्षण है। इस ग्रन्थ का "काव्य-मीमांसा" यह नाम ही हमें यह सोचने के लिये विवश करता है कि इसमें गम्भीर-दार्शनिक-शैली से काव्य-सम्बन्धी विचार किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजशेखर कविराज होने के साथ ही काव्यतत्व के गम्भीर विचारक थे। उन्होंने वेदादि समस्त विद्याओं का गहन अध्ययन किया था। काव्यमीमांसा का "अथातः काव्यंमीमांसिष्यामहे" यह आरम्भ वाक्य स्पष्ट प्रमाणित करता है कि इसका लेखक मीमासादर्शन से पूर्ण प्रभावित है। मीमांसा के पूर्व और उत्तर दोनों भाग, जो क्रमशः जैमिनि और बादरायण के दर्शन हैं, "अथातः" शब्द से ही प्रारम्भ होते हैं।[4] स्पष्ट है कि राजशेखर दार्शनिक सूक्ष्मता के साथ काव्य की धर्मवत्ता का विवेचन करना चाहते थे। परन्तु वे दार्शनिक ही नहीं उच्चकोटि के कवि भी थे। अतः उन्होंने मीमांसादर्शन की गहराई को तो ग्रहण किया परन्तु उसकी सूत्र-शैली को नहीं अपनाया। हमारा निश्चित मत है कि राजशेखर ने शैली का ग्रहण कौटिल्य के अर्थशास्त्र से किया है। यद्यपि अधिकरणों और अध्यायों में विषय का विभाजन वात्स्यायन के कामसूत्र में भी हमें उपलब्ध होता है तथापि काव्यमीमांसा का शास्त्र-संग्रह शास्त्रनिर्देश और विद्या-विवेचन जितना कौटिल्य अर्थशास्त्र से मिलता है, उतना अन्य किसी से नहीं। काव्यमीमांसा में समादृत मतपार्थक्य की "इत्याचार्याः, इति यायावरीयः" यह शैली वात्स्यायन के कामसूत्र में भी "इत्याचार्या": इति वात्स्यायनः" इस रूप में हमें उपलब्ध होती है परन्तु काव्यमीमांसा की शैली में

---

1. रुद्रट का काव्यालंकार, अध्याय 1, श्लोक 4।
2. रुद्रट का काव्यालंकार, अः, 16, श्लोक 5, 6
3. '-अथातो धर्मजिज्ञासा—पूर्व मी.।
"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" उत्तर मी.।

जितनी समानता अर्थशास्त्र की शैली से है, उतनी अन्य से नहीं। प्रतीत होता है कि काव्यमीमांसा की रचना अर्थशास्त्र को सम्मुख रखकर की गई है। अर्थशास्त्र को जिस प्रकार अधिकरणों और अध्यायों में विभक्त किया गया है, काव्यमीमांसा भी उसी प्रकार अधिकरणों और अध्यायों में विभक्त की गई है। अर्थशास्त्र के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर जिस प्रकार निष्कर्ष बोधक श्लोक लिखे गये हैं, उसी प्रकार यहाँ भी लिखे गये हैं। अर्थशास्त्र का आरम्भ जिस प्रकार हुआ है, काव्यमीमांसा का आरम्भ सर्वथा उसी प्रकार हुआ है।

अर्थशास्त्र के प्रथम अध्याय में सर्वप्रथम शास्त्राधिकृत पंचदश अधिकरणों को गिनाकर प्रत्येक अधिकरण का विषय निर्दिष्ट किया गया है, ठीक इसी प्रकार काव्यमीमांसा में भी किया गया है। राजशेखर ने कौटिल्य की शैली ही ग्रहण नहीं की है, उसके वाक्यों और शब्दों को भी उसी रूप में ग्रहण कर काव्यमीमांसा में में रख दिया है। नीचे दोनों ग्रन्थों के प्रारम्भिक अंश उद्धृत किये जा रहे हैं, जो हमारे उक्त कथन के साक्षी हैं—

1. **अर्थशास्त्र** (उपोद्घात)

.........यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि प्रायशस्तानि संहृत्य एकमिदम् अर्थशास्त्रं कृतम्। तस्यायं प्रकरणाधिकरणसमुद्देशः—

काव्यमीमांसा (उपोद्घात)

.........इतीयं प्रयोजकांगवती संक्षिप्य सर्वमर्थम् अल्पग्रन्थेन

अष्टादशप्रकरणी प्रणीता। तस्या अयं प्रकरणाधिकरण समुद्देशः—

कौटिल्य का कथन है कि प्रायः सभी अर्थशास्त्रों को संग्रहीत कर यह एक अर्थशास्त्र बनाया गया है, उसके प्रकरणों और अधिकरणों की सूची इस प्रकार है—

राजशेखर कहते हैं कि "समस्त अंगों वाली (बह बिखरी हुई) काव्यविद्या ही तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण अर्थ को संक्षिप्त कर यह अष्टादश प्रकरणों वाली काव्यमीमांसा बनाई गई है। उसकी प्रकरण अधिकरणों की सूची इस प्रकार है—

अर्थशास्त्र अपने प्रकरणाधिकरण समुद्देश के तुरन्त पश्चात् जिस प्रकार प्रत्येक अधिकरण के प्रकरणों का विषय निर्दिष्ट कर देता है, ठीक वही बात हम काव्यमीमांसा में भी देखते हैं। देखिये—

अर्थशास्त्र में

1. विद्यासमुद्देशः,
2. वृद्धसंयोगः=(इस प्रकार 18 प्रकरणों का उल्लेख कर) अन्त में "इति विनयाधिकारिकं प्रथमम् अधिकरणम्" लिखा गया है।

काव्यमीमांसा में

1. शास्त्रसंग्रहः,

2. शास्त्र निर्देशः—(इस प्रकार 18 प्रकरणों का उल्लेख कर) सबके अन्त में "इति कविरहस्यं प्रथमम् अधिकरणम्" लिखा गया है।

अर्थशास्त्र के प्रथम अध्याय में ग्रन्थ के सम्पूर्ण (15) पंचदश अधिकरणों का प्रकरण निर्देश कर अन्त में कौटिल्य के कर्त्तृत्व का बोधक श्लोक लिखा गया है—

सुखग्रहणविज्ञेयं तत्वार्थपदनिश्चयम्।
कौटिल्येन कृतं शास्त्रं विमुक्त ग्रन्थ विस्तरम्॥ अर्थशास्त्र अ० 1

उसी प्रकार काव्यमीमांसा में भी प्रथम अध्याय के अन्त में विषय और ग्रन्थ की प्रशंसा में चार श्लोक लिखे गये हैं। राजशेखर के कर्तृत्व का बोधक श्लोक निम्न प्रकार हैं—

यायवरीयः संक्षिप्य मुनीनां मतविस्तरम्।
व्याकरोत् काव्यमीमांसां कविभ्यो राजशेखरः॥ का. मी. अ. 1

काव्यमीमांसा का प्रथम अध्याय अर्थशास्त्र के प्रथम अध्याय का शतप्रतिशत अनुकरण है, यह बात दोनों ग्रन्थों को देखकर कोई भी समीक्षक दृढ़तापूर्वक कह सकता है।

काव्यमीमांसा के शास्त्र-निर्देश नामक द्वितीय अध्याय में भी अर्थशास्त्र के विद्यासमुद्देश नामक द्वितीय अध्याय का अनुकरण स्पष्ट दिखाई देता है। यह बात नीचे उद्धृत दोनों के अंशों से प्रमाणित हो जाती है—

अर्थशास्त्र (अध्याय 2)

.........वार्त्ता दण्डीनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः। संवरणमात्रं हि त्रयी लोकयात्राविद इति। दण्डनीतिरेका विद्येत्यौशनसाः। तस्यां हि सर्वविद्यारम्भाः प्रतिबद्धा इति। (आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति) चतस्र एव विद्या इति कौटिल्यः। ताभिर्धर्माधर्मौ यद् विद्यात् तद् विद्यानां विद्यात्वम्।

काव्यमीमांसा (अध्याय 3)

"वार्ता दण्डनीति द्वे विद्ये" इति बार्हस्पत्याः।..."त्रयी वार्त्ता दण्डनीतयः तिस्रो विद्याः" इति मानवाः।..."आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतयश्चतस्रो विद्याः" इति कौटिल्यः। आन्वीक्षिक्या हि विवेचिता त्रयी वार्त्ता दण्डनीयत्योः प्रभवति। पंचमी "साहित्यविद्या" इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निस्यन्दः। आभिर्धर्माधर्मौ यद् विद्यात् तद् विद्यानां विद्यात्वम्। दण्डनीति की व्याख्या करता हुआ अर्थशास्त्र कहता है कि—

"आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्तानां योगक्षेमसाधको दण्डः तस्य नीति-र्दण्डनीति... तस्यामायत्ता लोकयात्रा। (अ. शा. अ. 4)

काव्यमीमांसा भी इन्हीं शब्दों को दोहराती है—

"आन्वीक्षिकीत्रयीवार्त्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डस्तस्य नीति-र्दण्डनीतिः। तस्यामायत्ता लोकयात्रेति शास्त्राणि। (का. मी. अ. 2)

काव्यमीमांसा के "लोकयात्रेति शास्त्राणि" अंश में "इति शास्त्राणि" यह वाक्य शास्त्र-निर्देश की समाप्ति का सूचक है। जिसे "लोकयात्रा" से पृथक् करके देखना चाहिये। इसी स्थिति में दोनों ग्रन्थों के दण्डनीतिविषयक व्याख्यान सर्वथा एक हैं, अभिन्न हैं । अवश्य ही यहाँ अर्थशास्त्र अनुकार्य और काव्यमीमांसा उसकी अनुकर्त्री है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि वैचारिक क्षेत्र में राजशेखर ने अर्थशास्त्र का सर्वांशतः अनुकरण किया है। अब हम अपने उस कथन की पुष्टि में—जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं कि राजशेखर ने अर्थशास्त्र की शैली का भी समग्र अनुकरण किया है—दोनों ग्रन्थों से कुछ उदाहरण उपस्थित करना चाहते हैं। यह तो हम पहले भी कह चुके हैं कि मतवैविध्य या मतभेद का प्रदर्शन करने के अवसर पर राजशेखर जो "इत्याचार्याः, इति यायावरीयः" की शैली अपनाते हैं, वह शैली वात्स्यापन के कामसूत्र में भी हमें उपलब्ध होती है। उदाहरण के लिये कामसूत्र के ये अंश पर्याप्त हैं—

1. कालेन बलिरिन्द्रः कृतः, कालेन व्यपरोपितः, काल एव पुनरेनं कर्त्तेति कालकारणिकाः (भाग्यवादी)
   अवश्यम्भाविनोऽप्यर्थस्य उपायपूर्वकत्वादेव न निष्कर्मणो भद्रमस्ति इति **वात्स्यायनः** (पुरुषार्थवादी)
2. तिर्यग्योनिष्वपि तु स्वयं प्रवृत्तत्वात् कामस्य नित्यत्वाच्च न शास्त्रेण कृत्यमस्तीत्याचार्याः। सा चोपायप्रतिपत्तिः कामसूत्रादिति वात्स्यायनः

कामसूत्र, साधारण अधिकरण–2

परन्तु राजशेखर ने यह शैली वात्स्यायन से नहीं, कौटिल्य से ही ग्रहण की है। वात्स्यायन में ऐसे स्थल अधिक नहीं है, जबकि कौटिल्य ने प्रायः समस्त प्रसंगों में इस शैली को अपनाया है। कारण स्पष्ट है। अर्थशास्त्र का विषय बहुत व्यापक और चिरन्तन है, जबकि कामसूत्र अपने विषय का एक अकेला ग्रन्थ है। कामसूत्र से पूर्व इस विषय पर अन्य कोई शास्त्र नहीं था। तब अन्य आचार्यों के मत कहाँ सम्भव थे। अतएव "इत्याचार्या,: इति वात्स्यायनः" इस प्रकार के वाक्य कामसूत्र में दो एक ही हैं, अधिक नहीं।

अर्थशास्त्र में यह शैली पद पद पर अपनाई गई है। उदाहरणार्थ—कुछ स्थल यहाँ उद्धृत हैं—

1. न ह्येवंविधं वशोपायनमस्ति भूतानां यथा दण्ड-इत्याचार्याः" न, इति कौटिल्यः। (अ. शा., अध्याय 4)
2. मन्त्रिपरिषदं द्वादशामात्यान् कुर्वीतेति मानवाः। षोडशेति बार्हस्पत्याः। विंशतिमित्यौशनसाः। यथासामर्थ्यमिति कौटिल्यः। (अ. शा. अध्याय। 6)

3. वासस्थानमेतदिति कौणपदन्तः (भीष्म)
ध्वजस्थानमेततदितिवातव्याधिः (उद्धव)
जीवन्मरणमिति कौटिल्यः (अ. शा. अध्याय । 7)
4. ...तदन्यः स्त्री प्रतिषेधयेत् इत्याम्भीयाः । महादोषम् अबुद्धबोधनम् इति कौटिल्यः (अ. शा. अध्याय । 7)
5. परपरिग्रहे बीजमुत्सृष्टं क्षेत्रिण इत्याचार्याः । माता भस्त्रा यस्य रेतस्तस्यापत्यम् इत्यपरे । विद्यमानम् उभयम् इति कौटिल्यः । (वही, तृतीय अधिकरण अ. 6)
6. स्वाम्यमात्य जनपद-दुर्ग-कोश-दण्ड-मित्रव्यसनानाम् पूर्वं पूर्वं गरीयः इत्याचार्याः । नेति कौटिल्यः । (अ. शा. 8/1)
7. वैराज्यं तु प्रकृतिचित्तग्रहणापेक्षि यथा स्थितम् अन्यैर्भुज्यते-इत्याचार्याः । नेति कौटिल्यः । (वही 8/2)
8. मुख्यक्षयः कर्मानुष्ठानोपरोधधर्मा इत्याचार्याः । नेति कौटिल्यः (वही 8/4)
9. परचक्रं तु शक्यं प्रतियोद्धुम् अपसारेण सन्धिना वा मोक्षयितुम् इत्याचार्याः । नेति कौटिल्यः (वही 8/4)
10. राजविवादस्तु प्रकृतीनां द्विगुणभक्तवेतनपरिहारकरो भवतीत्याचार्याः । नेति कौटिल्यः । (वही 8/4)

अर्थशास्त्र में इस प्रकार के वचनों की भरमार है । उसके प्रारम्भिक अधिकरणों से जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, उनसे ही यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि मतवैविध्य के प्रदर्शन की "इत्याचार्याः" वाली शैली कौटिल्य की अपनी शैली है और राजशेखर ने पूर्वोक्त "शास्त्रसमुद्देशः" आदि के साथ उक्त शैली को भी अर्थशास्त्र से ही ग्रहण किया है ।

ऊपर हमने मत-भिन्नता के कुछ स्थलों को प्रदर्शित किया है परन्तु किसी सन्दर्भ में अनेक मतों का उपन्यास कर जब सभी के विषय में अर्थशास्त्रकार अपनी सहमति प्रकट करते हैं, जब उनकी शैली भेदमूलक न रहकर उपपत्तिमूलक बन जाती है । उसके अधिक उदाहरण न देकर हम निम्नोक्त उदाहरण द्वारा अपनी बात की पुष्टि करना पर्याप्त समझते हैं—

अर्थशास्त्र (अधिकरण—1 अध्याय-8)

प्रथम अधिकरण के "अमात्यविनियोग" नामक अष्टम अध्याय में "राजा अपना अमात्य किसे बनाए" इस विषय में भारद्वाज, विशालाक्ष, पराशर, नारद, भीष्म, उद्‌भव और इन्द्र के परस्पर भिन्न मत प्रतिनिर्दिष्ट किये गये हैं । उन सभी से सहमति प्रकट करते हुए अन्त में "सर्वम् उपपन्नम् इति कौटिल्यः" कहा गया है ।

यही बात हम काव्यमीमांसा में भी पाते हैं । नीचे के उदाहरण में देखिये—

अधिकरण । (दुर्भाग्य से का. मी. में एक ही अधिकरण उपलब्ध है) के नवम अध्याय में "रसवत्ता कहाँ रहती है" उस विषय में जैनाचार्य पाल्यकीर्ति तथा

राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी के दो मत पृथक्-पृथक् प्रतिनिर्दिष्ट किये गये है। उन दोनों से सहमति प्रकट करते हुए अन्त में "उभयम् उपपन्नम्-इति यायावरीय:" कहा गया है। क्या यहाँ दोनों वाक्यों में अनुकार्यानुकर्तृ भाव नहीं है? निश्चय ही राजशेखर का "उभयम् उपपन्नम्" कौटिल्य के "सर्वम् उपपन्नम्" का ही अनुकरण है।

"इत्याचार्या:, इति यायावरीय:" के समान ही वक्ष्यमाण विषय में "तमौपनिषदिके वक्ष्याम:" इत्यादि वाक्य भी राजशेखर ने कौटिल्य की हस्त्यश्वयोर्विद्याप्रमाणं तदध्यक्षे वक्ष्याम:—2/15 की शैली का अनुकरण करते हुए लिखे हैं।

राजशेखर ने कौटिल्य का कितना अनुकरण किया है, इसके ही लिये एक और उदाहरण देकर हम अपनी बात समाप्त करेंगे। हमारा विश्वास है कि आगे प्रदर्शित उदाहरण के पश्चात् इस विषय में अन्य किसी उदाहरण की अपेक्षा नहीं रहेगी। देखिये—

अर्थशास्त्र (अधि· 1, अध्याय 11)

प्रव्रज्याप्रत्यवसित: प्रज्ञाशौचयुक्त उदास्थित:। सवार्ताकर्मप्रदिष्टायां भूमौ प्रभूतहिरण्यान्ते वासी कर्म कारयेत्। कर्मफलाच्च सर्वप्रव्रजितानां ग्रासाच्छादनावसथान् प्रतिविदध्यात् वृत्तिकामाँश्चोपजपेत्......इत्यादि।

इस ग्रन्थ में सन्यासी वेषधारी "उदास्थित" नामक गुप्तचर की नियुक्ति और उसके कार्य का विधान किया गया है। इससे आगे बेरोजगार कृषक की नियुक्ति और उसके कार्य का विधान करते हुए शास्त्रकार लिखते हैं कि—

"कर्षको वृत्तिक्षीण: प्रज्ञाशौचयुक्तो गृहपतिव्यंजन:। स कृषिकर्म प्रदिष्टायां भूमाविति समानं पूर्वेण"।

यहाँ कृषक गुप्तचर के लिये भी उपस्थित गुप्तचर के व्यवहार की प्रक्रिया अपनाने का निर्देश करते हुए आचार्य कौटिल्य ने उदास्थित के व्यवहार को दोहराने के स्थान पर "इति समानं पूर्वेण" लिख दिया है।

इससे आगे वृत्ति क्षीण (बेरोजगार) वैश्य व्यापारी को गुप्तचर नियुक्त करने का विधान करते हुए लिखा है कि—

वणिजको वृत्ति-क्षीण: प्रज्ञाशौचयुक्तो वैदेहकव्यंजन:। स
वणिक्कर्म-प्रदिष्टायां भूमौ—इति समानं पूर्वेण।"

यहाँ वैदेहक गुप्तचर की नियुक्ति में भी वही बात कही गई है और पूर्व वाक्य को न दोहराकर "इति समामं पूर्वेण" कह दिया गया है। हमें आश्चर्य होता है, यह देखकर कि राजशेखर ने अर्थशास्त्र की इस शैली की हू ब हू नकल की है। देखिये—

काव्यमीमांसा (अध्याय 3)

काव्यपुरुष की उत्पत्ति और उसकी साहित्यविद्यावधू जो उसके प्रेमबन्धन के हित देवी उमा द्वारा उत्पन्न की गयी। वे साथ दाम्पत्य-सम्बन्ध-स्थिर करने की

इच्छा से देवी उमा ने साहित्य विद्यावधू को आदेश दिया कि "एष ते रुषा धर्मपतिः पुरः प्रतिष्ठते, तदनुवर्त्तस्वैनं निर्वर्त्तय च।" साथ ही मुनियों को भी (जो काव्य-विद्या में स्नातक थे) यह आदेश दिया कि हे मुनियों ! "भवन्तोऽपि चरितम् एतयोः स्तुवध्वम् एतद्धि वः काव्यसर्वस्वं भविष्यति" यह आदेश देकर भगवती चुप हो गई। तब से उनके आदेशानुसार कार्य आरम्भ कर दिया। तब वे सब सर्वप्रथम पूर्व दिशा में गये। जहाँ अंग, बंग, सुह्म आदि जनपद हैं। वहाँ अपना काम पूरा करने के निमित्त उमापुत्री ने स्वेच्छा से जो वेष धारण किया, उसे उस देश की स्त्रियों ने अपना लिया। वही औड्रमागधी प्रवृत्ति हुई। उस प्रवृत्ति की मुनियों ने इस प्रकार स्तुति की—

"तां ते मुनयोऽभितुष्टुवुः—
"आर्द्रार्द्रचन्दनकुचार्पितसूत्रहारः,
...गौडांगनासु चिरमेष चकास्तु वेषः"

सरस्वती पुत्र काव्यपुरुष ने उस देश में जो वेष धारण किया उसे वहाँ के पुरुषों ने अपना लिया। वह भी वही प्रवृत्ति (औड्रमागधी) कहलायी। और जो अन्य नृत्य, वाद्य आदि उसने (साहित्य विद्यावधू ने) प्रदर्शित किये वह भारती-वृत्ति कहलाई। उसकी भी उन मुनियों ने स्तुति की। यहाँ राजशेखर पूर्वोक्त वाक्यों को पुनः न दोहरा कर लिखते हैं कि—

"तां ते मुनयः इति समानं पूर्वेण।

इसी प्रकार गौडीया रीति की स्थापना करके वे कहते हैं कि—

"सा गौडीया रीतिः, तां ते मुनयः, इति समानं पूर्वेण।"

आगे पांचाल देश में दोनों के पहुँचने का उल्लेख कर वे कहते हैं कि—

"ततः स पंचालान् प्रत्युच्चचाल। यत्र पांचाल शूरसेन......इत्यादयो जनपदाः। तत्राभियुञ्जाना तमौमेयीति समानं पूर्वेण।

इसी प्रकार—

"किंचिदार्द्रमना यन्नेपथ्यः स सारस्वतेय आसीदिति समानं पूर्वेण। "साऽपि सैवेति समानं पूर्वेण।

पुनः—

"आरब्धगतिमत्वात् सा चारभटी। तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण।

और—

"सा पांचाली रीतिः। तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण।"

तथा—

"ततः सोऽवन्तीन् प्रत्युच्चचाल।...तत्राऽभियुंजाना तमौमेयी इति समानं पूर्वेण।

एवम्—

"ततश्च स दक्षिणां दिशमाससाद......तत्राभियुंजाना तमौमेयी इति समानं पूर्वेण"

"तामनुरक्तः स यन्नेपथ्यः सारस्वतेय आसीदिति समानं पूर्वेण"

"साऽपि सैवेति समानं पूर्वेण"

"सा कौशिकी वृत्तिः । तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण"

"यदत्यर्थं च स तया वशंवदीकृतः स्थानानुप्रासदसमासं योगवृत्तिगर्भं च वाक्यं जगाद, सा वैदर्भी रीतिः । तां ते मुनय इति समानं पूर्वेण ।

इस प्रकार इस प्रसङ्ग में राजशेखर ने बारह बार "इति समानं पूर्वेण" इस वाक्य को दोहराया है, जो हमारे पूर्व प्रदर्शित दिशा निर्देश के अनुसार निश्चय ही अर्थशास्त्र से ग्रहण किया गया है । अतः हम दृढ़ता से कह सकते हैं कि राजशेखर की शैली अर्थशास्त्र की शैली से शतप्रतिशत प्रभावित है ।

शैली के अतिरिक्त विषय का ग्रहण भी राजशेखर ने अर्थशास्त्र से किया है । काव्यमीमांसा के कालविभाग नामक अठारहवें अध्याय में किया गया काल का विभाजन अर्थशास्त्र के कालविभाजन से अत्यधिक प्रभावित है । हमारा अनुमान है कि राजशेखर को देश और काल के विभाजन की प्रेरणा अर्थशास्त्र से ही मिली है । अर्थशास्त्र के द्वितीय अधिकरण के बीसवें अध्याय के आरम्भ में कौटिल्य ने मानाध्यक्ष के लिये देश और काल का ज्ञान आवश्यक बताते हुए" मानाध्यक्षो देशकालमानं विद्यात्" यह विधिवाक्य लिखा है । 'और पुनः देश और काल का परिमाण प्रदर्शित किया है । ठीक इसी प्रकार राजशेखर ने काव्यमीमांसा के सत्रहवें अध्याय के आरम्भ में कवि के लिये देश और काल के ज्ञान की आवश्यकता बताते हुए "देशं कालं च विभजमानः कविः न अर्थदर्शनदिशि दरिद्राति" यह परामर्श वाक्य लिखा है और पुनः दोनों का वर्णन किया है । अर्थशास्त्र में एक ही अध्याय में पहले देश और काल का मान कह दिया गया है परन्तु काव्यमीमांसा में देश और काल एक साथ उपक्रम करके भी दोनों को विभक्त कर सत्रहवें अध्याय में देश अठारहवें अध्याय में काल का परिमाण प्रदर्शित किया गया है । राजशेखर द्वारा किया गया देशकाल विभाग कवि शिक्षा के निमित्त है, अतः विस्तृत तथा सोदाहरण है, अर्थशास्त्र का देशकालमान केवल राजा के मानाध्यक्ष के लिये है । अतः संक्षिप्त है । इसी हेतु से अर्थशास्त्र के देशकालमान को जो एक ही अध्याय में था— उसे काव्यमीमांसा में पृथक्-पृथक् दो अध्यायों में कहा गया है । वस्तुतः राजशेखर का देशकाल विभाजन कौटिल्य का देशकालमान ही है । निश्चय ही राजशेखर के देशकाल विभाजन के स्रोत पुराण और ज्योतिष भी हैं, परन्तु दोनों विषयों की प्रेरणा का स्रोत अर्थशास्त्र ही है ।

राजशेखर ने काल के विभाजन में अर्थशास्त्र के क्रम को ही नहीं अपितु वाक्यों को भी कहीं समासतः और कहीं व्यासतः यथावत् उद्धृत किया है । नीचे दोनों के कुछ वाक्य देखिये—

अर्थशास्त्र—त्रिंशत् काष्ठाः कलाः ।

काव्य मी०—त्रिंशच्च काष्ठाः कथिताः कलेति ।

अर्थशास्त्र—पंचदशाहोरात्राः पक्षः ।

काव्य मी०—पंचदशाहोरात्राः पक्षः ।

अर्थशास्त्र—सोमाप्यायनः शुक्लः, सोमावच्छेदनो बहुलः (कृष्णः) ।

काव्य मी०—वर्धमानसोमः शुक्लः, वर्धमानकृष्णिमा कृष्णः (बहुलः) ।

अर्थशास्त्र—द्विपक्षो मासः ।•••द्वौ मासावृतुः ।

काव्य मी०—द्वौ पक्षौ मासः । द्वौ मासावृतुः ।

ऋतुओं के क्रम में समानता

अर्थशास्त्र—श्रावणः प्रौष्ठपदश्च वर्षाः, आश्वयुजः कार्तिकश्च शरत् ।

काव्य मी०—नभा नभस्यश्च वर्षाः, ईष ऊर्जश्च शरत् ।

अर्थशास्त्र—मार्गशीर्षः पौषश्च हेमन्तः, माघः फाल्गुनश्च शिशिरः ।

काव्य मी०—सहः सहस्यश्च हेमन्तः, तपः—तपस्यश्च शिशिरः ।

अर्थशास्त्र—चैत्रो वैशाखश्च **वसन्तः**, ज्येष्ठामूलीय आषाढ़श्च **ग्रीष्मः** ।

काव्य मी०—मधुर्माधवश्च वसन्तः, शुक्रः शुचिश्च ग्रीष्मः ।

अर्थशास्त्र—शिशिराद्युत्तरायणं, वर्षादि दक्षिणायनं, द्वयहनः **संवत्सरः** ।

काव्य मी०—षण्णाम् ऋतूनां परिवर्त्तः, संवत्सरः ।

ऊपर हम देखते हैं कि काव्यमीमांसा में ऋतुओं का नाम और क्रम वही है, जो अर्थशास्त्र में है । राजशेखर ने कौटिल्य द्वारा प्रयुक्त महीनों के नामों में केवल पर्याय शब्दों का प्रयोग कर दिया है, अन्य कोई अन्तर नहीं है ।

काव्यमीमांसा और वायुपुराण—काव्यमीमांसा और वायुपुराण में भी अनुकार्यानुकर्तृत्व विद्यमान है । राजशेखर ने देशकाल विभाग नामक सत्रहवें अध्याय में भारतवर्ष का वर्णन वायु-पुराण के आधार पर किया है । तुलना के लिये दोनों के मुख्य अंश नीचे दिये जाते हैं —

वायुपुराण (अध्याय 45 । श्लोक 78–88)

भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदाः प्रकीर्तिताः ।
समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम् ।।
इन्द्रद्वीपः, कसेरुश्च, ताम्रपर्णो, गभस्तिमान् ।
नागद्वीप, स्तथा सौम्यो, गन्धर्व, स्त्वथ वारुणः ।।
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः ।
योजनानां सहस्रं तु द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरम् ।।
आयतो ह्याकुमारिक्यादागंगाप्रभवाच्च वै ।
....

कृत्स्नं जयति यो ह्येनं स सम्राडिह कीर्त्यते ।।

काव्यमीमांसा (अध्याय । 7)

तत्रेदं भारतं वर्षम् अस्य च नव भेदाः । इन्द्रद्वीपः, कसेरुमान्, ताम्रपर्णः, गभस्तिमान्, नागद्वीपः, सौम्यः, गन्धर्वः, वरुणः, कुमारीद्वीपश्चायं नवमः ।

पंचशतानि जलं, पंच स्थलम् इति विभागेन प्रत्येकं योजनसहस्रावधयो दक्षिणात् समुद्रात् अद्रिराजं हिमवन्तं यावत् परस्परम् अगम्यास्ते । तानि एतानि योजयति स सम्राडित्युच्यते ।

ऊपर उद्धृत दोनों ग्रन्थों में न केवल वर्ण्य-विषय एक जैसा है, अपितु वाक्य भी समान हैं । नीचे उद्धृत वाक्यों में समानता दर्शनीय है—

1. वा. पु.—अस्य वर्षस्य नव भेदाः प्रकीर्तिताः ।
   का. मी.—अस्य च नव भेदाः ।
2. वा. पु.—ते तु अगम्याः परस्परम् ।
   का. मी.—परस्परम् अगम्यास्ते ।
3. वा. पु.—यो हि एनं कृत्स्नं जयति स सम्राड् इह कीर्त्यते ।

का. मी.—तानि एतानि यो जयति स सम्राड् इति उच्यते ।

वायुपुराण में परिगणित कुलपर्वत—

महेन्द्रो, मलयः, सह्यः, शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः ।
विन्ध्यश्च, परियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ।।

काव्यमीमाँसा में परिगणित पर्वत :—

विन्ध्यश्च, परियात्रश्च, शुक्तिमान्, ऋक्षपर्वतः
महेन्द्रसह्यमलयाः सप्तैते कुल-पर्वताः ।।

दोनों ग्रन्थो में दिये गये कुल पर्वतों के नाम मे तो कोई भेद सम्भव था ही नहीं, परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि दोनों श्लोकों के दूसरे और चौथे चरण सर्वथा अभिन्न हैं ।

इसके अतिरिक्त काव्यमीमांसा के तृतीय अध्याय के आरम्भ में काव्य-पुरुष की उत्पत्ति का जो कथानक राजशेखर ने दिया है, उसके सम्बन्ध मे भी कई विद्वान् वायुपुराण को ही उसका उद्गम मानते हैं, कुछ विद्वान् उसे बाण के हर्ष-चरित में वर्णित सरस्वती के आख्यान से जोड़ते हैं । हमारी सम्मति में काव्यपुरुष की उत्पत्ति की कथा, जो काव्यमीमांसा में वर्णित है, वह राजशेखर की निजी कल्पना है । पुराने लोगों के मूँह से सुनी हुई किंवदन्ती ही उसका आधार है । वायुपुराण या हर्षचरित उसका आधार नहीं है । राजशेखर के ये शब्द कि "एवं गुरुभ्यो गिरः पुण्याः पुराणीः शृणुमः स्मः" यही संकेत करते हैं कि राजशेखर ने पुराने लोगों मे प्रचलित किंवदन्ती को अपनी कल्पना का आधार बनाया है, यदि वे किसी शास्त्र-विशेष के आधार पर इस कथा की सृष्टि करते तो वे अपनी बात को "श्रूयते हि" अथवा "एवं हि श्रूयते" शब्दों से प्रारम्भ करते । उन्होंने जो "गुरुभ्यो गिरः पुराणीः शृणुमः स्मः" कहा है, वह यही प्रमाणित करता है कि यह "वाणी" से प्रसूत कथानक है, शास्त्र से प्रसूत नहीं ।

जहाँ तक वायुपुराण का सम्बन्ध है, वायुपुराण के अध्याय 65 श्लोक 91 में केवल इतना ही कहा गया है कि–

"सारस्वत: सरस्वत्यां दधीचादुदयंद्यत"

अर्थात सरस्वती के गर्भ से दधीच का पुत्र सारस्वत उत्पन्न हुआ। यह बात वहाँ भृगुओं के वंश का वर्णन करने के प्रसंग में कही गई है परन्तु भृगुओं के वंश से सारस्वत का कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया गया है। पुराण के अनुसार "दधीच और आत्मवान्" ये दोनों भृगुपुत्र च्यवन के पुत्र थे। इन दोनों में से आत्मवान् ही भृगुवंश का विस्तारक हुआ। आत्मवान् से ऋचीक और ऋचीक से जगदग्नि तथा जमदग्नि से परशुराम उत्पन्न हुए। सारस्वत का क्या हुआ? उसने विवाह किया या नहीं? उसका भी कोई पुत्र था या नही? इसका कोई उल्लेख पुराण में नही है। बाण के हर्षचरित में भी सरस्वती के गर्भ से दधीच के पुत्र सारस्वत के जन्म की बात तो कही गई है, परन्तु सारस्वत के वंश की चर्चा नहीं है। उसे ब्रह्मचर्यव्रतधारी तथा तपस्या में रत ही कहा गया है।[1]

काव्यमीमांसा में सरस्वती से काव्यपुरुष की उत्पत्ति की कथा वायुपुराण और हर्षचरित दोनों से भिन्न है। वहाँ (काव्यमीमांसा में) दधीच का कहीं नामोल्लेख नहीं है। सरस्वती के पुत्र का सारस्वत नाम भी काव्यमांसा में उपब्ध नहीं होता। काव्यपुरुष का जन्म पुत्र की कामना से सरस्वती द्वारा किये गये तप के फलस्वरूप प्रसन्न हुए ब्रह्मा के "पुत्रं ते सृजामि" इस संकल्प से ही हुआ कहा गया है। हर्षचरित के सारस्वत और काव्यमीमांसा के काव्यपुरुष में केवल इतनी ही समानता है कि दोनों में सारस्वत का वैभव बिना पढ़े स्वत: विद्यमान था। परन्तु हर्षचरित में वह सरस्वती द्वारा अपने पुत्र के युवा होने पर अपनी महिमा से उसमें प्रकट कर दिया गया और काव्यमीमांसा में वह जन्मजात था।[2] यह समानता तो सरस्वती का पुत्र होने के कारण स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त दोनों में कोई समानता दिखाई नहीं देती। अत: हम यही समझते हैं कि काव्यपुरुष के कथानक में राजशेखर ने न तो वायुपुराण का अनुकरण किया है और न हर्षचरित का, वह उनकी निजी कल्पना है, जिसका आधार गुरुजनों के मुँह से सुनी पुरानी बात (गिर: पुराणी:) ही है।

हाँ, बाण के कथानक का आधार वायुपुराण हो सकता है क्योंकि बाण के सारस्वत का पिता और वायुपुराण के सारस्वत का पिता दधीच था और दधीच च्यवन का पुत्र था। वायुपुराण में भी सारस्वत की पत्नी और पुत्र आदि का वर्णन

---

1. सारस्वत:......आषाढ़ी, कृष्णाजिनी, अक्षवलयी, वल्कली:, जटी च भूत्वा तपस्यतो जनायितुरेव जगामान्तिकम्। हर्षच. प्रथम उच्छ्वास, पृ० 68।
2. का. मी.—सोभ्युत्थाय सपादोपग्रहं छन्दवती वाचमुदचीचरत् (अ. 3) ह. च.—सारस्वतो मातुर्महिम्ना यौवनारम्भं एवाऽऽविर्भूताशेष-विद्या-सम्भार:...... । (उच्छ्वास, १।)

नहीं है और हर्षचरित्र का सारस्वत भी ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर तप करने चला गया था। वायुपुराण और हर्ष चरित्र दोनों का सारस्वत सरस्वती और दधीच के संयोग से उत्पन्न औरस पुत्र था। अतएव उसका नाम सारस्वत था।

काव्यमीमांसा में सरस्वती का पुत्र "सारस्वतेय काव्यपुरुष" है, न कि सारस्वत। सारस्वतेय की सृष्टि ब्रह्मा ने की थी, न कि दधीच ने।[1] सारस्वतेय का काव्यविद्या वधू से विवाह भी हुआ था। वे दोनों आज भी कवियों के मानस में वास कर रहे हैं।[2] निश्चित है कि राजशेखर का काव्यपुरुष सम्बन्धी कथानक उनकी कल्पना की उपज है। वह शैली में पौराणिक भले ही हो, परन्तु वह है अद्भुत। हम उसे राजशेखर का सारस्वत अनुसन्धान ही समझते हैं। वास्तव में काव्य की उत्पत्ति की यही वैज्ञानिक खोज है।

महाभारत के शान्तिपर्वान्तर्गत मोक्षधर्म में भी एक सारस्वत ऋषि की उत्पत्ति की कथा बहुत ही संक्षप्ति रूप में दी गई है। जो न तो हर्षचरित का आधार हो सकती है और न काव्यमीमांसा का। वहाँ इतना ही उल्लेख है कि "भगवान् ने "भोः सरस्वति ! "उच्चारण किया और सारस्वत उत्पन्न होकर सम्मुख खड़ा हो गया। उसने भगवान् की आज्ञा से स्वायम्भुव मन्वन्तर में वेदों को विभक्त किया। उसके इस कर्म से भगवान् हरि प्रसन्न हुए।[3]

महाभारत के शल्य पर्व में भी सारस्वत की उत्पत्ति का आख्यान आता है, वह भिन्न होते हुए भी हर्षचरित में बाण द्वारा वर्णित आख्यान से बहुत कुछ मिलता जुलता है। उसके अनुसार "सरस्वती तट के निवासी ऋषि दधीच ने उग्र तप किया, जिससे भयभीत इन्द्र ने उन्हें प्रलोभित करने के लिये अलम्बुषा नामक अप्सरा को भेजा एक दिन ऋषि दधीच सरस्वती नदी में स्नान कर रहे थे तभी उन्होंने अलम्बुषा को (नग्न) खड़ी देखा, इस नग्नदर्शन से ऋषि का रेतस् स्खलित हो गया, उसे सरस्वती ने अपनी कोख में धारण कर लिया और कालान्तर में यह बता कर कि यह आपका पुत्र है ऋषि को समर्पित कर दिया। ऋषि दधीच पुत्र को पाकर बहुत प्रसन्न हुये और उन्होंने सरस्वती से उत्पन्न होने के कारण उसका नाम सारस्वत रख दिया तथा सरस्वती की प्रशंसा कर अपने सारस्वत पुत्र को सरस्वती के ही सुपुर्द कर दिया। वह सारस्वत बचपन से ही बड़ा विद्वान् और वेदविद् था, उसने सहस्रों ऋषियों को वेद पढ़ाया।[4]

इस कथानक के अनुसार सारस्वत दधीच और सरस्वती का पुत्र था और बाल्यावस्था से ही वेदविद् था जो सहस्रों ऋषियों का गुरु हुआ। हमारी दृष्टि में

---

1. इत्येष काव्यपुरुषः पुरा सृष्टः स्वयम्भुवा। (का. मी., अ. 3 का उपसंहार श्लोक) एवं विभज्य जानानः प्रेत्य चेह च नन्दति ॥
2. तौ च कृतवन्दनौ दम्पती दत्वाशिषं प्रभावमयेनवपुषा कविमानसनिवासिनौ चक्रतुः। वही।
3. महाभारत शा. पर्व / अध्याय 350/श्लोक 38–42
4. म. भा. शल्य-पर्व अध्याय 51, श्लोक 5–52।

कुछ थोड़ा भेद होने पर भी यह वही कथा है, जो वायुपुराण में वर्णित है। वस्तुतः महाभारत शल्य-पर्व और वायुपुराण में वर्णित दोनों कथायें दधीच और सरस्वती के संयोग से उत्पन्न एक ही सारस्वत ऋषि के जन्म की कथायें हैं। हर्षचरित में दोनों का आधार ग्रहण किया गया है। परन्तु काव्यमीमांसा में नहीं। अश्वघोष ने भी अपने "बुद्धचरित" में (1/42) इस ही सारस्वत ऋषि का स्मरण किया है।[1]

काव्यमीमांसा में सरस्वती की कोख से उत्पन्न किसी सारस्वत के जन्म की चर्चा नहीं है। वहाँ सारस्वत शब्द का प्रयोग कवि भेदों में परिगणित एक विशिष्ट कवि के लिये हुआ है। जिसे राजशेखर ने सारस्वत कवि का नाम दिया है। उसका परिचय हम पूर्व अध्याय में करा चुके हैं। हमारा मानना है कि राजशेखर ने जिस सारस्वतेय काव्यपुरुष की उत्पत्ति की कथा काव्यमीमांसा के तृतीय अध्याय में लिखी है, वह वायुपुराण या महाभारत का सरस्वती पुत्र सारस्वत नहीं है, वह तो सरस्वती की इच्छा से उत्पन्न काव्यपुरुष है। जिसकी वधू का नाम काव्यविद्या है। शब्द और अर्थ उसका शरीर है, संस्कृत मुख, प्राकृत बाहू, और रस उसकी अ त्मा है, छन्द रोम हैं, अनुप्रास और उपमा आदि अलंकार है।[2]

कौन सहृदय इस काव्यपुरुष को वायुपुराण या महाभारत का सारस्वत कह सकता है ? यह तो वही काव्यपुरुष है जो आज भी अपनी प्रिय पत्नी काव्यविद्या के साथ कवियों के मानस में निवास करता है। इस काव्यपुरुष को सरस्वती ही तो जन्म देती है। पता नहीं एक कल्पनाशील कवि आचार्य की कल्पना को पुराण या महाभारत की उपज क्यों समझ लिया गया ? और पता नहीं सारस्वत ऋषि और काव्यविद्या के पति काव्यपुरुष के भेदों को भी लोग क्यों ,नहीं समझ सके। राजशेखर ने इस अध्याय में काव्यपुरुष की उत्पत्ति का वह सनातन इतिहास लिखा है, जो उस समय भी सत्य था आज भी सत्य है। अतः उसे किसी पौराणिक नाम के साथ जोड़ना उचित नहीं। कवियों के मानस में सदा निवास करने वाले काव्यपुरुष की उत्पत्ति आज भी क्या सरस्वती के ही गर्भ से नहीं होती है ?

———

2. सारस्वतश्चापि जगाद नष्टं वेदं पुनर्यं ददृशुर्न पूर्वे। बुद्ध-चरितम् 1/4।
3. शब्दार्थौ ते शरीरम्। संस्कृतं मुखम्। प्राकृतं बाहू।...रसाश्च ते। आत्मा। छन्दांसि रोमाणि।...अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति। का. मी. अ. 3।

12

आचार्य क्षेमेन्द्र पर पूर्वाचार्यों का प्रभाव

आचार्य क्षेमेन्द्र के पूर्ववर्ती आचार्यों में भरत, भामह, दण्डी, रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और राजशेखर ही प्रधान हैं। क्षेमेन्द्र पर इन सभी पूर्वाचार्यों का प्रभाव परिलक्षित होता है, परन्तु इन पर सर्वाधिक प्रभाव भरत, आनन्दवर्धन और राजशेखर का पड़ा था। यह बात उनकी "औचित्यविचारचर्चा" तथा "कविकण्ठाभरण" नामक दो प्रमुख रचनाओं के अध्ययन से प्रमाणित होती है। 'औचित्यविचारचर्चा' में वे भरत और आनन्दवर्धन से अत्यधिक प्रभावित थे। वास्तव में औचित्य का विचार क्षेमेन्द्र को मुख्य रूप से इन्हीं दो आचार्यों से मिला था। नाट्यशास्त्र और ध्वन्यालोक से ही औचित्यसूत्र को ग्रहण कर क्षेमेन्द्र ने भाष्य के रूप में 'औचित्यविचारचर्चा' का प्रणयन किया है। यह ग्रन्थ ही क्षेमेन्द्र को साहित्य के क्षेत्र में स्थिर प्रतिष्ठा प्रदान करने वाला है, यह बात निर्विवाद है। इस ग्रन्थ के नाम पर बारीकी से विचार करने पर यह तथ्य स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि औचित्य का मूल साहित्य के क्षेत्र में पहले से विद्यमान था, और उस पर आचार्यों ने विचार भी किया था। क्षेमेन्द्र उस पूर्वोपास्थित विचार सूत्र पर ही चर्चा अर्थात् विस्तृत भाष्य करने का संकल्प कर "औचित्यविचारचर्चा" की रचना में प्रवृत्त हुए। यदि वे औचित्यतत्व के प्रकाशन को अपनी उपज्ञा मानते तो वे अपने इस ग्रन्थ का नाम 'औचित्यप्रकाश' अथवा 'औचित्यालोक' आदि ही कुछ रखते। राजशेखर ने जिस प्रकार काव्य-सम्बन्धी नवीन तथ्यों की जो उनसे पूर्व विदित नहीं थे—उद्भावना की और इसीलिये अपने ग्रन्थ का नाम काव्यमीमांसा रखा। उनसे भी पूर्व आनन्दवर्धनाचार्य ने काव्य में उपेक्षित ध्वनि—तत्व को आलोकित करने के उद्देश्य से रचे अपने ग्रन्थ का नाम जिस प्रकार ध्वन्यालोक रखा, वैसा न कर औचित्यविचार कर चर्चा (भाष्य) अथवा व्याख्यान करना ही वस्तुतः क्षेमेन्द्र को अभीष्ट था। अतः स्पष्ट है कि औचित्य सम्बन्धी विचार क्षेमेन्द्र को पूर्वाचार्यों से मिला। ये पूर्वाचार्य वे ही थे जिनका उल्लेख हमने ऊपर किया है।

हमारा आशय यह कदापि नहीं है कि इन आचार्यों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं औचित्यसूत्र प्राप्त ही नहीं होता। हम यही कहना चाहते हैं कि भरत और आनन्दवर्धन ने ही औचित्य के सिद्धान्त का स्पष्ट उद्घाटन किया है और क्षेमेन्द्र

ने उन्हीं से प्रेरित होकर औचित्य का विस्तृत विवेचन कर उसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है। हमारी स्पष्ट धारणा है कि "ऋग्वेद" से लेकर आज तक उपलब्ध जितना भी वाङ्मय हमारे सम्मुख है, उस सब में औचित्य को प्रत्येक विषय का आधार सहज रूप से स्वीकार किया गया है। कोई बात अनुचित होने पर वचन का विषय हो ही कैसे सकती है ? गोस्वामी तुलसीदास ने "अनुचित उचित विचार तजि, जे पालहिं पितु बैन" कहकर पिता के वचन को पालने में अनुचित और उचित के विचार को त्यागने की सलाह दी है। पर क्या उससे पिता के वचन को पालने का हर हालत में औचित्य प्रकाशित नहीं हो रहा ? किसी भी वस्तु के ग्रहण और त्याग में औचित्य और अनौचित्य ही तो नियामक होते हैं। औचित्य तो मानव प्रवृत्ति का सहज धर्म है। यही कारण है कि क्षेमेन्द्र द्वारा बड़े संरम्भ से काव्य का जीवन अथवा आत्मा घोषित किये जाने पर भी उत्तरवर्ती किसी भी आचार्य या समीक्षक ने उसे स्वीकार नहीं किया। कहना चाहिये कि उसकी चर्चा भी आगे नहीं चली। जो तत्व सबको सहजभाव से विदित हो, उसे विदित कराने में किया गया पुरुषार्थ ऐसा ही है, जैसा श्वास लेने के लिये या जीवित रहने के लिये वायु तत्व के महत्व को प्रकाशित करने का प्रयत्न। यह कौन नहीं जानता कि वायु का होना श्वास क्रिया के लिये अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में श्वास के लिये वायु-तत्व के प्रकाशन में कौन प्रवृत्त होगा ? यदि कोई प्रवृत्त भी होगा तो उसे एक अपूर्व खोज मानकर कौन आगे बढ़ायेगा ? क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त की साहित्य में यही स्थिति है। यह कौन नहीं जानता कि जो जिसके सदृश हो, उसे उचित कहते हैं और उचित का भाव औचित्य कहलाता है। "उचितस्य भावः औचित्यम्" को संस्कृत का सामान्य विद्यार्थी भी जानता है। इसीलिये क्षेमेन्द्र द्वारा संरम्भपूर्वक प्रकाशित होने पर भी औचित्य-सिद्धान्त आगे नहीं बढ़ पाया।

सर्वप्रथम साहित्य में औचित्य का बोध भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में कराया है। नाट्य को लोकवृत्तानुकरण[1] ख्यापित करते हुए भरत ने स्पष्ट कहा है—

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो,
वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतञ्च पाठ्यं,
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ॥[2]

अर्थात् नाट्य में सबसे पहले यह ध्यान रखना चाहिये कि अनुकार्य की आयु के अनुसार जैसी उचित हो वैसी वेषभूषा अनुकर्त्ता की होनी चाहिये। फिर वेषभूषा के अनुसार ही उसकी गति होनी चाहिए। तीसरे गति के अनुसार जैसा उचित हो वैसा ही उसका पाठ्य (संवाद) होना चाहिये। चौथे पाठ्य के उचित ही उसका अभिनय होना चाहिये।

---

1. लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्। (ना. श. 1/109)
2. ना. श. 13/68

भरत के उक्त पद्य में वेष आदि जिन चार अंगों का उल्लेख है, उन पर ही नाट्य की सफलता निर्भर है। नाट्य की सफलता के लिये पात्रों की आयु के अनुरूप वेषभूषा तथा गति और उनके गुण के अनुरूप उनका बोलना चालना और बोलचाल के अनुरूप उनका अभिनय होना चाहिए। भरत का यह आनुरूप्य ही तो औचित्य है, जिसे क्षेमेन्द्र के औचित्य-विचार का बीज समझना चाहिये। क्षेमेन्द्र ने औचित्य का बीज ही भरत से ग्रहण नहीं किया अपितु इसकी पुष्टि के लिये भरत ने जो तर्क उदाहरण के रूप में दिया है उस उदाहरण को भी बीज रूप में ग्रहण कर अपने औचित्य पादप को पूर्ण रूप से पल्लवित पुष्पित किया है। नीचे हम भरत के उस उदाहरण बीज को उपस्थित कर क्षेमेन्द्र के औचित्यवृक्ष को निर्दिष्ट कर रहे हैं, जिससे हमारे कथन की सत्यता स्पष्ट प्रमाणित हो जाती है। भरत ने नाट्यशास्त्र के 26वें अध्याय में देशोचित वेषधारण का निर्देश करते हुए यह श्लोक लिखा है—

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसिबन्धे च हास्यायैवोपजायते॥ ना. शा. अ. 26

भरत का कथन है कि जिस देश का जो वेष हो उससे विपरीत वेष कभी शोभा को उत्पन्न नहीं करेगा। वे अपने कथन की पुष्टि में उदाहरण देते हैं कि यदि मेखला को छाती पर धारण कर लिया जाये तो वह हास्य का ही कारण बनेगी। उनका आशय है कि मेखला का स्थान कटि प्रदेश ही है। उरस् (छाती) पर तो हार ही शोभा देता है। हम देखते हैं कि क्षेमेन्द्र ने इस उदाहरण को बीज रूप में ग्रहण कर ही अपने औचित्य पादप की पुष्टि की है। वे इसे ही विस्तृत करते हुए कहते हैं—

कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नुपुर-बन्धेनन, चरणे केयूरपाशेन वा।
शोर्येण प्रणते, रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम्।
औचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते नालंकृति-र्नो गुणः॥ औ. वि. च.। 6

स्पष्ट है कि क्षेमेन्द्र ने अपने सिंह-विक्रीड़ित में भरत के अनुष्टुप् का विस्तार मात्र किया है। भरत के "मेखलोरसिबन्धे" को ही क्षेमेन्द्र के "कण्ठे-मेखलया" से लेकर "रिपौ करुणया" तक पौने तीन चरणों में फैला हुआ स्पष्ट देखा जा सकता है। साथ ही "न शोभां जनयिष्यति" को "रुचिं न प्रतनुते" के रूप में और "हास्यायैवोपजायते" को "नायान्ति के हास्यताम्" के रूप में परिवर्तित हुआ भी हम स्पष्ट देख सकते हैं। क्षेमेन्द्र ने भरत के कथन में छिपे हुए औचित्य को उद्घाटित ही केवल किया है, उद्गमित नहीं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि औचित्य समस्त लोक-व्यवहार का नियामक है, कोई भी वचन-विधान औचित्य के बिना उपादेय हो ही नहीं सकता। यही कारण

है कि नाम लिखे बिना भी साहित्य-विषयक-सिद्धान्तों में वह सर्वत्र छिपा दिखाई देता है। महाकवि माघ के "नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः—2/6 इस पद्य से क्या गुणौचित्य का समर्थन व्यक्त नहीं होता है ?

आचार्य भामह ने अपने काव्यालंकार में और दण्डी ने अपने काव्यादर्श में जो दोषों को भी सन्निवेश विशेष के कारण हेय नहीं माना है उसका हेतु क्या यह औचित्य ही नहीं है ? आचार्य आनन्दवर्धन की दोष-सम्बन्धी नित्यानित्यत्व व्यवस्था का आधार भी क्या यह औचित्य ही नहीं है ? भरत के पश्चात् आनन्द द्वारा औचित्योपनिबन्धन को रस की परा उपनिषद् घोषित करना वास्तव में क्षेमेन्द्र के औचित्य-सिद्धान्त का मूलाधार है। आनन्दवर्धन के इस औचित्यविषयक मूल मन्त्र के विवेचन से पूर्व हम भोजराज द्वारा अपने श्रृंगार-प्रकाश में उद्धृत एक पद्य को यहाँ उद्धृत करना चाहते हैं, जिसमें औचित्य का सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख हुआ है। वह पद्य है—

औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं, सर्वत्र पात्रोचिता,
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च, कथामार्गे न चातिक्रमः।
शुद्धिः प्रस्तुतसंविधानकविद्यौ, प्रौढ़िश्च शब्दार्थयोः,
विद्वद्भिः परिभाव्यतामवहिते रेतावदेवास्तु नः ।।

—श्रृंगार-प्रकाश भाग 2 पृ० 4 ।।

श्रृंगार-प्रकाश से उद्धृत उक्त पद्य के विषय में सम्भावना है कि यह पद्य यशोवर्मा द्वारा रचित "रामाभ्युदय" नामक उस नाटक की प्रस्तावना से लिया गया है, जिसके उद्धरण अनेक साहित्यिक ग्रन्थों में मिलते हैं परन्तु यह नाटक अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। जो भी हो, श्रृंगार प्रकाश के इस पद्य में "औचित्यं वचसां" के रूप में हमें जिस वचनौचित्य के दर्शन होते हैं, वह वस्तुतः साहित्य मंच पर औचित्य शब्द का प्रथम प्रवेश है, जिसके द्वारा यशोवर्मा ने वचनौचित्य की महत्ता नाट्य में स्पष्ट निर्दशित की है, भरत, भामह और दण्डी का प्रसुप्त औचित्य वास्तव में यहाँ मुखर हो उठा है। हमारा विश्वास है कि उक्त पद्य में निर्दिष्ट औचित्य भी उसी कोटि का है, जिसका उल्लेख हम ऊपर कई बार कर चुके हैं। अर्थात् यह वही औचित्य है, जो निखिल शब्द व्यवहार का आश्रय है और सहज सम्भवी है। इसे किसी रस भावादि साहित्यक तत्व का प्राण या आत्मा नहीं ठहराया जा सकता । वचन का औचित्य तो दैनिक व्यवहार में भी होना ही चाहिये। वह काव्य का असाधारण कारण नहीं है।

अब हम आचार्य आनन्दवर्धन के रस सम्बन्धी औचित्य की समीक्षा करना चाहते हैं जो वस्तुतः क्षेमेन्द्र के औचित्य-सिद्धान्त का मूलमन्त्र है। औचित्य सिद्धांत का मूल क्षेमेन्द्र को आनन्दवर्धन के प्रसिद्ध ग्रन्थ ध्वन्यालोक से ही प्राप्त हुआ है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में कहीं शब्दतः और कहीं अर्थतः अनेक बार औचित्य-तत्व का

निर्देश किया है । आनन्द से पूर्व के आचार्यों द्वारा किया गया औचित्य का विवेचन समग्र रूप से अलंकार-शास्त्र के वचन, गुण, वेष, अभिनय आदि अंगों तक ही सीमित था । आनन्दवर्धन ने ही उसका सम्बन्ध काव्यात्मभूत रस के साथ जोड़कर उसे काव्य के अत्यन्त महनीय सिद्धांत के पद पर प्रतिष्ठित होने योग्य बनाया । उन्होंने वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ का विभेद बड़ी ही समर्थ युक्तियों द्वारा प्रमाणित कर तथा प्रतीयमान अर्थ के वस्तु, अलंकार और रस रूप तीन भेदों को स्थापित कर काव्य में रस की महत्ता को इस दृढ़ स्थिति में पहुँचा दिया कि कुन्तक, धनंजय आदि विरोधियों के द्वारा एड़ी से चोटी तक का जोर लगाने पर भी रस की काव्यात्मा का खण्डन तो क्या, उसे हिलाया तक नहीं जा सका । आनन्दवर्धन ही साहित्य के क्षेत्र में एक ऐसे आचार्य हैं जिनके सिद्धांत का प्रतिवाद आज तक नहीं किया जा सका और एक ऐसा प्रबल सम्प्रदाय उसके समर्थन में खड़ा हो गया जिसने आनन्द के ध्वन्यात्मवाद को, जो वस्तुतः रसात्मवाद ही माना जाता है, सदा सर्वदा के लिये साहित्यशास्त्र का स्थिर-सिद्धांत बना दिया । आचार्य आनन्दवर्धन के ही अनुयायी तो हैं—अभिनवगुप्त, मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ । जिनके प्रबल पाण्डित्य के तीक्ष्ण प्रहारों से कुन्तक आदि के द्वारा खड़े किये गये समस्त अवरोध ढह गये और आनन्द के रस की धारा हमेशा के लिये हिमालय से सागर तक बहने के लिये निर्बाध हो गई । वास्तव में साहित्य के क्षेत्र में आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक की वही प्रतिष्ठा है ,जो व्याकरण के क्षेत्र में पतंजलि के महाभाष्य की है ।

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में वस्तु, अलंकार और रस इन तीन ध्वनियों का निरूपण किया है और तीनों ध्वनियों को काव्य की आत्मा भी कहा है ।[1] परन्तु वस्तु और अलंकार की ध्वनिरूपता इसी में है कि वे रस के पोषक हैं, शोषक नहीं । यह तभी हो सकता है जब कवि का सम्पूर्ण संरम्भ रस की पुष्टि के लिये हो । कोई भी वस्तु या अलंकार बिना प्रयत्न के ही रस की सेवा में स्वयं उपस्थित हो जाये, यदि वस्तु या अलंकार प्रदर्शन के लिये कवि का पृथक् प्रयत्न हुआ तो निश्चित ही वह वाच्य बन जायेगा । ध्वनि वह तभी बन सकेगा जब रस की पुष्टि के लिये अनायास उपस्थित होगा । काव्य में किसी भी वस्तु की उपादेयता रस के पोषण पर ही निर्भर है, इससे इस परिणाम पर सहज ही पहुँचा जा सकता है कि आनन्दवर्धन का वास्तविक उद्देश्य रस की काव्यात्मता का प्रतिपादन ही है, वस्तु और अलंकार तो उसके साधन मात्र हैं, साध्य वस्तुतः रस ही है । राजशेखर और विश्वनाथ का रसात्मवाद इसी का निष्कृष्टार्थ है । विश्वनाथ ने ध्वनि को आत्मा न मानकर केवल रस को ही जो काव्य की आत्मा मानने पर जोर दिया है, उसे आनन्द के सम्पूर्ण निबन्ध का फलितार्थ ही समझना चाहिये । वास्तव में आनन्दवर्धन ने जो बात संकेत रूप में कही थी, उसे स्पष्ट रूप से कहना ही विश्व-

1 काव्यस्यात्मा ध्वनिः......। ध्वन्यालोक 1/1

नाथ का अभिप्राय है कि "त्रिरूपो ध्वनिः काव्यस्यात्मा उत रसादिरूपमात्रो वा— सा. द.।" विश्वनाथ की यह प्रश्नोक्ति त्रिरूप ध्वनि से रसादिध्वनि को स्पष्ट रूप से पृथक् करने के उद्देश्य को लिये हुये है। ध्वनिकार का भी वस्तुतः यही उद्देश्य था, अतएव उन्होंने प्रतीयमान अर्थ को विशद करने के पश्चात् जिस प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा कहा, वह रसादिरूप ही था।

ध्वनिकार के—काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौंचद्वन्द्व—वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ।। ध्व. लो.।

इस श्लोक वाक्य का प्रतिपाद्य अर्थ—जिसे ध्वनिकार काव्य की आत्मा कह रहे हैं, वस्तुतः रस रूप ही है क्योंकि वही अव्यभिचारेण प्रतीयमान अर्थ है। वस्तु और अलंकार सदैव प्रतीयमान नहीं होता, अतएव सभी समीक्षक विश्वनाथ को ध्वनि सम्प्रदाय का अनुयायी ही मानते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भरत के पश्चात् साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में आनन्दवर्धनाचार्य का स्थान निर्विवादरूप में महत्वपूर्ण है। आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य में अलंकार की स्थिति को इतना बाह्य और गौण बना दिया कि अलंकार सम्प्रदाय ही वस्तुतः काव्य के क्षेत्र में उपेक्षा का पात्र बन गया। आनन्द की समीक्षा के अनुसार रस ही काव्य में अलंकार्य तत्व है, अतः अलंकार उसे ही कहा जा सकता है जो अनायास ही रस के प्रवाह में आ मिला हो और जिसके लिये कवि को पृथक् प्रयास करना न पड़ा हो। ध्वनिकार ने इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ।। ध्व. लो. 2/17

ध्वन्यालोक की इस कारिका में "रसाक्षिप्ततया" अर्थात् रस के प्रवाह में स्वयं आक्षिप्त (आ पड़ा) और "अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः अर्थात् जिसके निष्पादन में पृथक् यत्न न करना पड़े, ये पद विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इसके अनुसार उत्तम काव्य में ऐसे अलंकार का सन्निवेश ही उचित है, जिसकी निष्पत्ति रस की निष्पत्ति के साथ स्वयं हो गई हो। क्षेमेन्द्र ने इसे ही अलंकारौचित्य कहा है। यद्यपि उन्होंने ध्वनिकार की रसाक्षिप्तता को अर्थौचित्यवत्ता में बदल दिया है।[1] तथापि इससे यह बात छिपाई नहीं जा सकती कि क्षेमेन्द्र का अर्थौचित्य ध्वनिकार के रसौचित्य का ही स्थूल रूप है। स्थूल रूप हम इसलिये कह रहे हैं कि अलंकार जिस अलंकार्य के लिये है, वह रस से भिन्न अन्य अर्थ नहीं हो सकता। क्षेमेन्द्र ने अलंकार की अर्थौचित्यवत्ता का जो उदाहरण रत्नावली से "विश्रान्तविग्रहकथः......"

---

1. अर्थौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा ।। औ. वि. च. 15

इत्यादि उद्धृत किया है, उसमें वत्सराज उदयन की कामदेव से दी गई उपमा को श्रृंगार रस के अनुकूल होने से ही तो औचित्यवती माना है। और कवि चन्द्रक के जिस "खगोत्क्षिप्तैरन्त्रैः......" आदि पद्य में सुरतकेलिक्लान्त कामिनी के साथ नरमांसभक्षणतृप्ता जम्बुकी की उपमा को क्षेमेन्द्र अनुचित कहते हैं, वह भी बीभत्स रस के प्रतिकूल होने से ही तो अनुचित है। अतः क्षेमेन्द्र का अर्थौचित्य वस्तुतः ध्वनिकार के रसौचित्य का स्थूल रूप ही है। बारीकी से देखने पर जिस अर्थ के औचित्य की बात क्षेमेन्द्र कह रहे हैं, वह अर्थ रस ही है। काव्य में अलंकार्य वही तो है, उसे अलंकृत करने से ही तो अलंकार की अलंकारता है। क्षेमेन्द्र का यह कथन कि "अलंकार उचित स्थान में स्थित होकर ही अलंकृत करने योग्य होता है अन्यथा वह अलंकार कहलाने का भी हकदार नहीं।[1] उपर्युक्त आशय का ही पोषक है, अलंकार अलंकार्य के लिये है और अलंकार्य है रस। इसी प्रकार गुण गुणी में रहा करते हैं और गुणी है रस। आनन्दवर्धन ने गुण, रीति, अलंकार सभी की समीचीनता का आधार रस पोषकता को माना है। रस का पोषक होने पर ही गुण गुण है, अलंकार अलंकार है, रीति (संघटना) रीति है। माधुर्यादि गुणों की स्थिति वर्णों के साथ प्रयोग पर आश्रित है। ध्वनिकार के अनुसार तालव्य (श) और मूर्धन्य षकार रेफ (र) से संयुक्त होने पर श्रृंगार रस की हानि करते हैं, ढकार का अधिक प्रयोग भी श्रृंगार का विरोधी है परन्तु ये ही वर्ण यदि रौद्र या बीभत्स में प्रयुक्त होते हैं तो इनसे रस अत्यधिक पुष्ट होता है।[2] तात्पर्य यही है कि गुणों का रसानुकूल सन्निवेश ही उचित है, अन्यथा अनुचित है। यही बात अलंकार के विषय में भी है। ध्वनिकार का स्पष्ट निर्देश है कि अलंकारों का विनिवेश यदि रसभावादि के तात्पर्य का आश्रय लेकर किया जाता है तभी वह अलंकारता का साधन होता है।[3] अतः अलंकारों का प्रयोग रसादि के औचित्य को विचार कर ही किया जाना चाहिए। यही बात रीति अर्थात् संघटना के विषय में भी है। इस विषय में ध्वनिकार का स्पष्ट अभिमत है कि रीति मधुर्यादि गुणों के आश्रित रहकर रसादि को व्यक्त करती है और वक्ता तथा वाच्य का औचित्य ही उसके नियमन का हेतु है।[4]

1.—अलंकृतिरुचितस्थानविन्यासादलंकर्तुं क्षमा भवति। अन्यथा त्वलंकृतिव्यपदेशमेव न लभते। औ. वि. च. 6।

2.—शषौ सरेफसंयोगौ, ढकारश्चापि भूयसा।
विरोधिनः स्युः श्रृंगारे तेन वर्णा रसच्युतः ।।
त एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा।
तदा तं दीपयन्त्येव तेन वर्णा रसश्च्युतः ।। (ध्वन्यालोक 3/3, 4)

3.—रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासाम् अलंकारत्वसाधनम् ।। (ध्वन्यालोक 3/3)

4.—गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा–
रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः। (ध्वन्यालोक 3/6)

यही नहीं गद्य, पद्य, नाटक और महाकाव्य आदि कथा प्रबन्धों के विधान में भी, चाहे वे ऐतिहासिक हों या कल्पित, औचित्य का रहना अत्यन्त आवश्यक है।[1] सर्वथा औचित्यपूर्ण और रस की पोषक घटनाओं को ही काव्य में स्थान देना चाहिये। यदि कोई घटना इतिवृत्त के अन्तर्गत होते हुए भी प्रस्तुत रस के प्रतिकूल पड़ती है तो उसे त्यागकर या परिवर्तित कर रसानुकूल कथांश की कल्पना भी करना कवि के लिये उचित है।[2] आचार्य आनन्दवर्धन का यह समस्त विवेचन एक मात्र औचित्य पर आधारित है। क्योंकि वे अनौचित्य को ही रसभंग का एकमात्र कारण मानते हैं, उनकी सम्मति में औचित्य का निबन्धन ही रस का सर्वोपरि रहस्य है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि—

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥ (ध्वन्यालोक)

आनन्दवर्धनाचार्य की यह कारिका ही वह मूलाधार है, जिसके ऊपर औचित्य का सम्पूर्ण भवन खड़ा हुआ है। हमने ऊपर देखा है कि आचार्य आनन्दवर्धन ने पग पग पर औचित्य को देखकर रस की सिद्धि और रक्षा के लिये गुण, रीति, अलंकार के संविधान की सलाह कवियों को दी है। ध्वन्यालोक में यही तत्व सिद्धान्तित किया गया है कि काव्य की आत्मा रस है और गुण, रीति, अलंकार रससिद्ध काव्य के रूप-सौन्दर्य की रक्षा तथा वृद्धि के लिये ही प्रयुक्त किये जाने चाहियें। यदि अलंकारादि के द्वारा रस की संवृद्धि के स्थान पर उसका क्षय ही होता हो तो ऐसे अलंकारादि को काव्य के शरीर से दूर ही रखना चाहिये। आनन्द के अनुसार अलंकारादि काव्य-सौन्दर्य के बाह्य उपाय मात्र हैं, उसका अन्तरंग रहस्य तो रस ही है। यदि किसी शरीर में आत्मा ही न हो तो मृत शरीर में कोई भी औषधि शक्ति का संचार नहीं कर सकती और कोई भी बाह्य उपाय उसकी शोभा को नहीं बढ़ा सकता। जीवित शरीर की शोभा और संवृद्धि के लिये ही सारे उपाय किये जाते हैं, मृत के लिये नहीं। गुण वस्तुतः गुण हैं, वे गुणी के आश्रित हैं। और अलंकार भी अलंकार ही ठहरे, उनकी स्थिति अलंकार्य के आश्रित है। गुणी के बिना गुण और अलंकार्य के बिना अलंकार व्यर्थ ही हैं। काव्य में रस ही गुणी है और रस ही अलंकार्य है—वह काव्य का आत्मा जो ठहरा। आत्मा गुणी-शौर्यादि गुणों का आश्रय है, आत्मा ही अलंकार्य, हारादि अलंकारों द्वारा शोभासम्पन्न होने वाला है। आत्मा उन्हीं गुणों से गुणान्वित और उन्हीं अलंकारों से अलंकृत होगा जो उसके लिये उचित हों। शृंगारी पुरुष शृंगारोचित गुणों और अलंकारों से तथा विरक्त पुरुष वैराग्योचित गुणों और अलंकारों से गुणी और अलंकृत कहा जा सकता है,

---

1.—विभावभावानुभाव संचार्यौचित्यचारुणः।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य च ॥ (ध्वन्यालोक 3/6)

2.—इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम्।
उत्प्रेक्ष्योऽप्यन्तराभीष्टरसोचित कथोन्नयः ॥ (ध्वन्यालोक 3/6)

विपरीत गुणों और अलंकारों से नहीं। अतः काव्य का आत्मा रस और रस का आत्मा औचित्य है । अनौचित्य के सिवा रसभंग का अन्य कोई कारण नहीं तथा औचित्य के सिवा रस के उपनिबन्ध का अन्य कोई रहस्यभूत तत्व नहीं । औचित्य ही रस का सार सर्वस्व है ।

आनन्दवर्धन के उपर्युक्त विवेचन को हृदयंगम करने के पश्चात् यदि क्षेमेन्द्र की औचित्य-विचार-चर्चा को पढ़ा और परखा जाये तो स्पष्ट रूप से यही दृष्टि-गोचर होगा कि क्षेमेन्द्र का औचित्य विचार आनन्द के औचित्य-विवेक की ही विस्तृत व्याख्या है। क्षेमेन्द्र द्वारा औचित्य को रस का जीवातुभूत कहना और आनन्द का औचित्य को रस की पराउपनिषद् मानना क्या किसी बुद्धिमान् समीक्षक की दृष्टि में भिन्न हो सकते हैं ? वास्तव में आनन्द के "औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा" में और क्षेमेन्द्र के "औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्" में लेशमात्र भी अन्तर नहीं है। हम देखते हैं कि आनन्द ने काव्य की आत्मा रस और रस की पराउपनिषद् औचित्य को सिद्ध किया है और क्षेमेन्द्र ने औचित्य को रससिद्ध काव्य की आत्मा कहा है, बात बिल्कुल एक है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का जीवित अवश्य कहा है परन्तु किस काव्य का ? रससिद्धस्य, अर्थात् जो रस से सिद्ध है, उस काव्य का जीवित ही औचित्य को सिद्ध करना क्षेमेन्द्र का ध्येय है। वे अपने ग्रन्थ के प्रतिज्ञा वाक्य में इस ध्येय को पहले ही प्रकट कर चुके हैं। वहाँ उनका यह कथन कि—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे ।
रसजीवातुभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥ औ. वि. च. 3 ।

स्पष्ट प्रमाणित कर रहा है कि औचित्य को रस का ही जीवातुभूत मान कर चले हैं, भले ही उनका "औचित्यं रससिद्धस्य......"इत्यादि सिद्धांत वचन उसे (औचित्य को) काव्य की आत्मा कहकर भेद सा प्रकट करता दिखाई देता हो। औचित्य को रस का जीवातुभूत कहना अथवा रससिद्ध काव्य का जीवित कहना वास्तव में लेशमात्र भी भिन्न नहीं है। रस का आत्मा है, तब भी काव्य का ही आत्मा है, क्योंकि रस को काव्य से भिन्न रखकर तो हम नहीं देख सकते हैं। इसी प्रकार काव्य की आत्मा है, तब भी रस का ही आत्मा है, क्योंकि जो काव्य रस से सिद्ध नहीं, उस मृत काव्य की आत्मा का विचार तो हम नहीं कर सकते। अतः सुतराम् स्पष्ट हो गया है कि क्षेमेन्द्र जिस औचित्य का विचार प्रस्तुत कर रहे हैं, वह वही है, जिसे आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में सिद्धान्तित किया है। क्षेमेन्द्र ने उसकी विस्तार से चर्चा मात्र ही की है। उनकी गुणौचित्य, रीत्यौचित्य, अलकारौचित्य, प्रबन्धौचित्य, रसौचित्य आदि समस्त चर्चायें ध्वन्यालोक में निर्दिष्ट तत्-तत् औचित्य की व्याख्या ही हैं, जो ध्वन्यालोक के प्रभाव में डूबी हुई हैं। क्षेमेन्द्र ने "औचित्यविचारचर्चा" में जो सत्ताईस औचित्य स्थान गिनाये हैं, उन सबका समा-

हार ध्वनिकार ने निम्नलिखित कारिका में इतने विशद रूप में कर दिया है कि काव्य का कोई भी अंग औचित्य की योजना से शून्य नहीं बच सका है—

वाच्यानां वाचकानाञ्च यद् औचित्येन योजनम् ।
रसादिविषयेणैतत् मुख्यं कर्म महाकवेः ।। ध्वन्यालोक 3/32

इस कारिका में रस के सर्वाधिक मर्मज्ञ एवं सर्वमान्य आचार्य श्री मदानन्दवर्धन ने रसादि के विषय में समस्त अर्थों तथा समस्त शब्दों की औचित्य के अनुसार योजना का जो व्यावहारिक उपदेश कवियों की महाकवित्व-सिद्धि के लिये दिया है, उसमें क्षेमेन्द्र द्वारा निर्दिष्ट 27 औचित्य स्थान रत्नाकर एक के कोण में स्थित कतिपय रत्नों के समान, सिमटे दिखाई देते है। हमारी स्पष्ट धारणा है कि क्षेमेन्द्र का औचित्य-विचार ध्वनिकार के व्यापक औचित्य-विचार का लघु सा संस्करण मात्र है और पूरी तरह आनन्द से प्रभावित है ।

हम ऊपर कह आये हैं कि उचित और अनुचित का विचार समस्त लोक-व्यवहार का मूल है । इसीलिये तो महाकवि तुलसीदास के राम ने पिता के वचनों में उपस्थित अनुचित या उचित विचार को त्यागने की सलाह दी है । उपस्थित का ही परित्याग विधेय होता है । दशरथ में वचन में वह उपस्थित था, अतएव उसका परित्याग विधेय हुआ । उपस्थित वह क्यों था ? इसीलिये, क्योंकि वह मूल है, समस्त व्यवहार का । जब वह समस्त लोक-व्यवहार का साधारण हेतु है, तब कविव्यवहार का असाधारण हेतु कैसे हो सकता है ? यही कारण है कि ध्वन्यालोक के भाष्यकार और क्षेमेन्द्र के साहित्य गुरु आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने उन विद्वानों और विचारकों की बड़ी तीखी आलोचना की, जो औचित्य को काव्य का प्राणभूत या आत्मभूत-तत्व प्रतिपादित करने लगे थे । ऐसे विद्वानों की उस समय कश्मीर में बहुत बड़ी संख्या हो चली थी, जो औचित्य को ही काव्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व ख्यापित करने लगे थे । अभिनवगुप्त बड़े ही तत्वान्वेषी विचारक थे । उन्होंने काव्य मे रसध्वनि और औचित्य की स्थिति को बड़ी गहराई तक समझा था और औचित्य को सर्वाधिक महनीय तत्व मानने वालों की ऐसी कड़ी आलोचना की कि उसके पश्चात् औचित्य का विचार तो स्वाभावतः सभी ने किया, परन्तु उसे रस से भी अधिक अथवा रस के समान महनीय कहने की हिम्मत किसी की नहीं हुई ।

अभिनव गुप्त ने औचित्य के स्वरूप और उसके मूलतत्व को औचित्यात्मवादियों के सम्मुख रख यह स्पष्ट कर दिया कि औचित्य तो एक सम्बन्ध विशेष है जो अपने सम्बन्धी उस उचित के आश्रित रहता है, जिसका वह सम्बन्ध है । उचित का भाव ही जब औचित्य है तब उचित को भुलाकर औचित्य को जो एक सम्बन्ध मात्र है कोई बुद्धिमान् कैसे सर्वाधिक महत्व दे सकता है ? औचित्य की स्थिति उचित के ही आश्रित है और उचित है केवल रस । अतः रस को नजरअन्दाज कर औचित्य को सब कुछ मान बैठना, स्वतः औचित्य का अपलाप है । मूल आधार को

बिना समझे केवल औचित्य का प्रयोग नितान्त अनुचित है। औचित्य का तात्पर्य तभी समझा जा सकता है, जब जिसके प्रति उसे उचित कहा जाय वह वस्तु मूलतः उपस्थित हो। उचित की उपस्थिति पर ही औचित्य की उपस्थिति आश्रित है। रस अर्थात् काव्य में रसनीय तत्व रसभावादि को छोड़कर औचित्य का अन्य आधार कोई नहीं है, अतः रस भावादि ही काव्य के अन्दर मुख्य जीवितभूत तत्व है, अन्य कोई नहीं। औचित्य का मूल आधार जो रसादिध्वनि ही है, उसे त्याग कर औचित्य को काव्य का जीवातुभूत मानना मूल को छोड़कर पल्लव को आधार मानने के समान है। जो लोग औचित्य को काव्य का सर्वस्व मानकर उसके रहते हुए अन्य किसी ध्वनि नामक तत्व की आवश्यकता नहीं समझते, वे लोग औचित्य को ध्वनि स्वीकार कर, वस्तुतः अपना विरोध अपने आप करते हैं।[1] क्योंकि औचित्य को जो वस्तुतः एक ध्वन्यमान तत्व ही है—ध्वनि मानकर वे स्वयम् ध्वनि की सत्ता को स्वीकृत करते हैं।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद का साहित्य के क्षेत्र में बहुत महनीय स्थान है, वे ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य के भाष्यकार हैं, परन्तु उनकी लोचन नामक टीका का वही महत्व है, जो आनन्द के ध्वन्यालोक का। ध्वनिसम्प्रदाय के सभी मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यों, ने अभिनवगुप्तपाद को ध्वनिकार से भी अधिक आदर दिया है और रसध्वनि के विषय में उन्हीं के मत को मान्य किया है।[2] अभिनवगुप्त ने भरत के नाट्यशास्त्र पर भी अभिनवभारती नामक बड़ी ही मार्मिक टीका लिखी है। उनकी इन टीकाओं का महत्व किसी भी अंश में मूल ग्रन्थों से न्यून नहीं माना जाता है। वे क्षेमेन्द्र के भी साहित्य-गुरु हैं। उनके द्वारा किये गये औचित्यविषयक विवेचन के पश्चात् औचित्यसम्बन्धी काव्यात्मवाद की वही दशा हुई जो ध्वनिकार द्वारा ध्वन्यात्मावाद की स्थापना के बाद अलंकार और रीति विषयक आत्मवाद की हुई थी। अभिनवगुप्त के उपर्युक्त विवेचन का ही यह परिणाम हुआ कि क्षेमेन्द्र द्वारा संरम्भपूर्वक प्रतिपादित भी औचित्यसिद्धान्त क्षेमेन्द्र से आगे नहीं बढ़ पाया। क्षेमेन्द्र अपने गुरु श्रीमदभिनवगुप्ताचार्य के औचित्य-विषयक विचार को हृदयंगम करके ही रस के जीवातुभूत औचित्य का विचार करने के उद्देश्य से औचित्यविचारचर्चा लिखने बैठे थे, परन्तु एक नवीन सिद्धांत की स्थापना का लोभ संवरण न कर सके, जिसके परिणामस्वरूप रस के जीवित औचित्य को काव्य का जीवित कह बैठे। यह बात हम ऊपर स्पष्ट कर आये हैं।

---

1. औचित्यनिबन्धनं रसभावादि मुक्त्वा नान्यत् किंचिदस्ति, इति तदेवान्तर्भासि मुख्यं जीवितम् इत्यभ्युपगन्तव्यम्। एतेन यदाहुः केचित् "औचित्यघटितसुन्दरशब्दार्थमये काव्ये किमन्येन ध्वनिना आत्मभूतेन कल्पितेन" इति स्ववचनमेव ध्वनिसद्भावाभ्युपगमसाक्षिभूतं मन्यमानाः प्रत्युक्ताः। लोचन, पृ० 208
2. ...इति श्री मदभिनवगुप्पादाचार्याः। काव्यप्रकाश उल्लास 3।

अभिनवगुप्त और क्षेमेन्द्र के मध्य भी अनेक विद्वान हुए जिन्होंने औचित्य को सहज स्वीकृति तो प्रदान की परन्तु उसे काव्य का सर्वातिशायी महनीय तत्व या आत्मतत्व किसी ने स्वीकार नहीं किया। भोजराज ने न तो "सरस्वतीकण्ठाभरण" में और न ही "शृंगार प्रकाश" में औचित्य को स्वतन्त्र काव्यतत्व स्वीकार किया है। गौण रूप में ही औचित्य की चर्चा उन्होंने प्रसंगवश की है। भोज के पश्चात् कुन्तक और महिमभट्ट ने तो औचित्य के विषय में सर्वथा आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त का अनुसरण किया है। कुन्तक ने औचित्य को जिस प्रकार काव्य का एक गुण माना है। उसकी चर्चा हम औचित्य-सम्बन्धी स्वतन्त्र अध्याय में कर चुके हैं। महिमभट्ट ने तो इस विषय में ध्वनिकार का सर्वथा अनुकरण किया है। वे वास्तव में रसात्मवाद के समर्थन में और औचित्य की रसपोषकता में ध्वनिकार के ही समर्थक हैं, उनका विरोध केवल व्यंजना से है। महिमभट्ट नैयायिक हैं, वे रस को काव्य की आत्मा तो मानते हैं परन्तु उसके लिये व्यञ्जना को अस्वीकार कर अनुमान प्रमाण से ही रस की सिद्धि करते हैं।

ऊपर किये गये औचित्य-विषयक-विवेचन द्वारा यह बात स्पष्ट सिद्ध की जा चुकी है कि अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों से प्रभावित होने पर भी औचित्य के विषय में क्षेमेन्द्र पर सर्वाधिक प्रभाव भरत और आनन्द का तथा उनके भाष्यकार अभिनवगुप्त का ही परिलक्षित होता है।

अब हम क्षेमेन्द्र की दूसरी महत्वपूर्ण कृति कविकण्ठाभरण की प्रभाव सम्बन्धी स्थिति पर विचार करना चाहते हैं। कोई भी समीक्षक काव्यमीमांसा को पढ़ने के पश्चात् यदि कविकण्ठाभरण के अध्ययन में प्रवृत्त होगा तो वह निश्चय ही इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रहेगा कि क्षेमेन्द्र का यह प्रयास भी उसी प्रकार विस्तार को संक्षेप का रूप देने के लिये है, जैसाकि उनकी बृहत्कथामंजरी आदि में देखा जाता है। क्षेमेन्द्र का यह एक विशिष्ट गुण है कि वे किसी भी ज्ञेय वस्तु को जो संक्षेप में कही जा सकती है, विस्तार से कहना पसन्द नहीं करते। उन्होंने सर्वोपजीव्य भगवान् वेदव्यास के प्रति अपनी अटूट श्रद्धा को व्यक्त करने के लिये अपना उपनाम व्यासदास भले ही रखा हो परन्तु वास्तव में वे व्यास (विस्तार) में अरुचि और समास (संक्षेप) में अत्यन्त रुचि रखते हैं। हमारी सम्मति में तो उन्हें अपना उपनाम व्यासदास न रखकर समासदास ही रखना चाहिये था। उनकी तीन बड़ी रचनायें केवल विस्तार को संक्षेप में बदलने के उद्देश्य से ही प्रसूत हुई हैं। उन्होंने गुणाढ्य की बृहत्कथा के सात लाख श्लोकों को अपनी बृहत्कथामञ्जरी के साढ़े सात हजार श्लोकों में संक्षप्ति करने और एक लाख श्लोकों में विस्तृत महाभारत को दस हजार छः सौ पैंतीस श्लोकों में समेटने में प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की है। रामायण की चौबीस हजार श्लोकों में निबद्ध कथा को भी उन्होंने केवल छः हजार छः सौ इक्यानवें श्लोकों में संक्षिप्त कर, अपनी समासप्रियता का

परिचय दिया है। काव्यमीमांसा और कविकण्ठाभरण में विद्यमान अत्यधिक बिम्बप्रतिबिम्बभाव को देखते हुये कविकण्ठाभरण भी काव्यमीमांसा का सार संक्षेप ही प्रतीत होता है। काव्यमीमांसा के पंचम अध्याय में राजशेखर ने कवियों के जो रचनाकवि, शब्दकवि आदि आठ भेद निरूपित किये हैं, उन्हीं के अनुकरण पर कविकण्ठाभरण की तृतीय सन्धि में क्षेमेन्द्र ने काव्यगत चमत्कार के समस्त सूक्तव्यापी तथा शब्दगत, अर्थगत आदि दस भेद किये हैं। राजशेखर ने काव्यमीमांसा के द्वितीय अध्याय में नवशिक्षित कवियों के लिये अनेक शास्त्रों के अध्ययन की आवश्यकता प्रतिपादित की है, कविकण्ठाभरण की पंचम सन्धि में भी वह उसी रूप में विद्यमान है। राजशेखर शास्त्रज्ञान पूर्वक कविकर्म में प्रवृत्त होने की आवश्यकता इसलिये बताते हैं क्योंकि उनके अनुसार शास्त्रज्ञान कवि कर्म में दीपक के समान अर्थदर्शन में सहायक होता है। क्षेमेन्द्र शास्त्र-परिचय के बिना विद्वानों के समक्ष निरुत्तर होने का भय दिखाकर कवि को शास्त्र-परिचय की ओर प्रवृत्त करते हैं। राजशेखर शास्त्रों की संख्या और उनका परिचय कौटिल्य और वात्स्यायन की शैली पर उनके विभाजन के साथ क्रमिक रूप से कराते हैं किन्तु क्षेमेन्द्र बिना किसी विशेष विभाजन के साथ तर्क, व्याकरण आदि शास्त्रों का नाम एक ही वाक्य में गिनाकर उनके परिचय को "कविसाम्राज्यव्यञ्जनः" कह देते हैं और उदाहरणों द्वारा उसे स्पष्ट करने लग जाते हैं। राजशेखर ने शास्त्र-निर्देश नामक द्वितीय अध्याय में जो बात कही है, क्षेमेन्द्र उसे केवल एक वाक्य में कहकर आगे बढ़ गये हैं। यही उनकी समासप्रियता है। वास्तव में क्षेमेन्द्र के परिचय प्राप्ति नामक पंचमसंधि का उद्देश्य कवि को शास्त्र-ज्ञान की आवश्यकता का प्रतिपादन न होकर विविध प्रकार के शास्त्रीय और लौकिक विषयों से परिचित होने की आवश्यकता बताना है। हमारी सम्मति में समासप्रिय क्षेमेन्द्र ने तर्क, व्याकरण आदि जिन बीस विषयों से सम्बद्ध शास्त्रों का परिगणन कविकण्ठाभरण में पंचम संन्धि में कराया है, वह उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं था। शास्त्रों के नाम से कौन परिचित न होगा। शास्त्र तो प्रसिद्ध हैं ही। भामह से लेकर क्षेमेन्द्र तक के सभी आचार्यों ने कवियों के लिये शास्त्रों और विद्याओं से परिचित होना भी कहा ही था। विविध विषयों से कवि-परिचय के जो उदाहरण क्षेमेन्द्र ने दिये हैं और उनके द्वारा कवियों का शास्त्र एवं विद्याओं से परिचय प्रदर्शित किया है, उसके बिना भी बाल्मीकि व्यास और कालिदास आदि के काव्यों के अध्येता क्या उनके शास्त्र-ज्ञान से परिचित नहीं हैं? क्या जिन विषयों को क्षेमेन्द्र ने उदाहृत किया है, वे विषय पूर्ण हैं? स्वयम् क्षेमेन्द्र ने जिस छन्दः-शास्त्र पर सुवृत्ततिलक की रचना की है, उसका भी उन्होंने इस शास्त्र-निर्देश में न तो परिगणन ही किया है और न उसे उदाहृत ही किया है, अभिधानकोश जो कवि के लिये सर्वप्रमुख ज्ञेय वस्तु है—उसका भी नाम उसमें नहीं है। क्या उनसे परिचय प्राप्त करना कवि को

आवश्यक नहीं ? क्या चतुर्दश विद्याओं और उनके पृथक्-पृथक् विभागों और चतुःषष्ठि कलाओं के उदाहरण क्षेमेन्द्र दे सकते थे ? प्रकीर्ण विषय के जो आठ, नौ उदाहरण उन्होंने दिये हैं, क्या प्रकीर्ण विषय बस इतना ही है ?

हमारे कथन का तात्पर्य इतना ही है कि जिस प्रकार राजशेखर ने शास्त्रनिर्देश कराते हुए प्रत्येक शास्त्र के स्वरूप को लक्षित और विवृत किया है वह तो ज्ञानवृद्धि में सहायक है परन्तु क्षेमेन्द्र ने जो कवियों की रचनाओं से शास्त्र-परिचय के उदाहरण दिये हैं, वे न तो पूर्ण ही हो सकते हैं और न शास्त्रज्ञान में सहायक ही। उदाहरणों द्वारा यही तो प्रेरणा दी गई है कि "अमुक कवि अमुक शास्त्र से परिचित था तुम्हें भी परिचित होना चाहिये।" इतनी बात तो आचार्य मम्मट ने काव्य के हेतु का प्रतिपादन करते हुए "लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् निपुणता" इस छोटे से वाक्य में ही कह दी है। हमारी धारणा है कि कविकण्ठाभरण की पंचम सन्धि राजशेखर का अनुकरण मात्र है। वह जिस उद्देश्य के लिये लिखी गई है, उसकी पूर्ति उससे नहीं होती।

क्षेमेन्द्र ने कविकण्ठाभरण की द्वितीय संधि में कवियों के लिये शतशिक्षा (सौ शिक्षायें) लिखी हैं। क्षेमेन्द्र का यह शतशिक्षा-निबन्ध काव्यमीमांसा के कवि-चर्यापरक दशम अध्याय की छाया ही है। "काव्यमीमांसा" के ग्याहरवें और बारहवें अध्याय का जो विषय है, वही इस संधि का भी है। दोनों में अत्यधिक साम्य होने से "कविकण्ठाभरण" "काव्यमीमांसा" का प्रतिबिम्ब सा प्रतीत होता है। क्षेमेन्द्र ने संधि के आरम्भ में छायोपजीवी पदकोपजीवी आदि जो भेद कवियों के किये हैं, वे काव्यमीमांसा के ग्यारहवें अध्याय में प्रदर्शित शब्दार्थहरण की छाया ही है। राजशेखर ने केवल शब्दहरण के ही पाँच भेद किये हैं। उनके अनुसार शब्द हरण "वदतः, पादतः अर्धतः, वृत्ततः, प्रबन्धतश्च" इस प्रकार पांच रूपों वाला होता है। वे "सभापतिस्तु द्विधा उपजीव्य उपजीवकश्च" कहकर उपजीवन को दोष रहित कहते हैं:—"उपजीवन–मात्रेण न कश्चिद्दोषः, यतः सर्वोऽपि परेभ्य एव व्युत्पद्यते" क्षेमेन्द्र की द्वितीय संधि के "छायोपजीवी" आदि प्रथम श्लोक में वर्णित उपजीवन का आधार राजशेखर का उपर्युक्त कथन ही तो है। क्षेमेन्द्र ने उपजीवी शब्द का ग्रहण भी राजशेखर से ही किया है, यह बात स्पष्ट देखी जा सकती है। कविकण्ठा-भरण की कवित्व-प्राप्ति नामक प्रथम संधि काव्यमीमांसा के चतुर्थ अध्याय की कविशिक्षा से प्रेरित है। राजशेखर ने जिस प्रकार शिष्यों के तीन भेद किये हैं—

1. बुद्धिमान्, 2. आहार्यबुद्धि, 3. दुर्बुद्धि, क्षेमेन्द्र ने भी उसी प्रकार शिष्यों को तीन भेदों में विभक्त किया है—

1. अल्पप्रयत्नसाध्य, 2, कृच्छ्रसाध्य, 3. असाध्य। निश्चय ही क्षेमेन्द्र ने राजशेखर के बुद्धिमान् शिष्य को अल्पप्रयत्नसाध्य, आहार्य बुद्धि को कृच्छ्रसाध्य और दुर्बुद्धि को असाध्य का नाम दिया है। अवश्य ही बुद्धिमान् और आहार्यबुद्धि शिष्य क्रम से अल्पप्रयत्नसाध्य और कृच्छ्रसाध्य होते हैं और दुर्बुद्धि शिष्य असाध्य ही होता

है। राजशेखर ने दुर्बुद्धि शिष्य को काले वस्त्र के समान कहा है जिस पर दूसरा कोई रंग नहीं चढ़ सकता है। राजशेखर के कथन का फलितार्थ यही है कि ऐसा शिष्य प्रायः असाध्य होता है। राजशेखर का यह भी कथन है कि ऐसे दुर्बुद्धि शिष्य पर भी कदाचित् सरस्वती की कृपा हो सकती है।[1] क्षेमेन्द्र ने भी जड़बुद्धियों में सरस्वती की कृपा का होना साधनों द्वारा स्वीकार किया है।[2] वास्तव में वह राजशेखर के कथन का अनुवाद ही है। कण्ठाभरण की प्रथम सन्धि के अन्तिमः–

इति तत्सुकृतानां प्राक्तनानां विपाके
भवति शुभमतीनां मन्त्रसिद्धं कवित्वम्।
तदनु पुरुषयत्नै-र्धीमतामभ्युदेति
स्फुरति जड्धियां श्रीशारदा-साधनेन ।। क. कं. भ. 1/24

उपरि-निर्दिष्ट पद्य में कवित्व-प्राप्ति सम्बन्धी विचारों का उपसंहार करते हुए क्षेमेन्द्र ने "शुभमतीनां, "धीमताम्" और "जड़धियाम्" पदों का प्रयोग कर यह साफ सिद्ध कर दिया है कि उन्होंने शिष्यों के जो अल्पप्रयत्न साध्य आदि भेद किये हैं, उनका आधार राजशेखर की भाँति बुद्धि की अधिकता न्यूनता और शून्यता ही है। क्षेमेन्द्र ने इस सम्बन्ध से पूर्व श्लोक में असाध्य शिष्य के सम्बन्ध में—

न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्यात् क्रियाविशेषैरपि सुप्रयुक्तैः।
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि, सन्दर्शितं पश्यति नार्कमन्धः ।।
क. कं. 1/23

कहा था, जिसके अनुसार असाध्य शिष्य में वक्तृत्व का उद्भव इसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार गधे का गीत—गाना और अन्धे का सूर्य को देखना। परन्तु अगले ही श्लोक में जो ऊपर उद्धृत है—क्षेमेन्द्र का यह कथन कि "स्फुरति जड़धियाँ श्रीशारदा-साधनेन" क्या यह सिद्ध नहीं करता कि राजशेखर का शिष्य विभाजन ही क्षेमेन्द्र के मस्तिष्क में विचरण कर रहा था। इसीलिये उन्हें राजशेखर सम्मत दुर्बुद्धि में भी सरस्वती के कदाचित् प्रसाद की बात अन्तिम श्लोक के अन्तिम चरण में कहनी ही पड़ी। अन्यथा असाध्य में तो क्षेमेन्द्र शारदा का स्फुरण असम्भव मानते हैं। असम्भव सम्भव कैसे हो सकता है? राजशेखर ने काव्यमीमांसा के चतुर्थ अध्याय में कारयित्री प्रतिभा के वर्णन का उपसंहार करते हुए कहा है कि—

काव्याकाव्याङ्गविद्यासु कृताभ्यासस्य धीमतः।
मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता ।। का. मी. 4 पृ. 34

अर्थात् जिस बुद्धिमान् ने काव्यों तथा काव्यांगभूत विद्याओं का अभ्यास किया हो

---

1. दुर्बुद्धेस्तु सर्वत्र मतिविपर्यास एव। स हि नीलीमेचकितसिचयकल्पो-अनाधेयमगुणान्तरत्वात्, तं यदि सारस्वतोऽनुभावः प्रसादयति तम् औपनिषदिकेवक्ष्यामः। का. मी. अ. 4 पृ० 28
2. स्फुरति जड़धियाँ श्रीशारदा-साधनेन। क. कं. 1/24

और जो मन्त्रों के अनुष्ठान में संलग्न रहता हो, उसके लिये कविराज पद की प्राप्ति दूर नहीं है। उन्होंने यह विचार बुद्धिमान् शिष्य के सम्बन्ध में प्रकट किया है। उक्त अध्याय के अन्त में वे कवित्वहीन परन्तु कवित्व के लिप्सु पुरुष के विषय में कहते हैं कि—

कवित्वं न स्थितं यस्य, काव्ये च कृतकौतुकः।
तस्य सिद्धिः सरस्वतत्यास्तन्त्रमन्त्रप्रयोगतः ।। का. मी. पृ० 39

अर्थात् जो व्यक्ति कवित्व से हीन है परन्तु कवि होने की उत्कण्ठा रखता है, उसे सरस्वती के तन्त्र और मन्त्र से सिद्धि प्राप्त हो सकती है। हमारा विश्वास है कि क्षेमेन्द्र के कविकण्ठाभरण की प्रथम सन्धि राजशेखर के उक्त विचार सूत्र का ही भाष्य है, उनके सिद्धान्त का ही व्यवहारिक रूप है। राजशेखर के चतुर्थ अध्याय का जो विषय है, वही विषय क्षेमेन्द्र की प्रथम सन्धि में सार रूप से कह दिया गया है। इसमें यदि कोई विशेष बात है तो वह यही है कि राजशेखर ने सरस्वती के मन्त्रतन्त्रानुष्ठान का निर्देश मात्र किया है परन्तु क्षेमेन्द्र ने उसके स्वरूप को स्पष्ट कर उसके अनुष्ठान की विधि भी बतला दी है। अत. यहाँ भी क्षेमेन्द्र राजशेखर द्वारा प्रदर्शित मार्ग के परिष्कारक या पूरक ही है, उद्घाटक नहीं।

अपने छन्दः शास्त्र-विषयक सुवृत्ततिलक नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में भी कुछ सूचनायें आचार्य क्षेमेन्द्र ने ऐसी दी हैं, जिनसे उन पर कुछ आचार्यों का चिरागत और कुछ का अवसरागत प्रभाव लक्षित होता है। यह तो स्पष्ट ही है कि क्षेमेन्द्र की यह रचना किसी अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराने के लिये नहीं है। अर्थात् उन्होंने छन्दों का ज्ञान कराने के लिये यह ग्रन्थ नहीं लिखा है वरन् संस्कृत काव्यों में प्रसिद्ध एवं काव्यकर्मोपयोगी छन्दों को छांटकर, उनके लक्षणों और उदाहरणों के साथ संगृहीत कर दिया है। वे वस्तुतः काव्यकर्मोपयोगी छन्दों के प्रयोग में कवियों का मार्गदर्शन करना और उनके प्रयोग में रखी जाने वाली सावधानियों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। अतएव उन्होंने अपने इस ग्रन्थ को संग्रह कहा है।[1] नवीन निर्माण नहीं। उनका यह संग्रह अन्य संग्रह ग्रन्थों की अपेक्षा इस अर्थ मेंविशिष्ट है कि संग्रह के साथ संगृहीत छन्दों के गुणों और दोषों को दिखाकर उनके समुचित विनियोग की शिक्षा भी इसमें दी गई। अतएव इसका नाम सुवृतसंग्रह न रखकर सुवृत्ततिलक रखा गया है। क्षेमेन्द्र ने संग्रह से पूर्व अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की छन्दो-रचनाओं को खूब पढ़ा और उनके सौन्दर्य पर खूब विचार किया था। तब जो छन्द उन्हें श्रेष्ठ कवियों के अत्यधिक प्रिय प्रतीत हुए उन्हें काव्यकर्म के उपयोगी जानकर और छांटकर संगृहीत कर दिया। क्षेमेन्द्र ने ऐसे 27 छन्द छाँटे हैं जो अधिक प्रसिद्ध हैं। ये 27 छन्द जिस प्रकार अधिक हैं, उसी प्रकार उनके लक्षण और उदा-हरण भी अधिक प्रसिद्ध हैं। स्पष्ट है कि क्षेमेन्द्र ने पहले से प्रसिद्ध छन्दों को ही अपने

1. दृष्ट्वा छन्दांसि, सौंदर्य विचार्यायिप्रियः कृतः।
प्रसिद्धकाव्यकर्मण्यवृत्तानाम् एष संग्रहः ।। सु. ति. 1/5

ढंग से कह दिया है। इस ग्रन्थ को क्षेमेन्द्र ने तीन विन्यासों में विभक्त किया है। प्रथम विन्यास में छन्दों का संग्रह, दूसरे में गुण-दोष प्रदर्शन और तीसरे में वृत्तो (छन्दों) का विषयानुसार विनियोग प्रदर्शित किया है । इन तीनों विन्यासों में प्रथम तो अनुवाद ही है, द्वितीय और तृतीय ही क्षेमेन्द्र के विधेय हैं। निश्चय ही प्रथम-विन्यास के निमित्त किये गये वृत्तावचय के लिये क्षेमेन्द्र ने पिंगल का छन्द-सूत्र, कालिदास का श्रुतबोध और वृत्तरत्नावली, जनाश्रय की छन्दोविचिति आदि पूर्ववर्ती ग्रन्थों को पढ़ा होगा। उनके "दृष्ट्वा छन्दांसि, सौंदर्यं विचार्यं......1/5" आदि उपोद्घात का यही अभिप्राय है। छन्दों के लक्षण और उदाहरणों के विषय में यह भी निश्चित ही है कि सभी आचार्यों अर्थात् लक्षणकर्त्ताओं ने छन्दों के लक्षण और उदाहरणों में वही बात कही है, जो उनके पूर्ववर्ती कह गये हैं। वास्तव में छन्दों के लक्षण ही ऐसे लक्षण हैं, जिनमें कोई भेद किया ही नहीं जा सकता है। ऐसे में यह कहना कि इस विषय में क्षेमेन्द्र अमुक लक्षणकार से अत्यधिक प्रभावित हैं—सर्वथा बेतुका और असम्भव है। द्वितीय विन्यास में किये गये गुण-दोष प्रदर्शन की प्रेरणा उन्हें अवश्य अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से मिली होगी, क्योंकि भामह, दण्डी, रुद्रट. तथा वामन अपने-अपने ग्रन्थों में छन्दों के हृतवृतता, सन्धिविश्लेषता और सन्धिकष्टता आदि दोषों का उद्भावन कर चुके थे। परन्तु क्षेमेन्द्र-कृत गुण-दोष-विवेचन सर्वथा नवीन और अपूर्व ही है। अतः उस पर भी हम किसी के प्रभाव की खोज नहीं कर सकते। उनका वृतविनियोग नामक तृतीय विन्यास ऐसा ही है, जहाँ हमें पूर्ववर्ती आचार्यों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं कि द्वितीय और तृतीय विन्यास ही इस ग्रन्थ में क्षेमेन्द्र के विधेय हैं। इनमें भी गुण-दोष-प्रदर्शन जिस रीति से कहा गया है, वह भी क्षेमेन्द्र की अपनी धारणा मात्र है, जिसका अनुपालन न तो पूर्व कवियों और उत्तरकवियों द्वारा किया गया है, स्वयं क्षेमेन्द्र भी अपने इस गुण-दोष का निर्वाह करते नहीं दिखाई देते, बहुश्रुत समीक्षकों को क्षेमेन्द्र के इस गुण-दोष प्रदर्शन का व्यभिचार पद-पद पर दिखाई देगा। कोई भी देख सकता है कि जिस कवि के छन्दो-विशेष को गुणयुक्त कहकर क्षेमेन्द्र अनुकरणीय प्रदर्शित करते हैं, उसी के उस ही छन्दोविशेष को दोषयुक्त कहकर हेय और तुच्छ भी प्रतिपादित करते हैं। कालिदास, भवभूति जैसे सिद्धवाक् कवि भी जब क्षेमेन्द्र के इस गुण-दोष विभाजन पर खरे नहीं उतरते, तब इस प्रकार का व्यभिचारी-प्रयत्न हमारी सम्मति में निरर्थक ही है। इस ग्रन्थ के तृतीय विन्यास में अवश्य एक समीचीन ऊह दिखाई पड़ता है, जिसका मूल वह औचित्य ही है, जिसका विचार औ. वि. चर्चा में किया गया है। इसी आधार पर किस प्रसंग और किस अवसर पर किस छन्द का प्रयोग समीचीन (उचित) है और किसका असमीचीन (अनुचित) है, यह विचार प्रकृत विन्यास में किया गया है। क्षेमेन्द्र ने तृतीय विन्यास का शुभारम्भ करते हुए जो "प्रबन्धः सुतरां भाति......" आदि श्लोक कहा है, उसमें "यथास्थानं निवेशितैः"

यह वाक्य वृत्तविनियोग के विषय में क्षेमेन्द्र के औचित्य दृष्टि का ही सूचक है। उन्होंने वृत्तसम्बन्ध के औचित्य को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से ही वस्तुतः "सुवृत्ततिलकम्" की रचना की है—ऐसी हमारी मान्यता है। यही कारण है कि काव्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण मार्ग होते हुए भी क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्य-विचारचर्चा में वृत्तौचित्य की चर्चा नहीं की है। यदि वे वहीं वृत्तौचित्य की भी चर्चा कर देते तो उस ग्रन्थ के पृथक् निर्माण का आधार ही नष्ट हो जाता। अतः वृत्तविनियोग ही जिसे वृत्तौचित्य ही कहना चाहिये, इस ग्रन्थ का मुख्य आधार है। वही मुख्य प्रतिपाद्य है।

इस वृत्तौचित्य के प्रतिपादन की प्रेरणा क्षेमेन्द्र को भरत मुनि के उस श्लोक से ही प्राप्त दिखाई देती है, जिसमें उन्हें औचित्य का सूत्र प्राप्त हुआ था। भरत के उस श्लोक का उल्लेख हम औचित्यविषयक अध्याय में कर आये हैं। भरत ने उसमें जो "मेखलोरसिबन्धे च हास्यायैवोजायते" कहा था, उसी को विस्तृत करते हुए क्षेमेन्द्र ने औ० वि० चर्चा में "कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा" इत्यादि श्लोक द्वारा औचित्य-तत्व की स्थापना की थी। "सुवृत्ततिलकम्" में भी क्षेमेन्द्र ने उस ही आधार को ग्रहण किया है। वे यहाँ कहते हैं—

वृत्तरत्नावली कामादस्थाने विनिवेशिता।
कथयत्यज्ञतामेव मेखलेव गले स्थिता॥ सु. ति. 3/13

अर्थात् "स्वेच्छा से अनुचित स्थान में प्रयुक्त वृत्त गले में धारण की गई मेखला के समान प्रयोक्ता की अज्ञता को ही प्रकट करता है। किसी भी बुद्धिमान् समीक्षक को यह समीक्षक को यह समझना कठिन नहीं है कि क्षेमेन्द्र का "कथयत्यज्ञतामेव मेखलेव गलेस्थिता" यह वाक्य भरत के "मेखलोरसिबन्धे च हास्यैवोपजायते" की छाया ही है। निश्चित ही क्षेमेन्द्र वृत्तौचित्य के प्रतिपादन में भी भरतमुनि से प्रेरित हैं।

इसके अतिरिक्त वृत्त का समुचित विनियोग प्रदर्शित करने से पूर्व क्षेमेन्द्र ने वृत्तविनियोग के चार स्थान निर्धारित किये हैं जो इस प्रकार हैं—

शास्त्रं, काव्यं, शास्त्रकाव्यं, काव्यशास्त्रं च भेदतः।
चतुः प्रकारः प्रसरः सतां सारस्वतो मतः॥ सु. ति. 3/2

यहाँ क्षेमेन्द्र ने समस्त सारस्वत प्रपंच के जो चार भेद किये हैं, वे काव्यमीमांसा में राजशेखर द्वारा किये गये कवियों के भेद से प्रेरित हैं। काव्यमीमांसा के पंचम अध्याय में राजशेखर ने कवियों के तीन भेद किये हैं—1. शास्त्रकवि, 2. काव्यकवि, 3. उभयकवि। क्षेमेन्द्र के भेदों की संख्या चार है। 1. शास्त्र, 2. काव्य, 3. शास्त्रकाव्य, 4. काव्यशास्त्र।

दोनों में केवल यही अन्तर है कि राजशेखर ने जो भेद किये हैं वे कर्तृमूलक हैं और क्षेमेन्द्र के भेद कर्ममूलक। एक ने कवि के भेद किये हैं तो दूसरे ने कविकर्म

के। बात एक ही है। राजशेखर कविविषयक विचार करते हुए, जिस भेद बुद्धि से प्रेरित हैं, कविकर्म विषयक विचार करते हुये क्षेमेन्द्र भी उस ही भेद बुद्धि से प्रेरित हैं। राजशेखरकृत भेदों की तीन संख्या के स्थान पर क्षेमेन्द्रकृत भेदों की संख्या चार होने का कारण यही है कि क्षेमेन्द्र के भेद कर्म की दृष्टि से किये गये हैं, कर्त्ता की दृष्टि से नहीं। शास्त्र और काव्य में दो भिन्न रूप कर्म हैं, परन्तु दोनों का कर्त्ता तो एक ही है कवि। राजशेखर ने शास्त्रकवि के जो 1. शास्त्रकवि, 2. शास्त्र-काव्यकवि, 3. काव्यशास्त्रकवि ये तीन भेद किये हैं।[1]

उनमें स्थित द्वितीय (य शास्त्रे काव्यं विद्यते) और तृतीय (योऽपि काव्ये शास्त्रं विधत्ते) भेद ही क्षेमेन्द्र के "शास्त्रकाव्य और काव्यशास्त्र" भेदों के मूल है, यह बात किस प्रेक्षावान् से छिपी रह सकती है। अतः स्पष्ट है कि कविकण्ठाभरण की भाँति सुवृत्ततिलक में भी क्षेमेन्द्र पर राजशेखर का बड़ा ऋण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षेमेन्द्र पर भरत और आनन्दवर्धन के समान ही राजशेखर का प्रभाव अत्यधिक मात्रा में पड़ा है। लगता है क्षेमेन्द्र ने रामायणमञ्जरी और भारतमञ्जरी की रचना भी राजशेखर के बालरामायण और बाल-भारत की रचना से प्रेरित होकर की होगी। और कर्पूरमञ्जरी से ही मञ्जरी शब्द ग्रहण किया होगा।

—:o:—

1. त्रिधा शास्त्रकविः, । यः शास्त्रं विधत्ते, 2 यश्च शास्त्रे काव्यं विधत्ते 3 योऽपि काव्ये शास्त्रं विधत्ते। का. मी. अ. 5, पृ० 44

कविराज राजशेखर एवं आचार्य क्षेमेन्द्र का उत्तरवर्ती आचार्यों पर प्रभाव

13

(क) राजशेखर का उत्तरवर्ती आचार्यों पर प्रभाव

राजशेखर के उत्तरवर्ती जो आचार्य राजशेखर के काव्यशास्त्रीय विचारों से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं, उनमें आचार्य क्षेमेन्द्र, भोजराज, वाग्भट शारदातनय और हेमचन्द्र का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है । इनमें क्षेमेन्द्र तो हमारे निबन्ध के विषय ही हैं, अतः उनके सम्बन्ध में तो हम आगे एक स्वतन्त्र अध्याय में अपने विचार प्रस्तुत करेंगे । यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि क्षेमेन्द्र ने राजशेखर से बहुत कुछ ग्रहण किया है । उनका "कविकण्ठाभरण" तो राजशेखर की काव्य-मीमांसा में वर्णित कवि शिक्षा से बहुत ही अधिक प्रभावित है, जिसका वर्णन अग्रिम अध्याय में दर्शनीय है ।

भोजराज पर राजशेखर का प्रभाव—

धारा धरेन्द्र राजा भोज को भारत में कौन नहीं जानता ? "भोज-प्रबन्ध", "सिंहासन-बत्तीसी" आदि ग्रन्थों के द्वारा धारा नगरी के प्रशासक महाराज भोज को इतनी प्रसिद्धि प्राप्त करा दी गई है कि भारतवर्ष का बिना पढ़ा सामान्य मनुष्य भी राजा भोज के नाम से ही नहीं, उनके काम से भी बहुत कुछ परिचित है । महाराज भोज उच्च कोटि के प्रशासक तो थे ही, उच्च कोटि के कवि, विद्वान् और साहित्यकार भी थे । वे चौरासी ग्रन्थों के रचयिता माने जाते हैं । उन्होंने व्याकरण, चिकित्सा, ज्योतिष, दर्शन, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, वास्तुविद्या आदि विविध विषयों पर प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे हैं । राजकाज में दिन रात संलग्न रहने वाले एक प्रजावत्सल राजा के लिये इतने अधिक प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना को शंका की दृष्टि से देखने वाले कुछ आलोचक इन्हें भोज नाम के अनेक पुरुषों की रचना कहते हैं । कोई इन्हें भोज के सभा पण्डितों द्वारा लिखित और पुनः भोज के नाम से ख्यापित की गई रचना समझते हैं । हम तो

पण्डितों द्वारा इस प्रकार की शंकाओं को स्वल्पशक्ति मस्तिष्कों का भ्रम मात्र मानते हैं। आधुनिक दृष्टि से किसी कर्म को अलौकिक मानकर, उसे यदि शंका की दृष्टि से देखा जाने लगा तो व्यास, पाणिनि और पतंजलि के कर्म की क्या दशा होगी ? तीस वर्ष की सीमित आयु में सम्पूर्ण भारत में घूम-घूम कर वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा में सफलता प्राप्त करने वाले श्री शंकराचार्य द्वारा ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता और कम से कम दस उपनिषदों पर भाष्य लिखने और सहस्रों उत्कृष्ट पदों की रचना करने को क्या शंका की दृष्टि से नहीं देखा जायेगा ? जब मस्तिष्क ही छोटा हो तो उसमें बड़ी बात कैसे समा सकती है ?

कुछ भी हो महाराज भोज के महान् विद्वान् और महान् कवि एवम् काव्य-परीक्षक होने में किसी भी भारतीय विद्वान् के मन में कोई शंका नहीं हो सकती। आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा में जो राजचर्चा लिखी है।[1] हमारी सम्मति में महाराज भोज उसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। भोज ने अवश्य ही राजशेखर कृत राज-चर्या को पढ़ा होगा और तदनुरूप स्वयं को ढाला होगा। राजशेखर के कथन और भोज के कर्त्तव्य को देखने से पता चलता है कि विविध विद्याओं को जानने और निपुणता के साथ ग्रन्थ रचना करने का समय जितना राजा को मिल सकता था उतना अन्य किसी को नहीं, अतः हम महाराज भोज के बहुकर्त्तत्व में शंका को उतना स्थान देने के पक्षपाती नहीं जितना वास्तविकता को।

महाराज भोज के शास्त्रीय विषय पर लिखे गये दो ग्रन्थ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। दोनों साहित्य-शास्त्रीय-ग्रन्थ हैं। "सरस्वती-कण्ठाभरण" और "श्रृंगारप्रकाश" नामक इन दोनों ग्रन्थों में भोज ने अपने समय तक प्रचलित सभी साहित्य-विषयक-सिद्धान्तों का समाहार कर दिया है। साथ ही अपनी नवीन उद्भावनायें उनमें बढ़ा दी हैं। दोनों ग्रन्थों का विषय प्रायः एक सा ही है। हम एक ही वस्तु का संक्षिप्त रूप "सरस्वती-कण्ठाभरण" को और विस्तृत रूप "श्रृंगार-प्रकाश" को समझते हैं। श्रृंगार-प्रकाश में साहित्यिक विषयों का विस्तृत विवेचन ही नहीं है अपितु समस्त संस्कृतवाङ्मय चर्चित दिखाई देता है। यह ग्रन्थ महाराज भोज के विशाल शास्त्रीय ज्ञान का परिचायक है। "बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्" की भाँति "भोजोच्छिष्टानि शास्त्राणि" यदि कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। भोज ने किस-किस प्राचीन सिद्धांत को ग्रहण किया है, यह जाँच पड़ताल करना यहाँ हमें अपेक्षित नहीं है। उन्होंने राज-शेखर से क्या लिया है ? यही हम यहाँ देखना चाहते हैं।

---

1. राजा कविः कविसमाजं विदधीत। राजनि कवौ सर्वो लोकः कविः स्यात्। स काव्यपरीक्षायै सभां कारयेत्।........... तत्र यथासुखम् आसीनः काव्यगोष्ठीं प्रवर्त्तयेत्, भावयेत्, परीक्षेत च।...... इत्थं सभापतिर्भूत्वा यः काव्यानि परीक्षते। यशस्तस्य जगद्व्यापि स सुखी तत्र तत्र च।

—का० मी० अ० 10

मुख्यतः हमारी दृष्टि राजशेखर और भोजराज के रीति सम्बन्धी विचारों पर ठहरती है। राजशेखर ने रीति के सम्बन्ध में ऐसा विचार प्रस्तुत किया था जो उनसे पूर्व प्रकट नहीं था। हम देखते हैं कि उनके रीति सम्बन्धी सिद्धान्त का भोज ने यथावत् अनुसरण किया है। राजशेखर ने रीतियों के स्वरूप का निदर्शन ऐसे साधनों के आधार पर किया था जो इनसे पूर्व साहित्य-शास्त्र में उपलब्ध नहीं थे। भोज ने अपने शृंगार-प्रकाश में इन्हीं साधनों को ग्रहण किया है। भोज ने सरस्वती-कण्ठाभरण और शृंगार-प्रकाश दोनों ग्रन्थों में रीतियों का वर्णन किया है। वे कण्ठाभरण में तो रीतियों को अलंकार के मध्य रखकर उसका वर्णन करते हैं और शृंगार-प्रकाश में अनुभवों में समाविष्ट कर विवेचन करते हैं। सरस्वती-कण्ठाभरण में वे छः रीतियों का उल्लेख करते हैं परन्तु शृंगार प्रकाश में चार ही रीतियों का विवरण उपस्थित करते हैं। इस प्रकार भोजराज रीतियों के सम्बन्ध में किसी निश्चित धारणा पर स्थित दिखाई नहीं देते। हमारी दृष्टि में उन्होंने यहाँ भी अपने पर राजशेखर के प्रभाव का ही परिचय दिया है। राजशेखर के काव्यमीमांसा के तृतीय अध्याय में काव्यपुरुष और साहित्य-विद्यावधू की स्वकल्पित, परन्तु वैचारिक दृष्टि से यथार्थ, देशयात्रा के वर्णन के पश्चात् निष्कर्ष रूप में स्त्री पुरुषों के वेष-विन्यास क्रम को प्रवृत्ति तथा विलास विन्यासक्रम को वृत्ति एवं वचन विन्यासक्रम को रीति निर्धारित किया था। तदनुरूप उन्हें तीनों के भेदों की संख्या में एकरूपता रखनी चाहिये थी परन्तु उन्होंने प्रवृत्ति और वृत्ति के तो चार-चार भेद स्वीकार किये।[1] लेकिन रीतियाँ तीन ही स्वीकार कीं। स्पष्ट ही उन्होंने आवन्ती या पांचाली रीति में स्पष्ट अन्तर न देखकर आवन्ती या लाटी नाम की रीति का पांचाली में ही समाहार कर लिया। साथ ही राजशेखर ने "काव्यमीमांसा" में गौड़ी, वैदर्भी, पांचाली रीतियाँ स्वीकार करके [2] भी अपने नाटकों में मैथिली और मागधी रीतियों की भी चर्चा की है।

मागधी-रीति का उल्लेख राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी की प्रस्तावना में किया है। वहाँ उन्होंने वच्छोमि—जो वत्सगुल्मी का प्राकृतरूप है और वत्सगुल्मी वैदर्भी

---

1. चार प्रवृत्तियाँ—औडमागधी, पाँचाली मध्यमा, आवन्ती, दाक्षिणात्या
" वृत्तियाँ—भारती[1] सात्वती, आरभटी[2] सात्वती—कैशिकी[3]
तीन रीतियाँ—गौड़ी, पांचाली, वैदर्भी × —कैशिकी[4]
—का० मी० अ० 3

2. वैदर्भी गौड़ीया पांचाली चेति रीतयस्तिस्रः।
आसु च साक्षान्निवसति सरस्वती तेन लक्ष्यते॥
—का० मी० अ० 7 पृ० 82।

का ही नामान्तरण है—का तथा मागधी एवं पांचाली नाम की तीन रीतियों का उल्लेख किया है। काव्यमीमांसा और कर्पूरमञ्जरी दोनों में ही तीन रीतियों का उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि कर्पूरमञ्जरी की मागधी काव्यमीमांसा की गौड़ी-या का ही नामान्तरण है। "बालरामायण" के अंक संख्या 10, श्लोक संख्या 95 में राजशेखर ने मैथिली-रीति का पर्याप्त परिचय दिया है। उसके अनुसार मैथिली में तीन गुण कहे गये हैं।

(1) अर्थ का मर्यादित अतिशय,

(2) अल्पसमास होना,

(3) योग परम्परा का निर्वाह।

निश्चय ही यह वैदर्भी और गौड़ी के मध्य की रीति है, जिसको "श्रीपाद" नामक आचार्य के अतिरिक्त अन्य किसी ने मान्य नहीं किया है, "श्रीपाद" के मत का उल्लेख "केशव मिश्र" ने अपने "अलंकारशेखर" नामक ग्रन्थ में किया है। वहीं पर मागधी रीति का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि राजशेखर रीतियों के विषय में स्थिर नहीं है। वे वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली मागधी और मैथिली रीतियों का नाम भी लेते हैं और रीतियों की तीन संख्या भी प्रतिपादित करते हैं। हम यह भी देखते हैं कि उन्होंने आवन्ती नाम की प्रवृत्ति तो स्वीकार की है परन्तु रीति नहीं स्वीकार की। यदि वे अवन्ती देश की रीति भी स्वीकार कर लेते तो उनकी रीतियों की संख्या भी छः होती जैसा कि "भोजराज" के "सरस्वती-कण्ठाभरण" में हम पहले बता चुके हैं। निश्चित रूप से "सरस्वती-कण्ठाभरण" की छः रीतियाँ राजशेखर की रीतियों से प्रभावित है। अवश्य ही भोज ने यह उचित समझा होगा कि प्रवृत्ति और वृत्ति की संख्या के समान ही रीतियों की संख्या भी छः होनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि राजशेखर से पूर्व रीतियों की संख्या 4 के अंक को पार नहीं कर सकी थी परन्तु उनके पश्चात् भोज और भोज के उत्तरवर्ती आचार्यों ने रीतियों की संख्या में जो वृद्धि की, उसका आधार राजशेखर की "कर्पूरमञ्जरी" और "बालरामायण" की उपयुक्त सूचना ही है।

अब हम राजशेखर और भोजराज द्वारा किये गये रीति लक्षणों की तुलना कर यह देखना चाहते हैं कि भोजराज ने रीतियों के लक्षण में राजशेखर के लक्षणों

---

1. तदतेत् पल्लवयन्ति श्रीपादाः—

गौड़ी समासभूयस्त्वात् वैदर्भी च तदल्पतः।
अनयोः संकरो यस्तु मागधी सातिविस्तरा।
गौड़ीयैः प्रथमा मध्या वैदर्भी मैथिलैस्तथा।
अन्यैस्तु चरमा रीतिः स्वभावादेव सेव्यते॥

—(अलं० शेखर का० मा० सम्पा० पृ० 6)

को कहाँ तक आधार माना है। राजशेखर ने रीति-निर्णय नामक कोई रीति-विषयक ग्रन्थ भी लिखा था, जो अब उपलब्ध नहीं है। अत: उनके रीति-लक्षणों का निर्धारण हम "काव्यमीमांसा" के "काव्यपुरुषोत्पत्ति" नामक तृतीय अध्याय में दी गयी सूचना के आधार पर ही करने को विवश हैं। राजशेखर द्वारा दिये गये काव्यपुरुष और विद्यावधू के कथानक के अनुसार वचन विन्यासक्रम को रीति लक्षित किया गया है।[1] इस वचन-विन्यास की भिन्नता के अनुसार हम रीतियों को निम्न प्रकार से विभाजित कर सकते हैं—

1. गौड़ी-रीति के तीन मूल तत्व—
(क) समास,
(ख) अनुप्रास,
(ग) योगवृत्तिपरम्परा ।

2. पांचाली रीति के तीन मूल तत्व—
(क) ईषत् समास,
(ख) ईषद् अनुप्रास,
(ग) उपचार ।

3. वैदर्भी रीति के तीन मूल तत्व—
(क) असमास,
(ख) स्थानानुप्रास,
(ग) योगवृत्ति ।

तीनों रीतियों के स्वरूप का उपर्युक्त निदर्शन हमने काव्यमीमांसा के निम्न तीन वाक्यों के आधार पर किया है।[1]

1. यद्......समासवद्-अनुप्रासवद्-योगवृत्तिपरम्परागर्भं वाक्यं.........सा गौड़ीया ।

2. यद्.........ईषत् समासम्-ईषदनुप्रासम्-उपचारागर्भञ्च वाक्यं......सा पांचाली ।

3. यद्............स्थानानुप्रासवत्-असमासं-योगवृत्तिगर्भञ्च वाक्यं,.........सा वैदर्भी ।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि राजशेखर ने प्रवृत्ति और वृत्ति के तो

---

1. वचन विन्यासक्रमो रीतिः । —का० मी० 3 ।

2. का० मी० । अध्याय 3 ।

चार-चार प्रकार निरुपित किये हैं।[1] परन्तु रीतियाँ तीन ही मान्य की है।[2] उनकी चतुर्थ प्रवृत्ति का नाम "आवन्ती" और वृत्ति का नाम "सात्त्वती-कैशिकी" है परन्तु इनकी सहचरी किसी रीति का निर्धारण नहीं है। हमारी सम्मति में जिस प्रकार पञ्चाल देश की रीति पाञ्चाली मानी गई, उसी प्रकार आवन्ति देश की रीति आवन्ती या अर्द्धपांचाली भी कही जानी चाहिये थी। राजशेखर से पूर्व रुद्रट ने भी उपर्युक्त तीनों रीतियाँ स्वीकार की हैं परन्तु इनके साथ "लाटी" नाम की चतुर्थ रीति भी स्वीकार की है। यद्यपि "रुद्रट" राजशेखर के आदर्श रहे हैं, तथापि उन्होंने रुद्रट की लाठी को अस्वीकार कर यह सिद्ध कर दिया है कि उन्होंने रुद्रट या अन्य किसी आचार्य का अन्धानुकरण नहीं किया है। रुद्रट से पूर्व वामन ने जिन तीन रीतियों को मान्यता प्रदान की थी, उन्हीं को राजशेखर ने भी मान्य किया है।

भोजराज ने जैसा कि हम पूर्व कह आये हैं—सरस्वती-कण्ठाभरण में अलंकाररूप रीतियों की संख्या छ: तथा शृंगार-प्रकाश में अनुभावरूप रीतियों की संख्या चार प्रतिपादित की है। यह भेद उन्होंने अलंकारों और अनुभावों के स्वरूप-पार्थक्य के कारण किया है। निश्चय ही यह भोजराज का मौलिक-चिन्तन है, जो उनसे पूर्व कहीं नहीं देखा गया। लगता है, जिस प्रकार राजशेखर ने रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति के पारस्परिक सम्बन्ध की स्थापना में नवीनता का प्रदर्शन किया है और इसीलिये दोनों की संख्या में भेद प्रदर्शित किया है, उसी से प्रेरित होकर भोजराज ने भी अलंकारों और अनुभावों को आश्रय बना कर रीतियों की संख्या में भेद कर दिया है। यही नहीं, राजशेखर ने रीतियों के लक्षण जिस आधार पर स्थापित किये हैं, वही आधार भोजराज ने भी शृंगार-प्रकाश के सत्रहवें अध्याय में ग्रहण किया है। शृंगार-प्रकाश में स्वीकृत आधार निम्न प्रकार से निर्दिष्ट किया जा सकता है—

भोज के शृंगार-प्रकाश में निर्दिष्ट—

1. गौड़ी रीति के तीन मूल आधार—
   (क) अतिदीर्घ समास,
   (ख) पदानुप्रास,
   (ग) योगरूढिपरम्परा।
2. पांचाली रीति के तीन मूल आधार—
   (क) अनतिदीर्घ समास,

---

2. चतुष्टयी गति-वृत्तीनां प्रवृत्तीनाञ्च।

—का० मी० अ० 3

3. रीतयस्तु तिस्रः।

—का० मी० अध्याय 3

(ख) पादानुप्रास,
(ग) उपचार।

3. वैदर्भी रीति के तीन मूल आधार—
(क) असमास,
(ख) स्थानानुप्रास,
(ग) योगवृत्ति।

राजशेखर और भोजराज के रीति-लक्षणों में कितनी समानता है, यह बात ऊपर के निर्देशन द्वारा स्पष्ट हो जाती है। शब्दों के साधारण से हेर-फेर के साथ भोज की रीतियों के लक्षण वे ही हैं, जो राजशेखर ने किये थे। वैदर्भी के लक्षण में तो शब्दों का भी कोई अन्तर नहीं है। स्पष्ट है कि शृंगार-प्रकाश का रीति-विचार काव्यमीमांसा के रीति-विचार से पूर्णतया प्रभावित है। भोजराज के पश्चात् शारदातनय ने अपने "भाव-प्रकाशन" ग्रन्थ में यद्यपि रीतियों की संख्या सौ से भी ऊपर पहुँचा दी है तथापि उनका भोजराज के समान ही अनुभावों में समावेश किया है। अनुभाव भी शारदातनय ने वे ही चार गिनाये हैं जो भोजराज ने "शृंगार-प्रकाश" में कहे थे।[1] "अग्निपुराण" के 340 वें अध्याय में भी मनो, वाक्, काय और बुद्धि के आरम्भानुभावों का वर्णन शृंगार-प्रकाश के अनुरूप ही किया गया उपलब्ध होता है, वहाँ प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति नामक तीन प्रकार के बुद्ध्यारम्भानुभावों का स्पष्ट वर्णन किया गया है, जिसे राजशेखर से प्रभावित माना जाता है। "आचार्य बहुरूप-मिश्र" ने दशरूपक की व्याख्या में शारदातनय के अनुकरण पर रीतियों के परस्पर तारतम्य का वर्णन करते हुए समास-तारतम्य, उपचारतारतम्य, बन्धसौकुमार्यतारतम्य के साथ अनुप्रास भेद और योगादिभेद दिखाकर जो रीतियों में विभेद प्रदर्शित किया है, उस पर भी राजशेखर का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। वास्तव में उपचार और योग, तथा योगवृत्ति आदि साधनों के जनक राजशेखर ही हैं। राजशेखर के पश्चात् रीतियों के विवेचन में जो विशिष्ट साधनों के अन्वेषण की परम्परा प्रचलित हुई उसके प्रवर्त्तक राजशेखर ही हैं।

आचार्य हेमचन्द्र पर राजशेखर का प्रभाव

विक्रम संवत् 1208 (ए० डी० 1151) में राजकुमार पाल के समय जन्मे श्वेताम्बर जैनाचार्य सर्वतन्त्र स्वतन्त्र आचार्य श्री हेमचन्द्र व्याकरण और काव्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे, उन्होंने बीस से भी अधिक ग्रन्थों की रचना की थी, यह बात उनके निम्न श्लोक में स्फुट ही विदित है।

शब्दानुशासनेऽस्माभिः साध्व्यो वाचो विवेचिताः।
तासामिदानीं काव्यत्वं यथावदनुशिष्यते ॥

काव्यानुशासन 1/2

1- अनुभावश्चतुर्धा स्यान्मनोवाक्काय बुद्धिभिः। भाव-प्रकाशन पृष्ठ 6।

उक्त श्लोक में आचार्य ने एक ओर तो शब्दानुशासन और काव्यानुशासन नामक अपनी दो रचनाओं के पौर्वापर्य का परिचय दिया है, दूसरी ओर यह सिद्धांत भी स्थापित कर दिया है कि काव्य में साधु शब्दों का ही प्रयोग कर्त्तव्य है। अतश्च काव्य ही शब्द विद्या का व्यवहार काल है। इससे उनके शब्दशास्त्र और काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी रहस्य-ज्ञान का पता चलता है। इस मर्मज्ञ आचार्य ने यद्यपि काव्यानुशासन में पूर्वोपलब्ध काव्यांगों और उनके लक्षणों का संग्रह ही किया है, तथापि जो अधिक दिखाई दिया, उसे छोड़कर और जो न्यून दिखाई दिया, उसे जोड़कर सारभूत विवेचन करने में आचार्य ने श्लाघनीय सफलता प्राप्त की है। हेमचन्द्र का यह काव्यानुशासन छान फटक कर साफ करबोरे में भरे उस धान्य-संग्रह के समान है, जिसे बेधड़क बिना संकोच के चाहे जब प्रयोग में लाया जा सकता है। इस ग्रन्थ में अपने समय तक मान्य सभी प्रामाणिक ग्रन्थों से विषय ग्रहण किया गया है। भरत से लेकर मम्मट तक के सिद्धान्त काव्यानुशासन में संगृहीत दिखाई देते हैं। जिसका जो अंश ठीक और निर्विवाद दिखाई दिया है, उसी को ग्रहण कर हेम-चन्द्राचार्य ने एक स्वच्छ निर्मल काव्य-सिद्धान्त-माला काव्यानुशासन नाम से गूँथ कर रख दी है। उन्होंने भरत, ध्वनिकार, आनन्दवर्धन, राजशेखर और मम्मट आदि के सिद्धान्तों को अत्यधिक मात्रा में ग्रहण किया है परन्तु उसे जैसा कि हमने अभी कहा है—छान फटक कर साफ सुथरे रूप में उपस्थित किया है। उदाहरण के लिये भरत के रस-सूत्र में विद्यमान संयोग और निष्पत्ति शब्दों को उन्होंने निकाल बाहर कर दिया है और सूत्र को असंदिग्ध रूप में इस प्रकार उपस्थित किया है :—

"विभावानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यक्तः स्थायी भावो रसः।"[1]

इसी प्रकार ध्वनि के स्वरूप को उन्होंने सार रूप से इस प्रकार कह दिया है :—

"मुख्याद् व्यतिरिक्तः प्रतीयमानो व्यंग्यो ध्वनिः।[2]

यही बात हम काव्य के लक्षण में भी देखते हैं। गुण और दोष का भी साफ-सुथरा लक्षण इससे अधिक कहाँ मिलेगा, देखिये :—

"रसस्य उत्कर्षापकर्षहेतू गुणदोषौ भक्त्या शब्दार्थयोः।"[3]

शब्द और अर्थ में गुण और दोष की स्थिति को "भक्त्या शब्दार्थयोः" के द्वारा विवाद से रहित करते हुए एक ही वाक्य में रस के उत्कर्ष और अपकर्ष के हेतुभूत गुण और दोष का समुचित लक्षण हमें अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। यही

---

1. काव्यानुशासन 3/1
2. काव्यानुशासन 1/46
3. काव्यानुशासन 1/20

विशेषता है आचार्य हेमचन्द्र की। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि हेमचन्द्र ने सभी पूर्वाचार्यों से विषय ग्रहण किया है। यहाँ हमें देखना है कि उन्होंने राजशेखर से क्या ग्रहण किया है ? काव्यानुशासन के ग्रन्थ को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र मम्मट के काव्य प्रकाशीय विषय को परिष्कृत करने का संकल्प लेकर ग्रन्थ रचना में प्रवृत्त हुए हैं। उन्होंने काव्य-प्रकाश के अनपेक्षित अंश को बाहर निकाला है और अपेक्षित अंश को उसके साथ संयुक्त किया है। उदाहरण के लिये उन्होंने "काव्य-प्रकाश" में स्थित "अदोषौ सगुणौ क्वापि पुनरनलंकृती शब्दार्थौ काव्यम्" इस काव्य लक्षण को ही ग्रहण किया है। परन्तु उसमें "अनलंकृती क्वापि" इस अंश को हटाकर उसके स्थान पर केवल "च" शब्द पढ़ दिया है। इस प्रकार मम्मट कृत लक्षण को ही "अदोषौ, सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्" रूप से ग्रहण कर लिया है। स्पष्ट ही हेमचन्द्र ने 'अनलंकृती पुनः क्वापि" के बहुत बड़े अर्थ को छोटे से "च" शब्द में समेट दिया है। साथ ही उन्होंने मम्मट के हेतुत्रय-वाद में से केवल एक शक्ति को ही काव्य का हेतु स्वीकार किया है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को शक्ति का संस्कारक मात्र कहा है। हेमचन्द्र ने मम्मट की शक्ति को जो प्रतिभा के नाम से ग्रहण किया है और उसके सहजा तथा औपदेशिकी भेद किये हैं, स्पष्ट ही यहाँ उन्होंने राजशेखर के विचार को प्रधानता दी है परन्तु राज-शेखर के द्वारा जो प्रतिभा के सहजा, आहार्या और औपदेशिकी नाम से तीन भेद किये गये हैं[1]—उनमें आहार्या तथा औपदेशिकी को एक औपाधिकी नाम देकर दो को एक ही में समेट दिया है।[2] हेमचन्द्र ने मम्मट के "काव्यज्ञशिक्षयाभ्यासः" इस वाक्य को ही "काव्यविच्छिक्षया पुनः-पुनः प्रवृत्तिरभ्यासः" इस रूप में कहा है परन्तु मम्मट ने शिक्षा पर कुछ भी प्रकाश न डालकर उसे संवृत ही छोड़ दिया था, हेमचन्द्र ने अभ्यास को भी। "पुनः पुनः प्रवृत्तिः" कहकर विवृत कर दिया तथा शिक्षा को भी स्पष्ट रूप से इस रूप में सूत्रित कर दिया—

"सतोऽप्यनिबन्धोऽसतोऽपि निबन्धो नियमश्छायाद्युपजीवनादयश्च शिक्षाः"।

शिक्षा के इस सूत्रीकरण में हेमचन्द्र ने काव्यमीमांसा की कवि शिक्षा को ही सूत्रित किया है परन्तु उसे सामान्य-कवि-समय के भीतर से निकाल कर विशेष-कवि-शिक्षा के रूप में यथा स्थान निविष्ट और निर्दिष्ट किया है। राजशेखर ने स्वर्ग्य, पातालीय और भौम नाम से कवि-समय के तीन भेद किये हैं किन्तु उनमें भौम को प्रधान माना है।[3] और उसी के जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया रूप से चार भेद

---

1. सापि त्रिविधा सहजाऽऽहार्यौपदेशिकी च। —का० मी० अ० 4।
2. सा च सहजौपाधिकी चेति द्विधा। काव्यानुशासन ?।
3. सा च त्रिधा-स्वर्ग्यो, भौमः पातालीययो-र्भौमः प्रधानः।
—का० मी० अ० 14।

किये हैं तथा उसी का विवेचन भी विस्तार से चौदहवें अध्याय में किया है। हेमचन्द्र ने उसे ही यथावत् ग्रहण कर शिक्षार्थी कवि के सम्मुख रख दिया है। राजशेखर ने जो बात (14, 15, 16) इन तीन अध्यायों में कही है, उसे हेमचन्द्र ने प्रथम अध्याय के थोड़े से अंश में समेट दिया है। हम हेमचन्द्र के "सतोऽप्यादि शिक्षा सूत्र" को और उसकी वृत्ति को काव्य-मीमांसा के तीन (14, 15, 16) अध्यायों का सार संग्रह कह सकते हैं। इस सार-संग्रह में हेमचन्द्र ने राजशेखर की पदावली तक को उसी रूप में ग्रहण कर काव्यमाला में गूँथ दिया है। उदाहरण के लिये दो एक अंश दोनों ग्रन्थों से उद्धृत किये जा रहे हैं देखियेः—

सामान्यस्य असतो निबन्धनं, यथा-नदीषु पद्मोत्पलादीनि, जलाशयमात्रेऽपि हंसादयो, यत्र तत्र पर्वतेषु सुवर्णरत्नादिकम्।[1] असतोऽपि सामान्यस्य निबन्धो यथा-नदीषु पद्मनीलोत्पलानाम्, जलाशयमात्रेऽपि हंसादीनाम्, यत्र-तत्र पर्वते सुवर्णरत्नादीनाम् इति।[2]

उक्त उदाहरण में हेमचन्द्र ने राजशेखर के विभक्तिवैषम्य का समीकरण मात्र किया है, अर्थात् "असतः सामान्यस्य..." में जो षष्ठी विभक्ति थी, जिसे राजशेखर ने प्रथमान्त उदाहरणों—"पद्मोत्पलादीनि आदि" में विषमित कर दिया था उसे तद्रूपता ही केवल प्रदान की है, अर्थात् राजशेखर के "पद्मोत्पलादीनि" को पद्मोप्लालादीनाम्" ही केवल किया है। शेष पदावली यथावस्थ है।

ऊपर सामान्य का उदाहरण उद्धृत किया गया है। द्रव्य, गुण, क्रिया के भी सत् और असत् के उदाहरणों में तथा नियम एवम् छायोपजीवन के उदाहरणों में भी यही तद्रूपता काव्य-मीमांसा और काव्यानुशासन में दिखाई देती है, हेमचन्द्र ने यहाँ काव्य-मीमांसा का अनुकरण ही नहीं अपितु अनुवाद कर दिया है, परन्तु इस बात को छिपाने की चेष्टा नहीं की है, यदि वे चाहते तो इस विषय को रूपान्तर से भिन्न शब्दों द्वारा भी कह सकते थे, लेकिन उन्होंने राजशेखर के ग्रन्थ को यथावस्थ रखकर अपनी नेक नीयत का प्रमाण ही उपस्थित किया है, हम इसे दोष दृष्टि से नहीं देखते हैं।

इस प्रकार क्षेमेन्द्र, भोजराज और हेमचन्द्र ने राजशेखर को बहुशः अनुसृत किया है। वाग्भटालंकार के रचयिता वाग्भट द्वितीय ने भी राजशेखर का बहुत कुछ अनुकरण किया है, जिसका संक्षिप्त परिचय हम द्वितीय अध्याय में दे चुके हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र ने राजशेखर से क्या-क्या ग्रहण किया है? यह बात हम अग्रिम अध्याय में विशेष रूप से कहेंगे। यहाँ उसे कहकर पुनः पिष्टपेषण करना उचित न जानकर हमने उसे छोड़ दिया है।

---

1. काव्य मीमांसा अ० 24
2. काव्यानुशासन अ० 1

यहाँ हम यह बात बता देना आवश्यक समझते हैं कि राजशेखर यद्यपि ध्वनि मार्ग के अनुगामी नहीं थे परन्तु वे अलंकार-सम्प्रदाय के अनुगामी भी नहीं थे, उन्होंने जो रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया था, यह उनकी अपनी मौलिकता थी। हमें इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि उनके इस रसात्मवाद का प्रभाव ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्यों पर भी पड़ा। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने आनन्दवर्धन के "काव्यस्यात्मा ध्वनिः" सिद्धान्त की न केवल उपेक्षा की प्रत्युत उसका युक्ति पूर्वक खण्डन कर केवल रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया एवम् काव्य का लक्षण ही "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" घोषित किया, यह राजशेखर के प्रभाव का ही परिणाम था।

इसके अतिरिक्त विश्वनाथ द्वारा शब्द और अर्थ के स्थान पर वाक्य को काव्य के लक्षण में विशेष्यत्वेन निविष्ट किया जाना भी निःसन्देह राजशेखर के प्रभाव को संकेतित करता है। कारण कि राजशेखर ने ही पूर्वाचार्यों द्वारा विशेष्यत्वेन प्रयुक्त "शब्दार्थौ" को काव्य लक्षण के शरीर से बहिष्कृत कर उसके स्थान पर स्पष्ट रूप से वाक्य को निविष्ट किया था।[1] उन्होंने काव्य के लक्षण में न केवल "वाक्यम्" का निवेशमात्र किया था, वरन् उसके साथ अवधारणार्थक "एव" शब्द को संयुक्त कर "वाक्यमेव काव्यम्" कहते हुए वाक्य के अतिरिक्त शब्दार्थ आदि अन्य विशेष्यों के काव्यत्व का खण्डन भी साथ ही कर दिया था। इसका ही यह प्रभाव हुआ कि न केवल विश्वनाथ ने "शब्दार्थौ" को काव्य-लक्षण के शरीर से बहिष्कृत किया अपितु पण्डितराज जगन्नाथ जैसे परम तार्किक आचार्य ने भी रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द मात्र को ही काव्य-लक्षण में स्थान दिया और अर्थ को शब्द के साथ प्रतिपादकता सम्बन्ध में जोड़े रखा। वस्तुतः अर्थ जो कि अलौकिक-चमत्कारशाली हो, उसका प्रतिपादक शब्द वाक्य रूप ही होता है। इस प्रकार पण्डितराज ने भी शब्द समूह रूप वाक्य को ही प्रकारान्तर से काव्य स्वीकार कर राजशेखर के विचार का ही समर्थन किया। राजशेखर ने काव्य के स्वरूप का निर्धारण करते हुए अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने वाले पदों के समूह को जो वाक्य का नाम दिया है।[2] उसमें तथा पण्डितराज के रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द में, वस्तुतः कोई स्थूल भेद दिखाई नही देता। जब हम शब्द को जाति रूप में ग्रहण करते हैं तो वह जाति रूप शब्द वाक्य के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं होता। इस प्रकार ध्वनि-सम्प्रदाय के सर्वमान्य आचार्य भी राजशेखर के प्रभाव से रहित नहीं दिखाई देते।

---

1. गुणवदलंकृतञ्च वाक्यमेव काव्यम्।

—का० मी० अ० 6

2. पदानाम् अभिधित्सार्थग्रथनाकरः सन्दर्भो वाक्यम्।

—का० मी० अ० 6

आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण के सप्तम परिच्छेद के अन्त में तीन शार्दूलविक्रीडित छन्दों में जो 'कवि-समय-ख्यातानि" का संग्रह किया है। वह काव्यमीमांसा में प्रदर्शित कवि-समय का ही अनुवाद है, जिसे विश्वनाथ ने स्वगर्य पातालीय और भौम भेद के साथ पृथक्-पृथक् न लिखकर, एक साथ संगृहीत कर दिया है। साहित्य दर्पण के "मालिन्यं व्योम्नि पापे..." इत्यादि श्लोकों को काव्यमीमांसा के 14, 15, 16 अध्यायों में निर्दिष्ट कविसमय के साथ मिलकर पढ़ने से हमारे कथन की प्रामाणिकता को देखा जा सकता है। यहाँ दोनों ग्रन्थों को उद्धृत कर अनावश्यक रूप से अपने प्रबन्ध के आकार को विस्तार देना, हम उचित नहीं समझते।

इस प्रकार अलंकारवादी, औचित्यवादी और ध्वनिवादी सभी प्रकार के वे साहित्यचार्य जो राजशेखर के पश्चात् हुए उन सभी पर थोड़ी बहुत मात्रा में राजशेखर का प्रभाव पड़ा है, यह बात सुनिश्चित है।

———

13

(ख) क्षेमेन्द्र का उत्तरवर्ती आचार्यों पर प्रभाव

आचार्य क्षेमेन्द्र सुविशाल कृतित्व के धनी थे । उन्होंने अपना उपनाम 'व्यासदास" ख्यापित किया था । कृष्णद्वैपायन व्यास उनके उपजीव्य थे । यह बात उनके ग्रन्थों में उल्लिखित संकेतों से बहुशः प्रमाणित है, जिसे हम पूर्व के अध्यायों में कह चुके हैं । महामुनि व्यास का कर्तृत्व जिस प्रकार अपरिमित और अनन्त है, उसी प्रकार आचार्य क्षेमेन्द्र का कर्तृत्व भी इतना विपुल है कि उसकी तुलना अन्यत्र कठिन ही है । उनके रचित ग्रन्थों की संख्या (40) चालीस से भी अधिक मानी जाती है । "पी० वी० काणे" के अनुसार क्षेमेन्द्र ने 40 ग्रन्थों की रचना की थी ।[1] उनके ये सभी ग्रन्थ यद्यपि आज उपलब्ध नहीं है, तथापि जो उपलब्ध हैं वे 32, 33 ग्रन्थ उनके विशाल कृतित्व को प्रमाणित करने के लिये कम नहीं है । ग्रन्थ संख्या में महाराज भोज जैसे रचनाकार भी संस्कृत-साहित्य में विद्यमान हैं । जिनके ग्रन्थों की संख्या 80 से भी ऊपर मानी जाती है । डा० राघवन् ने श्रृंगारप्रकाश के अध्ययन में इनकी संख्या (84) चौरासी बताई है । तथापि क्षेमेन्द्र के कृतित्व की विशालता का अतिक्रमण महामुनि व्यास के अतिरिक्त कोई भी लेखक या कवि नहीं कर सका है । बृहत्कथामञ्जरी, रामायणमञ्री, भारतमञ्जरी, जैसी इनकी कई रचनाओं की श्लोक संख्या इतनी विशाल है, जिसकी परमिति अन्य सभी रचनाकारों का उल्लंघन करती हुई, महामुनि व्यास की सीमा का स्पर्श करने में समर्थ दिखाई देती है । यहीं उनकी व्यासदास उपाधि की सत्यता भी प्रमाणित हो जाती है । छः छः हजार से भी अधिक श्लोकों में निबद्ध उपर्युक्त रचनाओं का मौलिक एवम् गुणात्मक महत्व यद्यपि अधिक नहीं है तथापि इतना कम भी नहीं है कि उसकी उपेक्षा की जा सके, निस्सन्देह उनमें उत्तम काव्य रचना के सभी गुण और विशेषतायें विद्यमान हैं ।

क्षेमेन्द्र को आचार्य कोटि में स्थापित करने वाली उनकी तीन रचनायें ही हैं, जिनमें 1. औचित्यविचारचर्चा, 2. कविकण्ठाभरण, ये दो रचना ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं । तीसरी "सुवृत्त-तिलक" यद्यपि उपयोगिता की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है तथापि लाक्षणिक दृष्टि से उसका कोई मौलिक महत्व नहीं है ।

---

1. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास —पी० वी० काणे, पृ० 329

उपर्युक्त विवरण के अनुसार कवित्व और आचार्यत्व दोनों दृष्टियों से महनीय इस महान् कृती पुरुष का उत्तरवर्ती कवियों तथा आचार्यों ने कितना एवं किस रूप में अनुगमन किया ? इस बात की खोज करने जब चलते हैं तो हमें एक विचित्र सी स्थिति का सामना करना पड़ता है। क्षेमेन्द्र जैसे महान् कवि एवं साहित्यकार ने अपने पीछे कोई अनुगमनीय प्रभाव न छोड़ा हो, यह भी सम्भव नहीं दिखाई पड़ता और उनके उत्तरवर्ती जितने भी आचार्य ज्ञात एवम् प्रसिद्ध हैं, उनकी कृतियों में क्षेमेन्द्र का कोई प्रभाव भी स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होता है। क्षेमेन्द्र के उत्तरवर्ती सर्वाधिक प्रसिद्ध एवम् समादृत आचार्यों में जो नाम गिने जाते हैं, वे हैं—1. मम्मट 2. जयदेव, 3. अप्पयदीक्षित, 4. कविराज विश्वनाथ और 5. पण्डितराज जगन्नाथ। इन आचार्यों के ग्रन्थों का संस्कृत-जगत् में अत्यधिक सम्मान है। अपने उद्गम काल से आज तक निरन्तर इनके ग्रन्थ पठन-पाठन का विषय बने हुए हैं। इनके अतिरिक्त रुय्यक, वाग्भट 1, वाग्भट 2, हेमचन्द्र, धनञ्जय, रामचन्द्र-गुणचन्द्र एवम् शारदातनय आदि अपेक्षाकृत कम महत्व के परन्तु प्रसिद्ध आचार्य भी क्षेमेन्द्र के उत्तरवर्ती ग्रन्थकार हुए हैं, जिनकी रचनायें भी पर्याप्त मात्रा में अध्ययन, आलोचन, प्रत्यालोचन का विषय रही हैं। परन्तु आश्चर्य की बात है कि क्षेमेन्द्र के विषय में इनमें से किसी ने भी अपने ग्रन्थ में कोई शब्द नहीं लिखा है। हम यह कहने में असमर्थ है कि क्षेमेन्द्र के पश्चात् उनके काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का समर्थन या अनुगमन अथवा खण्डन किसी आचार्य ने किस रूप में और कितनी मात्रा में किया है ?

बात वास्तव में यह है कि कोई ग्रन्थकार जिस विषय को लेकर रचना करता है, उस विषय पर ही वह अपने पूर्ववर्ती आचार्य के विचारों का परिशीलन किया करता है, यदि पूर्ववर्ती विचार उसके अनुरूप होते हैं, तब वह उनका अनुगमन कर उसमें परिष्कार या विस्तार किया करता है, और यदि वे उसकी दृष्टि में दोषयुक्त हैं तो वह उनका खण्डन कर देता है। क्षेमेन्द्र के उत्तरवर्ती आचार्य—जिनका कि हमने ऊपर उल्लेख किया है उनमें से किसी ने भी उन विषयों को अपनी ग्रन्थ रचना का विषय नहीं बनाया, जिन विषयों को ग्रहण कर क्षेमेन्द्र ने अपने वे ग्रन्थ लिखे जिनके कारण उन्हें (क्षेमेन्द्र को) आचार्य कोटि में प्रवेश प्राप्त हुआ। हमारा संकेत क्षेमेन्द्र की दो प्रमुख रचनाओं की ओर है। 1. औचित्यविचारचर्चा और 2. कविकण्ठाभरण। ये ही वे दो रचनायें हैं, जिनके आधार पर क्षेमेन्द्र को आचार्य पद प्राप्त हुआ है। इनमें औ० वि० चर्चा का प्रतिपाद्य विषय है—औचित्य। इस औचित्य का प्रत्येक ग्रन्थकार ने समादर किया है। कोई भी ग्रन्थकार इसके महत्व से इन्कार करता उपलब्ध नहीं होता। प्रत्येक प्रकार के विचार का आधार ही औचित्य ही है। कोई भी अनुचित बात किसी को ग्राह्य नहीं हो सकती। हम औचित्य-सम्बन्धी अध्याय में विस्तार से यह स्पष्ट कर चुके हैं कि औचित्य नाम का तत्व

बुद्धि का विषय अवश्य है, परन्तु वह प्रत्येक जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया में रहने वाला सामान्य धर्म है, जिसे किसी वस्तुविशेष या क्रियाविशेष का धर्म नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार आकाश, काल और दिशा प्रत्येक कार्य के कारण होने से ही किसी के भी कारण नही माने जाते हैं। उसी प्रकार औचित्य भी सबका आधार होने से किसी का भी आधार नहीं कहा जा सकता है। हम देखते हैं कि बिना आकाश के घट निष्पन्न नहीं हो सकता है। यही बात काल और दिशा की भी है, परन्तु कोई भी बुद्धिमान् आकाशादि को घट का कारण नहीं बताता। पूछने पर वह मिट्टी, कुम्हार और उसके चक्रचीवर आदि को ही घट का कारण बताता है। यही बात औचित्य की भी है। वह तो आकाशादि साधारण कारणों के समान प्रत्येक काव्यांग में रहने वाला एक व्यापक तत्व है, उसे रस का या काव्य का आत्मा नहीं कहा जा सकता। जो सभी का आत्मा हो, उसे किसी व्यक्ति विशेष का आत्मा कहना किसे उचित प्रतीत होगा। क्या इसमें स्वयम् कोई औचित्य है ? यही कारण है कि क्षेमेन्द्र के इस औचित्य-सिद्धान्त का किसी भी आचार्य द्वारा अनुगमन या खण्डन नहीं किया गया है। औचित्य की रक्षा एक अनिवार्य विषय है, सर्वसाधारण विषय है, उसे क्षेमेन्द्र के नाम के साथ जोड़कर कोई ग्रन्थकार क्षेमेन्द्र का मण्डन या खण्डन करने में प्रवृत्त भला क्यों होता ?

तब क्या क्षेमेन्द्र द्वारा प्रतिपादित एवं प्रतिष्ठापित औचित्य-सिद्धान्त क्षेमेन्द्र के साथ ही अस्त हो गया ? नहीं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। जैसा कि हम अभी कह चुके हैं औचित्य तत्व तो प्रत्येक काव्यांग में रहने वाला एक अनिवार्य धर्म है, उसकी उपेक्षा कोई भी ग्रन्थाकार कैसे कर सकता है। क्षेमेन्द्र के उत्तरभावी सभी आचार्यों ने सर्वत्र औचित्य का न केवल ध्यान रखा है' उसके महत्व को पूरी तरह स्वीकार किया है।

मम्मट का औचित्य स्वीकार

क्षेमेन्द्र के उत्तरभावी वाग्देवतावतार मम्मट की निम्न कारिका पर दृष्टि डालिये—

वक्तृ-वाच्य-प्रबन्धानाम् औचित्येन क्वचित् क्वचित्।
रचना-वृत्ति-वर्णानाम् अन्यथात्वमपीष्यते ।[1]

उक्त कारिका में रचना, वृत्ति और वर्णों का अन्यथाभाव वक्ता आदि के औचित्य पर ही आधारित स्वीकार किया गया है। आचार्य ने वक्ता आदि के औचित्य का निदर्शन करने के पश्चात् अन्त में जो "एवम् अन्यदपि औचित्यम् अनुसर्तव्यम्" कहा है, वह सर्वत्र औचित्य के स्वीकार का स्पष्ट प्रमाण है।

इसके अतिरिक्त रसाभास तथा भावाभास आदि का मूल हेतु औचित्य को

---

1. काव्यप्रकाश 8/77

बताकर आचार्य मम्मट ने रसों और भावों की सत्ता एवम् प्रतीति में औचित्य की प्रतिष्ठा पर पक्की मुहर लगा दी है। उनके अनुसार रसाभास और भावाभासों का जन्म अनौचित्य से ही होता है:—

"तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः।"[1]

इस प्रकार औचित्य का अनुसरण तथा औचित्य का प्रतिसरण मम्मट को कितना अभीष्ट है, यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है।

वाग्भट प्रथम

वाग्भट प्रथम ने अपने "वाग्भटालंकार" में ग्राम्य-दोष का लक्षण औचित्य विरोध को आधार मानकर ही किया है वे, जो जहाँ उचित नहीं है, उसे ही ग्राम्य कहते हैं:—

यद् यत्रानुचितं तद्धि तत्र ग्राम्यं स्मृतं यथा।
छादयित्वा सुरान् पुष्पैः पुरो धायं क्षिपाम्यहम्।[2]

जयदेव

चन्द्रालोककार जयदेव ने अनुचितार्थ नामक दोष को स्वीकार किया है, वे किसी बात के उचित न होने को अनुचितार्थ मानते हैं—

"व्यनक्त्यनुचितार्थं यत् पदमाहुस्तदेव तत्"[3]

उन्होंने किसी भी ऐसे वर्ण के प्रयोग को जो प्रकृत रस या भाव के उचित न हो, प्रतिकूलाक्षर नाम का रसदोष कहा है—

"रसाद्यनुचिते वर्णे प्रतिकूलाक्षरं विदुः"[4]

वे अनौचित्य को एक स्वतन्त्र दोष स्वीकार करते हैं—

"अनौचित्यं कीर्तिलतां तरंगयति यः सदा"[5]

जयदेव ने जिस प्रकार अनौचित्य को काव्य का दोष कहा है, उसी प्रकार औचित्य की वे काव्य के प्रमुख गुणों में गणना करते हैं—

"विचित्रलक्षणो न्यासो निर्वाहः प्रौढ़िरौचिती"[6]

हेमचन्द्र

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने मम्मट का अनुकरण करते हुए वक्ता, वाच्य और प्रबन्ध के औचित्य को आधार मानकर वर्ण आदि के अन्यथाभाव को उचित ठहराया है—

---

1. काव्यप्रकास 4/49
2. वाग्भटालङ्कार 2/15
3. चन्द्रालोक 2/5
4. चन्द्रलोक 2/15
5. चन्द्रालोक 2/34
6. चन्द्रालोक 4/12

"वक्तृ-वाच्य-प्रबन्धौचित्याद् वर्णादीनाम् अन्यथात्वम् अपि"[1]

अपनी इसी सूत्र की वृति में उन्होंने मम्मट की भाँति यह भी कह दिया है कि—

"एवम् अन्यदपि औचित्यम् अनुसर्तव्यम्"[2]

कविराज विश्वनाथ

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का मम्मटोत्तरवर्ती आचार्यों में महत्वपूर्ण स्थान है। उनका साहित्यदर्पण नामक ग्रन्थ दृश्य और श्रव्य काव्यों की समस्त विधाओं की विस्तृत विवेचना करने वाला आकर ग्रन्थ माना जाता है। यह ग्रन्थ सम्पूर्ण भारत में अध्ययन अध्यापन का विषय बना हुआ है। विश्वनाथ दाक्षिणात्य तैलंग ब्राह्मण थे तथापि इनका साहित्यदर्पण उत्तर भारत में भी सर्वाधिक मान्य हुआ। विश्वनाथ ने रसों और रस-दोषों के विवेचन में औचित्य को उसी प्रकार महत्व दिया है, जिस प्रकार मम्मट ने दिया था। रसाभास और भावाभास में ये भी औचित्य के त्याग को ही कारण मानते हैं। इन्होंने रसाभास और भावाभास का लक्षण अनौचित्य से रस और भाव की प्रवृति को ही स्वीकार किया है—

"अनौचित्यप्रवृतत्वे आभासो रसभावयोः"[3]

अर्थात् औचित्य के त्याग से ही रसाभास और भावाभास उत्पन्न होते हैं। औचित्य के त्याग का दिग्दर्शन कराते हुए विश्वनाथ ने शृंगार, वीर, रौद्र, शान्त, हास्य और भयानक में औचित्य का संक्षेप में निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

शृंगार में अनौचित्य—तब उत्पन्न होता है जब रीति की स्थिति उपनायक में, मुनिपत्नी या गुरुपत्नी में अथवा बहुत से नायकों में प्रदर्शित की गई हो। नायक और नायिका में से किसी में भी रति न रहना भी अनौचित्य का प्रवर्तक होता है। इसी प्रकार रति यदि प्रतिनायक-निष्ठ निरूपित की जाती है, तब भी शृंगार में अनौचित्य उत्पन्न हो जाता है।

—रौद्र में अनौचित्य—तब होता है जब गुरु, माता, पिता आदि पूज्य व्यक्तियों पर क्रोध प्रदर्शित किया जाता है।

—वीर में अनौचित्य—तब होता है जब वीर का स्थायी भाव उत्साह ब्रह्म-हत्या आदि अनुचित कर्म करने के प्रति चित्रित किया जाये अथवा अधम पात्र के आश्रित उत्साह निरूपित किया जाये।

—शान्त में अनौचित्य—वहाँ होता है, जहाँ शान्त के स्थायी भाव शम (वैराग्य) को हीन व्यक्ति में निरूपित किया जाता है।

---

1. काव्यानुसाशन 4/8
2. वहीं
1. साहित्य दर्पण 3/247

—हास्य रस में अनौचित्य—उस स्थिति में माना जाता है, जब हास्य का आलम्बन किसी गुरु आदि पूज्य व्यक्ति को बना दिया जाता है। अर्थात् गुरु की, पिता की, आचार्य की हँसी उड़ाना।

—भयानक रस में अनौचित्य—भी उसी अवस्था में उपस्थित होता है, जब किसी उत्तम पात्र में भय का होना चित्रित किया जाता है।

दोषों की गणना करते हुए विश्वनाथ ने अनुचितार्थता नामक एक स्वतन्त्र दोष को स्वीकृत किया है, जिसके अनुसार "शूरा अमरतां यान्ति पशुभूता रणाध्वरे" में पशु पद कातर्य की अभिव्यक्ति करने के कारण अनुचितार्थ है।

इसके अतिरिक्त रस-दोषों का निदर्शन करते हुए विश्वनाथ ने अनौचित्य को ही रस दोष का मुख्य कारण प्रतिपादित किया है—

"अथानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता मताः"[1]

यह कारिकांश स्पष्ट प्रमाणित करता है कि रसदोषों की स्थिति अनौचित्य के कारण ही विश्वनाथ को स्वीकार्य है। रसदोष ही नहीं, काव्यगत समस्त दोषों का मूल विश्वनाथ के मत में अनौचित्य ही है। यदि अनौचित्य नहीं है तो कोई भी दोष नहीं रहता और औचित्य होने पर दोष भी गुण बन जाता हैं। विश्वनाथ की उक्त मान्यता दोष-प्रकरण में उल्लिखित निम्नकारिका से स्पष्ट प्रमाणित है—

"अन्येषामपि दोषाणाम् इत्यौचित्यान्मनीषिभिः"
अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता ।।[2]

पण्डितराज जगन्नाथ

भरत, भामह आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्ताचार्य के पश्चात् साहित्याचार्यों में पण्डितराज का सर्वोपरि महत्व माना जाता है। उनका "रस-गंगाधर" साहित्य-शास्त्र का मूर्धन्य ग्रन्थ है। रसगंगाधर में पण्डितराज ने अनौचित्य को ही रसभंग का मूल कारण घोषित किया है

"अनौचित्यं तु रसभंगहेतुत्वात् परिहरणीयम्"।[3]

इसके अतिरिक्त रसाभास का लक्षण तथा तत्सम्बन्धी उदाहरण एवम् तद्-विषयक मीमांसा का आधार यह अनौचित्य ही है। यहाँ रसाभास के लक्षण को उदधृत करना ही पर्याप्त है—

"अनुचित विभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम्"।[4]

---

1. साहित्य-दर्पण—7
2. वहीं 7/603।
3. रसगंगाधर। आनन पृ० 194
4. वहीं। आनन पृ० 335

इस प्रकार क्षेमेन्द्र के उत्तरवर्ती सभी प्रमुख आचार्य औचित्य के अनिवार्य महत्व को स्वीकार करते दिखाई देते हैं, परन्तु औचित्य की इस स्वीकृति को हम क्षेमेन्द्र के औचित्य-सिद्धान्त का प्रभाव नहीं कह सकते। इस दिशा में आचार्य आनन्दवर्धन की—

"अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभंगस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ।।[1]

यह बहुविश्रुत कारिका ही वास्तव में प्रकाश-स्तम्भ है। क्षेमेन्द्र के औचित्य-सिद्धान्त को हम उसी की एक प्रखर किरण कह सकते हैं, जिसका प्रकाश भी सहसा नकारा नहीं जा सकता है।

पाश्चात्य विद्वान् और औचित्य

अब हम औचित्य के सिद्धान्त के सन्दर्भ में पाश्चात्य विद्वानों और विचारकों पर भी एक दृष्टि डालना उचित समझते हैं। कभी-2 हमारा प्रभाव हमारे घर में न पड़कर बाहर पड़ता हुआ प्राय: दिखाई देता है। उदाहरण के लिये भारत का भक्ति-दर्शन आज भारत की अपेक्षा अमेरिका एवम् यूरोप के देशों को अधिक प्रभावित कर रहा है। यही बात कई भारतीय वस्तुओं की भी है, जो भारत की अपेक्षा भारतेतर देशों में अधिक पसन्द की जाती हैं और वहाँ के लोगों के मन को अत्यधिक प्रभावित करती हैं। अवश्य ही क्षेमेन्द्र द्वारा विवेचित औचित्य-सिद्धान्त भारत के बाहर—विशेषत: ग्रीक-समीक्षा शास्त्र में प्रतिध्वनित हुआ दिखाई देता है। ग्रीक-समीक्षा के प्रमुख कर्णधार अरस्तु ने अपनी "पोइटिक्स" नामक प्रसिद्ध पुस्तक में नाटककार के कर्त्तव्यों का निर्धारण करते हुए जो महत्वपूर्ण निर्देश दिये हैं, वे फलत: नाटकीय वस्तु और घटना सम्बन्धी औचित्य के निर्धारण ही ठहरते हैं।[2] पोइटिक्स के पृष्ठ 61 पर अरस्तु ने नाटककर्त्ता को जो "एक्चुअल सीन्स" और पोसेबिल" घटनाओं के विधान की सलाह दी है, उसे हम दृश्य सम्बन्धी बाह्य औचित्य विषयक भारतीय आलोचना का पाश्चात्यीकरण ही समझते हैं। अनेक लोग इसे ग्रीक समीक्षकों की मौलिक उद्भावना भी कह सकते हैं परन्तु ईसा की स्थिति से कई सौ वर्ष पूर्व लिखे गये भरत मुनि के नाट्यशास्त्र का सर्वमान्य प्रभाव नाटकीय तत्वों के भारतीय निर्यात का प्रबल साक्षी रहते हुए औचित्य के निर्यात को भी नकारा नहीं जा सकता।

---

1. ध्वन्यालोक।

2. पोइटिक्स पृष्ठ 61/62।

The poet should remember to put the actual scenes as far as possible before his eyes......he will devise what is appropriate, and be least likely to overlook incongruates.

इसी प्रसंग में अरस्तु (Aristotle) ने मुख्य वस्तु के साथ सहायक कथावस्तु का सम्बन्ध स्वीकार किया है जो भारतीय नाट्य की द्विविध कथावस्तु के अधिकारिक तथा प्रासंगिक नामक भेदों का पाश्चात्य स्वरूप ही हैं। अरस्तु ने जिस "आलरेडीमेड" या कल्पित "स्टोरी" के साथ "एपीसोड्स" अथवा "एक्ससरी इन्सीडेन्ट्स" की पूर्ण एकता का प्रतिपादन जोरदार ढंग से पोइटिक्स में किया है।[1] वह अधिकारिक और प्रासंगिक कथावस्तु की घटनाओं का ऐक्य है, जिस भरत के बहुत बाद दशरूपककार धनंजय ने यह कहकर स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया है कि निर्वहण सन्धि से लेकर विमर्श तक समस्त सन्धियों का ऐकार्थ्य नाटकीय-विधान का साफल्य है।[2] हम इसे "घटनौचित्य" का संकेत मानते हैं। मुख-सन्धि से विमर्श-सन्धि तक फैले हुए समस्त घटनाओं का ऐक्य भरत से लेकर विश्वनाथ तक सभी नाट्याचार्यों ने प्रतिपादित किया है, अरस्तु के "युनिटी ऑफ प्लाट" और भारतीय आचार्यों के मुखसन्ध्यादिगत बीजों के एकार्थयोजन को घटनौचित्य के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार अरस्तु की नाट्यमीमांसा में हमे औचित्य की स्थिति का स्वीकार स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

इसके अतिरिक्त अरस्तु ने विशेषणौचित्य, विषयौचित्य, रूपकौचित्य आदि के लिये भी स्पष्ट निर्देश दिये हैं। उनकी सम्मति में प्रकृत अर्थ के पोषक विशेषण का प्रयोग ही वाक्य में उचित होता है। उचित विशेषण ही वस्तु के स्वभाव की पुष्टि करने के कारण वास्तविक होता है, अन्यथा मिथ्यात्व की प्रतीति कराता हुआ वक्ता की जड़ता का प्रत्यायक हो जाता है। ग्रीष्म की सरिता को क्षीणकाय तथा वर्षाॠतु की सरिता को उद्दामरया कहने से ही सरिता की वस्तुस्थिति परिपुष्ट हो सकती है, अन्यथा नहीं। क्षेमेन्द्र ने इसे ही विशेषणौचित्य कहा है।

ऊपर जिस पोसेबिल घटना को हम अरस्तु के कथन में देख आये हैं, उसका अन्तर्भाव भी क्षेमेन्द्र के क्रियौचित्य अथवा स्वभावौचित्य में किया जा सकता है। कोई भी घटना क्रिया या स्वभाव से भिन्न नहीं होती। अपनी दूसरी पुस्तक "रेटारिक" में अरस्तु ने गद्य काव्य में रूपक विधान के विषय में बहुत सावधान रहने पर जोर दिया है। उनकी राय में गद्य को उत्कृष्ट बनाने का प्रमुख साधन रूपक का गुम्फन

---

1. His story, again, whether already made or of his own making, he should first simplify and reduce to a universal form, before proceeding to lengthen it out by the insertion of episodes ...the next thing is to work in episodes or accessory incidents, one must mind, however that the episodes are appropriate.

2. बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्॥ —दशरूपक 1/48

ही है, जबकि पद्य को सुन्दर और आकर्षक बनाने के अनेक साधन हैं। अरस्तु के इस विचार में हमें अटपटापान दिखाई देता है। भारतीय दृष्टि से गद्य का उत्कर्ष उपमा पर अधिक आश्रित है, रूपक पर नहीं। रूपक की उत्कृष्ट छटा पद्य को जितना रमणीय बनाने में सहायक है, उतना गद्य को नहीं। अरस्तु ने "रिटारिक" के पृष्ठ 232 पर सजातीय उपमानोपमेय भाव पर जो विशेष जोर दिया है।[1] वह रूपक और उपमा दोनों में समान रूप से आवश्यक है। अरस्तु का अभिप्राय वस्तुतः उपमानोपमेयभाव में साधर्म्य और साजात्य से ही प्रतीत होता है, जिसे हम क्षेमेन्द्र अलंकारौचित्य में अन्तर्भूत कर सकते हैं।

"रेटारिक" के पृष्ठ 235 पर भाषण अथवा लेखन में शैली के विषयानुकूल होने की जो बात कही गई है, जिसके अनुसार उदात्त विषय की रचना को उदात्त एवम् साधारण विषय की रचना शैली को साधारण होना चाहिए, वह स्पष्ट रूप से क्षेमेन्द्र द्वारा निर्दिष्ट विषयौचित्य ही है।[2]

अरस्तु ने "रेटारिक" के तृतीय भाग के सातवें अध्याय[3] में वक्ता एवम् कवि के लिए भाव तथा भाषा के सामञ्जस्य को सफलता का परम रहस्य प्रतिपादित किया है, अतएव रसानुकूल भाषा के प्रयोग को अत्यावश्यक एवम् उचिततम बताया है, उसे हम क्षेमेन्द्र के रसौचित्य तथा वाक्यौचित्य से भिन्न नहीं समझते।

---

1. If it is your wish to adorn a subject, (Poetics, p. 61, 72) the proper means is to borrow your metaphor from things superior to it which fall under the same germs, if to disparage it, from such things as are inferior. —(Rhetoric P. 232)

2. The Means of expressing emotions, if the matter is an insult, is the language of anger, if it is impiety of foulness, that of indignation and of a shrinking from the very mention of such a thing : if it is something laudable, that of admiration; if something pitiable that of depresstion so on.

—(Rhetoric, Book III Ch. 7 p. 246)

3. The appropriateness of language is one means of giving an air of probability to the case, as the minds of the audience draw wrong inference of the speaker's truthfulness from the similarity of their own feelings in similar circumstances, and thus led to suppose that the facts are as he represents them, then if this is not really so. — (Ibid)

इस प्रकार अरस्तु—जिन्हें हम पाश्चात्य समीक्षा का भरतमुनि कहना पसन्द करेंगे—औचित्य नामक महान् तत्व के महान् अन्वेषक हैं। उनकी औचित्य-विषयक-मीमांसा को हमने क्षेमेन्द्र के औचित्य-विचार के भीतर देखने का जो प्रयत्न किया है। उससे हम पाश्चात्य एवम् भारतीय समीक्षकों में औचित्य दृष्टि की व्याप्ति और समानता ही दिखाना चाहते हैं, किसी एक का दूसरे पर प्रभाव प्रदर्शित करना हमारा उद्देश्य नहीं है। औचित्य-विचार की पौरस्त्य और पाश्चात्य व्यापकता का प्रदर्शन ही हमारा ध्येय है, जो क्षेमेन्द्र की औचित्य-सिद्धान्त की व्याप्ति का ही समर्थक है।

लांगिनस

पाश्चात्य आलोचकों में लांगिनस का अपना विशिष्ट स्थान है। उनका ग्रन्थ "On the Sublime" पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र का मौलिक ग्रन्थ माना जाता है। लांगिनस के अनुसार कविता में भव्यता सर्वाधिक चमत्कारी तत्व है, जिसको उत्पन्न करने के विविध साधनों का विवेचन उन्होंने अपने उक्त ग्रन्थ में निपुणता पूर्वक किया है। भव्यता उत्पन्न करने के अनेक साधनों को विवृत करते हुए लांगिनस ने अलंकार विधान को काव्य में भव्यता का अत्यधिक चमत्कारी हेतु माना है। उनका अलंकार-विधान भव्यता के साथ ऐसा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रखने वाला है कि उसके बिना भव्यता और भव्यता के बिना अलंकार-विधान काव्य को चमत्कारी नहीं बना सकता। यदि अलंकार भव्यता को बढ़ाता है तो भव्यता अलंकार के चमत्कार को बढ़ाती है।[1] लांगिनस की यह भव्यता हमारी राय में पण्डित राज जगन्नाथ की वही रमणीयता है, जिसे उन्होंने (पण्डितराज ने) लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता" कहा है और उसे (लोकोत्तरता को) चमत्कारिता का पर्याय माना है।[2] निश्चय ही लांगिनस उस भव्यता का प्रतिपादन पाश्चात्य समीक्षा में बहुत पहले कर चुके थे, जिसका अंगीकार चमत्कृति के नाम से पण्डितराज ने बहुत बाद में भारतीय काव्यमीमांसा में किया है। पण्डितराज की उक्ति से लांगिनस की मान्यता भारतीय दृष्टि से प्रामाणिक कही जा सकती है। अलंकार को चमत्कार का साधन मानना भी लांगिनस का भारतीय मान्यता के सर्वथा अनुरूप है। भारतीय मीमांसक भी चमत्कार को ही अलंकार स्वीकार करते हैं—"चमत्कार एवालंकारः" "धर्मदत्त" ने तो रस में भी

---

1. लांगिनस...Some how or other figures naturally fight on the side of sublimity and in turn receive a wonderful reinforcement from it.

2. रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायः अनुभवसाक्षिको जातिविशेषः। रसगंगाधर। आनन, काव्यलक्षण।

चमत्कार को ही सार कहा है।[1]

लांगिनस ने अलंकार को चमत्कार का साधन मानते हुए अलंकार की स्वाभाविक स्थिति पर बहुत जोर दिया है। वे उसी अलंकार को काव्य में भव्यता उत्पन्न करने वाला मानते हैं, जिसकी पृथक् सत्ता काव्य-प्रवाह में प्रतीत न हो। उनकी सम्मति में वही अलंकार काव्य में चमत्कारजनक एवं शोभाधायक होता है, जिसकी अलंकारता पाठक की बुद्धि में प्रविष्ट नहीं होती।[2] लांगिनस का यह विचार बहुत ही मार्मिक है। वास्तव में भारतीय मर्मज्ञों की भी अलंकार विषयक चारुता का मूल वही है, जो लांगिनस का है। भारतीय आचार्यों में सर्वाधिक काव्य-विषयक चारुता के पारखी ध्वनिकार आनन्दवर्धन ही हैं, जिनकी सूक्ष्म तथा मार्मिक समीक्षा समस्त भारतीय-काव्य-समीक्षा का उपजीव्य बनने में समर्थ हुई। आनन्दवर्धन और उनके भाष्यकार अभिनवगुप्तपाद की स्वीकृतियों और निष्कर्षों पर ही सम्पूर्ण संस्कृत-समीक्षा अचल स्थित दिखाई देती है। आचार्य आनन्दवर्धन के अलंकार-विषयक-विवेचन में हम लांगिनस के उस अलंकार सम्बन्धी अपृथक्सत्व के स्पष्ट दर्शन करते हैं, जो वास्तव में काव्य-कलेवर में चमत्कारी और उपादेय हो सकता है। आनन्दवर्धन काव्य में अलंकार की सत्ता को तभी उचित और चमत्कारी मानते हैं, जबकि उसके लिए पृथक् यत्न किया गया प्रतीत न हो।[3] इस विषय में निश्चित रूप से लांगिनस और आनन्दवर्धन एक ही प्रकार के अलंकार-विषयक-विचार के औचित्य का समर्थन करते हैं। क्षेमेन्द्र ने इसे अलंकारौचित्य कहा है।

लांगिनस ने अपने ग्रन्थ में शब्द प्रयोग के औचित्य पर भी विशेष जोर दिया है। वास्तव में उचित शब्द का प्रयोग ही काव्यार्थ को आकर्षक एवं आह्लादक बनाने का प्रमुख साधन है। विरहिणी को तन्वी और संयोगिनी को सुन्दरी या सुभगा कहने पर ही काव्य में सरसता पुष्ट होती है। इसके विपरीत संयोगिनी को तन्वी अथवा कृशगात्री और विरहिणी को सुन्दरी या सुभगा कहने से काव्य की सुभगता ही लुप्त हो जाती है। लांगिनस का यह कथन वस्तुतः बहुत ही मार्मिक है कि उचित एवं ब्यूटीफुल (सुन्दर) शब्द का प्रयोग ही अर्थ की वास्तविक लाइट (प्रकाश) है।[4] स्पष्ट है कि वे शब्दौचित्य के महत्व को अत्यधिक मात्रा में स्वीकार करते

---

1. रसेसारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।

—सा० द० 3/पृ० 60

2. A figure looks best when it escapes one's notice that is a figure, Longinous, on the sublime. XVII.

3. अपृथग्यत्न निर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः। —ध्वन्या० 2/17

4. A figure looks best when it escapes one's notice that is a figure—Longinous, on the Sublime. XVII.

है ।[1] उनकी राय में शब्द का उचित प्रयोग ही काव्य में भव्यता का उत्पादक है, अन्य समस्त गुण उचित शब्द प्रयोग से स्वयमेव काव्य में उद्भूत हो जाते हैं ।[2] क्षेमेन्द्र इसे ही पदौचित्य कहते हैं ।[3]

होरेस

होरेस पाश्चात्य-समीक्षा के प्रचीनतम आचार्य हैं । इनकी स्थिति ईसा से भी पूर्व की मानी जाती है । ये लैटिन भाषा के लोकप्रिय कवि थे । इन्होंने काव्यकला को विषय बनाकर "आर्ट आफ पोइटरी" नामक एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में कुछ काव्यकला सम्बन्धी सिद्धान्त लैटिन भाषा में लिखे हैं—ग्रन्थ काव्य-सम्बन्धी सम्पूर्ण आलोचना उपस्थित नहीं करता तथापि यूरोप के मध्यकालीन कवियों पर इसका बहुत अधिक प्रभाव आंका जाता है । इसीलिये इसे अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है । इसके कुछ सिद्धान्त बहुत ही महत्वपूर्ण हैं । होरेस लैटिन भाषा के नितान्त लोकप्रिय कवि थे । रोम की जनता में इनका ऐसा ही आदर है जैसाकि भारतीय जनता में कालिदास का । ये थे भी कालिदास के समकालीन ही । एक उच्चकोटि का कवि होने के नाते होरेस ने काव्य में औचित्य के महत्व को खूब समझा है और अन्य कवियों को उसके अनुपालन का उपदेश दिया है । इन्होंने तीन महत्वपूर्ण बिन्दुओं की ओर विशेष रूप से कवियों का ध्यान केन्द्रित किया है । ये तीन बिन्दु हैं—(1) ग्रीक आदर्शों का अनुसरण, (2) पात्रों के स्वरूप की रक्षा, (3) औचित्य का संरक्षण । होरेस के उक्त तीनों निर्देश भारतीय काव्यालोचन में निरूढ़ दिखाई देते हैं । उन्होंने कवियों को जो ग्रीक आदर्शों के अनुसरण की सलाह दी है, वह ऐसा व्यापक परामर्श है, जो सभी देशों के कवियों पर लागू होता है । अपने देश के आदर्शों का अनुसरण प्रत्येक कवि का राष्ट्रीय कर्त्तव्य होना चाहिये । अत: होरेस ने ग्रीक आदर्शों के अनुसरण की सलाह ग्रीक कवियों को देकर मानों प्रत्येक कवि को एकदेशानुमत्या अपने देश के आदर्श का

---

1. For in fact beautiful words are the very peculair light of thought.

2. High Language is not for indiscriminate use; for to put great and dignified words on petty trifles would be like putting a tragic mask on a body...Longinus.

3. The selection of proper and maginificent words has a wonderfully seductive and caressing effect upon regards. that all speakers and writers make it their chief study...is as much as it confers upon literature, as it were on the fairest structure, grandeur, beauty,light, strength, force and what not in as much as it puts, as it were a living voice in words.

अनुसरण करने की सलाह दी है। रामायण, महाभारत और रघुवंश आदि महाकाव्यों में बाल्मीकि व्यास और कालिदास द्वारा किया गया भारतीय आदर्शों का अनुपालन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। हमारे बाल्मीकि आदि महाकवियों द्वारा किये गये भारतीय आदर्शों का अनुसरण हम रामायण आदि महाकाव्यों में नहीं देखते क्या? होरेस का यह उपदेश वस्तुत: बहुत ही उचित है, जिसे हम देशौचित्य या आदर्शौचित्य कह सकते हैं। पात्रों के स्वरूप की रक्षा का उपदेश भी होरेस का भारतीय आलोचकों द्वारा निर्देशित प्रकृत्यौचित्य से भिन्न नहीं है। भरत से लेकर कविराज विश्वनाथ तक सभी भारतीय काव्यमनीषियों ने दिव्य, अदिव्य एवं दिव्यादिव्य तथा धीरोदात्त, धीरललित, धीर-प्रशान्त और धीरोद्धत आदि भेदों में विभक्त पात्रों के स्वरूपोचित-चरित्र-निरूपण पर विशेष जोर दिया है।[1] भारतीय आलोचकों ने तो यहाँ तक कहा है कि कोई कोई घटना ऐतिहासिक दृष्टि से यदि सत्य भी है परन्तु पात्र के धीरोदातादि स्वरूप के विरुद्ध है तो उसे काव्य में स्थान नहीं देना चाहिये अथवा रूपान्तरित अर्थात् अन्य रूप में परिवर्तित कर देना चाहिये।[2] मम्मट, विश्वनाथ आदि ने पात्र के स्वरूप के विरुद्ध वर्णन को प्रकृतिविपर्यय दोष माना है। आचार्य मम्मट ने औचित्य की साक्षी देते हुए देश, काल, वय और जाति आदि की दृष्टि से जैसा वेष और व्यवहार उचित हो वैसा ही उपनिबद्ध करने की कवियों को जो सलाह दी है।[2] वह होरेस से सर्वथा मिलती है। इस प्रकार होरेस का देशौचित्य भारतीय और पात्रौचित्य भारतीय आचार्यों द्वारा अक्षरश: स्वीकृत दिखाई देता है। क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्य-चर्चा में इसे ही सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित किया है। होरेस ने जिस औचित्य की रक्षा करने का उपदेश अपने कवियों को दिया है, उसके तीन मुख्य बिन्दु निर्दिष्ट किये हैं—

1. अभिनयौचित्य,
2. घटनौचित्य,
3. वृत्तौचित्य।

1. अभिनयौचित्य के सम्बन्ध में होरेस का कथन बड़े महत्व का है। अभिनय की सफलता उसकी यथार्थता पर निर्भर करती है। अभिनय एक स्वतन्त्र कला है, जो

---

1. प्रकृतयो दिव्या, अदिव्या, दिव्यादिव्याश्च। तेषां धीरो-दात्तादिता, तेषामपि उत्तममध्यमाधमत्वात् तेषु न यो यथाभूतस्तस्य अयथावर्णने प्रकृति-विपर्ययो दोषः।
—सा० द० 7/577

2. यत् स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा, विरुद्धं तत् परित्याज्यम् अन्यथा वा प्रकल्पयेत्। —सा० द० 6/304

3. एवं देश-काल-वयो-जात्यादीनां वेष व्यवहारादिकम् उचितम् एव निबद्धव्यम्। —का० प्र० 730 पृ० 444

काव्य कला से भिन्न है। इसका कलाकार कवि नहीं, अभिनेता कहा जाता है। जिसे भारतीय भाषा में "नट" कहते हैं। नट की कला ही नाट्य में प्रधान होती है। वही दृश्य है, दर्शक उसी को देखते हैं और आनन्द प्राप्त करते हैं। इस आनन्द का ही नाम रस है, रस की खोज सर्वप्रथम नाट्य में—नाट्यशास्त्र में ही हुई है। स्पष्ट है कि दृश्य काव्यके दृष्टाओं को आनन्द प्रदान करने वाला तत्व नटकर्म अर्थात् अभिनय ही है। अतः होरेस ने अभिनय के औचित्य पर बहुत बल दिया है। उनका मत है कि दुख के अवसर पर नट का मुख मण्डल उदास-रुआसा होना चाहिये और शत्रुओं को डाँटने, धमकी देने के समय उसके चेहरे पर क्रोध की मुद्रा उभरनी चाहिये। इसी प्रकार हास्य प्रसंग से नट के मुख का हँसी से खिल उठना आवश्यक है और गम्भीर अवसर पर उसके मुख की गम्भीरता नितान्त आवश्यक है।[1] यह है होरेस का अभिनयौचित्य। इसकी तुलना हम नाट्यशास्त्र के अष्टम तथा नवम् अध्याय में प्रतिपादित मुख की अवस्थाओं और विषताओं से कर सकते हैं।

होरेस ने वध, बन्धन आदि अनुचित घटनाओं को नाट्य मंच पर अभिनीत करना अनुचित ठहराया है। इस प्रकार अभिनय दर्शकों के हृदय में घृणा ही उत्पन्न करता है, अतः मानसिक सुख के साधन-भूत नाट्य में वध आदि अभिनय वर्जित है।[2] भारतीय नाट्याचार्यों ने भी वध, बन्ध आदि घटनाओं के प्रदर्शन को नाट्य में अनुचित माना है। साहित्यदर्पणकार ने अंक का लक्षण करते हुए नाटक के अंकों में युद्ध, वध, मृत्यु आदि विरसतापादक घटनाओं को वर्जनीय कहा है।[3] क्षेमेन्द्र घटनौचित्य के नाम से इसे सिद्धान्तित करते हैं।

ऐसी अनुचित घटनाओं को यदि सर्वथा छोड़ दिया जायेगा तब क्या नाटकीय कथावस्तु का सन्दर्भ विच्छिन्न या अपूर्ण रहकर वही दोष उत्पन्न नहीं करेगा अर्थात्

---

1. ...Sad words suit a gloomy face, threats suit an angry face. sportive words suit a playful. and serious words a stern brow.
—Horace

2. The theatre proceeds either by action or by narration of action. Things heard effect the soul less vividly than what is put before the faithful eyes and what the spectator administers to himself ; But you will not bring on the stage what ought to be done behind the scenes and you will keep out of sight much which can be presently narrated. Let not media slaughter her sons in public. If you show me anything of this kind I disbelieve it and feel disgust.
—Horace

3. सा० द० पृष्ठ० 394

उसी विरसता को जन्म नहीं देगा, जो इन क्रियाओं के प्रदर्शन से उत्पन्न होगी ? इस प्रश्न का उत्तर भारतीय आचार्यों ने कथावस्तु के "दृश्य और सूच्य" दो भेद मानकर दिया है। जो घटना मंच पर विरसताजनक होने के कारण न दिखाई जाने योग्य हो, उसे नेपथ्य से ही सूचित कर देना चाहिये। वह संसूच्य वस्तु है। जो मंच पर दिखाई जाने योग्य हो वह दृश्य है। दर्पणकार विश्वनाथ वर्जनीय घटनाओं को अर्थोपक्षपेकों द्वारा सूच्य करते हैं।[1] होरेस का भी यही मत है। कथावस्तु के दर्शनीय और अदर्शनीय अर्थात् सूचनीय भेदों का हेतु औचित्य और अनौचित्य ही तो है। होरेस ने छन्दों के प्रयोगौचित्य के विषय में भी बहुत सुलझे हुए विचार उपस्थित किये हैं। ग्रीक-साहित्य में भी भारतीय-साहित्य की भाँति काव्य के अनेक भेद स्वीकार किये गये हैं। वहाँ काव्य के तीन प्रमुख भेद माने गये हैं—(1) महाकाव्य (2) करुणकाव्य, (3) व्यंग्य काव्य। इसी प्रकार नाटक को दो प्रकार का स्वीकार किया गया है—(1) सुखान्त, (2) दुःखान्त। इनके लिए कुछ विशिष्ट छन्दों का निर्धारण भी वहाँ किया गया है। होरेस के अनुसार दुःखान्त नाटकों में हास्योचित छन्दों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये। उनका स्पष्ट मत है कि प्रत्येक छन्द का प्रत्येक अवसर पर प्रयोग उचित नहीं है, अतः जहाँ जैसा अवसर हो वहाँ वैसे ही छन्द प्रयोग करना चाहिये। होरेस की यह वृतविषयक व्यवस्था[2] भारतीय वृतव्यवस्था के सर्वथा अनुकूल है। क्षेमेन्द्र इसे ही वृतौचित्य के आधार पर "सुवृत्ततिलक" में प्रस्तुत करते हैं।

अठाहरवीं शताब्दी के 'महाकवि पोप" ने भी अपने पद्यमय ग्रन्थ—ऐस्से ऑन क्रिटीसिज्म (Essay on Criticism) में विविध रूप से औचित्य का निर्देशन किया है। उनका यह ग्रन्थ मौलिक सिद्धान्त-ग्रन्थ यद्यपि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें प्रायः प्राचीन काव्यसिद्धान्तों को ही संगृहीत किया गया है। तथापि इसमें वर्णनीय अर्थ के अनुसार शब्द प्रयोग पर बहुत जोर दिया गया है। उनका दृढ़ मत है कि वर्ण्यवस्तु तथा उसके प्रतिपादक शब्दों के पूर्ण एवम् उचित सामंजस्य

---

1. सूच्यासार्थोपक्षपेकैर्बुधैः। —सा० द० पृ० 294

2. Metres appropriate to epie. elegiac satiric and other poetry heve been settled once and for all and must not be changed, a comic matter refuses to be set forth in tragic verse and contrariwise even tragic heroes in poverty and exile cast aside their yard long verbiage and their swelling pride of language if they wish to touch the spectators.

होना चाहिये । पोप (Pope) का कथन [1] उसी शब्दौचित्य का दृढ़ीकरण है, जिसका उल्लेख हम अभी लांगिनस के प्रसंग में कर आये हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि पाश्चात्य समीक्षकों ने औचित्य पर कितना अधिक ध्यान दिया है । यद्यपि उन्होंने काव्य की आन्तरिक प्रकृति की दृष्टि से औचित्य की समीक्षा नहीं की और न ही औचित्य को क्षेमेन्द्र की भाँति काव्य का आत्मा या जीवित बताने का प्रयत्न ही उनकी समीक्षा में हमें उपलब्ध होता है, तथापि उन्होंने काव्य के विविध बहिरंग भेदों में जिन अवधेय तत्वों की आवश्यकता एक स्वर से निरूपित की है, वे सब औचित्य के ही विविध रूप हैं । इस प्रकार औचित्य तत्व की काव्य में व्यापकता पौरस्य और पाश्चात्य दोनों दृष्टिकोणों से सिद्ध है।

अब हम हिन्दी काव्य एवम् हिन्दी काव्यशास्त्र में औचित्य की स्थिति की भी समीक्षा करना चाहते हैं । हम यह पहले ही सिद्धान्तित कर चुके हैं कि औचित्य एक ऐसा धर्म है जो सभी उचित वस्तुओं में सामान्य रूप से अवस्थित रहता है। कोई भी उचित क्रिया या व्यवहार ऐसा हो ही नहीं सकता, जिसमें औचित्य अथवा अनौचित्य न देखा जा सकता हो । लोक में जो भी उचित समझा जाता है, उसमें औचित्य और जो अनुचित समझा जाता है, उसमें अनौचित्य रहता ही है। औचित्य को कोई व्यवस्थित धर्म भी हम स्वीकारने को तैयार नहीं हैं। एकही क्रिया एक स्थान में उचित और दूसरे स्थान में अनुचित होती देखी गई है, उदाहरण के लिये जूते और कपड़े पहने, चलते फिरते या खड़े-खड़े भोजन करना उचित नहीं माना जाता परन्तु युद्धरत सैनिक के लिये वैसा करना न केवल अनुचित नहीं समझा जाता अपितु वही उचित माना जाता है। पाश्चात्य सभ्यता में रंगे एक पैन्ट पहनने वाले व्यक्ति का खड़े होकर मूत्र त्याग उचित और धोती धारी भारतीय मानव का बैठकर ही वैसा करना उचित है। यह है लोक व्यवहार । इस लोक-व्यवहार के कारण ही एक क्रिया एक स्थान में उचित और (वही क्रिया) दूसरे स्थान पर अनुचित हो जाती है । अतः औचित्य कभी व्यवस्थित नहीं हो सकता । सच बोलने को सभी उचित और पवित्र मानते हैं, परन्तु अनेक अवसरों पर सच को छिपाकर मिथ्या भाषण करना ही उचित ठहरता है । इसके उदाहरण लोक में ही नहीं शास्त्र और काव्य में भी अनेक मिल जाते हैं । महाकवि कालिदास दुष्यन्त के मुँह से विदूषक को जब यह कहलाते हैं

---

1. It is not enough no barshness gives offence. The sound must seen an echo of sense, Soft is the strain when zephyr gently blows.

And the smooth stream in smoother number flows. But when loud surges lash the sounding shore the hoarse rough verse should like a torrent roar.

हैं कि "परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः" तब वे परमार्थ (सत्य) को छिपाने और असत्य को सत्य समझने का औचित्य ही प्रतिष्ठापित नहीं कर रहे होते हैं ? इसी प्रकार सूर के बाल कृष्ण यशोदा से जब यह शिकायत करते हैं कि बलभद्र "मौसों, कहत मोल को लीनो" और तर्क देता है कि "गोरे नन्द यशोदा गोरी, तू कत श्याम शरीर" इसलिये माँ ! तू सच बता क्या मैं तेरा बेटा नहीं हूँ ? तब यशोदा बलभद्र को "जनमत ही कौ धूत" बताती हुई जब कहती है कि "श्याम ! मोहि गोधन की सौं, हौं माता तू पूत" तब सूरदास से परम भक्त कवि भी गोधन की शपथ के सहारे श्री कृष्ण को विश्वास दिलाने और इस प्रकार वात्सल्य की रक्षा के लिये असत्य को सत्यापित करने का परम औचित्य स्थापित नहीं करते दिखाई देते क्या ? अतः स्पष्ट है कि औचित्य कोई व्यवस्थित धर्म नहीं हैं । इसीलिये आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने औचित्य को काव्य में उचित तत्व रसादि का धर्म विशेष मानकर "उचितस्य रसादेर्यो भावः सत्वं" के आधार पर उचित के सम्बन्ध विशेष रूप से औचित्य को काव्य का सर्वस्व मानने वाले कतिपय विद्वानों का मुँह बन्द कर दिया था । आचार्य अभिनव ने औचित्य को काव्य का आत्मा या प्राण मानने से भले ही इन्कार किया हो परन्तु वे औचित्य के उपनिबन्धन को "काव्यस्योपनिषत्परा" अर्थात् काव्य का परम रहस्य तत्व मानने से कैसे इन्कार कर सकते थे क्योंकि वह तो उनके आदर्श भूत आचार्य ध्वनिकार का निष्कर्ष था । अतएव अभिनव के शिष्य क्षेमेन्द्र को कहना पड़ा कि "औचित्य रससिद्धस्य स्थिरं काव्यजीवितम्" अर्थात् औचित्य उसी काव्य को जीवित रखने का स्थिर साधन है, जो रस से सिद्ध हो । इस प्रकार पारद रस से निष्पन्न रसायन उसी शरीर को स्थिरता प्रदान करते हैं, जिसमें आत्मा विद्यमान हो । मृत शरीर में जीवन पैदा नहीं कर सकते । उसी प्रकार औचित्य भी रसादिरूप आत्मा से युक्त काव्य को स्थिर जीवन प्रदान करता है, आत्मभूत रसादि से हीन काव्य का वह किंचित् भी उपकारक नहीं । यह बात हम औचित्य के विवेचन में विस्तार से कह चुके हैं । आचार्य अभिनव गुप्त के विचार से सोलहों आने सहमति रखते हुए हम औचित्य को वस्तु मात्र का साधारण धर्म, जो कहीं भी, किसी भी व्यापार में एक रूप नहीं रहता, परन्तु आकाश की भाँति रहता सर्वत्र है, मानकर भी किसी काव्य नाट्य आदि का असाधारण धर्म स्वीकार नहीं करते । हमारी दृष्टि में वह कोई सिद्धान्त या आधार नहीं हो सकता । यही कारण है कि सम्पूर्ण आचार्य-परम्परा में क्षेमेन्द्र अकेले पड़ गये हैं और उनका सिद्धान्त उन्हीं तक सिमटकर रह गया है ।

आश्चर्य है कि जो औचित्य सम्बन्ध विशेष की केंचुली को छोड़ कर कभी काव्य या काव्यशास्त्र में सिद्धान्तित ही नहीं हो पाया, उसके साधारणप्रचलन को भी कुछ लोग सम्प्रदाय के रूप में ग्रहण करते पाये जाते हैं । सम्प्रदाय तो शास्त्र-विशेष की परिधि में उसी विचार-तारतम्य को और सिद्धान्तसातत्य को कहा एवं समझा

जाता है। जिसके अनुयायियों और समर्थकों की परम्परा एक लम्बे समय तक दिखाई देती है। जिसका भिन्न विचारधाराओं अर्थात् सम्प्रदायों द्वारा खण्डन तथा अभिन्न सम्प्रदायों द्वारा मण्डन होता रहता है, वही सम्प्रदाय कहा जाता है। सम्प्रदाय की सीमा होती है, वह असीम नहीं होता। क्या औचित्य का कभी खण्डन किया जा सकता है ? क्या औचित्य की कोई सीमा उपलब्ध होती है ? क्या औचित्य का कभी विरोध हुआ है ? संसार के सभी प्राणी, खाते, पीते, सोते, हैं और चलते फिरते हैं। क्या खाने, पीने, सोने और चलने फिरने वालों का कहीं कोई सम्प्रदाय खोजा जा सकता है ? सभी प्राणी सांस लेते हैं तथापि सांस लेने वालों का कोई सम्प्रदाय कहीं बना दिखाई देता है ? जब रस अलंकार, रीति, ध्वनि अनुमति और वक्रोक्ति आदि जितने भी काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय हैं, सभी औचित्य जैसे सामान्य तत्व को भी किसी सम्प्रदाय के भीतर समेटने के प्रयत्न में कौन सा औचित्य है ?

हिन्दी के विद्वानों, समालोचकों, समीक्षकों और विचारकों ने भी औचित्य को एक स्वर से स्वीकारा है और उसका भरपूर विवेचन तथा प्रकाशन किया है। औचित्य के इस विवेचन सातत्य को ही यदि औचित्य सम्प्रदाय की संज्ञा दी जाती है तो निःसन्देह हमें उसे क्षेमेन्द्र के औचित्य विचार का प्रत्यक्ष प्रभाव ही कहना पड़ेगा, अन्य कुछ नहीं।

"औचित्य-सम्प्रदाय का हिन्दी काव्यशास्त्र पर प्रभाव" इस नाम से चौखम्बा प्रकाशन द्वारा 1967 ई० में प्रकाशित डॉ० चन्द्रहंस पाठक का शोध ग्रन्थ देखकर और पढ़कर हम इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि क्षेमेन्द्र की औचित्य-विचारचर्चा का ही यह महान् प्रभाव है जो हिन्दी में ऐसे महान् ग्रन्थ का उद्‌भव हो सका। निःसन्देह आचार्य क्षेमेन्द्र के औचित्य विवेचन ने ही डॉ० पाठक को वह प्रेरणा और सामर्थ्य प्रदान की। जिससे वे औचित्य के साम्प्रदायिक स्वरूप को स्थापित करने में प्रवृत्त हो सके। डॉ० चन्द्रहंस पाठक ने चौंतीस (34) प्रकार के औचित्यों की उद्‌भावना द्वारा क्षेमेन्द्र के औचित्य को सत्ताईस की संख्या से आगे बढ़ाकर, न केवल औचित्य के विस्तारकों में अपना नाम लिखा लिया है, औचित्य को एक सम्प्रदाय का रूप देने का भी सफल प्रयास किया है। उन्होंने क्षेमेन्द्र के औचित्य प्रकारों के भीतर से भी अनेक ऐसे औचित्य प्रकार खोज निकाले हैं, जो औचित्य के परम पारखी क्षेमेन्द्र द्वारा उपन्यस्त औचित्यों के अंक में निविष्ट रहते हुये भी उन्हें (क्षेमेन्द्र को) दिखाई न दिये। हमें दाद देनी चाहिये डॉ० पाठक की पारदर्शी दृष्टि को कि उन्होंने अपने उपजीव्य एवं प्रेरणास्रोत आचार्य के दृष्टिसामर्थ्य से भी अधिक समर्थ दृष्टि के बल पर औचित्य के वंश में लगे सन्तति निरोध के शाप को दूर कर उसकी भरपूर वंशवृद्धि की है। हिन्दी के प्रतिष्ठित विद्वान्, औचित्य-सिद्धान्त के मर्मज्ञ डॉ० कन्हैया लाल सहल ने भी क्षेमेन्द्र के औचित्य-सिद्धान्त को हिन्दी-काव्यसाहित्य के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया है उन्होंने अपनी पुस्तक "आलोचना के पथ पर" में औचित्य-सिद्धान्त

पर एक स्वतन्त्र निबन्ध में हिन्दी की कविताओं में औचित्य की खोज की है और क्षेमेन्द्र के औचित्यों की अपेक्षा भावावेश आदि कुछ नवीन औचित्यों की सम्भावना को सोदाहरण व्यक्त किया है परन्तु प्रशंसा करनी होगी डॉ० चन्द्रहंस पाठक के महान् प्रयास की कि उन्होंने क्षेमेन्द्र के मूलभूत औचित्यों में सिमटी सत्ताईस संख्या में अपने चौंतीस औचित्य प्रकारों को जोड़कर औचित्य परिवार की संख्या को इकसठ तक पहुँचा दिया है।[1]

डॉ० पाठक के इस औचित्य विस्तार से औचित्यान्वेषण की दिशा में एक ऐसी प्रक्रिया का जन्म अवश्य हो गया है, जिसके द्वारा औचित्यों की संख्या बढ़ते-बढ़ते अनन्त की सीमा तक पहुँच सकती है "उचित अनन्त औचित्य अनन्ता"।

कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं रह गया कि क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त को संस्कृत साहित्य में जो विस्तार और महत्व प्राप्त नहीं हो सकता था वह डॉ० चन्द्रहंस पाठक के प्रबल प्रयास द्वारा हिन्दी साहित्य में प्राप्त हो गया। **किमधिकमितः प्रभावभूयस्त्वं क्षेमेन्द्रस्य।**

———

1. द्रष्टव्य है "औचित्य सम्प्रदाय का हिन्दी काव्यशास्त्र पर प्रभाव" पृष्ठ 159।

लेखक—डॉ० चन्द्रहास पाठक

14

काव्यशास्त्र-परम्परा में राजशेखर और क्षेमेन्द्र का स्थान

जहाँ तक काव्य की परम्परा का सम्बन्ध है, वह एक ऐसी अजस्र धारा है, जिसका आदि और अन्त खोजना कठिन ही नहीं, असम्भव है। काव्यशास्त्र अपने आरम्भिक काल में अलङ्कारशास्त्र कहलाता था। इसका कारण यह था कि मनुष्य स्वभावत: सौन्दर्य का उपासक है। हम देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्य, चाहे स्त्री हो या पुरुष, बालक हो या वृद्ध, सुन्दर वस्तु की ओर स्वत: आकृष्ट होता है और उसकी प्रशंसा करता है। सुन्दरता की ओर आकृष्ट होना और उसकी प्रशंसा करना मनुष्य का निसर्ग है। यह निसर्ग ही तो काव्य का मूल स्रोत है। अतएव प्राचीन विचारक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि—सौन्दर्यमेवालंकार:। स्पष्ट है कि सौन्दर्य की अभिव्यक्ति सादृश्य की खोज को जन्म देती है। मनुष्य सुन्दर वस्तु को देखकर वैसी ही निसर्ग सिद्ध सुन्दरतम वस्तु से उसकी तुलना करने लगता है। सुन्दर मुखाकृति को देखकर "चाँद सा मुखड़ा" शब्द सहसा वाणी से फूट पड़ते हैं, यही सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है, यही सादृश्य की खोज है, यही अलंकार है और यही होता है—काव्य। अलंकार ही काव्य है और काव्य ही अलंकार है। इसीलिये काव्यशास्त्र को अलंकारशास्त्र कहा गया और काव्यशास्त्रियों को कहा गया—अलंकारशास्त्री या आलंकारिक।

सौन्दर्य नित्य है, सौन्दर्य की खोज भी नित्य है, अत: काव्य भी नित्य है। इसीलिये तो चिरन्तन वेदवाणी को काव्य कहा गया है—"पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति"। स्पष्ट है कि काव्य अनादि वस्तु है। विद्वानों ने—दृश्य और श्रव्य - उभयविध काव्य के सम्पूर्ण तत्व अनेक बार ऋग्वेद की ऋचाओं में खोजे हैं और उन्हें लक्षित किया है। तत्वों की खोज और उनका लक्षण विधान ही शास्त्र कहलाता है। स्पष्ट ही काव्य और काव्यशास्त्र में पौर्वापर्यभाव है। काव्य पूर्ववर्ती और काव्यशास्त्र परवर्ती है।

सभी विद्वान् भरतमुनि के नाट्यशास्त्र को काव्यशास्त्र विषयक प्रथम ग्रन्थ मानते हैं परन्तु राजशेखर ने काव्य विद्या या साहित्यविद्या की उत्पत्ति का जो इतिहास अपनी काव्यमीमांसा में दिया है, उससे पता चलता है कि व्याकरणविद्या या अक्षरसमाम्नाय की उत्पत्ति के समान साहित्यविद्या की उत्पत्ति भी भगवान् शिव के द्वारा ही हुई है।[1]

इसके अनुसार सर्वप्रथम भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने परमेष्ठी (ब्रह्मा) और वैकुण्ठ (विष्णु) आदि चौसठ शिष्यों को काव्यविद्या का उपदेश दिया था। फिर ब्रह्मा ने अपने अयोनिज शिष्यों को वह काव्यविद्या पढ़ाई। इन्हीं अयोनिज शिष्यों में एक काव्यपुरुष भी था जो सरस्वती का पुत्र था। वह समस्त देवताओं का पूज्य तथा समस्त समयों (रहस्यभूत तत्वों) का ज्ञाता और दिव्यचक्षु द्वारा भावी अर्थों का द्रष्टा था। ब्रह्मा ने उसे तीनों लोकों में काव्यविद्या का प्रवर्तन करने की आज्ञा दी। उसने अठारह अधिकरणों वाली काव्यविद्या को सहस्राक्ष (इन्द्र) आदि अठारह दिव्य स्नातकों को पृथक्-पृथक् प्रत्येक को एक-एक अधिकरण के क्रम से सुविस्तार पढ़ाया। इन अठारह शिष्यों में एक भरतमुनि भी थे, जिन्होंने अपने गुरु काव्यपुरुष से "रूपकनिरूपणीय" नाम का चौदहवां अधिकरण पढ़ा और उसका विस्तार से निरूपण किया।

राजशेखर के इस अभिलेख के अनुसार—जो उन्होंने "काव्यमीमांसा" का प्रारम्भ करते हुए लिखा है—भरतमुनि काव्यविद्या के केवल एक अधिकरण के ज्ञाता और निरूपणकर्त्ता थे। निःसन्देह भरत का यह "रूपकनिरूपणीय" नामक अधिकरण ही नाट्यशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध है।

काव्यविद्या के प्रसार का जो इतिहास राजशेखर ने प्रस्तुत किया है, वह प्रामाणिक है या कल्पित यह निर्णय करना सहसा बहुत कठिन है। हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं, जिससे हम इस इतिहास की सत्यता प्रमाणित कर सकें। साथ ही इसकी शैली इतनी आकर्षक है कि सहसा हम इसे राजशेखर की कल्पना कहने का साहस भी नहीं कर सकते। राजशेखर का यह कथन कि "चारों ओर बिखरी होने के कारण वह काव्यविद्या उच्छिन्न हो गई थी, अतः मैंने उसके समस्त प्रयोजक अंगों के साथ संक्षिप्त रूप से समस्त विषयों को समेट कर अठारह अधिकरणों वाली उस काव्यविद्या को पुनः अपनी इस "काव्यमीमांसा" नामक पुस्तक में संगृहीत

---

1. काव्यमीमांसा का उपोद्घात—

—अध्याय 1

यथोपदिदेश श्रीकण्ठः परमेष्ठि वैकुण्ठादिभ्यः चतुःषष्टये शिष्येभ्य...... इत्यादि।

किया है ।[1] हमें यह मानने के लिए विवश सा कर रहे हैं कि भरत से पूर्व या उनके समय में ही काव्यविद्या के प्रवर्तक अन्य अनेक आचार्य थे, जिनके शास्त्र काल की कराल दाढ़ में पड़कर उच्छिन्न हो गये । स्वयम् राजशेखर की अठारह प्रकरणों वाली प्रकृत काव्यमीमांसा का भी एक कविरहस्य नामक प्रथम प्रकरण ही आज हमें जब उपलब्ध है तथा शेष सत्रह प्रकरण लुप्त हैं, तब उक्त अष्टादशाधिकरणी काव्यविद्या कभी न रही होगी, यह हम कैसे कह सकते हैं और कैसे राजशेखर के अभिलेख को सहसा कल्पित मान सकते हैं । बहुत बड़ी मात्रा में अपौरुषेय और पौरुषेय भारतीय वाङ्मय लुप्त हो गया है, यह सब मानते हैं । ऐसे में काव्यविद्या की राजशेखरोक्त परम्परा भी नष्ट हो गयी हो तो कोई आश्चर्य नहीं ।

जो भी हो, आज तो भरतमुनि का नाट्यशास्त्र ही काव्यविद्या-सम्बन्धी आदि ग्रंथ हमारे सम्मुख है और भरतमुनि ही इस विषय के आद्य आचार्य हैं । भरत-मुनि के पश्चात् भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, अभिनवगुप्त, राजशेखर और क्षेमेन्द्र आदि आचार्यों की एक लम्बी परम्परा काव्यशास्त्र के विभिन्न मर्मों का उद्घाटन करती हुई हमारे सामने खड़ी दिखाई देती है । इस परम्परा को हम प्राचीन आचार्यों की परम्परा कह सकते हैं । इसके अतिरिक्त मम्मट, जयदेव, अप्पय-दीक्षित, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ आदि नवीन आचार्यों की भी एक उज्जवल शृंखला हमारे सम्मुख है । प्राचीन और नवीन परम्परा के इन आचार्यों में किसका स्थान कहाँ है, कौन ऊँचा और कौन नीचा है, कौन प्रथम कौन मध्यम कौन अधम है ? यह कहना सरल भी नहीं हैं तथा अपेक्षित भी नहीं है । सबका अपना-अपना महत्व है । भिन्नरुचिर्हि लोकः" के अनुसार किसी की दृष्टि में एक महान् है तो दूसरे की दृष्टि में दूसरा महान् है । हाँ, जो सभी का या अधिकांश का उपजीव्य है । जिसके सिद्धान्त निर्विवाद हैं या विवादित होकर भी पुनः-पुनः समर्थन पाकर निर्विवाद रूप से स्वीकृत होते आ रहे हैं । ऐसे उपजीव्यभूत आचार्यों को तो सर्वोपरि स्थान देना ही पड़ेगा । काव्यशास्त्र-विषयक आचार्य परम्परा में ऐसे दो ही आचार्य दिखाई देते हैं जो उपजीव्य या सर्वमान्य कहे जा सकते हैं । इनमें सर्वप्रथम महामुनि भरत का नाम और उसके बाद ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन का नाम ही गणनीय है । भरत का नाम तो इसलिये प्रथमोपस्थित है क्योंकि उनका आश्रयण तो समग्र आचार्य-परम्परा करती आई है । भरत के नाट्यशास्त्रोक्त काव्यांगों में परिवर्धन या परिष्कार भले ही किया गया हो परन्तु

---

1. इत्थं कारव्व प्रकीर्णत्वात् सा किंचिदुच्चिच्छिदे । इतीयं प्रयोजकांगवती संक्षिप्त सर्वमर्थम् अल्पग्रन्थेन अष्टादशप्रकरणी प्रणीता । काव्यमीमांसा अध्याय । —पृष्ठ 2

उनके मूल तत्वों को अस्वीकार करने का सामर्थ्य कोई नहीं जुटा पाया है। भरत के रस सूत्र की भिन्न-भिन्न दृष्टि से व्याख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की परन्तु उनके रस सूत्र के स्वरूप तो बदलने का साहस एक भी आचार्य नहीं कर पाया है। इसी प्रकार काव्य के आत्मा, शरीर, गुण, दोष, अलंकार और रीति आदि के विषय में स्वेच्छानुसार घटत बढ़त करते हुए भी कोई आचार्य, भरत द्वारा निर्मित लीक से हटकर चलने का प्रयास नहीं कर सका, अतः भरत सब के उपजीव्य हैं। अतएव सर्वोच्च स्थान पर माला में सुमेरू के समान स्थित हैं। दूसरा स्थान हम आनन्दवर्धनाचार्य के लिये सुरक्षित समझते हैं। व्यक्ति विवेककार महिम भट्ट ने यद्यपि उनके ध्वनि सिद्धान्त का प्रबल विरोध किया है तथापि मम्मट आदि समर्थ आचार्यों की एक लम्बी परम्परा उनके समर्थन में ऐसी खड़ी हो गई कि उसके सम्मुख न तो महिम भट्ट का ध्वनि विरोध ठहर पाया और न कुन्तक का वक्रोक्ति-वाद ही पनप सका। आगे चलकर विश्वनाथ ने ध्वनिकार के "काव्यस्यात्मा ध्वनिः" के स्थान पर "काव्यस्यात्मा रसः" की प्रतिष्ठा का जो प्रयास किया वह वस्तुतः ध्वनिकार के निगूढ़ार्थ का प्रकाशन मात्र ही था। इस प्रकार ध्वनिकार का ध्वनि-निरुपण भी भरत के रस निरुपण के समान ही आरम्भ काल से अन्त तक अपनी मान्यता को अक्षुण्ण रखता चला आ रहा है। वह ऐसा सिद्धान्त है कि जो विरोधों को धकिया कर विवादों के घेरे को तोड़कर सर्वमान्य हुआ। अतः आनन्दवर्धना-चार्य निःसन्देह साहित्यिक परम्परा में भरत के पश्चात् द्वितीय स्थान के अधिकारी हैं।

इन दोनों उपजीव्यभूत सूर्याचन्द्रमसौ आचार्यों के पश्चात् जो अनेक आचार्य काव्यशास्त्र-परम्परा में आकाशीय नक्षत्रों के समान चमकते दिखाई पड़ रहे हैं। उनमें पश्चिम छोर पर वाग्देवतावतार मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ यदि अपनी प्रखर किरणों को दूर तक प्रकाशित करते दिखाई देते हैं तो पूर्वी छोर पर राजशेखर और क्षेमेन्द्र ही दो ऐसे नक्षत्र हैं, जो अपनी प्रशान्त आभा से सर्वाधिक दीप्ति-मान् हैं।

आचार्य राजशेखर कवि भी उच्च कोटि के थे और आचार्य भी। वे संस्कृत तथा प्राकृत की विविध शाखाओं के महान् विद्वान् थे। उन्होंने संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओं में प्रशंसनीय साहित्य रचा है। ये नाटककार भी उच्च कोटि के थे। इनके लिखे ग्रन्थों की संख्या कोई पाँच और कोई छः मानते हैं। इन ग्रन्थों की संख्या और अधिक होने के भी प्रमाण मिलते हैं। संख्या की दृष्टि से इन ग्रन्थों का अधिक महत्व नहीं है, परन्तु कवित्व और वैदुष्य की दृष्टि से इन ग्रंथों का अत्यधिक महत्व है। राजशेखर के बालरामायण, बालभारत, विद्धशालभंजिका और कर्पूरमंजरी इन चार नाटकों का संस्कृत साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान है। बालरामायण में सम्पूर्ण राम-कथा

बड़े-बड़े दस अंकों से विभक्त कर कह दी गई। इसमें राजशेखर के नाटककार की अपेक्षा काव्यकार का रूप अधिक विकसित हुआ है। इसकी और अनेक उक्तियाँ इतनी प्रभावी हैं कि विभिन्न भाषाओं के कवियों ने उनका यथेष्ट अनुकरण किया है। हिन्दी के महान् कवि गोस्वामी तुलसीदास की "कवितावली" कवित्व की दृष्टि से उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है, परन्तु उसमें भी राजशेखर की बालरामायण का कहीं-कहीं हू ब हू अनुवाद किया गया है। नीचे हम बालरामायण का एक सुन्दर पद्य और कवितावली में स्थित उसका अनुवाद उपस्थित कर रहे हैं:—

राजशेखर—"सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी
गत्वा जवात् त्रिचतुराणि पदानि सीता
गन्तव्यमद्य कियदित्यसकृद् ब्रुवाणा
रामाश्रुण: कृतवती प्रथमावतारम् ।।[1]

तुलसी—"पुरतें निकसी रघुवीर वधू, धरि धीर दये मग में डग द्वै,
झलकी भरि भाल कनी जलकी, पट सूखिगये मधुराधर कै,
फिर बूझति हैं "चलनोअबकेतिक, पर्नकुटी करिहौ कितकै,
तिय की लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अतिचारु चली
जल च्वै ।।[2]

दोनों पद्यों को सम्मुख रखकर देखने से साफ प्रतीत हो रहा है कि तुलसी ने राजशेखर के पद्य का हू ब हू अनुवाद किया है। वक्रोक्ति जीवितकार कुन्तक को कविराज राजशेखर के इस सहृदयहृदयावर्जक पद्य में एक ऐसा अनौचित्य दिखाई दिया है। जिसने राजशेखर और तुलसी की काव्य कमनीयता पर एक प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। "वक्रोक्तिजीवितम्" के पृष्ठ 21 पर कुन्तक उक्त पद्य की आलोचना करते हुए कहते हैं कि उक्त पद्य में सीता का "असकृत्" अर्थात् अनेकबार (प्रतिक्षणम्) यह कहना कि "आज कितना चलना है" सीता के स्वभाव की महत्ता का उन्मीलन नहीं करता। यह ठीक है कि सीता अत्यन्त कोमल (शिरीष मृद्वी) थीं परन्तु वे वन के कष्टों को सहन करने की प्रतिज्ञा करके चली हैं, उनमें सहज अध्यवसाय है। तब क्या यह बात उनके कष्ट-सहिष्णु-स्वभाव के अनुकूल है कि वे तीन चार कदम चलते ही यह पूछने लगीं कि आज कितना चलना है सुकुमारता के कारण उनके हृदय में यह बात उठी भी हो तथापि संकल्प की दृढ़ता क्या उनके मुँह से ऐसा कहला सकती थी ? इसके अतिरिक्त सीता जब बार-बार (क्षण-क्षण में) यह पूछती है कि "आज कितना चलना है" तभी अर्थात् सीता के बार-बार पूछने पर ही राम की आँखों में अश्रुओं का अवतरण वर्णन करना भी राम के हृदय में सीता

1. बालरामायण 6/34
2. कवितावली, अयोध्याकाण्ड — 11

विषयक स्नेह की कृपणता का व्यञ्जक होने से प्रकृत रस के प्रतिकूल है। उनके अनुसार उदात्तचरित राम को तो प्राणसमा सीता के एक बार पूछने पर ही स्नेहाकुल होकर द्रुत हो जाना चाहिये था। यह तो राम के हृदय की अत्यन्त कठोरता ही है कि सीता के बार-बार पूछने पर ही उनकी आँखों में अश्रु का प्रथमावतरण हुआ। वह प्रेमी क्या हुआ ? जिसके हृदय पर प्रियतमा के क्लेश वचन अनेक बार में असर करें, एक ही बार में नहीं। अतः राजशेखर के उक्त पद्य में सीता का तीन चार कदम चलते ही यह पूछने लगना कि "आज कहाँ तक चलना है,' और राम का "असकृत्" पूछने पर ही सीता के क्लेश को समझना दोनों बातें स्वभाव महत्ता तथा प्रकृत रस के प्रतिकूल हैं। कुन्तक की दृष्टि में प्रकृत श्लोक का तृतीय चरण अनौचित्य से दूषित है।

गोस्वामी तुलसीदास ने उक्त पद्य के तृतीय चरण का अनुवाद करते हुए "असकृद् ब्रुवाणा" को स्थान न देकर "ब्रुवाणा" को ही ग्रहण किया है और "असकृद्" के स्थान पर "फिरि फिरि" न कह कर "फिरि" कहकर ही राम की आँखों में अश्रु उमड़ा कर राम के स्नेही चरित्र की किसी अंश में रक्षा कर ली है, परन्तु सीता की स्वभाव महत्ता की रक्षा वे भी नहीं कर सके हैं। उनकी सीता तो दो डग भी बहुत धैर्य जुटाकर मग में रख पायीं और इतने ही से उनके भाल पर पसीना उमड़ पड़ा और होठ सूख गये। उन्होंने बार-बार पूछकर ही भले पर्नकुटी में विश्राम की इच्छा को शब्दतः कह दिया है। हमें तो तुलसीदास का "फिरिबूझति" हैं भी "फिरि फिरि बूझति हैं" के अर्थ में ही प्रयुक्त दिखाई देता है। अस्तु !

राजशेखर के पद्य का तुलसी द्वारा किया गया अनुवाद उद्धृत करने में हमारा इतना ही प्रयोजन है कि राजशेखर के कवित्व की अनुकरणीय कमनीयता प्रकट हो सके। इस कमनीयता में भी कुन्तक को जो अरमणीयता दीख पड़ी है, वह उनकी मत्सरी दृष्टि का ही दोष है, उनका नहीं। दृष्टि पर रखे मात्सर्य के चश्मे को उतार कर यदि देखें तो उक्त पद्य में किंचित् भी अनौचित्य दिखाई नहीं देगा।

वास्तविकता यह है कि सीता के वन के असह्य कष्टों को सहन करने का दृढ़ संकल्प करके जो राजमहल से वन के लिये निकली थी, वह उनके पतिव्रत धर्म की अनिवार्य प्रेरणा थी, वस्तुतः वे उन असह्य कष्टों को सहन करने योग्य कहाँ थी ? वे मन से दृढ़ संकल्पा थीं पर तन से तो शिरीषमृद्वी थीं। दृढ़ संकल्प लेकर चली थीं, इसीलिये तो "जवात्" तेजी के साथ चलकर मन का साहस प्रकट कर रही थीं। ऐसा करके वे राम को विश्वास दिला रही थीं कि वे वन के निवास और उसके लिये जाने को कष्टदायक नहीं मानती। उन्हें तो उसमें सुख प्रतीत हो रहा है, इसीलिए तो वे उतावली हो रही हैं। परन्तु जल के बिना मीन के समान क्षण

भर के लिए भी पति वियोग को न सह सकने वाली और इसीलिए असह्य कष्टों को सहन करने का साहस प्रकट करने वाली, साहस की साक्षी के लिए "जवात्" गमन करने वाली सुकुमार राजवधू का शिरस के फूल जैसा अतिशय कोमल तन उसके मन की दृढ़ता के कारण वज्र कठोर तो नहीं बन गया होगा ? इसलिए तीन चार कदम तेजी से चलकर शिरीषमृद्वी सीता का तन यदि मुरझा गया तो इससे कुन्तक (भाले) की बुद्धि की धार क्यों कुण्ठित हो गई ? राजमहल के सुखद वातावारण के बाहर एक कदम भी कभी न धरने वाली सुकुमार राजवधू का तीन चार कदम तेजी से चलकर थक जाना स्वाभाविक था परन्तु कुन्तक की भांति क्यों थक गई, जो परम औचित्य के स्थान पर अनौचित्य देखने लगी ? सीता के बार-बार पूछने पर ही राम की आँखों में आँसू झलकने को, जो कुन्तक ने राम के हृदय की कठोरता का व्यञ्जक होने से अनुचित कहा है, वह भी उनके मात्सर्य को ही सूचित करता है। हम समझते हैं कि यदि सीता के एक बार पूछने से ही राम की आँखों में आँसू आ जाते तो कुन्तक उस स्थिति में यह कहते कि राजशेखर का यह कथन राम के धीर गम्भीर स्वभाव के विरुद्ध होने से अनुचित है। भला राम जैसा परम धीर और विवेकी पुरुष जिसके मन में राज्य सुख के स्थान पर वन के असह्य दुःख प्राप्त होने पर भी कोई विकार उत्पन्न नहीं हुआ वह क्या सीता के एक बार यह पूछते ही कि आज कहाँ तक चलना है—एक दम रोना शुरू कर देगा ? एक बार तो वे जिज्ञासावश भी पूछ ही सकती हैं। मन में पहले ही दिन दूर निकल जाने की प्रबल आकांक्षा लेकर निकली हुई सीता इस आशंका से भी कि उन्हें अधिक चलने में असमर्थ समझकर राम कहीं नगर से निकलते ही विश्राम करने की न सोचने लगें—इसलिये यह पूछ सकती हैं कि आज कहाँ तक चलना है, कहीं नगर से निकलते ही रुक जाने का विचार तो नहीं है। आज ही यदि हम दूर तक निकल पायें तो अच्छा है, क्योंकि तभी नगर के नर-नारियों की दृष्टि से हम स्वयम् को शीघ्र बचा सकेंगे। कुन्तक के उस अवस्था के उक्त प्रश्न को ही वर्तमान अवस्था का उत्तर समझना चाहिये। तुलसी ने इस नाटक से बहुत कुछ लिया है, संस्कृत के जयदेव आदि उत्तरवर्ती वे नाटककार भी राजशेखर के ऋणी हैं, जिन्होंने रामचरितमानस को आधार मानकर अपने नाटक रचे हैं। क्षेमेन्द्र की रामायणमञ्जरी पर भी बालरामायण का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है, जिस प्रकार बालरामायण में सम्पूर्ण राम कथा को एकत्र संक्षिप्त करने का प्रयास किया गया है, उसी प्रकार का प्रयत्न रामायणमञ्जरी में भी दृष्टिगोचर होता है।

राजशेखर के बालभारत में भी यही बात दिखाई देती है। उसमें भी महाभारत की विस्तृत कथा को संक्षेप में तथा अत्यधिक सरस रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। इस नाटक का दूसरा नाम "प्रचण्ड-पाण्डव" भी है।

दुर्भाग्य से इस नाटक के प्रारम्भिक दो अंक ही आज उपलब्ध हैं। शेष भाग उसी प्रकार लुप्त हो गया प्रतीत होता है, जिस प्रकार काव्यमीमांसा के 17 प्रकरण लुप्त हो गये हैं। यह नाटक अपूर्ण ही लिखा गया था अर्थात् उसके दो अंक लिखने के पश्चात् राजशेखर संसार से उठ गये थे, यह बात किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। अतः यही अधिक सम्भव है कि शेष ग्रन्थ इसी प्रकार लुप्त हो गया जिस प्रकार अन्य ग्रन्थ या उनके अंश। क्षेमेन्द्र ने जिस प्रकार बालरामायण से प्रेरित होकर रामायणमंजरी से सम्पूर्ण रामकथा को एकत्र पद्यबद्ध किया है, उसी प्रकार लगता है कि बालभारत से प्रेरणा पाकर भारतमंजरी की रचना भी की है, जान पड़ता है कि क्षेमेन्द्र ने सम्पूर्ण बालभारत को पढ़ा था। इससे हमारा अनुमान है कि क्षेमेन्द्र के समय बालभारत अपने समग्र रूप में विद्यमान था और बालरामायण के समान वह भी सम्पूर्ण महाभारत आख्यान को अपने में समेटे हुए था और उसकी गणना भी महानाटकों में थी। दर्पणकार विश्वनाथ ने महानाटक को लक्षित कर उसका एक मात्र उदाहरण बालरामायण ही नामांकित किया है, बालभारत नहीं। इससे विदित होता है कि विश्वनाथ ने बालभारत का समग्र रूप नहीं देखा था, यदि देखा होता तो वे बालभारत को भी बालरामायण के साथ महानाटक के रूप में उदाहृत करते। इससे प्रतीत होता है कि विश्वनाथ के समय से पूर्व ही बालभारत के शेष अंश लुप्त हो चुके थे। बालरामायण को विश्वनाथ ने नाटक के समस्त पताकास्थानकों से युक्त तथा दस अंकों वाला महानाटक कहा है।[1] इससे निश्चित होता है कि सम्पूर्ण संस्कृत नाटकों में राजशेखर का यह नाटक ही एक मात्र ऐसी नाट्य रचना है, जिसमें समस्त पताकास्थानकों का उपयोग मिलता है। विश्वनाथ के कथनानुसार पताकास्थानकों का प्रयोग नाट्य में बहुत सूझ-बूझ के साथ करना होता है।[2] विश्वनाथ ने चार प्रकार के पताकास्थानक कहे हैं।[3] बालरामायण में इन चारों प्रकार के पताकास्थानकों का सफल और सुविचारित प्रयोग देखकर ही विश्वनाथ ने उसे महानाटक की संज्ञा दी है। इससे हम समझ सकते हैं कि राजशेखर कितने महान् कवि थे। महान् नाटककार होना महान् कवि होने का परिचायक है।

राजशेखर की विद्धशालभंजिका नाटिका भी संस्कृत नाट्य-जगत् में बहुत चर्चित एवं प्रशंसित है। दो ही नाटिकायें संस्कृत साहित्य में अधिक प्रसिद्ध हैं, एक

---

1. एतदेव यदा सर्वैः पताकास्थानकैर्युतम्।

अंकैश्च दशभिर्धीरा महानाटकमूचिरे॥

एतदेव-नाटकमेव यथा बालरामायणम् —सा० द० 6/510

2. पताकास्थानकं योज्यं सुविचार्येह वस्तुनि। —सा० द० 6/298

3. देखिये बा० रा० अंक 6, श्लोक संख्या 299 से 303।

रत्नावली और दूसरी विद्धशालभंजिका। साहित्यदर्पणकार ने नाटिका के प्रसंगों में इन्हीं दो नाटिकाओं का नामोल्लेख सर्वत्र किया है। साहित्यदर्पण के रूपक निरूपणात्मक छठे परिछेद में नाटिका का लक्षण[1] लिखकर उसके उदाहरण स्वरूप इन्हीं दो नाटिकाओं का नामोल्लेख किया गया है।[2] यद्यपि नाटिकाओं में रत्नावली बहुत अधिक प्रशंसित और चर्चित हुई है। परन्तु उसके रचयिता का नाम विवाद के घेरे में उलझा हुआ है। जिस श्रीहर्ष को रत्नावली का रचयिता कहा गया है, वह श्रीहर्ष नैषधकार तो प्रतीत नहीं होता। क्योंकि नैषधकार ने सर्गान्तश्लोकों में जहाँ तहाँ अपने प्रसिद्ध ग्रन्थों का नामोल्लेख किया है। यदि रत्नावली उनकी रचना होती तो वे उस अत्यन्त सरस रचना का नामोल्लेख अवश्य करते परन्तु नैषध के सर्गान्त श्लोकों में रत्नावली का नामोल्लेख नहीं मिलता। रही थानेश्वर के राजा हर्षदेव की बात, सो उनके नाम से प्रसिद्ध रचनायें काव्यप्रकाशकार मम्मट के "श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्" इस अभिलेख के कारण संदिग्ध हो गई हैं। मम्मट जैसा प्रामाणिक आचार्य बिना प्रमाण की बात नहीं कह सकता था। मम्मट के लेख के आधार पर यह प्रसिद्ध है कि धावक नाम के किसी कवि ने धन के बदले रत्नावली को हर्षदेव के हाथों बेच दिया था। यह धावक कौन था ? यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। कुछ लोगों की यह धारणा कि कवियों और विद्वानों का सम्मान करने वाले श्रीहर्ष ने धावक को सम्मानार्थ धन दिया होगा-विश्वसनीय नहीं है। प्रथम तो धावक की वे रचनायें विदित होनी चाहियें, जिनकी श्रेष्ठता पर मुग्ध होकर श्रीहर्ष ने धावक को उल्लेखनीय धन दिया था। किसी अन्वेषक ने आज तक धावक की उस कृति का अन्वेषण नहीं किया जिस पर हर्षदेव अत्यधिक मुग्ध हुए थे। दूसरे, काव्य के प्रयोजन "अर्थकृते" का उदाहरण हर्ष द्वारा धावक को धन दिया जाना ही मम्मट ने क्यों दिया ? अतीत में प्राय: सभी कवि राजाश्रित रहे थे तथा मम्मट के समय और उसके पश्चात् भी यह परम्परा बनी रही। ऐसी स्थिति में जिस प्रकार राजशेखर द्वारा काव्यमीमांसा के दशम अध्याय में राजचर्या का वर्णन करते हुए सामान्य रूप से राजा द्वारा कवियों को समुचित पारितोषिक देना राजा का प्रमुखकर्तव्य गिनाया गया है।[3] उसी के आधार पर मम्मट दानी राजाओं द्वारा कवियों के पारितोषिक लाभ को सामान्यत: "अर्थकृते" के विवरण में लिख सकते थे। राजशेखर ने इसी राजचर्या में वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक और साहसांक

1. नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरङ्किका-इत्यादि।

—सा० द० 6/539

2. यथा रत्नावली विद्धशालभंजिकादि। —सा० द० 6/539।

3. तुष्टपुष्टाश्चास्य सभ्या भवेयु: स्थाने च पारितोषिकं लभेरन् × 1

—का० मी० 10 पृ० 142

आदि सभापतियों कवियों के आश्रयदाताओं, संरक्षकों, पुरस्कर्ताओं का तो नामोल्लेख किया ।[1] परन्तु किसी कवि विशेष का नाम नहीं लिया । इसी प्रकार मम्मट भी कह सकते थे । यह भी ध्यान देने योग्य है कि राजशेखर ने कवियों को धन से सन्तुष्ट करने वाले जिन राजाओं का नामोल्लेख किया है वे राजशेखर के समय (900 ई०) से बहुत प्राचीन हैं । जबकि थानेश्वर के राजा श्रीहर्ष उनके समय के दो ढाई सौ वर्ष पूर्व ही विद्यमान थे । यदि श्रीहर्ष ने धन के बल पर रत्नावली न खरीदी होती तो परमदानी होने के कारण राजशेखर उपर्युक्त प्राचीनतम राजाओं से भी पूर्व हर्ष का नामोल्लेख करते । "अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा" के अनुसार दो ढाई सौ वर्ष के श्रीहर्ष को सभापतियों में न गिनना और ईसा के आसपास के किन्हीं वासुदेव सातवाहन तथा ईसा की दूसरी शती के कुछ बाद होने वाले शूद्रक का उल्लेख करना यही सिद्ध करता है कि राजशेखर की दृष्टि से किसी कारण श्रीहर्ष आदरणीय सभापति (कवियों का पुरस्कर्ता) नहीं था । यह कारण सम्भवत: नहीं है । जिसका उल्लेख मम्मट ने आगे चलकर स्पष्ट रूप से कर दिया—"श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्" ।

इस प्रकार सुन्दर और सरस होते हुए भी 'रत्नावली' एक संदिग्ध रचना है । अत: हम विद्धशालभंजिका को ही प्रामाणिक एवम् आदर्श नाटिका मानते हैं और उसके रचयिता राजशेखर को श्रेष्ठ नाटिकाकार का श्रेय देना चाहते हैं ।

राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी भी अपने ढंग की अपूर्व रचना है । यह भी वस्तुविन्यास की दृष्टि से वस्तव में नाटिका ही है, परन्तु प्राकृतभाषा में लिखी होने के कारण इसे सट्टक कहा गया है । दर्पणकार ने सट्टक का लक्षण कर्पूरमञ्जरी को सम्मुख रख कर ही किया है—ऐसा प्रतीत होता है, कि सट्टक में नाटिका की अपेक्षा यही विशेषता होती है कि उसका सम्पूर्ण पाठ्य प्राकृत-भाषा में होता है तथा प्रवेशक और विष्कम्भक की स्थिति उसमें नहीं होती और उसके अंक जवनिका कहे जाते हैं । उसमें शृंगार के साथ अद्भुत रस का मिश्रण प्रचुर मात्रा में होता है ।[2] सट्टक का उदाहरण दर्पणकार ने केवल कर्पूरमञ्जरी ही दिया है—"यथा कर्पूरमञ्जरी" । इससे स्पष्ट है कि सट्टक का लक्षण कर्पूरमञ्जरी को लक्षित कर बनाया गया है । संस्कृत-साहित्य में कर्पूरमञ्जरी से पूर्व किसी सट्टक की स्थिति से हम परिचित नहीं हैं । सम्पूर्ण नाटिका को प्राकृतभाषा में लिखने का श्रेय राजशेखर

---

1. वासुदेव-सातवाहन-शूद्रक-साहसांकादीन् सकलान् सभापतीन् दानमानाभ्यामनुकुर्यात् । —का० मी० 10 पृष्ठ 142

2. सट्टकं प्राकृताशेषपाठ्यं स्याद् प्रवेशकम् । न च विष्कम्भकोऽप्यत्र प्रचुरस्याद् भूतो रस: । अंका जवनिकाख्या: स्यु: स्यादन्यन्नाटिकासमम् । यथा कर्पूरमञ्जरी । सा. द. 6/542.

को ही प्राप्त है जो राजशेखर की एक असाधारण विशेषता है। विश्वनाथ के "यथा कर्पूरमञ्जरी" इस उदाहरण से यही स्पष्ट होता है कि उनके सम्मुख कर्पूर-मञ्जरी के सिवा अन्य कोई सट्टक उपस्थित नहीं था, यदि कोई होगा भी तो वह उल्लेख योग्य नहीं था। यदि उल्लेख योग्य कोई अन्य सट्टक उनके सम्मुख होता तो वे उसके उदाहरण में "यथा कर्पूरमञ्जरी" के स्थान पर "यथा कर्पूरमञ्जर्यादि" लिखते। दर्पणकार के उदाहरणों की यह शैली है कि वे जिस विधा के अनेक ग्रन्थ देखते हैं उनके नाम के पीछे आदि शब्द जोड़ देते हैं—यथा रत्नावली विद्धशाल-भञ्जिकादि" सट्टक के उदाहरण में "यथा-कर्पूरमञ्जरी" कहने से सिद्ध है कि कर्पूरमञ्जरी ही संस्कृत-साहित्य में एक मात्र आदर्श सट्टक है।

काव्यानुशासन में हेमचन्द्र द्वारा तथा वैयाकरण उज्ज्वल दत्त द्वारा निर्दिष्ट हरविलास नामक महाकाव्य और राजशेखर द्वारा काव्यमीमांसा में स्वयम् निर्दिष्ट[1] भुवन-कोश नामक भौगोलिक ग्रन्थ की चर्चा हम राजशेखर की रचनाओं के प्रसंग में कर चुके हैं। उनकी काव्यमीमांसा की महत्ता का उल्लेख भी उसी प्रसंग में विस्तार से किया जा चुका है। यहाँ इनको पुनः कहने का हमारा उद्देश्य यही प्रदर्शित करना है कि राजशेखर की जितनी भी कृतियाँ हैं, वे सभी अपूर्व, मौलिक एवम् सर्वातिशायिनी हैं। वे हर दिशा में नवीन एवम् अद्भुत हैं। हम राजशेखर की निर्मिति को सर्वत्र निर्मिति ही पाते हैं। कहीं भी अनुकृति की छाया उनमें नहीं देखते। वे जैसे मौलिक और महान् नाटककार हैं, वैसे ही कवि हैं और जैसे कवि हैं, वैसे ही आचार्य हैं। उनका कवित्व भी अपूर्व है और आचार्यत्व भी। वे नाटक-कार से अधिक कवि हैं और कवि से अधिक नाटककार हैं तथा इन दोनों से महान् शास्त्रकार हैं। वास्तव में जो स्वयम् दृश्य और श्रव्य उभयविध काव्य का निर्माता है, वही उसका सच्चा पारखी भी हो सकता है। साहित्य-जगत् में निर्माता भी बहुत हैं और परीक्षक भी। महाकवि कालिदास और भवभूति, भारवि, माघ और श्रीहर्ष केवल कवि हैं। समीक्षक नहीं। भरत, भामह, मम्मट आदि समीक्षक ही हैं, कवि नहीं। दण्डी आनन्दवर्धन, राजशेखर और क्षेमेन्द्र जयदेव विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ ये ऐसे नाम हैं, जिन्हें हम कारयित्री और भावयित्री उभयविध प्रतिभा का स्वामी कह सकते हैं। इन सब आचार्य कवियों में यद्यपि अधम दशा को भजने वाला कोई भी नहीं है। राजशेखर के अनुसार भावक कवि प्रायः अधम दशा को नहीं भजता।[2] परन्तु राजशेखर के अनुसार :—

---

1. इत्थं देशविभागो मुद्रामात्रेण सूचितः सुधियाम्।
यस्तु जिगीषत्यधिकं पश्यतु मद्भुवनकोशमसौ॥

—का० मी० अ० 17 का अन्त।

2. भावकस्तु कविः प्रायो न भजत्यधमां दशाम्।

—का० मी० अ० 4 प्र० 34

य: सम्यग् विविनक्ति दोषगुणयो: सारं स्वयं सत्कवि: ।
सोऽस्मिन् भावक एवं नास्ति अथ भवेद् दैवात् न निर्मत्सर: ।।[1]

इस निष्कर्ष के अनुसार दोष और गुण के सार का विवेकी तथा स्वयम् सत्कवि पूर्वों में से कौन है ? यदि दैववश कोई है भी तो वह निर्मत्सर है क्या ? इस प्रश्न के उत्तर में हमें आनन्दवर्धन के बाद राजशेखर ही ऐसे विवेकी भावक और सत्कवि दिखाई देते हैं, जिन्होंने अपने मत्सरी होने का आभास तक अपनी कृतियों में कहीं नहीं दिया है । उन्होंने काव्यसमीक्षा के वे मानदण्ड उपस्थित किये हैं, जो उनकी काव्यमीमांसा के अतिरिक्त कहीं भी उनसे पूर्व देखने को नहीं मिलते । इतने पर भी उन्होंने भिन्न मत रखने वालों का सादर उल्लेख तो नाम लेकर किया है परन्तु किसी की निन्दा अप्रत्यक्ष रूप से व्यंग्यात्मक शैली में नहीं की है । अत: हमारी दृष्टि में राजशेखर का स्थान कवियों और काव्यशास्त्रियों में बहुत ऊँचा है । आनन्दवर्धनाचार्य—जो स्वयं सत्कवि भी थे और निर्मत्सर काव्यशास्त्री भी थे—के पश्चात् राजशेखर को हम सर्वमान्य काव्य-सिद्धान्तों का निरूपक मानते हैं—हमें यह भी विश्वास है कि यदि राजशेखर की काव्यमीसांसा के लुप्त अथवा अनुपलब्ध सत्रह प्रकरण तथा उनके भुवनकोश आदि ग्रन्थ किसी समय हमारे सौभाग्य से प्रकट हो सके तो उनका स्थान काव्यशास्त्रियों में सर्वोच्च गिना जायेगा । एक प्रकरणी काव्यमीमांसा जब अपनी मौलिकता एवं नवीनता से अत्यन्त विलक्षण मानी जा रही है, तब अष्टादशाधिकरणी काव्यमीमांसा सर्वातिशायिनी नहीं होगी, यह कैसे कोई कहेगा ?

काव्यशास्त्र के आचार्यों में व्यासदास आचार्य क्षेमेन्द्र का स्थान भी महत्वपूर्ण एवम् असाधारण है । क्षेमेन्द्र की साहित्य-सम्पदा बहुत विपुल है । उनका कृतित्व बहुत विशाल और महत्वपूर्ण है । विविध विषयों पर लिखे उनके 40 ग्रन्थों में से छ: सात को छोड़कर शेष सभी उपलब्ध एवम् प्रकाशित हो चुके हैं । विविध विधाओं पर जैसा अधिकार क्षेमेन्द्र का दिखाई देता है वैसा भोजराज और हेमचन्द्र को छोड़कर अन्य किसी का दृष्टिगोचर नहीं होता । भोजराज और हेमचन्द्र का कृतित्व क्षेमेन्द्र की अपेक्षा संख्या की दृष्टि से निश्चय ही अधिक है परन्तु वह संग्रहात्मक ही अधिक है । क्षेमेन्द्र की कृतियों में जो विवेचनात्मकता तथा पृथगात्मता दिखाई देती है, वह उनमें बहुत कम है । क्षेमेन्द्र जैसी पृथगात्मता हमें वक्रोक्ति सिद्धान्त के उद्भावक आचार्य कुन्तक के सिवा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती । परन्तु कुन्तक की वक्रोक्ति अलंकार की चिरप्रवृत्त धारा से पृथक स्वयम् को रखने में समर्थ न हो सकी, जबकि क्षेमेन्द्र का औचित्य-सिद्धान्त आज भी अपनी पृथगात्मता बनाये हुए है । औचित्य-सिद्धान्त का मूल भले ही भरत और आनन्दवर्धन द्वारा समर्पित हो

---

1. काव्यमीमांसा —अ० 4 पृ० 36 ।

परन्तु उसे पल्लवित पोषित करने का श्रेय एकमात्र क्षेमेन्द्र को ही प्राप्त है। औचित्य जैसे व्यापक काव्य तत्व को क्षेमेन्द्र ने अपनी "औचित्य-विचार-चर्चा" द्वारा जो स्थायित्व प्रदान किया है, उसी के बल पर औचित्य की चर्चा एक ऐसा चिरन्तन तत्व बन कर काव्य जगत् में स्थिर हो गई है, जिसे काव्यशास्त्र-सम्बन्धी-विवेचन की धारा से कभी पृथक् नहीं किया जा सकेगा। औचित्य को काव्य सिद्धान्त के रूप में यद्यपि संस्कृत के क्षेमेन्द्रोत्तरभावी आचार्यों ने कोई स्वतन्त्र महत्व नहीं दिया है तथापि उसके प्रतिरोध का प्रयत्न भी कहीं दिखाई नहीं देता है। क्षेमेन्द्र के औचित्य-विचार-सम्बन्धी प्रखर प्रतिपादन का ही यह परिणाम जो आज भी औचित्य सम्प्रदाय की न केवल सत्ता स्वीकार की जाती है अपितु आधुनिक काव्य और काव्यशास्त्र पर उसके प्रभाव की सार्थक खोज की जा रही है। पिछले अध्याय में हम डा० चन्द्रहंस पाठक द्वारा की गई एतत्सम्बन्धी गवेषणा की चर्चा कर आये हैं। डा० पाठक का यह शोध-प्रबन्ध इस बात का प्रबल साक्षी है कि क्षेमेन्द्र द्वारा प्रतिपादित औचित्य-सिद्धान्त अन्तः सलिला सरस्वती की ऐसी कौन धारा है, जो भीतर ही भीतर प्रवाहित होती हुई संस्कृत और संस्कृतेतर काव्यों के संगम पर प्रभावी रूप में दृष्टिगोचर हो रही है।

क्षेमेन्द्र के कवि कण्ठाभरण में प्रतिपादित कवि-शिक्षा राजशेखर की काव्य-मीमांसा का अनुगमन करने वाली अवश्य है तथापि उसमें वह अन्तर तो है ही जो दूध और मक्खन में हुआ करता है, मक्खन यद्यपि दूध से ही पृथक् किया गया सार तत्व होता है तथापि उसे न तो दूध का तद्रूप कह सकते हैं और न ही उसके स्वतन्त्र महत्व का अपलाप कोई कर सकता है। क्षेमेन्द्र सारोद्धारक तो थे ही। उन्होंने रामायण, महाभारत बृहत्कथा और कादम्बरी आदि विशाल वृक्षों को मञ्जरी के रूप में संक्षिप्त कर जिस प्रकार पाठकों का महान् उपकार रस समर्पण के उद्देश्य से किया है, उसी प्रकार कवि-शिक्षा को भी सार रूप में कवियों के हाथों में सौंपकर कवियों की विवेक बुद्धि का सहज मार्ग प्रदर्शित कर दिया है।

क्षेमेन्द्र के सुवृततिलक का उद्देश्य यद्यपि वृत-सम्बन्धी औचित्य का प्रतिपादन ही है तथापि उसके द्वारा क्षेमेन्द्र ने कवियों के लिये एक ऐसी अत्यावश्यक शिक्षा दी है, जिससे कविता की सरणी इतनी प्रशस्त और निर्दोष हो जाती है कि कविगण यदि अपनी कविता को उस सरणी पर परिचालित करें तो वे उस दोष से बच सकते हैं, जिस दोष से कालिदास और भवभूति की कविता भी स्वयम् को नहीं बचा सकी है।

इन हेतुओं से क्षेमेन्द्र का स्थान काव्यशास्त्रियों में निःसन्देह बहुत ऊँचा है। उन्हें राजशेखर के बराबर नहीं तो उनके समीप रखने में हमें कोई संकोच या हिचकिचाहट नहीं है।

———

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

लेखक/सम्पादक	ग्रन्थ का नाम	प्रकाशक का नाम व पता	सन्	संस्करण
अमर सिंह	अमरकोश:	चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी ।	1987	II
अभिनवगुप्त	अभिनव भारती	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।	1961	I
अप्पय दीक्षित	चित्रमीमांसा	चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी ।	1987	II
अन्नम भट्ट	तर्कसंग्रह:	मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी ।	1971	II
अश्वघोष	बुद्ध-चरितम्	ज्ञान प्रकाशन, मेरठ ।	1975	I
आनन्दवर्धनाचार्य	ध्वन्यालोक:	मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी ।	1973	II
उज्ज्वल दत्त	उणादि सूत्रवृत्ति:	वैदिक पुस्तकालय, अजमेर ।	1986	VIII
कल्हण	राज-तरंगिणी	अलंकार प्रकाशन, जयपुर ।	1981	I
कालिदास	अभिज्ञान-शाकुन्तलम्	रतन प्रकाशन मन्दिर, आगरा ।	1987	IX
,,	कुमार-सम्भवम्	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी ।	1985	II
,,	मेघदूतम्	भारती मन्दिर, खुर्जा ।	1956	I
,,	रघुवंशम्	महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा ।	1982	I
कुन्तक	वक्रोक्तिजीवितम्	चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी ।	1984	I
कृष्ण द्वैपायन व्यास	श्रीमद्भगवद्गीता	गीता प्रेस, गोरखपुर	1964	I
,,	महाभारतम्	,,	1987	IV

,,	अग्निपुराणम्	आनन्द आश्रम संस्कृत प्रकाशन, पूना।	1957	I
कृष्ण द्वैपायन व्यास	वायुपुराणम्	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।	1987	I
कृष्ण द्वैपायन व्यास	वामनपुराणम्	गीता प्रेस, गोरखपुर।	1987	V
कृष्ण कुमार	अलंकारशास्त्र का इतिहास	साहित्य-भण्डार, मेरठ।	1975	I
केशव मिश्र	तर्क-भाषा	साहित्य-भण्डार, मेरठ।	1972	I
,,	अलंकार शेखर:	काशी संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस।	1917	I
क्षेमीश्वर	चण्डकौशिक:	चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी।	1970	I
क्षेमेन्द्र	क्षेमेन्द्रलघुकाव्य-संग्रह:	हैदराबाद।	1961	I
,,	रामायण-मञ्जरी	साहित्य-भण्डार, मेरठ।	1977	I
,,	भारत-मञ्जरी	निर्णय सागर, बम्बई।	1898	I
व्या० बृजमोहन झा	औचित्यविचार-चर्चा	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी।	1982	I
व्या० रामजी उपाध्याय	,,	वाराणसेय संस्कृत संस्थान, वाराणसी।	1965	I
,,	कविकण्ठाभरण	मोती लाल बनारसी दास, वाराणसी।	1987	I
,,	दशावतारचरितम्	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।	1982	I
,,	बृहत्कथा मञ्जरी	मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी।	1965	I
,,	सेव्यसेवकोपदेश:	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी।	1969	I

क्षेमेन्द्र	सुवृत-तिलकम्	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, आफिस, वाराणसी	1968 I
,,	चारुचर्या	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी	1984 II
,,	समय मातृका	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी	1978 I
चन्द्रहास पाठक	औचित्य सम्प्रदाय का हिन्दी काव्य-शास्त्र पर प्रभाव	चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी ।	1960 I
चाणक्य	कौटिलीय-अर्थशास्त्रम्	पण्डित पुस्तकालय, काशी	1969 I
सम्पादक चिन्न-स्वामी	शतपथ-ब्राह्मण	चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी	1987 II
जयमन्त मिश्र	काव्यात्म-मीमांसा	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी	1964 I
जयदेव	चन्द्रालोकः	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी ।	1979 VIII
जगन्नाथ	रंसगंगाधर	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी ।	1955 I
,,	भामिनी-विलासः	चौखम्बा, संस्कृत संस्थान, वाराणसी ।	1981 III
दण्डी	काव्यादर्शः	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी ।	1958 I

धनञ्जय एवं धनिक	दशरूपकम्	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी।	1973 IV
धनपाल	तिलक-मञ्जरी	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।	1985 II
सम्पादक-नारायण राम आचार्य	सुभाषित भाण्डागार:	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी।	1952 I
पतञ्जलि	महाभाष्यम्	मोती लाल बनारसी दास, वाराणसी।	1967 I
पाणिनि	अष्टाध्यायी	राम लाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़।	1985 XII
,,	पाणिनीय शिक्षा	चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी।	1984 V
बलदेव उपाध्याय	संस्कृत साहित्य का इतिहास	साहित्य भण्डार, मेरठ,	1968 I
,,	भारतीय साहित्यशास्त्र	नन्दकिशोर एण्ड सन्स चौक, बनारस	1948 III
बाणभट्ट	हर्ष-चरितम्	साहित्य-भण्डार, मेरठ	1982 I
बाल्मीकि	बाल्मीकि रामायणम्	गीता प्रेस, गोरखपुर।	1867 II
भट्ट नारायण	वेणी-संहार नाटकम्	साहित्य-भण्डार, मेरठ	1980 I
भट्टि	भट्टिकाव्यम्	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।	1982 VIII
भट्टोजिदीक्षित	सिद्धान्त-कौमुदी	मोती लाल बनारसी दास, वाराणसी।	1961 I
भर्तृहरि	वाक्यपदीयम्	मुन्शीराम मनोहर लाल, नई दिल्ली।	1970 I
भवभूति	मालती-माधव नाटकम्	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।	1981 II

भवभूति	उत्तर रामचरितम्	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी ।	1977 I
भरत	नाट्यशास्त्रम्	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी ।	1984 II
भामह	काव्यांलकारः	बाल मनोरमा प्रेस, मद्रास ।	1956 I
भारवि	किरातार्जुनीयम्	भार्गव पुस्तकालय, वाराणसी ।	1938 I
भोज	शृंगार प्रकाश भाग 1,2,3,4	जी० श्रीनिवास जोसयर कोरोनेशनल प्रेस, मैसूर 4	1969 I
,,	सरस्वती-कण्ठाभरण	चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी ।	1976 III
मनु	मनुस्मृतिः	चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी ।	1987 II
मम्मट	काव्यप्रकाशः	ज्ञानमण्डल मिमिटेड, वाराणसी	1975 V
मनोहर लाल गौड	आचार्यक्षेमेन्द्र	भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़ ।	1956 I
मधुसूदन सरस्वती	भक्ति-रसायनम्	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी ।	1974 I
माघ	शिशुपालवधम्	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी ।	1961 II
याज्ञवल्क्य	याज्ञयल्क्य-स्मृतिः	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस ।	1929 I
यास्क	निरुक्तम्	साहित्य भण्डार, मेरठ	1982 I
राजशेखर	काव्यमीमांसा (अनु० प० केदार-नाथ शर्मा)	बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना ।	1965 II
,,	काव्यमीमांसा	गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा ।	1934 I

राजशेखर	काव्यमीमांसा (अनु० डॉ० गंगा सागर राय)	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ।	1964 I
,,	कर्पूरमञ्जरी	साहित्य-भण्डार, मेरठ ।	1982 IV
,,	बालरामायणम्	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ।	1967 I
,,	बालभारतम्	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।	1949 I
,,	विद्धशाल-भञ्जिका	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ।	1965 I
रामचन्द्र गुणचन्द्र	नाट्यदर्पण	साहित्य भण्डार, मेरठ ।	1984 I
रुद्रट	काव्यालंकार:	चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी ।	1984 I
रुय्यक	अलंकार-सर्वस्वम्	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी ।	1979 II
वाग्भट	वाग्भटालंकार:	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ।	1957 I
वामनाचार्य	काव्यालंकार-सूत्राणि	चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी ।	1976 II
वात्स्यायन	कामसूत्रम्	संवर्त्तिका प्रकाशन, इलाहाबाद ।	1967 I
विष्णु स्वरूप	कविसमय-मीमांसा	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।	1963 I
विश्वेश्वर पण्डित	चमत्कार-चन्द्रिका	चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी ।	1964 I
विश्वनाथ	साहित्य-दर्पण	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ।	1952 I

वीरेन्द्र कौशिक	भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र	साहित्य भण्डार, मेरठ।	1985 I
श्यामा वर्मा	आचार्य राजशेखर	म० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।	1971 I
शारदातनय	भाव-प्रकाशन	चौखम्बा संस्कृत प्रकाशन, वाराणसी।	1983 II
सम्पादक श्री रामजी शर्मा आचार्य	मीमांसादर्शनम्	संस्कृति संस्थान, बरेली।	1974 I
सोमदेव सूरि	यशस्तिलक चम्पू	साहित्य भण्डार, मेरठ।	1969 I
सायण (भाष्यकार)	ऋग्वेद संहिता 1 से 5 भाग	आनन्द आश्रम मुद्रणालय, पूना।	1942 I
,,	अथर्ववेद संहिता	चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी।	1964 I
स्वामी दयानन्द (भाष्यकार)	यजुर्वेद संहिता	दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली।	1974 I
श्रीराम शर्मा आचार्य कृत भाष्य	सामवेद	चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी।	1964 I
हर्षदेव	रत्नावली-नाटिका	साहित्य भण्डार, मेरठ।	1968 I
हेमचन्द्र	काव्यानुशासनम्	मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास पब्लिकेशनस् नई दिल्ली।	1986 II

हिन्दी ग्रन्थ सूची

1. क्रोञ्चे	सौन्दर्यशास्त्र
2. तुलसीदास	कवितावली
3. महावीर प्रसाद द्विवेदी	रसज्ञरञ्जन
4. सुमित्रानन्दन पन्त	आधुनिक कविता

अंग्रेजी ग्रन्थ सूची

लेखक/सम्पादक	पुस्तक का नाम	सन्	प्रकाशक
आप्टे सदाशिव	राजशेखर हिज लाइफ एण्ड राइटिंग्ज	1986	आर्य भूषण प्रेस, पूना।
अरस्तू	पोयटिक्स एण्ड रैटारिक		
बरो ए०	भवभूति एण्ड हिज प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर	1978	कलकत्ता
बनर्जी आर० डी०	फाल्स ऑफ बंगाल		
डे० एस० के० एण्ड दास गुप्ता एस० एन०	दि हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर	1964	कलकत्ता
डे० एस० के०	हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स।	1960	कलकत्ता
डे० एस० के०	संस्कृत पोयटिक्स एज ए स्टडी ऑफ एसथेटिक्स	1963	कलकत्ता
झा० गंगानाथ	कवि-रहस्य	1950	हिन्दुस्तानी एकादमी, इलाहाबाद।
फलीट ऑफ जॉन	इण्डियन एन्टीक्वेरी	1987	
होरेस	आरस पोयटिक्स आर्ट ऑफ पोयट्री		
कील हार्न एफ०	एपि ग्राफिका इण्डिका।	1989	
कृष्णमाचारी एन०	हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर।	1937	मद्रास
कीथ ए० बी०	ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर	1953	
काने पी० बी०	एन इन्ट्रोडक्शन टु साहित्यदर्पण।		
काने पी० बी०	ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स	1961	
कार्ल मधुसूदन	देशोपदेश एण्ड नर्ममाला इन्ट्रोडक्शन	1923	

लांगीनस	ऑन दी सब्लाइम		
मूलर एफ० एक्स०	इण्डिया: व्हाट कैन इट टीच अस	1883	लन्दन
मिराशी वी० पी०	पाठक कमेमोरेशन वाल्यूम		
पीटर्सन एण्ड परब	इन्ट्रोडक्शन टू वल्लभदेवाज् सुभाषितावली	1886	बोम्बे संस्कृत सीरीज
पोप	एस्से ऑन क्रिटिसिज्म		
राघवाचार्य इ० इ०	माइनर वर्क्स ऑफ क्षेमेन्द्र	1961	
पाण्डया डी० जी०	इन्ट्रोडक्शन		
राघवन् वी०	स्टडीज आन समकान्सैप्टस ऑफ दी अलंकारशास्त्र	1942	
सूर्यकान्त	क्षेमेन्द्र स्टडीज	1954	पूरा ओरियन्टल सीरीज सं. 91
सुरू एन० जी०	इन्ट्रोडक्शन टू कर्पूर-मञ्जरी		
विलसन एच० एच०	सिलेक्ट स्पेसिमन ऑफ दि थियेटर ऑफ दि हिन्दूज वाल्यूम 3	1871	लन्दन

———

